परम पूज्य १००८ श्री पार्श्वनाथ जी

(बड़े बाबा)

मूर्ति स्थापना शताब्दी वर्ष १९९३

श्री पार्श्वनाथ दि. जैन नया मंदिर, खुरई

व्याख्यानवाचस्पति स्व. पं. देवकीनंदनजी सिद्धान्तशास्त्री

स्मृतिग्रंथ

संपादक मंडल

श्री. मा. पं. माणिकचंद्रजी चवरे
न्यायतीर्थ, कारंजा

श्री. पं. धन्यकुमारजी गंगासाव भोरे
B. A LL. B, कारंजा

श्री. मा. माणिकचंदजी भिसीकर
एम ए, न्यायतीर्थ, बाहुबली

श्री. प्रा. विद्याधरजी उमाठे
M.A M. Ed., वर्धा

प्रकाशक

श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा, जि. आकोला

मूल्य १०१ रु.

सलाहगार समिती

१. प. श्री. जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी
२. पं. श्री फुलचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री, हस्तिनापुर
३. श्री. शेठ सिंघई धन्यकुमारजी जैन, कटनी
४. श्रीमंत शेठ ऋषभकुमारजी जैन, खुरई
५. डॉ. हेमचंद्रजी वैद्य जैन, कारंजा

प्रकाशक मंत्री, श्री महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा, जि. आकोला–४४४१०५
मुद्रक : म. पा बनहट्टी, नारायण मुद्रणालय, २२४, टिकेकर रोड, धनतोली, नागपूर–१२

स्व. पूज्य गुरुवर व्याख्यान वाचस्पति श्रीमान् पंडित देवकीनंदनजी स्मृति ग्रंथ समिति

अध्यक्ष– श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमारजी खुरई

संरक्षक सदस्य

नंबर	स्वीकृती	नांव	गांव
१.	५००१	श्री. ध. हुकुमचदजी चौधरी	कटनी
२.	५००१	श्री. ध. स्नातक कारंजा गुरुकुल	कारंजा
३.	५००१	ध. श्रीमंत सेठ श्री ऋषभकुमारजी जैन रईस	खुरई
४.	५००१	अनेकांत संस्कृति महामंडळ	बाहुबली
५.	५००१	महावीर ज्ञानोपासना समिति	कारंजा
६.	४००१	ध. श्रीमती महारानी बहू ध. प. स सिं. भैय्यालालजी गुरहा	खुरई

सहाय्यक सदस्य

नंबर	स्वीकृती	नांव	गांव
१.	३००१	श्री ध. देवचदजी विजयकुमारजी	खुरई
२.	३०००	श्री परवार जैन महासभा मा. श्री मूलचदजी	जबलपूर
३.	२५०१	ध. श्री ब्र. माणिकचद्र जयकुमारजी चवरे	कारंजा
४.	२००२	श्री ध. स. सि. धन्यकुमारजी जैन रईस	कटनी
५.	२००१	श्री ध. कोमलचदजी गुरहा	खुरई

सहयोगी सदस्य

नंबर	स्वीकृती	नांव	गांव
१.	११०१	श्री ध. राजेन्द्रकुमारजी ट्रस्टी लक्ष्मीचंद सीताबराय ट्रस्ट	विदिशा
२.	१००१	श्री ध. अॅड् शांतिलालजी लोहाडे	नाशिक
३.	१००१	श्री ध. जयचदजी दगडूरामजी लोहाडे	हैद्राबाद
४.	१००१	श्री ध धन्नालालजी प्रेमचदजी सेठी	खुरई
५.	१००१	श्री ध. धन्नालालजी प्रेमचदजी सर्राफ	खुरई
६.	१००१	श्री ध. जमनाप्रसादजी जिनेश्वरदासजी	खुरई
७.	१००१	श्री ध. जमनाप्रसादजी मुलायमचदजी	खुरई
८.	१००१	श्री ध. पदमचदजी गुरहा	खुरई
९.	१००१	श्री ध. शिशुपालसावजी प्रभुदासावजी चवरे	कारंजा
१०.	१००१	श्री ध. दीपचदजी ऋषभकुमारजी धिया	खुरई
११.	१००१	श्री ध. बब्बूलालजी जैन	खुरई
१२.	१००१	श्री ध. नन्हेलालजी बुखारिया जैन रईस	बीना
१३.	१००१	श्री ध. ताराचंदजी बजाज	खुरई
१४.	१००१	श्रीमंत सेठ सीताबरायजी लक्ष्मीचंदजी जैन पारमार्थिक ट्रस्ट	विदिशा

नंबर	स्वीकृती	नांव	गांव
१५.	१००१	श्री सेठ भगवानदासजी शोभालालजी ट्रस्ट	सागर
१६.	१००१	श्री वीतराग विज्ञान ट्रस्ट	इचलकरंजी
१७.	१००१	श्री नरेंद्रकुमारजी ऋषभदासजी चवरे स्मृति प्रीत्यर्थ श्री देवकुमारजी, राजकुमारजी व परिवारगण	कारजा

हितैषी सदस्य

१.	५०१	श्री ध. सौ विमलादेवी भदौरा	टीकमगढ
२.	५०१	श्री ध पं. ब्र. माणिकचंद्रजी भीसीकर	बाहुबली
३.	५०१	श्री ध प्राचार्य फूलचंदजी मेठी	खुरई
४.	५०१	श्री ध बिसनचंदजी चौधरी	खुरई
५.	५०१	श्री ध गुलाबचंदजी मोदी	खुरई
६.	५०१	श्री ध प. जगन्मोहनलालजी शास्त्री	कटनी
७.	५०१	श्री ध. अभयसावजी मोतीलालसावजी चवरे	कारजा
८.	५०१	श्री ध मा. स्व सकुबाई के स्मरणार्थ सुपुत्र श्री देवचंदजी तथा श्री हिराचंदजी	कारंजा
९.	५०१	श्री ध. शिखरचंदजी मुल्ला	खुरई
१०.	५०१	श्री ध. कनकमालाबाई जयकुमारजी डोणगावकर	कारंजा

साधारण सदस्य

१.	२५१	श्री ध. पं. धन्यकुमारजी भोरे	कारंजा
२.	२५१	श्री ध. प्रा उत्साहकुमारजी भेलाडे	मुम्बई
३.	२५१	श्री ध. भूपालजी अण्णाप्पा दलाल	बाहुबली
४.	२५१	श्री ध प. अजितकुमारजी शास्त्री, न्यायतीर्थ	बाहुबली
५.	२५१	श्री ध. प. माणिकचंदजी शहा न्यायतीर्थ	बाहुबली
६.	२५१	श्री ध. फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री	हस्तिनापूर
७.	२५१	श्री ध. वालचंद खेमचंद शहा	बाहुबली
८.	२५१	श्री ध. डॉ. माणिकचंद्र आहाळे	मुबई
९.	२५१	श्री ध. जगदीशचंद्र व हिराचंदजी किल्लेदार बंधु	नागपूर

ग्रंथ ग्राहक

१.	१०१	श्री ध. चंपालालजी रायसोनी	शेबाळपिंप्री
२.	१०१	श्री ध. पार्श्वनाथ दि जैन मंदीर	जबलपूर
३	१०१	श्री ध. व्यवस्थापक दि जैन बोर्डींग	जबलपूर
४.	१०१	श्री ध. पन्नालालजी जैन भूतपूर्व अध्यापक जैन गुरुकुल	खुरई

संपादकीय निवेदन

पू. गुरुदेव समतभद्र महाराजजीकी पावन प्रेरणा

[सन १९८७ के प्रारभ की घटना है। पडित धन्यकुमारजी भोरे (संपादक मडल के सदस्य) एकबार प पू गुरुदेवश्री १०८ समतभद्र महाराजजी के दर्शन तथा स्वाध्याय हेतु बाहुबली (कुभोज) गये थे। उस समय पूज्य महाराज श्री का यकायक बुलावा आया। महाराज श्री के पास पहुँचने पर नमस्कारादि विनयाचार करके उन्होने विनम्रता से पूछा-]

गुरुदेव! आपने बुलाया उसका कोई विशेष कारण?'

महाराज– ' महाराज'[1] आपको एक नया काम सोपना चाहते है वह आप को स्वाकार करना है।"

धन्यकुमार- ' गुरुदेव! आज तक आपके आदेश का पालन करता आयाही हूँ। भविष्य में भी करुँगा, किन्तु वह काम मेरे वश का हाना चाहिये।

महाराज– आप कर सकोगे– ऐसा ही काम है। धन्यकुमार! आप जानते तथा देखते ही हो कि, वर्तमान में अनेक समाज नता त्यागी पडित आदि के स्मृति– प्रीत्यर्थ या गौरवार्थ स्मृति ग्रथ या गौरव ग्रंथ प्रकाशित हो रहे है। उनकी परपरा दृढमूल हो गयी है। उस के औचित्य के सबध में यहाँ चर्चा नही करनी है। इन स्मृति ग्रथो या गौरव ग्रथो को दखते हुए महाराज को एक बात भीतर ही भीतर घुल रही ह। एक स्मृति ग्रथ स्व पडित देवकीनदनजी के स्मृति म पूर्व म ही प्रकाशित होना चाहिये था।

पडितजी ने समाज तथा धम की आजीवन निरपेक्ष सेवा की है। शिक्षण सस्था, सामाजिक सभा समेलन तथा जैन साहित्य इत्यादि परिप्रेक्ष्य म जो सेवाएँ प्रदान की, वह अविस्मरणीय है, उस स्वर्गीय महात्मा का गुरुकुल सस्था पर स्वय महाराज पर तथा गुरुकुल स्नातको पर अगणित उपकार है। उन की स्मृति में एक स्मृति ग्रथ निकाल कर उनक उपकारा का स्मरण करना अपना पवित्र कर्तव्य है। कृतज्ञता का निर्वाह करना समाजका और अपना कर्तव्य है। इस कारण उनकी स्मृति में एक स्मृति ग्रथ निकालना चाहिये। यह जिम्मेदारी आप का सभालना है।

धन्यकुमार– काम तो करने लायक ह ही– इस में सदेह नही यह अभीतक होना जरुरी था। किन्तु यह जिम्मेदारी बडी कठिन है। आज पडितजी के स्वर्गवास होने को पैतीस साल से अधिक काल हो गया। समकालीन कोई इने गिने ही रहे है। और वे भी तो जराजर्जर अवस्था में होगे। उन से परिचित तो बहुत कम रहे होग। ऐसी अवस्था म यह जिम्मेदारी निभाना मुश्किल ही है।

महाराज– " कठिन तो अवश्य है किन्तु अशक्य नही। आपने जिनवाणी जीर्णोद्धारक सस्था, फलटण के रौप्य– महोत्सव के उपलक्ष्य म जो शातिसागर– स्मृति ग्रथ निकाला उस के सपादन में सहयोग दिया था। तथा महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारजा के हीरक– जयन्ति के अवसर पर गुरुकुल स्मरणिका के सपादन में भी योग दिया था अत यह काम भी आप को करना है।

टिप्पणी- १ पूज्य श्री समतभद्र महाराज स्वय अपना निर्देश 'मै' या हम" ऐसे प्रथम पुरुष वाचक सर्वनाम द्वारा सभाषण मे और पत्र लिखते समय भी नही करते थे। उन का यह स्वभाव विशेष रहा। "महाराज" पद द्वारा वे उनका स्वय का निर्देश करते थे। अत यहा इस सभाषण म या उन की मुलाखत में जो हिंदी तथा मराठी मे छपी है वहा पर भी महाराज श्री के सभाषण में "महाराज" का अर्थ स्वय समतभद्र महाराज ऐसा ग्रहण होना चाहिए। ऐसा नम्र निवेदन कर्तव्य है।

धन्यकुमार– "आपका और तात्याजी का उन के साथ संस्था के कार्यकर्ता के रूप में बीस साल तक घनिष्ट संबंध रहा है। अत. यह जिम्मेदारी तात्याजी उठावे, तो ठीक होगा।"

महाराज - "तात्या तो बहुत कुछ जिम्मेदारियाँ लेकर वैसे ही परेशान है। लदे ऊट को तिनका भी भारभूत होता है। तथापि उनकी मदद होगी; सर्व संपादन, संकलन, पत्रव्यवहार, परिचितो से संबंध स्थापित करना आदि आप को संभालना होगा।"

धन्यकुमार– "गुरुदेव ! यह काम करने में मैं अकेला असमर्थ हूँ, किन्तु इस में तात्याजी, प्रा. विद्याधर उमाठे माणिकचंदजी भिसीकर आदि से वार्ता करके एक सपादक मंडल बनाना पडेगा; और वह मंडल ही यह जिम्मेदारी निभा सकेगा।"

महाराज– "आप सपादक मंडल बनावे किन्तु इस दिशा मे कदम उठाकर आप को इस काम को गति देनी है, देनी ही है !"

धन्यकुमार– "प्रयत्न जरुर होगा; आपका आशीर्वाद बना रहे गुरुदेव।"

शिष्यवर्ग की प्रथम बैठक

पूज्य महाराज श्री के साथ उक्त चर्चा के पश्चात् कारजा मे गुरुकुल स्नातकों की इस संदर्भ में एक मीटिंग बुलाई गयी। जिस में माणिकचद चवरे, डॉ. हेमचंद्र जैन, वि. गो. डोणगांवकर, शिशुपालजी चवरे, जयकुमारजी दादा भिसीकर, प्रा विद्याधरजी उमाठे आदि परिचित स्नातक वर्ग उपस्थित था। भिसीकरजी से बाहुबली में ही चर्चा वार्ता हुई थी। स्मृति ग्रथ का सामान्य प्रारुप तैयार करके योजना बनायी गयी। एक संपादक मंडल बनाया गया। जिम में तात्याजी, माणिकचदजी भिसीकर, पं. धन्यकुमार भोरे एवं प्रा. विद्याधरजी उमाठे ये चार व्यक्ति रखे गये।

स्व. पडितजी के जीवन से पंडित जगन्मोहनलालजी तथा पंडित फूलचदजी शास्त्री निकटतम परिचित थे। उन से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करके सर्व जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, यह भी निश्चित हुआ। इतना होने पर उपरोक्त सपादक मडलने स्व पडित देवकीनदनजी स्मृति ग्रथ का सामूहिक उत्तरदायित्व स्वीकार किया है – ऐसा महाराज श्री को भी संपादक मडल ने आश्वासन दिया।

सपादक मडल को मदद करने के लिए १. पडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री २. पं. फूलचद्रजी सिद्धान्त-शास्त्री, ३. श्री सिघई धन्यकुमारजी कटनी, ४. श्रीमत सेठ ऋषभ कुमारजी खुरई और ५. डॉ हेमचंद्र जैन– इन पांचो की एक सलाहकार समिति बनायी गई।

एक स्मृति ग्रथ समिति का भी गठन किया गया, जिस के अध्यक्ष श्रीमंत शेठ ऋषभकुमारजी खुरई को चुना गया। जिस का विवरण अलग से दिया है। इस प्रकार इस शुभ कार्य का प्रारंभ हुआ।

प्रयत्नकी निर्धारित दिशा तथा फल निष्पत्ति

उक्त दोनों विद्वान् महानुभावो के साथ कटनी तथा हस्तिनापुर जाकर, आठ आठ दिन रहकर जो जानकारी प्राप्त करना सभव था, वह प्राप्त करने का भरसक प्रयास सम्पादक मंडल ने किया। उनके सम्पर्क मे आये हुए उनके द्वारा प्रभावित श्रीमान् तथा धीमान् समाज सेवी पंडित वर्ग, उनका शिष्य समूह इनकी सूची तैयार की गयी।

उन से पत्र द्वारा सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास किया गया। किसी का पता नही मिला, किसी के पत्र वापिस आये, किन्ही महानुभावो के जबाब आये, उनमें से कतिपय तो मात्र प्रोत्साहन पूरक थे। अनुरोध करने पर उनमें से किन्ही महाशयोने संस्मरण लेख आदि भेजने में तत्परता दिखायी। वे सभी धन्यवाद के पात्र है।

महाराज श्री द्वारा सूचना मिलने के ५–६ मास पूर्व ही २६–४–१९८६ को श्री पंडितानीजी सुमित्रा काकीजी का स्वर्गवास हुआ था। अत: उनकी जीवन की घटनायें कुलवृतान्त तथा अन्य जानकारी प्राप्त करने का एक साधन नियति द्वारा दूर किया गया था।

परिवारगणों का प्राप्त विशेष सहकार

उनके व्यक्तिगत जीवन की जानकारी प्राप्त करने के लिए उनके सुपुत्रों से पत्र द्वारा तथा प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित किया गया। यह सूचित करते हुए अतीव प्रसन्नता होती है कि, उनके द्वारा तथा उनसे निर्दिष्ट परिवारजनों तथा मित्रो द्वारा जीवनी - विषयक, माता - पिता, घरदार, परिवार, जन्मस्थान आदि जानकारी तो उन्होने स्वयं समय देकर, कष्ट उठाकर देने में तत्परता दिखायी। भाई डॉ. त्रिलोकचंदजी तथा डॉ प्रकाश–चंद्रजी ने बहुत परिश्रम पूर्वक जानकारी प्राप्त करके हमें दी। उनके शेष पुत्र तो स्व. पंडितजी के स्वर्गवास के समय बहुत अल्प वयस्क थे।

पंडितजी के स्वर्गवास के पैंतीस साल बाद उनका जीवनचरित्र लिखना आसान तो नही था। उनका बाल्यकाल तथा विद्यार्थी दशा छोडकर और जीवन के अंतिम चरण के इन्दौर में व्यतीत ४–५ साल छोडकर उर्वरित जीवन महावीर ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल, कारंजा के साथ अभिन्न रूप से जुडा हुआ था। करीब २२ साल वे कारजा गुरुकुल में रहे। उनके साथ तात्याजी का परिचय अत्यंत घनिष्ट था। वे अपनी सुखदुखकी घरेलू बाते तथा अन्य घटनाए और उनपर उनकी प्रतिक्रिया तात्याजी को दिल खोलकर कहते थे। इन्दौर के वास्तव्य में भी उनका सम्पर्क बना ही रहा और उनके स्वर्गवास के पश्चात् उन्होने स्व. पंडितजी के जीवन व कर्तृत्व के संबंध में 'सन्मति' (मराठी मासिक पत्रिका) में लेख लिखा था। तथा, स्वय पडितजी ने जो ससमरण उनसे कहे थे उस मे से कुछ सन्मति में "पडितजीचा बटवा" नामक लेखमाला में शब्दांकन किया था। तात्याजी को उन के साथ प्रवास मे साहचर्य का योग भी बहुत बार प्राप्त हुआ। परवारसभा, महासभा, अनेक सामाजिक सघटन के संदर्भ में भी स्व. पडितजी तात्याजी को सबकुछ कहते थे। उनके जीवन चरित्र में पूर्णता लाने की दृष्टिसे पंडित जगन्मोहनलालजी तथा पडित फूलचद्रजी से प्राप्त सामग्री बहुमूल्य थी। अत. उनके जीवन– चरित्र लिखने का महत्वपूर्ण काम तात्याजी को सौपा गया। जीवन चरित्र जो बना पाया वह मुद्रित है। वे तो स्वयं इसको पंडितजी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन ही समझते हैं। वे संपादक मडल के प्रमुख आधार ही है।

संकल्पित आधारों का अकल्पित दर्दनाक वियोग

ग्रंथ का प्रारुप बना, उस समय से ही पडित कैलासचंद्रजी शास्त्री असाध्य रोग से बीमार थे। वे स्व. पंडितजी के अनन्यतम शिष्य थे। उनसे सपर्क स्थापित करने पर भी वे कुछ भी नही लिख पाये। कारण शारीरिक अस्वस्थता थी, उस बीमारी में उनका भी स्वर्गवास हुआ। उन्हें भी यह स्मृति ग्रंथ देखने की प्रबल भावना थी।

इस स्मृति ग्रंथ के लिए सस्मरण और लेख भेजने वालो मे से डॉ. ज्योति प्रसादजी जैन लखनऊ तथा पंडित बालचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री भी आज हमारे बीच नही। इस सकल्प सिद्धि के क्षण में उनका भी स्मरण-सहज ही होता है।

तथा पंडितजी के अनन्य शिष्य ध पंडित हुकुमचंद्रजी चौधरी कटनी निवासी जो ५००१/– रु. का का प्रथमत: दान देकर संरक्षक बने, वे भी आज हमारे बीच नही हैं। कारंजा के श्री जिनवर सावजी तथा ऋषभदासजी चवरे के साथ स्व. पंडितजी का अच्छा सबध रहा। उनके पौत्र, पुत्र श्री नरेन्द्रकुमारजी चवरे भी उनसे परिचित थे। १००१/– रु. देकर वे सहयोगी सदस्य बने और उन्होंने स्वयं एक सस्मरण भी लिखा। वे भी आज हमारे बीच नही हैं।

उक्त सभी स्वर्गस्थ आत्माओ को हम यह स्मृतिग्रन्थ का साक्षात्कार नही करा सके- इसका हमें अत्यन्त खेद है।

यह स्मृति ग्रथ की सकल्पना सामने आई उस के १४ साल पूर्व ही १२-२-१९७३ को उन के प्रथम सुपुत्र भाई प्रा सुमतीजी का स्वर्गवास हुआ था। साथ ही मातृतुल्य सुमित्रा काकीजी भी दि २६-४-८६ को ही स्वर्गवासी हुई थी। उनका स्मरण सहज ही होता है। यदि वे स्मृति ग्रथ देख पाते तो जरुर समाधान होता। किन्तु नियति अलध्य ही होती है। उनके तृतीय पुत्र डॉ प्रकाशचद्र नायक एम् बी बी एस् दुर्ग- भिलाई निवासी जानकारी प्राप्त करने मे बहुत बडा स्त्रोत था। उन का भी सपादन काल में दि २७-७-८७ को स्वर्ग-वास होने से वियोग सहना पडा। पूर्ण ग्रथ देखने की उनकी प्रबल इच्छा थी। आज उन का स्मरण भी सहज होता है। हम इन सभी स्वर्गस्थ आत्माओ का मगल स्मरण करते है।

पू गुरुदेव श्री समन्तभद्र महाराज की भी जोवनयात्रा की समाप्ति

प पू १०८ समतभद्र महाराज श्री के जीवित रहते ही इस स्मृति ग्रथ का सस्मरण विभाग तथा विद्वानो के लेख प्रेस मे मुद्रण हेतु दिये थे। मुद्रण का काम प्रारभ हुआ था। १५० पेजेस छप गये थे। चरित्र लेखन चालू था। एक लिखित प्रश्नमाला तैयार करके महाराज श्री की मुलाकात आयोजित की। वह टेप हुई। वह मूल में मराठी भाषा मे थी। इस से सुबुद्ध वाचक तो पता लगा सकते है कि, यह स्मृति ग्रथ पूर्ण रूप से देखने की कितनी प्रबल भावना उन्ह थी। वह मुलाकात मूलत मराठी में तथा उसका हिदी रुपान्तर इस ग्रथ मे देखने को मिलेगा। आज भी जब उनका इस पत्र की पक्तियाँ "क्या महाराज को यह स्मृति ग्रथ जीवन काल मे देखन को मिलेगा"। पढन मे आती है तो आँखे आंसुओ से भर आती है। कुछ कारण वश यह स्मृति ग्रथ उनके जीवन काल मे पूरा न हो पाया इसका सपादक मडल को अतीव खेद है। फिर भी उन्होने सकलित सामग्री देख ली थी। इमका अशत समाधान सपादक मडल अनुभव कर रहा है। इस ग्रथ में उनकी प्रेरणा ही सर्वतोपरी रही है। यह स्मृति ग्रथ पूर्ण हाने के अवमर पर हम सपादक मडल और समिति सदस्य द्वारा प पू. १०८ गुरुदव श्री समतभद्रजी महाराज की सवा म भावभीनी श्रद्धाजलि समर्पित करते हैं।

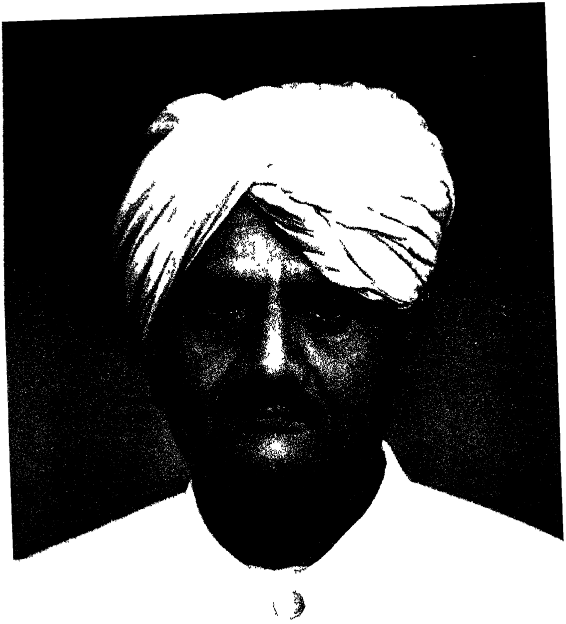
उदारचेता दाता तथा योग दाताओ का भाव पूर्ण स्मरण

इस स्मृति ग्रथ की समिति के सदस्यो ने प्रकाशन हेतु बहुमूल्य आर्थिक सहयोग दिया। इस कारण ही यह ग्रथ समाज के सन्मुख आ रहा है। उन सब उदार चेता दाताओ को अनेकश धन्यवाद! दातारो की शुभ नामावलि स्वतत्र रुपस मुद्रित है।

जिन महानुभावोने अपने सस्मरण तथा लेख भेजे तथा श्रद्धाजलियाँ भेजी उन सब महानुभावो के हम हृदय से आभारी है।

तथा इस स्मृति ग्रथ का सुचारु रुपसे मुद्रण श्री मधुसूदन तथा श्रीकृष्ण बनहट्टी बधुद्वय प्रोप्रा नारायण मुद्रणालय नागपुर इन्होने किया। उनका भी सपादक मडल आभारी है।

भवदीय - नम्र
सम्पादक मंडल



अनुक्रमणिका

शिष्यों के संस्मरण (आ) ९१ से १७६

शिष्यांचे संस्मरण – मराठी

विद्वान् तथा संशोधक मनीषियों के लेख
(पृष्ठ १७७ ते २९३)

पंडित देवकीनंदजी लिखित साहित्य का रसग्रहण
(पृष्ठ २४९ से २६२)

स्व. व्याख्यान वाचस्पति पंडित देवकीनंदनजी के लेख और साहित्य छटा
(पृष्ठ २६३ से २९३)

काव्य सुमनांजलि ।

नमः समन्तभद्राय ।

नम समन्तभद्राय गुणरत्नैरलकृते ।
समन्ताना सुभद्राय ज्ञानिने कर्मयोगिने ।। १ ।।
आत्महित नु कर्तव्य परहित यथायथम् ।
सूत्रमासीत् सदा यस्य पावने दीर्घ-जीवने ।। २ ।।
आत्महिते सदा दक्ष स्वात्मधीर्मुनिरुत्तम ।
आत्मा प्रभावितो यन रत्नत्रय-सुतेजसा ।। ३ ।।
स्वाध्याये निरत स्वामी वाचना-पृच्छनादिके ।
आत्मज्ञो मार्मिको विज्ञो अध्यात्मामृतपूरित ।। ४ ।।
'पर भवतु कल्याण' इत्याशीर्वादमगला ।
कल्पवृक्षसमा दृष्टिर्यस्य कल्याणकारका ।। ५ ।।
कर्नाटके महाराष्ट्रे स्थापिता यन आश्रमा ।
धर्म शिक्षा प्रसारार्थं बाल-कल्याण-हेतुना ।। ६ ।।
तीर्थरक्षापरस्त्यागी कुमारश्च दिगबर ।
शिक्षाशास्त्री महायोगी तत्त्वज्ञो भद्रचिंतक ।। ७ ।।
शीलं ज्ञान व्यवस्था च प्रेम सेवा प्रसूत्रकम ।
प्रदत्त येन छात्रभ्यो विकासाथ स्वतेजस ।। ८ ।।
लोकसग्राहको योगी देव ख्याति पराङ्मुख ।
गुणग्राही हिताकाक्षी धर्मशीलो महामुनि ।। ९ ।।
'शान्तिस्थली' तथा सर्वे आश्रमा स्मृतिरूपका ।
गायन्ति ते यशोगाथा यावच्चद्र-दिवाकरौ ।। १० ।।
स्मरामि भद्रदासोऽय मुनिश्रेष्ठस्य दिव्यताम ।
प्रेरणादायिनी दीप्ता आत्मज्योति प्रकाशिनीम् ।। ११ ।।

—उमाठेकुलोत्पन्नो विद्याधर ।

गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।

[प्राचार्य-श्री. विद्याधरजी उमाठे एम्.ए.एम्.एड्. श्रीबाहुबली विद्यापीठ बाहुबली]

व्यामोहात् दूरतः स्थित्वा ज्ञानाराधनतत्परः ।
ख्यातिप्राप्तं विशेषज्ञं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। १ ।।
नम्रता-गुण-संपन्नं रोचकोक्ति-सुधाकरम् ।
वाक्पतिं शारदा-पुत्रं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। २ ।।
चतुरस्रा मतिर्यस्य मिथ्यावादापहारिणी ।
स्पष्टवादी सदा योऽभूत् गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् । ३ ।।
तितिणी-सदृशा वाणी रसार्द्रा रसपूरिता ।
देवभाषा-समा यस्य गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ४ ।।
वत्सलता-प्रतीकं तं स्नेहार्द्रं छात्र-वत्सलम् ।
कीर्ति-लक्ष्मी-निरापेक्षं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ५ ।।
नंदनं शारदायास्तं देवकीनंदनोत्तमम् ।
दयाशीलं जनानन्दं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ६ ।।
नदिता धार्मिका येन सिद्धान्तामृतभाषणैः ।
स्मरण-मात्र-रूपं तं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ७ ।।
रागिनां मोहनाशाय धर्मशास्त्रानुवादकम् ।
मित्रं धर्मपराणां तं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ८ ।।
विद्यया भूषितं रत्नं सागाराचारपाठकम् ।
द्यावाप्रभं प्रवक्तारं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ९ ।।
धर्मशीलं गुणोपेतं पंचाध्यायी-विवेचकम् ।
रश्मिमध्यात्म-भानोस्तं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। १० ।।
अज्ञ-समाज-संघर्षे सुसंवाद-प्रसाधकम् ।
हंसं क्षीराम्बु-भेदज्ञं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ११ ।।

जयतु जयतु वाग्मी पुण्यपीयूषपूर्णः
जयतु जयतु विद्वान् मार्मिकस्तत्त्वगर्भः ।
जयतु जयतु मान्यो जैनसिद्धान्तशास्त्री
जयतु जयतु धन्यो देवकीनदनश्रीः ।। १२ ।।

—उमाठेकुलोत्पन्नो विद्याधरः ।

आदरणीय व्याख्यानवाचस्पति पंडित श्रीदेवकीनन्दनजी सिद्धांतशास्त्री के प्रति

समर्पित श्रद्धाञ्जलि

श्री. पं. दयाचंदजी साहित्याचार्य- प्रवक्ता, श्रीगणेश दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय, सागर

व्याख्यानवाचस्पति से - मानद वन्दन।
गुरुकुलों के संरक्षक - कुलगुरु अभिनन्दन।
सिद्धान्तशास्त्री से – सरस्वती नन्दन।
वाणीभूषण – वाणी-नन्दन।
देवकीनन्दन – गुण अभिनन्दन।
देवकीनन्दन - दोष निकन्दन।
देवकीनन्दन – श्रावकभूषण।
देवकीनन्दन - उपकृतिभूषण।
देवकीनन्दन – प्रकृति विचक्षण।
देवकीनन्दन – शत अभिनन्दन।
मन-अभिनन्दन – वच-अभिनन्दन।
हार्दिक श्रद्धा – माल्य-समर्पण ॥

वन्दनं देवकीनन्दनम्

श्री. नेमिचंद्र जैन, एम्. ए. (हिंदी, संस्कृत, प्राकृत)
काव्यतीर्थ-साहित्याचार्य प्राचार्य, एस्. पी. जैन गुरुकुल, खुरई (सागर)

श्री देवकीनंदनसंज्ञया सुधी :
सज्ज्ञानदानेन सुनीति-शिक्षया।
श्रीजैनधर्मस्य परम्परामिह
विद्वत्सु प्रमुखोऽसौ रक्षति स्म ॥ १ ॥
सरलस्वभावेन हितोपदेशी
विद्यानुरागात् विदुषां वरेण्यः।
वक्तृत्वशक्त्या सबृहस्पतीव
आसीत् प्रसिद्धः खलु सर्व क्षेत्रे ॥ २ ॥
सरलस्वभावेन हितोपदेशी
विद्यानुरागात् विदुषां वरेण्यः।
सम्यग्ज्ञान-प्रसारार्थमयतत सर्वदा स्वयम्।
गुरुकुलानां सेवार्थमर्पितं येन जीवितम् ॥ ३ ॥
समर्प्य श्रद्धा-सुमनं देवकीनन्दनं गुरुम्।
वन्देऽहं परया भक्त्या सर्वेषां हितचिंतकम् ॥ ४ ॥

सादर–अभिनन्द

निर्मलचन्द जैन "आजाद", प्रधान संपादक 'विद्यासागर' जबलपूर

जिनवाणी के श्रेष्ठ आराधक, वीतरागता के हे साधक !
ज्ञानदान दिया जन–जन को, ज्ञानी त्यागी थे आप गुरुवर ।।
बुंदेलखण्ड है ऋणी आपका, महाराष्ट्र प्रान्त भी ऋणी आपका ।
ध्वजा लहराई ज्ञान की घर–घर, 'निर्मल' अभिनन्दन करता आपका ।।

आस्था के दीप

रोशनी की चिर प्रतीक्षा में,
विनत मदनत नयन ।
पार्श्व में सुधि ने संजोये
अबुझ अल्हड से सपन ।।१।।

सगुण पक्षी छेडता है
राग सौंधी ज्ञान में ।
तोड मर्यादा लगा बहने
सुरभि के साथ मन ।।२।।

कवि : श्री. कोमलचंदजी 'मृदुल', खुरई

गुरुवर प्रणाम !

श्रद्धेय श्री देवकीनंदन
तुम को नम्र नमन मेरा ।
धर्मपिता तुम, गुरुवर तुमको,
पावन वंदन है मेरा ।।१।।

कुन्दकुन्द की शुद्ध दृष्टि को,
उमास्वामी के तत्त्वों को ।
आचार्य श्री समन्तभद्र की,
तार्किक निस्पृह वाणी को ।।२।।

हृदयंगम कर जैनधर्म का,
प्रचुर प्रचार–प्रसार किया ।
सामाजिक संघर्षों को भी,
यत्र तत्र उध्वस्त किया ।।३।।

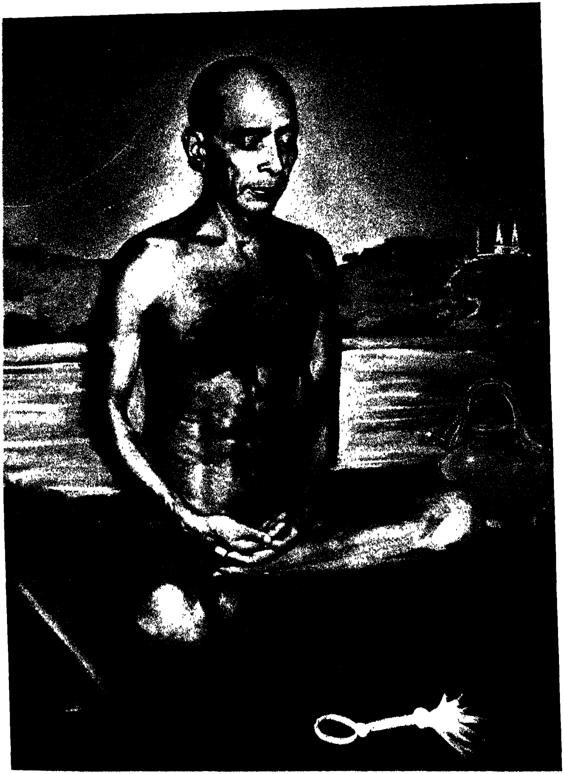
गुरुकुल के उत्थान कार्य में,
निष्ठा से सहयोग दिया ।
सामाजिक उत्कर्षों में भी,
योगदान सम्पूर्ण दिया ।।४।।

स्वाभिमान के मान–बिंदु तुम,
समाज के नित सेवक तुम ।
अपार अनुपम ज्ञान–सिंधु तुम,
शिष्यों के अभिभावक तुम ।।५।।

जिनदर्शन के भाष्यकार तुम,
भाषा के तुम वैभव हो ।
सरस्वती के वरद पुत्र तुम,
उदारता के गौरव हो ।।६।।

स्मृतियों की निर्मल श्रद्धांजलि,
तुम को अर्पण करता हूँ ।
मन के भावों की गीतांजलि
आदर से मैं गाता हूँ ।।७।।

कवी : पं. मधुकर गडेकर
एम.ए., बी टी., विशारद
हिन्दी भाषारत्न, नागपुर



परमपूज्य गुरुदेव १०८ श्री समन्तभद्रजी महाराज

प. पू. गुरुदेव श्री १०८ समंतभद्रजी महाराजांचे

हृदयोद्गार

(पू. गुरुदेवश्रींची मुलाखत)

मुलाखतकार : पं. धन्यकुमार भोरे

[प. पू. गुरुदेव श्री. १०८ समंतभद्र महाराजांचाच हा शुभसंकेत होता की, "स्व. पं. श्री. देवकीनंदनजी शास्त्रीचे सर्व गुरुकुलावर, गुरुकुल व्यवस्थापकावर तसेच स्वयं महाराजावर अतिशय उपकार आहेत. अतएव त्यांचे स्मरण म्हणून कृतज्ञता प्रगट करण्याच्या उद्देशाने एक "स्मृतिग्रंथ" प्रकाशित व्हावयास पाहिजे." असा अंतरीचा भाव महाराजश्रीनी स्वयं प्रगट केला. प. पू. गुरुदेवश्रींचा स्व. पंडितजीसह जवळपास २०-२२ वर्षे अत्यंत घनिष्ट संबंध होता. अतः प. पू. गुरुदेवश्रीचे स्व. पं देवकीनंदनजीबाबत हृदयोद्गार या स्मृतिग्रंथामध्ये प्रकाशित व्हावेत ही संपादक मंडळाची मनोमन भावना होती. म्हणूनच पू. महाराजांनी काही लिहावे अशी त्यांना प्रार्थना केली. परंतु ९५ वर्षाचे वय असल्यामुळे याबाबत त्यांनी आपली असमर्थता व्यक्त केली.

तेव्हा महाराजश्री स्वयं म्हणालेत- "आपण जे काही विचारू इच्छिता ते विचारा. मला जे आणि जेवढे स्मरण आहे, ते आणि तेवढे मी सांगेन. नतर आपण त्यास शब्दांकित करू शकता." जेव्हा महाराजांनी असा भाव प्रगट केला तेव्हा संपादकापैकी एक पं. धन्यकुमार भोरे यांनी एक प्रश्नावली तयार करून त्यांची तास दीड तास मुलाखत घेतली. ती सर्व मूलतः मराठी भाषेत घेण्यात आली. ती मुलाखत टेपरेकार्ड केलेली आहे. तेच त्यांचे हृदयोद्गार या स्मृतिग्रंथाचे प्रारंभी प्रकाशित करताना संपादक समितीला अतिशय प्रसन्नता वाटते.

याचाच हिंदी अनुवाद हिंदीभाषी समाजघटकाना समजावा म्हणून तोही यानतर देण्यात आलेला आहे. दोन्ही मुलाखतीत महाराजानी आपला निर्देश नाव न घेता महाराज म्हणून केलेला आहे. ही गोष्ट वाचकानी आवर्जून लक्षात घ्यावी]

प्रश्न- संस्थेच्या प्रारंभापासून तर पंडितजी, सस्थेमध्ये नव्हते. तेव्हा पंडितजीचा संस्थेला योग मिळावा हा विचार समोर कसा आला व पडितजीना कारजाला आणण्याची योजना कशी कार्यान्वित झाली ?

उत्तर- "संस्था स्थापन करण्यामध्ये व तिच्या सरक्षणामध्ये स्व. श्री प्रद्युम्नसावजी, जबुसावजी आदींचा फार मोठा योग होता. संस्था स्थापन करण्यापासून धोरणविषयक आणि अर्थविषयक प्रमुख प्रश्न आदि बाबत त्यांचा निर्णय योग्य असे. सस्था स्थापन करण्यासाठी ध्रुवफंडाची रक्कम कारंजामधून एक-मुस्त पन्नास हजार गोळा करणे व त्यावर किमान एक लाख ध्रुवफंडावरील व्याजाएवढे उत्पन्न मिळविणे ही जबाबदारी दोघांनीही घेतली होती, कारण महाराजांची एक लाख ध्रुवफंडाची अट होती. त्याची पूर्ती त्यानी अशा प्रकारे केली. प्रथमच्या २-३ वर्षामध्ये विद्यार्थी अल्पवयीन होते. त्यामुळे दर्शन-पूजा स्तोत्र वगैरे पाठ करणे, १- २- ३- ४ भाग, प्रवेशिका, छहढाला इतपत धार्मिक शिक्षणाचा अभ्यास स्वयं श्री. प्र. सावजी आणि महाराजांनी करून घेतला.

परंतु पुढे विद्यार्थी वाढले आणि या पुढील धर्मग्रंथाचा अभ्यास करून घेण्याचा प्रश्न होता. त्यावेळी श्री. प. गोपालदासजी बरैया यांच्या मोरेना विद्यालयाचा आणि प्रथम पिढीतील पंडितांचा खूपच चागला नावलौकिक होता तेव्हा आपले आश्रमही हे मोरेनाप्रमाणे धर्मशिक्षणाचे नामांकित केन्द्र व्हावे असे सर्वांनाच वाटू लागले. त्यासाठी धर्मशिक्षण देण्याकरिता उच्च धर्मग्रंथ (गोमट्टसार सर्वार्थसिद्धि वगैरे) ग्रंथ शिकविण्यासाठी एक उत्तम पडित असावा अशी गरज जाणवू लागली. म्हणून एक पडित पाहावा असे ठरले. त्यासाठी स्व. श्री जयकुमार चवरे वकील आणि प्रद्युम्नसावजी मोरेनाला पडित आणण्यासाठी गेले.

तेथे पोहोचल्यानतर विद्यालयाचे अधिष्ठाता प धन्नालालजी कासलीवाल याची भेट झाली पं. मक्खनलालजी, खूबचदजी आदि नवीन तयार झालेल्या पडिताचाही परिचय झाला. तेथे स्वागत व व्यवस्था करण्यापासून अनेक कारणाने प देवकीनदनजींचा परिचय झाला. दोघानीही प. देवकीनदनजी याना कारंजा सस्थेसाठी प्रधान धर्माध्यापक म्हणून पाठविण्याची प. धन्नालालजी याना मागणी केली व केवळ दोन वर्षाच्या कराराने प. जीना परवानगी मिळाली.

प्रश्न- आपणास त्या उभयतांची निवड कशी काय वाटली ?

उत्तर- "माणसाची पारख दोघांनाही होतीच त्या जौहरींनी कारजासाठी जे रत्न पारखले त्याची प्रतिभा, तेज महाराजांना दिपवून गेले त्याची निवड एकदम योग्य व अति उत्तम ठरली."

प्रश्न- आपणास त्याची निवड कोणत्या कारणांनी उत्तम वाटली ?

उत्तर- "पं. गोपालदासजीच्या विद्यालयातून बाहेर पडलेल्या पडिताच्या पिढीने समाजाला स्तिमित केले व समाजानेही त्यांचे फार मोठे स्वागत केले जे त्यांच्या जीवनासबधी ऐकले यावरून त्याच्याविषयी फार मोठी आशा होती. जरी एक बडखोर विद्यार्थी म्हणून ते विद्यार्थी दशेमध्ये गाजले तरीही त्याच्या वडपणात बुद्धिमत्तेची चमक व नेतृत्वाची चुणुक होती स्व. गुरु गोपालदासजी सबधी त्याच्या मनात नितान्त आदर व भक्ती होती पं. देवकीनदनजी आपल्या गुरूसोबत सावली सारखे राहात. प्रवासामध्ये त्याना सर्व सुखसोयी उपलब्ध करून देत आणि प गोपालदासजींची घरची आणि दुकानची पडेल ती कामेही करीत प. गोपालदासजींनी सस्थेमध्ये राहून धर्माध्यापक म्हणून काम करण्याचे विचारले तेव्हा कसलीही अट न घालता त्यानी एकदम स्वीकृती दिली होती."

प्रश्न- पडितजी कारजा सस्थेमध्ये आल्यानतर त्याच्या जीवननिर्वाहाची व्यवस्था कशी करण्यात आली ?

उत्तर- "पडितजींनी कारजाला येण्याची जी स्वीकृती दिली त्यावेळी त्यानी कोणतीही अट घातली नाही. परतु त्याबाबत त्याची निश्चित दृष्टि होती "आपल्या समाजांत नोकरी करावयाची नाही व कोणत्याही श्रीमान् शेठजीकडे नोकरी करावयाची नाही." कारजा या दोन्ही दृष्टींनी त्याना अनुकूल होते पण जैन समाजातील प्रथम पडित पिढीमधील एका नामवत विद्वानाशी आपला व्यवहार फक्त सौजन्याचा असून भागणार नाही तर त्याच्या मानसन्मानाची सुरक्षा ठेवणेही जरूर होते. त्याना "पगारी नोकर" म्हणून ठेवणे हे त्यांच्या प्रतिष्ठेला कमीपणा आणणारे होईल त्यामुळे ते नोकर म्हणून न राहताही आपण त्यांच्या जीवन-निर्वाहा-साठी मानधनाची व्यवस्था करावी असे महाराजाचे भाव होते. आपले भाव महाराजांनी उपरोक्त दोन सावजींजवळ प्रगट केले त्यानेही भाव तेच होते. त्याच्या विद्वत्तेचा आपण बहुमान राखावा या मताशी तेही सहमत होतेच. साधारणत त्यावेळी मोरेना येथे शिकून तयार झालेल्या विद्वानांना त्याकाळी समाजामध्ये शभरचे जवळपास मि त असत. तेव्हा त्याना कमीतकमी शभर रुपये दरमहा मिळत राहतील अशी व्यवस्था करण्याचे दोघानीही मान्य केले. जे किमान असे मिळत तेवढे दरमहा नियमितपणे मिळत राहावे हे ठरवून दोघानी स्वतत्र पुजी उभी केली व याप्रमाणे मानधनाची पूर्तता केली.

प्रश्न– पंडितजींच्या जीवननिर्वाहाची याप्रकारे व्यवस्था करावी असे आपणास का वाटले ?

उत्तर– "समाजसेवा आणि धर्मकार्य करावे हे ज्यांचे ध्येय त्यांना ते काम निराकुलपणे करता यावे व समाजाने त्यांचे व्यक्तित्वाकडे व योगदानाकडे आदराने पाहावे ही महाराजांची प्रथमपासूनच वैचारिक भूमिका होती. महाराजानीसुद्धा गुरुकुल स्थापन करून त्या द्वारा धर्मशिक्षणाचे कार्य, सेवाव्रत-जीवननिष्ठा म्हणून अंगीकारले तेव्हाही महाराजांची स्वतःसबंधी हीच भूमिका होती व ती त्यानी प्रद्युम्नसावजी व जंबुसावजीं-जवळ प्रकट केली होती. "महाराज सस्थेमधून एक दिडकी घेणार नाहीत. लेख लिहून व अन्य मार्गाने महाराज आपल्या निर्वाहापुरती सोय करतील, त्यामुळे संस्थेच्या कारभारामध्ये अडचण वा ढिलाई येणार नाही. सवडीच्या वेळी ते काम महाराज करतील." असा त्यांचे समोर प्रस्ताव माडला. तेव्हा त्यांनी महाराजाना आश्वस्त केले की, "आम्ही आपल्या निर्वाहासाठी सस्थेतून एक पैसाही खर्ची घालणार नाही. आपल्या भोजन औषधादीही सर्व व्यवस्था आम्ही स्वयं अन्यप्रकारे करू." तेव्हाच महाराजांनी कारंजाला राहण्याची स्वीकृती दिली होती. त्याचप्रमाणे सन्मानाने पंडितजीना संस्थेचे एक आजीवन मानद कार्यकर्ते म्हणून सामावून घ्यावे, समाजातील कोणत्याही माणसाने पडितजीकडे नोकर म्हणून पाहू नये शिवाय त्यांना ट्रस्टीही करून घ्यावे अशी ही त्यामागे महाराजांची दृष्टी होती. आणि सदैव हीच दृष्टी पुढेही राहिली आहे. कारंजा आश्रमच्या रौप्य महोत्सवापर्यंत कारंजा गुरुकुलातून तयार झालेल्या पिढीतून गुरुकुल परिवाराचे काम साभाळणारे सेवक तयार झाले व तेव्हा त्यांनीही सेवा याचप्रकारे करावी असाच महाराजांचा आग्रह होता व म्हणूनच त्याप्रसंगी "जैन गुरुकुलसेवा मंडळ" ही स्वतंत्र संस्था स्थापन करून त्याद्वारा आजीवन मानद सेवकांच्या मानधनाची व्यवस्था करण्यात आली. महाराजांचा आजन्म अविवाहित राहण्याचा सकल्प होताच. त्यामुळे त्याच्या उपजीविकेची गरज नगण्यच होती. पुढे क्षुल्लकपद घेतल्यानंतर त्याचीही आवश्यकताच राहिली नाही.

प्रश्न– आपण यापूर्वी सूचित केल्याप्रमाणे आजीवन सेवकांना पगारी नोकर म्हणून ठेवू नये हे तर लक्षात आले. परंतु त्याच्या मानसन्मानाची सुरक्षा करून त्यांना सस्थेचे एक अभिन्न अंग बनवावे ही गोष्ट आपण कशी काय साध्य केली ?

उत्तर– "ही गोष्ट सस्थेच्या पुढील इतिहास व कार्यवाही या यावरून स्पष्टच होते. स्वत: महाराजांना फक्त सेवा करावी, सेवकाने कोणतीही अभिकाराची जागा व मानसन्मानाची अपेक्षा करू नये, एवढेच माहीत. महाराजांना अधिष्ठाता पद देखील नको होते. म्हणून पडितजींनाच अधिष्ठाता पद द्यावे असे महाराजाचे म्हणणे होते. परंतु प्रथमत. त्याना उपाधिष्ठाता करण्यात आले आणि महाराजांनी क्षुल्लक दीक्षा घेतल्या-नतर कोणत्याही संस्थेचे अधिकारपद क्षुल्लकपदास योग्य नव्हे, पदाविना फक्त मार्गदर्शन तेवढे करावे. त्यामुळे महाराजांनी अधिष्ठातापद सोडण्याचे ठरविले व पडितजीना अधिष्ठाता करण्यात आले. याप्रमाणे प्रारंभापासूनच पडितजी संस्थेचे एक अभिन्न अग बनून होते. यांत त्यांच्या सन्मानाची सुरक्षाही होती व कार्याच्या निर्वाहासाठी ते आवश्यकही होते."

प्रश्न– याबाबतीत स्वत: पडितजीची काय भूमिका होती ?

उत्तर– "त्यांना नोकर म्हणून यावयाचे नव्हतेच. म्हणून त्यांनी पगाराचा प्रश्नच उपस्थित केला नाही. त्यांचे गुरू गोपालदासजीनी त्यांना संस्थेत योग देण्याचा प्रस्ताव ठेवला होता, तेव्हाही त्यांनी सर्व काही गुरुजींवर निर्विकल्पपणे सोपवून युवा पिढीला धर्मज्ञानाबाबत शिक्षित करण्यासाठी वाहून घेतलेच होते. त्यांच्या या वृत्तीने महाराज स्वयं अतिशय प्रभावित होते. म्हणूनच त्यांच्या मानधनाची व्यवस्था अन्य रीतीने करण्यात आली."

प्रश्न– पंडितजींना धर्माध्यापक म्हणून नियुक्त करण्यात आले असेच ना ?

उत्तर– "नाही ! एवढेच नाही ! धर्माध्यापनाची धुरा तर त्यांचे खांद्यावर होतीच परंतु इतर वेळी संस्थेचे ध्येय धोरण ठरविणे, संस्थेच्या संचालनात अंतर्गत किंवा अवांतर काही प्रश्न, अडचणी उपस्थित झाल्या त्या सोडविणे, मुलांची भरती, शिक्षकांची नियुक्ती करणे आदि सर्वच बाबतीत त्यानी पूर्ण सहयोग दिला आहे. संस्था हाच त्यानी आपला आत्मा समजला, हेच म्हणणे जास्त उचित आहे."

प्रश्न– पंडितजीच्या धर्माध्यापनाबाबत आपला अनुभव व अभिमत ?

उत्तर– "पंडितजी स्वयं धर्माचे उत्कृष्ट मर्मज्ञ होते, प्रखर बुद्धिमत्ता होती व उत्कृष्ट प्रभावशाली वक्तृत्व होते, अध्यापनामध्ये शिष्याच्या हृदयाला स्पर्श करणारा ओलावा होता. त्यामुळे ते खरे धर्माध्यापक होते. यात विकल्प नाही. संस्थेमध्ये त्यांच्या येण्याने संस्था ध्येयाच्या दिशेने प्रगती करू लागली. गोम्मटसार-जीवकांड, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि उच्च धार्मिक ग्रंथांचे अध्यापन केवळ त्यांच्यामुळेच होऊ शकले."

प्रश्न– त्यापूर्वी धर्मशिक्षक म्हणून कोण होते ?

उत्तर– "स्वाध्यायपंडित श्री. प्रद्युम्नसावजी उद्योगधदा आटोपून रात्री संस्थेत येत तेव्हा प्रवेशिका पाठ करून घेणे हे करून घेत. महाराजांना संस्कृत येत होते. त्यामुळे रत्नकरंड, द्रव्यसंग्रह वगैरे महाराज स्वत: शिकवीत असत. परंतु महाराजाचा त्यावर अधिकार नव्हता. महाराज प्रथमत प्रद्युम्नसावजीचे समोर शिकवीत असत. महाराजांना मूळग्रंथ, त्याचा अन्वयार्थ लावणे एवढे माहीत ! या पलीकडे महाराजांची फार गती नव्हती."

प्रश्न– काय म्हणता हे ! हा तर केवळ विनय झाला !

उत्तर– "नाही ! हे अगदी खर होतं. महाराजाना रुची होती एवढं खरं ! अध्यात्म ऐकावं, शिकावं या भावनेने महाराजाचे पाय कारंजाकडे वळले. महाराज पडित थोडेच होते ! तसेच त्याचे धर्मग्रथाचे पद्धतशीर अध्ययनही झालेले नव्हते. परंतु धर्मसेवेची ओढ होती एवढ मात्र खर. पुढे जी तयारी झाली ती शिकवता शिकवता व स्वाध्याय करता करता झाली. पडितजी आल्यानतर प्रारंभी प्रारंभी महाराज पंडितजीसमोर विद्यार्थ्यांना क्षत्र–चूडामणि–सागारधर्मामृत शिकवीत असत. हा तर महाराजांचा धर्माध्यापनाचा अभ्यास होता. महाराज, पडितजी प्रद्युम्नसावजी मिळून रात्री व सकाळी स्वाध्याय करीत. पडितजीसमोर महाराज अर्थ सांगत, चर्चा होत असे. महाराजाना सुरवातीला धर्मज्ञान अगदी प्राथमिक स्वरुपाचे होते. पंडितजीच्या अनुपस्थितीत काही प्रश्न उपस्थित झाले तर पंडितजी आल्यावर त्याना बोलावून प्रश्नाचे समाधान शोधण्यात येत असे. पंडितजीनी वर्ग घेण्यापूर्वी महाराजाना सागून तयार करावं आणि नंतर महाराजांनी शिकवावं. महाराजाची तयारी पडितजीनी करवून घ्यावी ही अवस्था होती महाराजाना जो काही ज्ञानाचा विकास प्राप्त करता आला, जे धर्मज्ञान मिळाले, त्यादृष्टीने सेवेला ज्ञानाची जोड लाभली हा पंडितजीचा महान उपकार आहे महाराज महाराज बनलेत ते पंडितजी आणि प्रद्युम्नसावजीमुळे ! महाराज हे उपकार विसरू शकत नाही."

प्रश्न– पंडितजीच्या धर्माध्यापनाशिवाय अन्य कोणत्या प्रकारे प. चा सहयोग प्राप्त झाला ?

उत्तर– "सर्वच दैनंदिन व्यवहारामध्ये, संस्थेच्या अतर्गत व्यवस्थेत ज्या अडीअडचणी उपस्थित होत त्यातून मार्ग काढून दाखवावा तो पंडितजीनी ! पालक विद्यार्थ्यांना भरती करण्यासाठी आले तर त्यातही पंडितजीचा सल्ला मोलाचा असे. त्यात श्री. गोसावी गुरुजीचाही फारच सहयोग असे. मुलं दाखल झाल्यानंतर नवीन वातावरणात रमत नसत, ते घरी परतण्याचा गोष्टी करीत. त्याना आपल्या सोबत घरी नेऊन, प्रसंगी

जेबू घालून त्याची आळवण करावी ती पंडितजींनीच. विद्यार्थ्यांमध्ये चौकशी व शिक्षेच्या कारणाने मनोमालिन्य आले तर तेही पंडितजी आपल्या चतुराईने व गोड व्यवहाराने दूर करीत. गावातील सद्गृहस्थांशी बाह्य व्यवस्थेबाबत मतभेद झाले तर त्यातूनही मार्ग काढण्यासाठी पंडितजीचे दृष्टिसंपन्न सहाय्य मिळे ते तोलामोलाचे असे. पंडितजीचा स्वभाव अत्यंत निगर्वी आणि मनमोकळा. त्याचे कुणाशी भांडण नसे हे म्हणण्यात अतिशयोक्ती नाही. गावात समाजामध्ये बहुधा प्रत्येक व्यक्तीकडे (त्यात संस्थेशी ज्याचा दुरावा होता तेही आलेत) पंडितजींची बैठक असे. ऊहापोहामध्ये केवळ गप्पांचे स्वरूप न राहता त्यातून पं. जी त्याचे घरगुती प्रश्न सोडवीत व आपसातील भाडणे सुद्धा मिटवीत. शिवाय संस्थेबाबत सद्भावना टिकवून ठेवणे, वाढविणे हेही साध्य होत असे ते वेगळेच. शिक्षकामधील प्रश्नही सोडविण्यात त्याचा मोलाचा सहकार लाभला आहे. पंडितजीना समोरच्या व्यक्तीच्या मनाचा थांगपत्ता अचूक लागत असे. प्रसंगविशेषी कसे व काय बोलावे याचे ज्ञान व समयज्ञता इ. ची त्याना निसर्गदत्त देणगी होती. त्यामुळे आश्रमच्या विरोधी व्यक्तीकडे बैठक झाली आणि त्यानी तक्रार केली तर पंडितजी त्याचे तत्काल उचित समाधान करीत. प्रसंगविशेषी उद्भवलेल्या अनेक संकटातूनही पंडितजींनी संस्थेला वाचविले आहे. महाराजांच्या खांद्याला खांदा भिडवून संस्थेचा कारभार उचलला आहे. 'पंडितजींनी काय केले ?' या प्रश्नापेक्षा 'त्यानी काय करण्याचे बाकी ठेवले ?' हाच प्रश्न या संदर्भात उचित होईल"

प्रश्न– पंडितजीची विद्वत्ता आणि वक्तृत्व व शिकविण्याची पद्धत या बाबत आपला अनुभव व अभिप्राय कोणता ?

उत्तर– "पंडितजी कुशाग्र, तीक्ष्ण बुद्धिमान होते. ज्या ग्रंथाचे अध्ययन व वाचन ते करीत त्याचे रहस्य ते तात्काळ शोधून आत्मसात करीत. अर्थ कदाचित लागला नाही तर तो प्रश्न व त्या ओळी त्याचे नजरेसमोर जणू तरंगत असत. त्याचे समाधान सापडल्याशिवाय त्याना चैन पडत नसे. त्याच्या वक्तृत्वाबाबत काय बोलावे ? विद्यार्थीदशेमध्ये सहजच त्याच्या सहपाठींनी 'अजी बडे व्याख्यान–वाचस्पति बन गये !' म्हणून उपहासही केला परंतु पुढे प्रत्यक्षात खरेच वाचस्पती झाले सर्व समाज त्याना "व्याख्यानवाचस्पती" म्हणून ओळखत होता. प्रसंगविशेषी ते प्रवचनासाठी–व्याख्यानासाठी बाहेरगावी व गावातही जात. संस्थेमध्येही व्याख्याने होत. प्रतिपाद्य विषयासह पंडितजी आपल्या भावविभोर पद्धतीने समरस होत व आपणा बरोबर श्रोत्यानाही रसमग्न करीत. त्यांच्या प्रवचनांत तद्री लागलेला श्रोतृवृन्द प्रवचन समाप्त झाल्यानंतरच जणू समाधीतून बाहेर येत असे. त्यानी ठिकठिकाणच्या सभा अक्षरशः जिंकल्या आहेत.

त्याची शिकविण्याची पद्धतही अशीच अपूर्व होती. विद्यार्थ्यांना प्रतिपाद्य विषयांचे रहस्य अचूक कळावे हा त्याचा प्रयत्न असे. प्रथमतः विषय सांगून तदनुकूल गोष्टी व इतर अनुभव सांगून पंडितजी विद्यार्थ्यांची चेतना जागवीत. प्रथमत. लहान वयात ६–७ वी पर्यंत हिंदी न समजल्यामुळे त्यांना रस येणे कठीण जाई पण पुढे सराव होऊन जात असे. त्याची विषय प्रतिपादन शक्ती, वक्तृत्व व समयज्ञता यामुळे गुरुगोपालदासजीही प्रभावित होतेच. अनेक प्रसंगी पंडितजीच्या उपरोक्त गुणामुळे आलेले बिकट प्रसंग निभावून गेले. मोरेनातून बाहेर पडलेल्या प्रथम नामवंत पिढीमध्ये ते एक चतुरस्र विद्वान होते व त्यांचा संस्थेला लाभलेला योग हा भाग्ययोगच म्हणावा लागेल !"

प्रश्न– पंडितजींचि कार्यपद्धति व व्यवहार याबाबत कार्यकर्त्यांमध्ये कधी मतभेद व विरोध झालाच असेल की ?

उत्तर– "मुळीच नाही ! संस्थेचे कार्यकर्ते पंडितजींच्या समर्पित सेवावृत्तीने भारावलेले होते. सर्वांची एकमात्र कार्यैकदृष्टी असे. संस्थेचे काम एकमताने व्हावे हा महाराजाचा कटाक्ष असे. कार्यापूर्वी परस्पर ऊहापोह होत असे, त्याची जरुरी असतेच. पण निर्णय मात्र एकमतानेच होई ! पंडितजींच्या व्यवहारकुशलतेबरहुी

प्रद्युम्नसावजी, जबुसावजी, प्रभुदाससावजी सर्वच बेहद्द प्रसन्न होते. महाराज आणि पंडितजींमध्ये कधीही मतभेद नव्हतेच. अनेक वेळा त्यांच्या सल्ल्याने योग्य मार्ग निघून संघर्ष टळत असे.

प्रश्न– अगदी सुरवातीला १९२४ मध्ये आश्रमांत जी पहिली पंचकल्याण प्रतिष्ठा झाली त्यावेळी आपण हजर नव्हता, ते कांही मतभेद या मुळेच ना ?

उत्तर– " मुळीच नाही ! प्रतिष्ठा ठरली आणि प्रतिष्ठेचे पौरोहित्य स्वस्तिश्री भट्टारक वीरसेनजी स्वामींकडे होते. त्यांचे मार्गदर्शन ही संस्थेच्या समाज-सेवेची ग्वाही होती. अनेकाचा विरोध पत्करूनही त्यानी या कामी परिपूर्ण योगदान दिले आहे. पंडितजीचे व स्वस्तिश्री वीरसेन महाराजाचे सबध चांगले आत्मीयतेचे होते."

प्रश्न– या शिवाय पंडितजीनी संस्थेला जो योग दिला त्यातील काही संस्मरणीय भाग आपणास आठवत असेल तर तो सांगावा. सस्थेच्या प्रारंभिक दशकानतर जी डेप्युटेशन काढावी लागली ती का ! व त्यांत पंडितजींचा सहभाग काय होता !

उत्तर– " बरं विचारलत ! त्यात तर संपूर्ण महभाग व श्रेय पंडितजीचेच मानले पाहिजे. संस्थेची आर्थिक स्थिती उळमळीत होऊ लागली. जागतिक मंदीमध्ये शेतकरी भरडल्या गेला. त्यासाठी सरकारने त्याना वाचविण्या-साठी नवीनपणे लवाद कोर्ट निर्माण केली. सस्थेच्या रक्कमेची गुंतवणूक सावकारीमध्ये करून त्यांतून १०–१२ हजाराचे उत्पन्न मिळत असे. पण शासनाच्या नवीन योजनेमुळे व्याज व मुद्दलही जाण्याचा धोका निर्माण झाला. शेतजमीन गोळा झाली, पण संस्थेचा दैनंदिन खर्च भागविणे जिकीरीचे झाले घाटापूर्तीचेही प्रयत्न झाले. तरीही त्या वातावरणात आर्थिक स्थिती खालावतच गेली. प्रद्युम्नसावजी, जबुसावजीनी आजुबाजूला फिरून दान सकलन व सदस्य वाढविण्याचा प्रयत्न केला. पण त्याला मर्यादा पडली ! संस्था उभारणीचे वेळी ध्रुवफंड संकलित करण्याचे व जवळच्या परिचित समाजातून दान गोळा करण्याचे चातुर्य सर्व प्रद्युम्नसावजीचे. पण बाहेरून दान आणून सस्था जिवत ठेवण्याचे श्रेय ते पंडितजीचेच ! वाढत्या खर्चाची तोडमिळवणी व्हावी यासाठी सोलापूर, आळद, धाराशीव, दुधनी आदि दक्षिण महाराष्ट्रात व इतर भागांतही डेप्युटेशन काढावयाचे ठरले. त्यांत प देवकीनदनजीचे नेतृत्व होते. पंडितजीनी प्रथमत. व्याख्यान–प्रवचने द्यावीत, नंतर लोकाना प्रेरणा द्यावी. पडितजीची व्याख्याने अतिशय प्रभावी व समयोचित होत. त्यामुळे डेप्युटेशनमध्ये दाताराचे सहकार्य मिळाले. ती किमया खरोखर पडितजींचीच ! नंतर इन्दूर, खुरई, जबलपूर, बुंदेलखंडामध्ये व दिल्ली कानपूर वगैरे ठिकाणी पर्युषण, प्रतिष्ठा, सभा संमेलने वा अन्य निमित्ताने पंडितजी जात असत. त्यांचे सोबत प्रवासात कोणी तरी आश्रमचा विद्यार्थी असे. प्रथमत. पडितजी सोबतच्या विद्यार्थ्याला ५–१० मिनिटे बोलावयास लावीत. आश्रमच्या विद्यार्थ्यांची तयारी पाहून समाज फारच प्रभावित होत असे. नतर पंडितजी सहज प्रेरणा-करीत. आधी सेवा नतर प्रेरणा. तीही आब ठेवून. लाचारी नाही.

पंडितजीचा निस्पृहपणा पाहून समाज भारावून जात असे. समाज त्यांना काही बिदागी देत असे. पण पंडितजी आपल्या आयुष्यांत एका पैशालाही शिवले नाहीत. ते फक्त मानाचे श्रीफळ तेवढे घेत. जे बाहेरून दान मिळाले ते सर्व त्यांनी सस्थेत पै न पै जमा केले आहे. सोबत विद्यार्थ्याला नेण्याचा प्रभाव फार पडत असे. महाराजांना आठवते एकदा इन्दूरला पडितजीनी माणिकचद चवरेना (तात्यांना) सोबत नेले होते तात्यांचा परिचय, कुलवारसा व सेवायोग–ब्रह्मचर्य हे ऐकून समाज आश्चर्यमुग्ध होई. एक श्रीमंत मुलगा ब्रह्मचारी राहतो व सस्थेला निरपेक्ष जीवन वाहून घेतो हे पाहून संस्थेविषयी प्रेम उत्पन्न होई. सर हुकुमचंद शेठजींनी तर तात्यांना आलिंगनच दिले. " आम्ही कोणीही त्यागी सेवक निर्माण करू शकलो

नाही पण महाराजांच्या संस्थेतून असे सेवाव्रती बाहेर पडताहेत " असे उदगार आनंदविभोर होऊन सहज बाहेर पडले. याप्रमाणे या ढासळलेल्या परिस्थितीत पंडितजींनीच संस्था सावरली. पंडितजींनी श्री नेमचंद वकील धाराशिवकर याना हजार मागावेत आणि त्यांनी स्वय अडीच हजार रुपये खुशीने द्यावेत असेही कधी कधी घडत असे. याप्रमाणे बाहेरून दान आणून संस्था जिवत ठेवण्याची कर्तबगारी पंडितजींचीच व श्रेयही पंडितजींचेच आहे. पंडितजींचे संस्थेवर आणि महाराजावर फार उपकार आहेत.

प्रश्न– आपण १९३४ मध्ये ब्यावर येथे क्षुल्लक दीक्षा घेतली त्यामध्ये प्रेरणा कोणाची ? पंडितजींची का ?

उत्तर– " नाही ? त्यांची अनुमती नव्हती. उलट त्या प्रसंगी त्यांचे डोळे आसवांनी डबडबले होते. महाराजांनी बालपणी विद्यार्थी दशेत ठरविल्याप्रमाणे महाराजाना त्यागमार्गाने चढावयाचे होते आचार्य श्री शांतीसागर महाराजांचा ब्यावरला चातुर्मास असताना महाराज तेथे गेले होते. आचार्य श्रींनी विचारले " ब्रह्मचारीजी ! आता पिंछी केव्हा घेणार ? " महाराज " – माझी तयारी आहे पण मला संस्थेच्या कार्यात सल्ला अनुमती देण्याची अनुज्ञा असेल तर ! आचार्य श्री शांतिसागर – " हे कसं करता येईल ? " यावर बरीच भवति न भवति सघात व उपस्थित पंडित वर्गामध्ये झाली व आचार्य महाराजानी निर्णय दिला तो शेवटी असा की– " ब्रह्मचारीजी ! तुम्हाम क्षुल्लक दीक्षा घेता येईल व संस्थेचे काहीही पाहता येईल. " या निर्णयानतरच कारंजास तार केला व पंडितजी तेथे पोहोचले.

" ब्यावरच्या शास्त्री परिषदेमधील चर्चेमधे दुसरीही एक मोठी विवादास्पद चर्चा होती. त्या प्रश्नाबाबत किंवा इतरही अनेक बाबींसबधी पंडितजींचे विचार सुधारकी वळणाचे आहेत. त्यांना संस्थेत ठेवाययाम नको असाही अनाहूत सल्ला आला पण महाराजानी एकान्तात प पू आचार्य शांतिसागर महाराजाना ठामपणे सांगितले की " हे होणे नाही कदापिही होणार नाही ! " पंडितजींचे संस्थेवरील उपकार अगणित आहेत पंडितजी म्हणजे संस्थेचा प्राण ! संस्था त्याना अंतर देऊ शकत नाही. त्याची मते त्यांनी संस्थेच्या कार्यात घातक तर होऊ दिलीच नाहीत, परंतु प्रत्येक प्रश्नावर समाज न दुभगता एक–संध राहील असाच त्याचा प्रयत्न असतो. त्याना कोण बोलवीत नाही ? शेठ हुकुमचंदजी सारखे त्याना बोलवीत आहेतच. परंतु संस्था त्याना सोडू शकत नाही. मोठ्या निर्धाराने महाराजांनी पंडितजींच्या सदर्भात आपली भूमिका स्पष्ट केली. ते कोणत्याही दबावाला बळी पडले नाही. आचार्यश्रींनीही ती चर्चा संपविली."

" महाराजानी दीक्षा घेतल्यानंतर संस्थेचे कसे होणार म्हणून पंडितजी व कार्यकर्ते चिंतेत होते. महाराजाच्या प्रकृतीला हा त्याग कसा झेपेल हीही चिंता होतीच सर्वांनी महाराजाना परावृत्त करण्याचा प्रयास केला. पण महाराजाचा निर्णय ठाम होता व त्यानी आचार्यश्रींना सांगून मुहूर्तही काढला होता. पंडितजींनी आचार्यश्रींना परोपरीने विनवून सांगितले की, संस्थेच्या द्वारा होणाऱ्या धर्मशिक्षण आणि प्रभावनेच्या कामात बाधा येईल. तेव्हा हा मुहूर्त पुढे तरी ढकलावा परंतु आचार्यश्रींनी सर्वांना आश्वस्त केले की – " पंडितजी क्यों व्यर्थ चिंता करते हो ? पिंछी हाती आल्यानंतर संस्थेचे काम आणखी सुचारुपणे चालेल. चिंता करू नका ! " अशी क्षुल्लक दीक्षा संपन्न झाली. पंडितजींची संमती नव्हती. परंतु निर्णय पक्का झाल्यानंतर व्रताच्या निर्वाहासाठी सर्वतोपरी त्यानी मदतच केली. क्षुल्लक दीक्षा घेतल्यानंतर नवीन वेषात पिंछी कमंडलूसह महाराज कारंजाला आले. आणि महाराजानी अधिष्ठातापद सोडून ते पंडितजींना प्रदान केले. पंडितजी संस्थेच्या सर्वश्रेष्ठपदी विराजमान झाले."

प्रश्न– आपणास महाराजांनी तर संस्थेचे काम सांभाळून अनुज्ञा दिली होती ना ! मग अधिष्ठातापद सोडण्याचे प्रयोजन काय होते ?

उत्तर– " अकरावी प्रतिमा, उत्कृष्ट श्रावकलिंग घेऊन पदाचा व्यामोह उचित नव्हता. म्हणून महाराजांनी ट्रस्टीशिपचाही राजीनामा अगोदरच पाठविला होता व उपरोक्त निर्णय घेतला. यापुढे महाराज सल्लागार ज्ञाताद्रष्टा म्हणून राहणार होते. त्याना पदाचा परिग्रह योग्य नव्हे."

प्रश्न– जशी आपण दीक्षा घ्यावी याला पंडितजींची अनुकूलता नव्हती तशीच आपण बाहुबली येथे संस्था काढावी यालाही अनुकूलता नव्हती असे कळाले. तरीही आपण संस्था तर काढलीच. मग मतभेद मुळीच नव्हते असे कसे म्हणता येईल ?

उत्तर– " पंडितजींचा संस्था काढण्याला विरोध नव्हता. परंतु नवीन संस्था काढल्याने कारंजाकडे दुर्लक्ष होईल हीच त्यांना विवचना होती. महाराजानी त्याना परोपरीने सांगितले " दुर्लक्ष होणार नाही. चि. माणिकचंद वगैरे मंडळी जबाबदारी सांभाळण्यास समर्थ झाली आहेत. शिवाय आपण लोक आहातच. आणि आपणास महाराजाचे मार्गदर्शनही लाभणारच आहे. तेव्हा चिंता न करावी." महाराजांचे चिर-परिचित जज्ज श्री. मोहनलालजी दोशी, श्री. भट्टारक जिनसेनजी, ब्र. जिनदासजी इत्यादी दक्षिणेकडील मंडळीचा निर्णय होताच. सर्वप्रकारे अनुकूलता व प्रोत्साहन होते. शेवटी संस्था काढायचा मुहूर्त ठरला. महाराजांनी जे ठरवले त्याला सर्वप्रकारे पाठिंबा व सक्रिय योग द्यावा हीच पंडितजींची भूमिका राहिली आहे.

प्रश्न– पंडितजींच्या मानधनासाठी जी व्यवस्था केली होती त्यास पंडितजी राजी होते का ? त्यातही पंडितजींना उद्वेग सहन करावा लागला काय ? जेव्हा त्यांना प्रश्नचिन्ह समोर उभे राही तेव्हा त्याचा निर्णय कसा होत आहे ?

उत्तर– " सर्वसाधारणपणे पंडितजी त्या व्यवस्थेबाबत राजीच होते. शेवटी दोन व्यक्तींच्या संबंधात प्रश्न उभे राहतातच. असे कधी उत्पन्न झालेही असतील, परंतु पंतजी अत्यंत उदार होते. असल्या मामुली भानगडीने ते व्यग्र होत नसत. कधी काळी विकल्प आला नर तो महाराजासमोर यायचा. महाराजांनी पंडितजी आणि प्रद्युम्नसावजी जबुसावजींना समजावून सांगून त्यातून समाधान शोधावे अशी पद्धती राहिली. महाराजांचे म्हणणे कोणीच उल्लंघीत नसत."

प्रश्न– पंडितजींनी पंचाध्यायी लिहावी व ती कारंजा येथून प्रकाशित व्हावी हे कसे घडले ? त्यात कारंजेकरांचा योग काय ?

उत्तर– " स्वाध्यायामध्ये पंचाध्यायी ग्रंथ येत असे. त्यामध्ये पंडितजी महाराज, प्रद्युम्नसावजी आदिकामध्ये चर्चा उहापोह होई. तेव्हा हे प्रकर्षाने जाणवत असे की पंडितजींचे विश्लेषण कधी कधी एवढे मूलगामी आणि तत्त्वस्पर्शी अनुभवास येई की, पंडितजींनी आपल्या दृष्टीने पंचाध्यायीचे पुनर्लेखन केले तर ते तत्त्वजिज्ञासूंना उपयुक्त होईल. पंचाध्यायी हा गुरू गोपालदासजींचा अत्यंत आवडता ग्रंथ व तो आहेही त्याच योग्यतेचा. यावरून तो ग्रंथ पंडितजींनी लिहून काढावा व कारंजातील श्रावकांनी तो प्रकाशित करावा हा विचार पुढे आला "

यापूर्वी पंडितजींच्या सेवेने प्रसन्न झालेल्या श्री प्रभुदास सावजींचा (श्री शिशुपालसावजींचे वडील त्यांचा) हा ग्रंथ प्रकाशित करण्याचा मनोदय होता. त्यासाठी त्यांनी संस्थेला एक प्रेस दानरूपाने देण्याची तयारी केली होती. त्या प्रेसमधून प्रथम प्रकाशन म्हणून पंचाध्यायी छापून बाहेर यावी यासारखा सुंदर योग कोणता ?"

" खरा प्रश्न वेगळाच होता–पंडितजी व्याख्यानवाचस्पती; परंतु लेखन करणे त्यांच्या स्वभावास मानवण्यासारखे नव्हते. एक लिपीक म्हणून पं. हजारीलालजींना त्यांच्या हाताखाली देण्यात आले.

पडितजींनी सांगावे, त्यांनी लिहून काढावे. पुनः वाचावे न पटलं तर पुन. चर्चा उहापोह करून दुरुस्ती करावी. या पद्धतीने वर्ष दीडवर्ष पंचाध्यायीचे लेखन झाले व पंचाध्यायी प्रकाशित झाली.

मुमुक्षु समाजाने त्याचे चांगले स्वागत केले. अनेक बाबी मुमुक्षु स्वाध्यायप्रेमींना स्पष्ट झाल्या. गुजराथेतही त्या अनुवादाचे स्वागत झाले. खुद्द श्री. कानजीस्वामी त्यांच्या या अनुवादाने प्रभावित झाले. त्यांना तो आवडला. त्यावरूनच गुजराथी अनुवाद करवला व प्रकाशितही करविला.

त्यामुळे पडितजीची कीर्ति विद्वन्मडळांतही पसरली. त्यानी आणखी लिहावे अशी मागणी होऊ लागली. सागारधर्मामृत हा पडितजीचा खास आवडता ग्रथ. त्या अनुषगाने ते प्रवचने-व्याख्याने देत असत. श्रोतेही ते ऐकून मत्रमुग्ध होत. त्यानी सागारधर्मामृतावर लिहावे ही समाजाची मागणी राहिली. आणि शेवटी पडितजीनी सागाव आणि प. हजारीलालजीनी लिहून काढाव, पुनः वाचाव, पडितजीनी सुधारणा सुचवावी याप्रमाणे त्याचाही अनुवाद पूर्ण होऊन प्रकाशित करण्याची जबाबदारी जैनमित्र सूरतने उचलली व ते काम झाले. पडितजीचे एवढेच लिखित साहित्य. परतु ते आहे अत्यत मौलिक स्वरूपाचे.

पं गोपालदासजी गुरुजीच्या पट्टावलीत तयार झालेले विद्वान म्हणून त्याचा नावलौकिक होताच. दि. जैन परपरेतील मूल षट्खंडागम (धवल) ग्रंथाचे संपादन अनुवाद होऊन तो प्रकाशित व्हावा यासाठी त्यानी भेलसा (विदिशा) येथील श्री लक्ष्मीचदजी सीताबरायजींना प्रेरणा केली व प्रकाशनाची योजना आखली. सपादनाची जबाबदारी डॉ. हिरालालजी प्राध्यापक किंग एडवर्ड कालेज अमरावती याचेवर सोपविण्यात आली. मदतीला प. फूलचदजी व प हिरालालजी शास्त्री याना देण्यात आले. एक फॉर्म तयार होऊन तो प्रेसला जाण्यापूर्वी पडितजीच्या अवलोकनासाठी कारजाला येत असे. त्यानी हिरवा दिवा दाखविल्यानतरच तो प्रेसमध्ये जाई, एवढा विद्वज्जनामध्येही त्याच्या प्रामाणिक विद्वत्तेचा आत्यतिक विश्वास व बहुमान होता. या प्रमाणे ते धवला सपादन व प्रकाशनाचे प्रेरक राहिले. म्हणूनच सपादक मडळामध्ये त्याचा सन्मानपूर्वक उल्लेख करण्यात आला आहेच. पडितजीची विद्वत्ता जैन साहित्यसृष्टीमध्येही चमकत राहिली आहे व राहील. सामाजिक सघर्ष मिटविण्यामध्ये समाजावर पडितजीचे फार मोठे ऋण आहे. महाराजांना वाटते निदान २००-२५० तरी व्यक्ती-व्यक्ती समाज-समाज यातील सघर्ष मिटवून पडितजीनी दिगबर जैन समाजात ऐक्य राखले. जसा हा समस्त जैन समाजावर त्याचा उपकार आहे तसाच ही ठोस साहित्य सेवा हाही त्याचा समाजावरील महान उपकारच आहे. त्यांनी ही जिनवाणी मातेची सेवा करून आपले जिनवाणी व धर्म याबाबतचे कर्तव्य पार पाडल्याचे समाधान त्यानी आयुष्यात मिळविले. ही त्याची समाजासाठी महान उपलब्धी आहे."

प्रश्न– आश्रमशी पंडितजी २१-२२ वर्षे निगडित होते त्याची संस्मरणीय अशी कामगिरी आणखी आपण सांगू शकाल का ?

उत्तर– " सन १९४३ मध्ये सस्थेला २५ वर्षे पूर्ण झालीत. त्या निमित्ताने रौप्य महोत्सव १९४४ मध्ये साजरा करण्यात आला. त्यावेळी श्री मोतीलाल सावजी चवरे संस्था आणि प्रद्युम्नसावजी यांच्यातील फार जुना विकल्प व दुरावा पडितजीनी ज्या कौशल्याने मिटविला ती त्यांची संस्मरणीय परमोपकारी कामगिरी म्हणावी लागेल. संस्थेची पंचेवीस वर्षाची सेवा समाजाशी रुजू होती. त्या निमित्ताने संस्थेच्या प्रगतीचा आलेख समाजासमोर आला आणि सिंहावलोकन करून भावी दिशा निश्चित करण्याची संधी होती. त्या उत्सवासाठी इन्दूरचे सेठ रा. ब. हिरालालजी कासलीवाल अध्यक्ष म्हणून लाभले होते. सभेमध्ये संस्थेच्या प्रगतीचा आराखडा समोर ठेवला गेला. प्रास्ताविकामध्ये पंडितजी म्हणाले- संस्थेमुळे कोठेतरी अज्ञात कोपऱ्यात

पडलेल्यांना शिक्षणाची सधी उपलब्ध करून देऊन त्याना आर्थिक दृष्ट्या समर्थ बनविले. अशी मुले १५००–२००० चे वर शिक्षण घेऊन उपजीविकेला लागली. त्यांच्यात धर्मसंस्काराचे बीज रोवले गेले. १५–२० आजीवन सेवकही तयार झाले. विविध क्षेत्रात कर्तबगार वकील, डॉक्टर, प्रथितयश व्यापारी उदयाला आले. संस्थेतून बाहेर पडणारे स्नातक आजही आपले गावांत व परिसरात सामाजिक व धार्मिक जागृतीचे काम करीत आहेत. अध्यक्षीय भाषणानतर सस्थेच्या प्रारभाला मूळ ध्रुवनिधीमध्ये १० हजार एकमुस्त देणारे श्री मोतीलाल सावजी याचा असहकार दूर करावा असा विचार अध्यक्ष आणि पडितजीचे मनात आला. हा दुरावा कायमचा निकालात काढावा असा प्रयत्न केला. त्यांच्या इच्छेप्रमाणे त्याची दानराशी परत देण्याचे दोघानी ठरविले. ती घेऊन पंडितजी गेले. परतु लगोलग मोतीलाल सावजी चिरंजीवासह सस्थेमध्ये पडितजी व अध्यक्षासोबत महाराजांच्या दर्शनास आले. त्यांनी ते १० हजार तर सस्थेला परत दिलेच, शिवाय वर २००१ दिले व उत्सवात सानंद सामिल झाले. पुढे तर प्रद्युम्नसावजीचे अतसमयी श्री मोतीलाल सावजी गावातून पायी चालत भेटीस गेले व परस्परांनी क्षमायाचनेपूर्वक जे भाव प्रगट केले ते दृश्य हृदय हेलावणारे होते पडितजीवर सर्वांची निष्ठा, अपार प्रेम. त्याना सर्वच मान देत. त्यांनी आपल्या चतुरतेने व गोड वाणीने सर्व विरोध नाहीसा केला ही त्याची खास सस्मरणीय कामगिरी म्हणावी लागेल. ही कधीही विसरता येणार नाही.

प्रश्न– असा महान महात्मा सस्थेत असताना, त्यांची आर्थिक दृष्टीने कोणतीच तक्रार नसताना त्याना संस्था का सोडावी लागली ?

उत्तर– पडितजीना संस्थेकडून व महाराजाकडून सन्मानाचीच वागणूक दिली गेली. परंतु पंडितजीचा संसाराचा व्याप वाढता होता. मुले मुली, त्याचे उच्च शिक्षण, विवाह त्यानी समाजामध्ये सन्मानाने रहावे असे वाटणे स्वाभाविक होते. या दृष्टीने कारजा हे नातेवाईकापासून जातिबधुपासून दूरवर्ती पडत असल्यामुळे ध. सौ. पंडितानीना अवघडल्यासारखे झाले. ते स्वाभाविकही होते. मुलाचे शिक्षणाची सोय या दृष्टीने इन्दूर त्यानी अनुकूल ठरविले. मानधन वृद्धीचा फार मोठा प्रश्न नव्हता पण परिवार गणांचा विवाह आदि दृष्टीने आपण उत्तरेला जावे हे त्याच्या मनाने घेतले. त्यामुळे महाराजाना त्याना नाईलाजाने अनुमती द्यावी लागली. "मी कारंजा सोडतो आहे. संस्था नाही !" असे त्यानी भाव–विवश उद्‌गार काढले. पंडितजींना विवशपणे कारजा सोडावे लागले. इन्दूरचे मोठे आकर्षण होते असे नाही तेथून ते कारंजाला महाराजांशी बोलायला अनेकदा आलेही. "गुणाची पारख व कदर कारजाने करावी असे ते व गोसावी गुरुजीही म्हणत. कारंजा सोडले तथापि संस्थेसबधी प्रेम मात्र कायम होते. त्याच्या मुलाच्या पुढील व्यवस्थेच्या दृष्टीने समाजाने योग्य व्यवस्था केली. ध. श्री पडितानीनी व मुलांनी वारवार हे भाव प्रगट केले आहेत. महाराजाचे कडे बाहुबली, कारंजास येऊन प्रसन्नपणाने हृदय मोकळं केले आहे. एवढेच नव्हे तर त्यानी कृतज्ञता म्हणून आईचे समक्ष सस्थेला फार मोठे दान कृतज्ञतेपूर्वक दिले. संस्थेवरील त्या सर्व कुटुबियांचे निर्व्याज प्रेम आजही तसेच कायम आहे. नियती आपल्या वाटेने गेली परतु सस्था, महाराज व गुरुकुळ परिवार आणि पंडितजीचा परिवार यामधील प्रेमाचे आत्मीयतेचे बधन व प्रेमाचे नाते ती तोडू शकली नाही. आजही तेच प्रेम कायम आहे."

"बस्स ! पुरे ! आतां किती विचारणार ? महाराजाना जे जे आठवलं ते सर्व महाराजानी सांगितले. या पलिकडे महाराजाना कांही स्मरत नाही."

प्रश्न– आता गुरुदेव ? एकच शेवटचा प्रश्न आपणास स्व. प देवकीनंदनजी याचा स्मृतिग्रंथ काढावा ही गोष्ट आपण एवढया आस्थेने पुढे का रेटली ?

उत्तर- "महाराज पाहताहेत अनेक पंडित, नेते, त्यागी यांचे अभिनंदन-ग्रंथ निघत आहेत. त्या मानाने पंडितजींची सेवा आणि कार्य किती तरी मोठे ! ! समाजाची स्मृती अल्प असते. एके काळी आपल्या पुरुषार्थाने समाजावर अमिट छाप उमटविणारा हा कर्मयोगी, सिद्धांताचा अधिकार-संपन्न विद्वान, सिद्धांत न्याय आदि सर्वच शाखांना स्पर्श करुन त्यांचे रहस्य उलगडून दाखविणारा विद्वमान्य लोकोत्तर पंडित, सरस्वती पुत्र, बुंदेलखंडातीलच नव्हे तर दि. जैन समाजाच्या आकाशात चमकणारा तारा व त्यांच्या हृदयाचा अनभिषिक्त सम्राट, परवारसभा 'देवगढ' गजरथ आदि अनेक प्रकरणी समाजाचे जटिल प्रश्न सोडविणारा, परवार सभेचे संरक्षक, समाज एकसंघ राहावा म्हणून जीव तोडून प्रयत्नाची पराकाष्ठा करणारा, महाराजांचे खांद्याला खांदा भिडवून गुरुकुल प्रणालीला हातभार लावणारा अशा दि. जैन समाजाचा अनभिषिक्त सम्राट परमोपकारी नररत्नाचे पुण्यस्मरण करण्याचे, कृतज्ञता व्यक्त करण्याचे एक साधन म्हणूनच या स्मृतिग्रंथाचा आग्रह महाराज धरताहेत. पंडितजींचा स्वर्गवास होऊनही १५ वर्षे उलटली आहेत. त्यांच्याशी व त्यांच्या कार्याशी परिचित कित्येक लोकांचा स्वर्गवास देखील झालेला आहे. हे कार्य वास्तविक यापूर्वीच व्हावयास हवे होते. काम कठिण जरूर आहे, परंतु अशक्य नाही; ते करावयाचेच आहे. आपण काही मधुर संस्मरणे, लेख वगैरे संकलित केली आहे हे ऐकून महाराजांना प्रसन्नता वाटते. हा ग्रंथ पाहावयास मिळावा ही तीव्र अभिलाषा आहे ती आपण पूर्ण करावी.

महाराजापेक्षाही तात्या पंडितजींशी अधिक निगडित होते. यापूर्वीच मराठी सन्मतिमध्ये पंडितजींचे संक्षिप्त जीवनचरित्र व आठवणींचा बटवा अत्यन्त रोचक शैलीने त्यांनी लिहिलेला आहे. चरित्र लिखाणाची जबाबदारी आपण तात्यांना सोपविलीत हे योग्यच आहे.

धन्यकुमार- आमचे समोर दुसरा कोणता पर्याय नव्हता, दुसरी व्यक्ती नव्हती.

महाराज- अशा कामाला वेळ तर लागतोच. विश्वास वाटतो की हे काम चांगलेच होईल. आता आपणास हे काम पूर्ण करावयाचे आहे. या कामी महाराजींचे सर्व संपादक व सहाय्यकांना अनेकशः शुभाशीर्वाद आहेत. कामाला लागा व ग्रंथ पूर्ण झालेला महाराजांना पाहू देत !

प. पू. गुरुदेव श्री १०८ समंतभद्रजीमहाराज के

हृदयोद्‌गार

मुलाखतकार : पं. धन्यकुमारजी भोरे, एम्. ए., एल्एल्. बी.

हिंदी अनुवाद : श्री. पं. मधुकरजी गडेकर, एम्. ए., बी. एड्.

[प. पू. गुरुदेव श्री. १०८ समतभद्र महाराज का ही यह शुभसंकेत था कि "स्व. प. श्री. देवकीनन्दनजी शास्त्री का सर्व गुरुकुलों, गुरुकुल व्यवस्थापकों तथा स्वयं महाराज पर अत्यधिक उपकार है। अतः उनके स्मरणार्थ कृतज्ञता प्रगट करने के उद्देश्य से एक स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित करना चाहिये-" ऐसा भाव स्वय महाराज ने प्रगट किया। प. पू. गुरुदेव श्री का स्व. पडितजी के साथ जो अत्यन्त घनिष्ट संबंध करीब २० वर्ष तक रहा, उसके संबंध में महाराजजी के हृदयोद्‌गार इस स्मृतिग्रन्थ मे भी प्रकाशित हो-ऐसी सपादक मंडल की स्वाभाविक इच्छा थी, अतः महाराज से कुछ लिखने हेतु प्रार्थना की गई, परन्तु ९५ वर्ष की आयु होने के कारण महाराजजी ने अपनी असमर्थता व्यक्त की !

तब महाराज ने स्वय कहा- "तुम लोग जो पूछना चाहते हो वह पूछो, मुझे जो कुछ याद है, वह मैं कहूँगा, फिर आप उसे शब्दाकित कर सकते हैं।" -ऐसा जब महाराजश्रीने भाव प्रगट किया, तब एक संपादक की महाराजजी के साथ जो मराठी में चर्चा हुई, उसकी टेप रिकार्डिंग किया गया तथा उस चर्चा का यह हिंदी रूपांतर ग्रन्थ के प्रारभ मे यहाँ उनके हृदयोद्‌गार के रूप मे प्रकाशित किया जा रहा है।

मराठी तथा हिंदी दोनों भाषाओं मे मुलाकात प्रसिद्ध हो रही है। उन दोनो मे महाराजश्रीने अपना नाम तथा "मैं" "हम" ऐसे प्रथम पुरुषी सर्वनामों का उपयोग नही किया। यह उनका बोलनेका तरीका था। उन्होने अपना निर्देश 'महाराज' नाम से किया है। यह बात वाचक ध्यान मे रक्खें।]

प्रश्न- संस्था के प्रारंभ से पडितजी संस्था मे नही थे. तब पंडितजी का संस्था को सहयोग प्राप्त हो- यह विचार क्यो किया गया और पडितजी को कारंजा लाने की योजना कैसे बनायी गयी ?

उत्तर- "संस्था के निर्माण मे तथा उसके संरक्षण में स्व. श्री. प्रद्युम्नसावजी, जंबुसावजी आदि महानुभावों का बहुत बडा योगदान था। संस्था की कार्यप्रणाली एवं अर्थव्यवस्था के विषय मे उनका निर्णय योग्य रहता था। सस्था के लिए ध्रुवफंड में सन् १९१८ में कारंजा से ही एकमुस्त पचास हजार रुपये गुप्तदान के रूपसे तत्काल जमा किये गये थे। और उसपर अच्छा ब्याज भी उत्पन्न करने की जिम्मेदारी दोनों ने ही अपने ऊपर ली थी। एक लाख ध्रुवफंड बनाने की शर्त थी, उन्होने वह भी पूरी की। प्रारभ के दोन तीन वर्षों में

छात्र बहुत छोटे आयुवाले थे; इसलिए दर्शन पूजा, स्तोत्र आदि याद करवाना और जैन बालबोध, प्रवेशिका, छहढाला-इन ग्रंथों का अध्ययन स्वयं श्री. सावजी एवं महाराजजी के द्वारा कराया जाता था। बाद में विद्यार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई और उन्हें उच्च धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन करवाने की समस्या थी। उससमय स्व. श्री. प. गोपालदासजी बरैय्या द्वारा संस्थापित मोरेना विद्यालय का और उनके मार्गदर्शन में तैय्यार हुए प्रथम पीढी के पंडितो की बहुत ही अच्छी कीर्ति थी; अपना आश्रम भी मोरेना जैसा ही दक्षिण में एक धर्म-विद्या का केन्द्र हो ऐसी सभी की भावना थी, छात्रोंको धर्म की शिक्षा देने के लिए एवं गोमट्टसार, सर्वार्थसिद्धि आदि धर्मग्रंथ पढाने के लिए एक उच्च कोटीके पंडितकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उसके लिए स्व. श्री. जयकुमारजी चवरे वकील एवं प्रद्युम्नसावजी मोरेना पहुंचे। वहां विद्यालय के अधिष्ठाता पं. श्री. धन्नालालजी कासलीवाल इन से भेंट हुई; पं. मक्खनलालजी, पं. खूबचंदजी आदि पंडितों से भी परिचय हुआ। वहां समागतों की व्यवस्था करने के माध्यम से पं. देवकीनंदनजी का भी परिचय हुआ। वैसे वकील सा का सामाजिक कार्यों के निमित्तसे पूर्व परिचय था ही, दोनों ने ही पं. धन्नालालजी से प्रार्थना की कि, वे पं देवकीनंदनजी को कारंजा मे प्रधान धर्माध्यापक के रूप मे भेजे। फलस्वरूप केवल दो वर्षों के लिए पंडितजी की कारंजा के लिए स्वीकारता प्राप्त हुई।

प्रश्न– आप को यह योग कैसे लगा ?

उत्तर– " व्यक्ति की परीक्षा दोनों को थी। और पूर्व में एक बार वे कारंजा आयेभी थे उन जोहरियोंने पं. जी को रत्न के रूप में परखा और लाया उनकी प्रतिभा के प्रकाश से हृदय की उदारता से एवं ज्ञानके प्रभा से स्वयं महाराज भी अत्यधिक प्रभावित रहे। यह योग अति उत्तम सुयोग ही रहा।"

प्रश्न– आपको उनका निर्णय किन कारणों से योग्य लगा ?

उत्तर– "पं. गोपालदासजी के विद्यालय के पंडितो की पीढीने समाज को प्रभावित किया और समाज ने उन का तहे दिल से स्वागत किया, सम्मान किया। उनके सम्बन्ध में जो सुना उससे एक अच्छी आशा बंधी यद्यपि पं. देवकीनंदनजी एक क्रांतिकारी छात्र के रूपमें से अपनी छात्र अवस्था में प्रसिद्ध थे, फिर भी उन की क्रांतिकारी विचारधारा मे एक ओज था, बुद्धिमत्ता थी। गुरू गोपालदासजी के प्रति उन के मन में नितान्त आदर था, भक्ती थी, गुरूजी के साथ वे सदाही छाया बनकर रहे। प्रवास में उनकी सब प्रकारकी 'व्यवस्था करते थे और उन्हे सभी शक्य सुविधाएँ उपलब्ध करा देते थे। प्रसंगवश गोपालदासजी के घर के तथा दुकान के भी काम निपटा देते थे।"

प. गोपालदासजीने उनसे मोरेना विद्यालयमें धर्माध्यापन का काम करने के लिए प्रेरणा करतेही उन्होने बिना शर्त तत्काल उसे स्वीकार किया था.

प्रश्न– पंडितजी कुटुंबी थे संस्था में आने के बाद उनके जीवन-निर्वाह की क्या व्यवस्था की गयी ?

उत्तर– "पंडितजीसे कारंजा आनेकी जो स्वीकारता प्राप्त हुई उसमे उन्होंने कोई शर्त नहीं रक्खी। फिरभी उनकी एक निश्चित दृष्टि थी। 'समाज में सामाजिक नोकरी करना नही और किसी धनी सेठ की भी नौकरी नही करना।' कारंजा यह स्थान इन दोनों दृष्टि से उन को अनुकूल था। परंतु जैन समाज के प्रथम श्रेणी के एक नामवर विद्वान् से अपना व्यवहार केवल सौजन्यपूर्ण ही रहे यह पर्याप्त नहीं था। अपितु उन के सम्मान की रक्षा करना उनको केवल वैतनिक नौकर के रूपमें रखना उनकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाने जैसा था। अत: जीवन-निर्वाह के लिए मान-धन की अलगसें व्यवस्था की जानी चाहिए ऐसा महाराज का प्रारंभसेही भाव था। अपना विचार महाराजश्रीने दोनों सावजी के सामने प्रगट किया। उनकाभी वही विचार रहा। "पं. जी के पाण्डित्य का और व्यक्तित्वका हमें बहुमान रखना चाहिए।" इस विचार से वे भी सहमत थे। मोरेना

के विद्वान् पंडितों को जो भी मिलता था कमसे कम उतना पहुंचाना न्याय्य था जिसका प्रबंध स्वतंत्र रूपसे किया गया।" दोनोंने स्वतंत्र पूंजी खडी की और उसके आमद–आधारसे मानधन पहुंचता रहे ऐसा प्रबंध किया।

प्रश्न– पंडितजी के जीवन निर्वाह की इस प्रकार व्यवस्था करने के पीछे आप का क्या दृष्टिकोन था ?

उत्तर– "समाज सेवा एवं धर्मकार्य करना ही जिनका जीवन-ध्येय था ऐसे ध्येयवादी व्यक्तिके व्यक्तित्व का एवं योगदान का समुचित सम्मान बना रहे यही वैचारिक भूमिका प्रारंभ से रही। गुरुकुल स्थापन करके जो धर्मशिक्षा का कार्य प्रारंभ किया वह सेवाव्रत–जीवननिष्ठा मानकर किया, यही मनोभूमिका थी। जो प्रद्युम्नसावजी व जंबुसावजी को बता दी थी कि महाराज स्वय के लिए सस्था से एक पाई भी नहीं लेंगे !" दोनो सज्जनोंने भी उस भावनाका पूरा ख्याल रक्खा और आश्वस्त किया कि "महाराजके जीवन–निर्वाह के लिए संस्था से एक पाई भी खर्चा नही होगा। वह प्रबंध वे स्वयं अन्य मार्ग से करेंगे." ऐसे आश्वासन के अनंतरही महाराजश्री ने कारंजा में रहनेकी स्वीकारता दी थी। उसी सम्मान भावना से पंडितजी का भी स्थान सस्था के एक आजीवन मानद कार्यकर्ता के रूप मे रहेगा, उन को ट्रस्टी भी बनाना है यह भी महाराजजी की दृष्टि थी, और वही सदैव बनी रही। कारजा आश्रमके रौप्य महोत्सव तक कारंजा गुरुकुल की अग्रिम पीढी के कुछ युवक गुरुकुल का काम संभालने वाले सेवाभावी तैयार हुए. उनके द्वारा भी इसी प्रकार सेवा का कार्य सेवाभावसे होता रहे यही आग्रहपूर्वक महाराज की भावना थी। इसीलिए उस समय "जैन गुरुकुल सेवामंडल" यह स्वतत्र सस्था स्थापन करके उस के माध्यमसे आजीवन मानद सेवकों को मानधन पहुँचता रहे ऐसी व्यवस्था की गई।"

प्रश्न– आपने पहले ही जो सूचित किया कि आजीवन सेवकों को वैतनिक नौकर के रूपमें न मानना, न रखना, यह बात तो ध्यान में आयी, परतु उन के सम्मान की रक्षा करके उन को संस्था का एक अभिन्न अंग बनाना इस भावना की पूर्ति आपने कैसे की ?

उत्तर– "यह बात संस्था के भविष्य के इतिहास से एवं कार्यप्रणालि से स्पष्ट हो गयी। सेवा का कार्य धर्मकार्य के रूपमें निर्विकल्प होकर करते रहना यही महाराज जानते थे मानसम्मानकी अपेक्षा न करनी और न किसी अधिकार की। महाराज ने तो अधिष्ठाता पद की भी कभी अपेक्षा नही की। पंडितजी को ही अधिष्ठाता पद रहे यही महाराज चाहते थे, फिरभी पं. जी की भावनाके अनुसार पहले उनको उपाधिष्ठाता बनाया गया। और महाराजश्री क्षुल्लक बनने के बाद सन १९३४ में पंडितजी अधिष्ठाता के रूपमें रहे, क्षुल्लक दीक्षाके अनतर अधिष्ठाता रहना योग्यभी नही था, इसलिए किसी भी पद के बिना केवल मार्गदर्शन करना ही स्वयं के लिए लिए निश्चित किया और पडितजी अधिष्ठाता बने। पंडितजी शुरु से ही संस्थाके एक अभिन्न अंग बने रहे।"

प्रश्न– इस सम्बन्ध में स्वयं पंडितजीकी क्या भूमिका थी ?

उत्तर– "वे नौकर के रूपमें नहीं आना चाहते थे। इसलिए उन्होने वेतन का प्रश्न ही उपस्थित नहीं किया। उनके गुरू गोपालदासजीने भी उन्हे जब संस्थामें योगदान देने को कहा था, उस समयभी उन्होने पूरा उत्तरदायित्व अपने गुरूपर छोडकर निर्विकल्प होकर स्वयं को समर्पित कर दिया था। उन की इस लोकोत्तर भावनासे महाराज स्वयं अत्यधिक प्रभावित थे."

प्रश्न– पंडितजी को उत्तरदायित्व धर्माध्यापन मात्र था या और भी कुछ ?

उत्तर– " नही " ! केवल धर्माध्यापन मात्र नहीं ! धर्माध्यापन की धुरा तो उनके कंधोपर थी ही, परंतु संस्था के मूल ध्येय के अनुरूप कार्यप्रणाली निश्चित करना, संस्था के संचालन कार्य में अंतर्गत एवं समय समयपर उपस्थित अवांतर प्रश्नोंको हल करना, बाधाओंको दूर करना, छात्रोको प्रविष्ट करना, शिक्षकोंकी नियुक्ती करना आदि सभी कार्यों में उन्होने पूर्ण सहयोग दिया है। उन्होने संस्थाको अपनी निजी माता और धारावाही योगदान पहुचाया। "

प्रश्न– कृपया पंडितजी के धर्माध्यापन के विषमें आपका अनुभव एवं अभिमत कहिए ?

उत्तर– " पडितजी स्वय तत्त्वोके उत्कृष्ट मर्मज्ञ थे, प्रखर बुद्धिमान् थे, उत्कृष्ट प्रभावशाली वक्ता थे। उनके अध्यापन में शिष्योंके हृदय को स्पर्श करनेवाली स्नेहपूर्ण आर्द्रता थी। इसी कारण उनका धर्माध्यापन हृदयग्राही और प्रभावशाली होता रहा। संस्था में उन के आगमन से संस्था अपने ध्येय मार्गपर आगे बढ पायी। गोम्मटसार–जीवकांड, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि उच्च धार्मिक ग्रंथोंका अध्यापन केवल उनके कारण ही हो पाया "

प्रश्न– इस के पहले धर्म शिक्षक कौन थे और धर्माध्यापन का रूप कैसा था ?

उत्तर– " स्वाध्याय–पडित श्री. प्रद्युम्नसावजी अपने निजी व्यवसायमे से समय निकालकर प्रात. और रात्रिको सस्था मे आकर सिद्धातप्रवेशिका को समझाकर कंठस्थ करा लेते थे, महाराज संस्कृत जानते थे, इसलिए रत्नकरड, द्रव्यसग्रह आदि प्रारभिक ग्रथ महाराज स्वयं ही पढाते रहे। किन्तु ग्रथों के ऊपर अधिकार नहीं था, प्रारभके २–३ वर्ष महाराज प्रथम प्रद्युम्नसावजी के साक्षीसे पढाते थे। महाराज मूल ग्रंथके अनुसार उनका शब्दार्थ ही जानते थे, इसके आगे कुछ नही जानते थे।"

प्रश्न– क्या कहते है आप ? यह तो केवल विनय है !

उत्तर– " नही ! यह बिलकुल सही है। महाराज में रुचि थी, यह निश्चित है। अध्यात्म सुनना, सिखाना इसी भावना से वे कारंजा आये। महाराज पडित तो थे नही उनका धर्मग्रंथो का अध्ययन भी नही हुआ था। परतु धर्मप्रेम था और धर्म की सेवाके भाव थे यह निश्चित है और सत्य भी। पडितजी आने के बाद महाराज स्वय पडितजी के साक्षी से छात्रोको क्षत्रचूडामणि, सागारधर्मामृत। सर्वार्थसिद्धीआदि पढाने लगे। यही तो महाराज की धर्माध्यापन की पद्धति रही। महाराज, पडितजी एवं प्रद्युम्नसावजी तीनो मिलकर रात्रि मे और प्रातःकाल स्वाध्याय करते थे। पडितजीके समक्ष उसपर चर्चा होती थी। पंडितजीकी अनुपस्थिती मे यदि कुछ प्रश्न उपस्थित हुए तो पडितजीको बुलाकर उनका समाधान करा लेते थे। कक्षा लेने के पहले पडितजी महाराजश्री को विषयविशेष बताकर उनकी तैयारी करा लेते थे। अनंतरही महाराज कक्षा में जाकर पढाते थे महाराज को जो धर्मज्ञान प्राप्त हुआ और ज्ञान का जो कुछ विकास हुआ और सेवाके कार्य के साथ साथ ज्ञान का सयोग बन पाया यह प. जी का ही महान् उपकार है उसे महाराज भूल नही सकते ! "

प्रश्न– धर्माध्यापन के सिवाय और किस प्रकार पडितजी का सहयोग प्राप्त रहा ?

उत्तर– " सभी दैनिक व्यवहार मे एवं सस्था के अंतर्गत व्यवस्था में भी उपस्थित बाधाओंको दूर करके भविष्यके लिए मार्गदर्शन करना पंडितजीका काम था। पालक अपने बच्चों को प्रविष्ट करने के लिए लाते थे। उसमे भी पं. जीकी सलाह का मूल्य विशेष रहा। श्री गोसावीगुरुजी का भी बहुत सहयोग मिलता रहा। छात्र प्रविष्ट होनेके बाद उनका मन नये वातावरण मे जब कभी लगता नही था। वे वापीस घर जाने की सोचते थे उस समय पंडितजी उनको अपने घर ले जाते थे; प्यार से समझाते थे, और खिलाते थे।

देहदण्ड अथा अन्य कारणों से यदि विद्यार्थीयोमें मनोमालिन्य आ जाता था तो वे चतुराईसे उसे दूर करते थे। बाह्य व्यवस्था को लेकर गांव के सज्जनों से यदि मतभिन्नता हुई तो उसे भी दूर करके आगे मार्ग प्रशस्त करने मे पंडितजीका दृष्टि–सम्पन्न सहयोग अमूल्य रहा। पंडितजी का स्वभाव निर-हकारी एवं उदार था. नगर मे समाज मे किसीभी व्यक्तिके साथ मतभेद होनेपर भी वे उसे मिलते थे, चर्चा करते थे, उनकी घरेलू समस्याएँ भी सुलझाते थे, साथ साथ संस्था के प्रति सद्भावना निर्माण करना एवं आत्मीयतामे वृद्धि करना यह महत्वपूर्ण मौलिक कार्य भी उनके द्वारा सहज होता था। शिक्षकों के अनेक प्रश्न भी वे हल करते थे; एवं उचित मार्गदर्शनभी करते थे। पंडितजी दुसरे व्यक्तिके मन की बात तत्काल ठीक ठीक समझ लेते थे। समय–सूचकता उनकी अपनी विशेषता थी–नैसर्गिक देन थी। यदि आश्रम के विपक्षमे यदि किसी व्यक्ती के साथ चर्चा हुई तो वे उनका तत्काल उचित समाधान करते थे, संस्था को अनेक सकटोसे इस तरह पं. जीने बचाया है। महाराज के कंधे से कंधा लगाकर (मिलाकर) सस्था का कार्य किया है। **पंडितजी ने क्या किया है इस प्रश्न की अपेक्षा उन्होने संस्था के लिए क्या नहीं किया! क्या करने को शेष रख छोडा है यही कहना योग्य होगा!!"**

प्रश्न– पंडितजी की विद्वत्ता उनका वक्तृत्व एवं पढाने की पद्धति इसके सम्बन्धमे आपका क्या अनुभव एवं अभिप्राय है?

उत्तर– "पं. जीकी बुद्धिमत्ता पारगामी थी। जिस ग्रंथ का वे स्वयं अध्ययन और वाचन करते थे, उसका रहस्य तत्काल आत्मसात् कर लेते थे, पूरा समाधान होने तक वे पंक्तियाँ उनकी उनकी आंखों के सामने सामने तैरती रहती थी, विचारमंथन घटो चलता रहता था। समाधान के बिना उन्हे चैन नही पडती थी. उनके वक्तृत्व के बारेमें क्या कहना हे? उनके सहपाठीयोने विद्यार्थी दशामेही उनको उपहास से "बडे व्याख्यानवाचस्पति बन गये?" इन शब्दोमे सबोधित किया था। आगे चलकर समाज ने उसी **"व्याख्यान वाचस्पति"** की उपाधि से उन्हे विभूषित किया कई बार प्रवचन एवं व्याख्यान के लिए बस्तीमें तथा दूसरे गावो मे जाते थे। संस्था मे भी उनके प्रवचन एव व्याख्यान होते थे। प्रतिपाद्य विषय के साथ समरस होकर पंडितजी भावविभोर पद्धति से श्रोताओ को रसमग्न करते थे। उनके प्रवचन की रस–वर्षा मे श्रोतागण ऐसे डूब जाते थे कि प्रवचन समाप्ति के बाद ही उनकी समाधि भंग होती थी। "उनकी पढाने की पद्धति भी अपूर्व थी। प्रतिपाद्य विषय का रहस्य छात्र यर्थार्थ जान ले यही उनका प्रयास था। सर्व प्रथम वे विषयका प्रतिपादन करते थे, तदनुकूल अनेक उदाहरणो अपने अनुभवों और कहानियाँ के माध्यम से विषय को अधिक स्पष्ट करते थे। ७–८ वर्षो के बालक हिन्दी भाषा से अनभिज्ञ होने के कारण रस नही ले पाते थे, परंतु कुछ दिनों के बाद उनकी भाषा शैली के आदी होने से वे भी रस लेते उनकी विषय–प्रतिपादन–शक्ति, वक्तृत्व एवं समयसूचकता से गुरु गोपालदासजी भी अत्यत प्रभावित थे, उनके प्रसंगो मे पं. जी के उपरोक्त गुणो के कारण ही अनेक संकट टल गये। मोरेना की प्रथम पीढी के नामवर विद्वानो मे वे एक चतुरस्त्र विद्वान थे, उनका कारंजा सस्था को प्राप्त सहयोग यह महान् भाग्ययोग ही कहना होगा। कारंजा आश्रम के कई पुराने छात्रो में आज भी वक्तृत्व की जो थोडी छटाएँ दिखाई देती है, वह पंडितजी के मार्गदर्शन का कृपा-प्रसाद है."

प्रश्न– पंडितजी की कार्य पद्धति और व्यवहार के सम्बन्ध में कार्यकताओं में यदा कदा मत–भेद एवं विरोध हुआ ही होगा?

उत्तर– "नही! कभी भी नहीं! संस्था के कार्यकर्ता पंडितजी की समर्पित सेवाओंसे अत्यधिक प्रभावित थे। सब की पं. जी के कार्य प्रणाली के प्रति निष्ठा थी। संस्था का सारा कार्य एकमत से चले यही महाराज की

आंतरिक अभिलाषा रही । निर्णय के पहले ऊहापोह जरुर हो जाता था । पंडितजी के व्यवहार कौशल्य पर प्रद्युम्नसावजी, जंबुसावजी, प्रभुदास सावजी निहायत प्रसन्न थे, मुग्ध थे । महाराज और पं. जी में कोई मतभेद था ही नहीं । प्रायः उनकी सलाह ली गयी और योग्य मार्ग प्रशस्तही हुआ । कभी संघर्ष का प्रसंगही उपस्थित नही हुआ ! "

प्रश्न- १९२४ में आश्रम में जो पंचकल्याणिक प्रतिष्ठा महोत्सव सम्पन्न हुआ, उस समय आप उपस्थित नहीं थे । इसका कारण क्या कोई विरोध या मतभेद था ?

उत्तर- " बिल्कुल नही ! " प्रतिष्ठा निश्चित हुई और प्रतिष्ठा का पौरोहित्य स्वस्ति श्री. भट्टारक वीरसेन स्वामीजीपर था. उनका मार्गदर्शन भी संस्था की समाज-सेवाकी ही साक्ष है । अनेक व्यक्तीयों का विरोध सहकर भी उन्होंने इस कार्य में परिपूर्ण योगदान दिया है । पं. जी के और स्वस्तिश्री. वीरसेन स्वामीजी के परस्पर आत्मीयता के सम्बन्ध थे. "

प्रश्न- पंडितजीने संस्था को जो योगदान दिया, उससे सम्बन्धित कुछ संस्मरण आदि आपको याद हो तो सुनाइएँ । संस्थाके प्रारंभिक दशवर्षों के बाद जो डेप्युटेशन निकाला गया उसमें पंडितजी का कितना सहयोग था ?

उत्तर- " बहुत अच्छा प्रश्न है । उस मे तो सारा सहयोग और पुरुषार्थ पंडितजी का ही था । संस्था की आर्थिक स्थिति बिगडने लगी, जागतिक मंदी के कारण किसानों की दुर्दशा हुई । उन्हे बचाने के लिए शासन द्वारा 'लवाद कोर्ट' बनाये गये । संस्था का पैसा साहुकारी के रूपमें किसानोंकी ओर गया था, जिसमे व्याजसे अच्छी आमदनी हो जाती थी लेकिन शासन की नयी योजना के कारण व्याज और मूलधन दोनो भी न मिलने का धोखा उत्पन्न हो गया था, किसानों की ओरसे खेती तो जमा हो गई । परतु संस्था का दैनिक खर्च चलाना भी दुष्कर हो गया । घाटा पूर्ति का भी प्रयत्न हुआ । उस माहौल में आर्थिक स्थिति बिगडती ही गई । प्रद्युम्नसावजी एव जम्बुसावजी ने परिचित समाज से दान प्राप्त करने का चातुर्य-पूर्ण पूरा प्रयत्न किया ही था । परंतु अन्य स्थानो मे दान प्राप्त करके संस्था को जीवित रखने का सारा श्रेय पंडितजी को ही था । संस्था के बढते हुए खर्च की व्यवस्था करने के लिए सोलापुर, आलंद, धाराशीव, दुधनी आदि स्थानों में तथा दक्षिण महाराष्ट्र मे और अन्य स्थानो मे भी डेप्युटेशन ले जाने के लिए पंडितजी का नेतृत्व सफल रहा । पंडितजी के समयोचित प्रवचनो और व्याख्यानोका प्रभाव अच्छा रहा । लोगो की दातृत्व भावना जागृत होती थी और संस्थाको स्वीकारता प्राप्त हो जाती थी. यह जादू केवल पंडितजी का ही था. पर्यूषण, प्रतिष्ठा, सभा आदि में पंडितजी इदौर, खुरई, जबलपूर, दिल्ली, कानपूर आदि अनेक शहरो मे जाते थे । उन के साथ आश्रम का कोई विद्यार्थी रहता था । प्रथमत पंडितजी विद्यार्थी को भाषण देने के लिए कहते थे । विद्यार्थी के १०-१५ मिनटों के भाषण से समाज प्रभावित होता था । उस के बाद पंडितजी से समाज को प्रेरणा मिल जाती थी । पहले सेवा, उस के बाद दान की प्रेरणा, यही- पंडितजी की कार्य पद्धति थी । पंडितजी की निःस्पृहता एव - निर्लोभता देख कर समाज अतिशय प्रभावित होता था । बिदाई में केवल श्रीफल के सिवा उन्हो ने कुछ लिया ही नही । सारा का सारा दान उन्होने - आश्रम में जमा किया । एक पाई को भी स्पर्श नहीं किया । आज के अर्थप्रधान युग में ऐसे व्यक्तित्व के दर्शन दुर्लभ है । एक बार पंडितजी माणिकचंद चवरे (तात्या) को अपने साथ इदौर ले गये थे । एक धनी वकील का पुत्र, जिसने निरपेक्ष भाव से अपना सारा जीवन संस्था के सेवा - कार्य मे, समर्पित कर दिया । ऐसा परिचय सुनकर समाज अत्यंत प्रभावित हुआ । सरसेठ हुकुमचंदजी ने तो भावविभोर होकर तात्या को अपने गले लगा लिया । धनी का पुत्र बालब्रह्मचारी रह कर धर्मसेवा कर रहा है । यह जान कर उन को बहुत ही हर्ष हुआ । " त्यागी सेवक निर्माण

होना कठीन होता है। महाराज जी के द्वारा आश्रमसे ऐसे सेवाव्रती निर्माण हो रहे है।" इन सहज उद्‌गारों के साथ समाज ने भी हर्ष व्यक्त किया। इस तरह कठिन परिस्थिति मे पंडितजी के द्वारा ही सस्था की सुरक्षा मे पर्याप्त योगदान प्राप्त हुआ है। श्री. नेमचद वकील धाराशिव निवासी को हजार के लिए सहज भावसे कहा तो खुशीमे उन्होने स्वयं प्रेरणा में ढाई हजार रुपये दिये। इस तरह अन्य स्थानो से दान प्राप्त करके सस्था को जीवित रखने का श्रेय पडितजी को है। पडितजी ने सस्था के उपर और महाराज के उपर भी बहुत उपकार है।"

प्रश्न– आपने १९३४ में ब्यावर मे क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। इस मे क्या पंडितजीकी प्रेरणा या अनुमती थी ?

उत्तर– "नही ! उन की अनुमती नही थी।

सहज स्नेहवश दीक्षा के समय उन की आखे आंसुओंमे भर आयी थी। बचपनमें विद्यार्थी अवस्था में निश्चय किया था, उसके अनुसार त्याग के मार्गपर चलना था। आचार्य श्री शांतिसागर महाराज जी का ब्यावर में चातुर्मास था। आचार्य श्री ने पूछा, "ब्रह्मचारीजी अब पिच्छी कब लोगे ?" उत्तर दिया, "महाराज ! मैं तयार हूं। यदि मुझे सस्था के कार्य में योगदान– सलाह– अनुमति आदि देने की अनुज्ञा हो तो।" आचार्य श्री बोले "यह कैसे हो सकेगा ?" इस पर उपस्थित पडित – वर्ग मे काफी चर्चा हुई। और अंत में आचार्य महाराजने अपना निर्णय सुनाया,। "ब्रह्मचारीजी ! आपकी केवल क्षुल्लक दीक्षा हो रही है। आप संस्था का कार्य भी देख सकोगे।" इसके बाद कारजा तार आया और पडितजी वहाँ पहुंचे"

"ब्यावर के शास्त्री परिषद में एक दूसरी भी बडी विवादस्पद चर्चा थी। उस सम्बधमे अथवा अन्य बातोंमे भी पंडितजी के विचार बडे सुलझे हुए थे। उन को विचार भेद के कारण आश्रम सस्थामे न रखने की भी अनाहुत सलाह दी गई थी। परतु एकांत मे आचार्य श्री शातिसागरजी को स्पष्ट एवं निश्चित रूपमे कहा कि "यह कदापी नही हो सकता। पंडितजी के सस्थाके उपर अनगिनत उपकार है। पंडितजी तो सस्था के प्राण है। संस्था उन को किसी भी कीमतपर छोड नही सकती। उनके विचारो ने संस्था के किसी भी कार्य मे कभी भी कोई बाधा उपस्थित नही की। प्रत्येक प्रश्नपर समाज की अखंडता अभंग रहे यही उनका सतत प्रयास रहता है। उन्हें कौन नही बुलाता ? सरसेठ हुकुमचदजी उन्हे बुलाते है। परतु संस्था उनको छोड नही सकती।" इस तरह महाराज ने बडे धैर्य से पडितजी के सबंधमे मनो–भूमिका स्पष्ट की। किसी भी दबाव मे वे नही आए। आचार्य श्री ने वह चर्चा ही समाप्त कर दी।"

"महाराज की दीक्षा होने के बाद सस्था का क्या होगा, इसी चितामें पडितजी और कार्यकर्ता थे।" "महाराजकी शारीरिक दुर्बलताको यह त्याग सहा नही होगा यह भी पडितजी को विकल्प था। महाराज का निर्णय निश्चित था। आचार्य श्री से परामर्श करके मुहर्त भी निश्चित किया था, पू आचार्यश्रीने आश्वस्त करते हुए कहा "पडितजी क्यो व्यर्थ चिंता करते हो ? पिछी हाथ में आते ही संस्था का कार्य अधिक अच्छा होता रहेगा।" निर्णय के अनुसार क्षुल्लक दीक्षा सपन्न हुई। '**समंतभद्र**' नामान्तरभी आचार्यश्री की ही सूझबूझ रही। जिसकी पूर्व कल्पना भी नही थी। दीक्षा के पहले पडितजी की समति नही थी फिर भी दीक्षा के अनतर व्रतोके निर्वाह के लिए पूर्णत सहयोग ही रहा। नये रूपमें पडितजी के साथही कारजा आना हुआ। पंडितजी पूर्व में संस्थाके ट्रस्टी और उपाधिष्ठाता तो थे ही, अब अधिष्ठाता पद भी प्रदान किया गया। इस प्रकार पडितजी सर्वश्रेष्ठ पद पर विराजमान हुए।"

प्रश्न– "आपको तो स्वय आचार्य श्री ने आश्रम का कार्य सभालने के लिए अनुज्ञा दी थी, फिर अधिष्ठाता पद का परित्याग करने का क्या प्रयोजन था ?"

उत्तर- " ग्यारहवी प्रतिमा के रूप मे उत्कृष्ट श्रावकलिंग धारण कर अन्य पदोंका व्यामोह उचित नहीं था। ट्रस्टीशिप का त्यागपत्र तो तार द्वारा दीक्षा के पहले ही ब्यावरसे दिया ही था। भविष्य में केवल ज्ञाता द्रष्टा बनकरही रहना उचित होता है, पदका परिग्रह योग्य नही होता। "

प्रश्न- " मैंने सुना है जिस तरह आपकी दीक्षा के लिए पंडितजी अनुकूल नहीं थे उसी तरह बाहुबली मे संस्था की स्थापना करने मे भी अनुकूल नही थे। विपक्ष मे थे, आपने सस्था की स्थापना तो करली फिरभी मतभेद बिलकूल नही था यह कहना कहा तक उचित हो सकता है ? "

उत्तर- " पडितजी का सस्था- निर्माण में विरोध नही था। नई संस्थाके निर्माण से कारंजा की ओर उपेक्षा होगी यही एकमात्र उन्हे चिंता थी। महाराज ने आश्वस्त किया कि " **उपेक्षा नहीं होगी।** " नये कार्यकर्ता लोग उत्तरदायित्वका निर्वाह करने के लिए समर्थ होगे। और आप लोगोंका मार्गदर्शन रहेगा ही। महाराज का भी मार्ग दर्शन मिलता रहेगा। चिंताकी कोई बात ही नही है। " दक्षिण मे भी पूर्व परिचित न्यायमूर्ति मोहनलालजी दोशी, स्वय स्व भट्टारक स्वस्तिश्री जिनसेनजी महाराज, ब्र. जिनदासजी, कीर्तनकार जिनगोंडा पाटील आदि महानुभावोके सहयोग और योगदानके वचन थे। जनता में भी उत्साह अच्छा था। अन्त मे आषाढ शुद्ध दूज १९३४ मे सस्था की स्थापना हुई। किसी भी कार्य के निर्णय के अनंतर हर कार्य मे पूरा सहयोग ही रहा है। "

प्रश्न- प. जी के द्वारा ग्रथराज पचाध्यायी का अनुवाद हो और उसका प्रकाशन कारंजा से हो यह कार्य कैसे सपन्न हुआ ?

उत्तर- पं. जी के साथ स्वाध्याय मे **पंचाध्यायी** ग्रथ भी महिनो रहा। पं. जी के रसपूर्ण प्रवचनों से लोग प्रभावित रहे। रहस्यपूर्ण मूलगामी तत्वोपर खूब चर्चा होती थी। पं. जी का विश्लेषण हृदयस्पर्शी होता था। सहजमे भाव हुए यदि प जी अपनी विशिष्ट दृष्टि से अनुवाद करेगे तो तत्त्वजिज्ञासुओं को अत्यत लाभप्रद होगा। यह ग्रथराज स्व. गुरु गोपालदासजी को भी प्रिय था। और वह उस योग्य है भी। सहज मे अनुवादका निर्णय हुआ। प जी की निरपेक्ष सेवा से और परिमार्जित आध्यात्मिक दृष्टिकोण से श्री शिशुपालसाहूजी के पिताश्री प्रभुदाससावजी प्रारंभसे ही प्रभावित थे। उन्होने ग्रथ प्रकाशन हेतु एक प्रिंटीग प्रेसही सस्थाको दान मे दिया। व्याख्यान प्रवचन के लिए प. जी जैसे अभ्यस्त थे वैसा लेखन का अभ्यास न था, इसलिए लिपीक के रूपसे प. श्री हजारीलालजी का योग प्राप्त हुआ। डेडसाल मे अनुवाद का कार्य पुरा हो पाया। मुमुक्षु आत्मार्थी समाजने अनुवादका हृदयसे स्वागत किया। तत्त्वकी कई बाते स्पष्ट हुई। गुजराथ मे भी अनुवाद का स्वागत हुआ। श्रीमत् श्री कानजीस्वामीजी भी प्रभावित हुए और ग्रथका गुजराथी मे अनुवाद करवाकर प्रकाशित करवाया।

इस प्रकार **सागारधर्मामृत** से अनुवाद का कार्य भी सपन्न हुआ। इस ग्रंथके पं. जी अधिकारी विद्वान् और प्रवक्ता तो थे ही, समाजकी माग भी थी। ग्रथका प्रकाशन सूरतसे श्री स्व. मूलचदजी कापडियाजी द्वारा हुआ। यह साहित्य सेवा भी उपयोगीही सिद्ध हुई। दिगंबर जैन परपराके मूल "**षट्खण्डागम**" ग्रंथ का धवला टीकासमेत अनुवाद प्रकाशित करनेकी योजना साकार करने मे प. जीका विशेष प्रयत्न रहा। भेलसा निवासी श्रीमत सेठ सीताबरायजी लक्ष्मीचदजी को प्रकाशन की प्रेरणा दी गयी और संपादनके लिए डॉ हीरालालजी जैन (अमरावती) का निर्णय हुआ। अनुवादकार्यमें पं. फूलचदजी सिद्धातशास्त्री तथा पं. हीरालालजी सिद्धातशास्त्री का योग रहा। अनुवाद का अंतिम रूप पं. जी के अवलोकन के अनंतर ही निश्चित होता था। इस प्रकार पं. जी की विद्वत्तापर समाजभरका विश्वास था। संपादक मण्डल मे उनका नाम बराबर रहा।

प्रश्न– "ऐसे महापुरुषको संस्थामे आर्थिक विवंचना न होते हुए भी संस्था क्यो छोडनी पडी ?"

उत्तर– "सस्था एव महाराज का पं. जी के साथ सम्मानपूर्वकही व्यवहार रहा। परंतु पं. जी का कुटुब परिवार बडा था। पुत्र पुत्रिया और उनकी उच्चशिक्षा, विवाह और भावी जीवन आदिकी समस्याएँ थी। इस दूरवर्ती प्रांत मे सजातीय न कुछ के बराबर थे। कारजा रिश्तेदारोसे दूर होने से पडितानीजी की अकुलाहट स्वाभाविक थी। बच्चोकी उच्चशिक्षा का प्रबध इदौर मे सहज था। और सुविधाकी दृष्टिसे इदौर अनुकूल प्रतीत हुआ, इसलिए उनको इदौर का निर्णय लेने पडा। और इच्छा न होते हुए भी महाराज को अनिच्छा से सम्मति देनी पडी। इदौर का कोई खास आकर्षण नही था। **'मे कारंजा छोडता हू। संस्था नहीं'** ऐसे आत्मीयतापूर्ण भाव अत तक बराबर बने रहे। और कारजासे तथा संस्थासे सपर्क बराबर बना रहा। "गुणो की परख और मूल्याकन कारजा ने किया।" ऐसे ही भाव उनके और गोसावीजी[1] के बने रहे। स्थान छूटा पर सस्थाके प्रति प्रेम बराबर बना रहा। प. जी के स्वर्गवासके अनतर भी स्वय श्री पडितानीजी तथा पुत्रपरिवारगण कारजा आते रहे। प्रसन्न चित्तसे सस्थाके प्रति आत्मीयताका वही भाव प्रगट करते रहे और उदारता पूर्वक स्वय प्रेरणासे हजारों की दानराशी भी पहुचायी। अटूट प्रेम वर्धमान ही रहा। अस्तु जो स्मरण था वह बतला दिया। अब पूरा करो।"

प्रश्न– "गुरुदेव! अब केवल अतिम एकही प्रश्न है स्व. प जी का स्मृति-ग्रथ प्रकाशित करनेका विचार और इतनी आस्था जो प्रगट हो रही है एक तरहसे आपने आज्ञाही की, इसका उद्देश क्या रहा ?"

उत्तर– "महाराज देख रहे है प. जी के पीढीके बादके पडितो के–शिष्यो के तथा और लोगो के भी अभिनदन-ग्रंथ प्रकाशित हो रहे है। सापेक्ष प. जी की ठोस समाजसेवा महान् और व्यापक थी। समाजकी स्मृति कमजोर होती है। अपने समय मे अपूर्व पुरुषार्थ से संपूर्ण समाजपर अपनी सेवाओंसे अमिट छाप अकित करनेवाला कर्मयोगी, सिद्धांतका मर्मज्ञ विद्वान, न्याय-अध्यात्म-विद्या आदिका रहस्य प्रगट करनेवाला मूर्धन्य पडित, सरस्वती-पुत्र, देवगढ गजरथ आदि प्रसगापर जटिल समस्याओको सुलझानेवाला, परवारसभाके सरक्षक, समाजमे एकता बनी रहे इसलिए जी जान से प्रयत्न करनेवाला, महाराज के कधोसे कधा मिलाकर गुरुकुल कार्यको योगदान देनेवाला, परमोपकारी पुरुषरत्न के पुरुषार्थका पुण्यस्मरण करके ही कृतज्ञता व्यक्त करनेका एक साधन इस रूपमे ही इस स्मृतिग्रथ की प्रेरणा है। प जी का स्वर्गवास होकर भी ३५ वर्ष हो गये है; उनसे और उनकी सेवाओंसे परिचय रखनेवाले कई लोगोंका स्वर्गवास भी हो गया है। यह कार्य इसके पूर्व ही होना था। कार्य कठीन है फिरभी प्रयत्न करना है। आपने कुछ संस्मरण लेख आदि सामग्री सग्रहित करली है यह जानकर प्रसन्नता होती है, इस ग्रथको देखनेकी अभिलाषा है !'

"महाराजश्री की अपेक्षा तात्या पं. जी से अधिक परिचित है। पूर्व मे मराठी सन्मति मे प. जी की सक्षिप्त जीवनी तथा कुछ सस्मरण भी लिखे है। प. जी के सम्बन्धमे लिखने के लिए तात्याका चुनाव ठीक है।"

धन्यकुमार–"हमारे सामने दूसरा कोई व्यक्ति का पर्याय भी नही था !" महाराज–"ऐसे कार्यको समय लगता ही है, विश्वास होता है जो भी होगा वह अच्छाही होगा। अब आपको इस कार्य को पूरा करना है। महाराज के सारे सपादको को और सहायको को अनेकश. शुभाशीर्वाद है।" महाराज को यह देखने को मिलेगा इस पवित्र भावना के साथ आशीर्वाद।

---

१. आश्रम के प्रथम मुख्याध्यापक श्री. श्रीधर पु गोसावी बी. ए.



श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा (विदर्भ) का विशाल विद्यालय भवन

[illegible]

त्यागी तथा मनीषियों के आशीर्वचन तथा श्रद्धांजलियाँ

प. पू. १०८ आचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराजश्री का आशीर्वचन

'चतु : संघे नरो यस्तु,
कुरूते भेद भावनाम् ।
सः सम्यग्दर्शनातीतः,
संसारे संचरत्यरम् ॥'

धर्मानुरागी, स्याद्वादमार्गाग्रणी श्री प देवकीनदनजी शास्त्री एक महान् प्रतिभासपन्न मूर्ति थे । उनके अग्रिम शिष्यो में श्री प जगन्मोहनलाल आदि रत्न रहे है । उनके द्वारा इस वर्तमान समय मे जैन संस्कृति, जैन समाज, जैन साहित्य तथा राष्ट्र के लिए जो समर्पित भाव से अभूतपूर्व सेवाएँ सपन्न हुई है, वे अविस्मरणीय है । कारजा गुरुकुल परपरा के परम पूज्य आचार्य श्री समतभद्रजी के वे परमभक्त तथा सहयोगी थे और गुरुकुल निर्माण मे उनका भी महत्वपूर्ण सहभागित्व रहा है, जो आज भी यथावत् विद्यमान है ।

स्मृतिग्रथ प्रकाशन- योजनार्थ सपादक मण्डल को हमारा अनेक शुभाशीर्वाद है ।

–आचार्य विद्यानन्द
बाहुबली क्षेत्र (कुभोज)

श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम, एलोरा २८-५-९०

प. पू. १०८ मुनिश्री आर्यनंदीजी-स्मृतिशलाका के साथ आशीर्वचन

पूरा स्मरण है मुकाम आलापूर (जि औरगाबाद) मे पचकल्याणिक प्रतिष्ठा थी । स्व धर्मप्रेमी श्री सेठ गुलाबचंदजी पहाडे प्रतिष्ठा करा रहे थे । ऐसे धर्म प्रभावनाके पुण्य अवसर पर समाज भर मे दो जाति भाईयो में और कुटुब परिवार मे भी सबका एका और पूरा सगठन होना और परस्पर में वात्सल्य भावो का होना अति आवश्यक होता है ।

एक परिवार का विरोध था । सब चिता मे थे । स्व. पडितजी ने दोनो भाईयो को अत्यत चतुराई से समझाया और दोनो को परस्पर गले लगाया । सब ओर आनद की लहर फैल गयी और प्रतिष्ठा सानंद सपन्न हुई ।

दूसरी घटना है तो आप बीती छोटी, पर आदरणीय पडितजी की पैनी दृष्टि ने उसे पकड लिया । स्व. पडितजी गुणो के ग्राहक और धर्म भावनाओ के अच्छे प्रभावक और प्रेरक रहे ।

इस प्रतिष्ठा के समय गृहस्थ अवस्था थी । आठ दस युवा धर्म बंधु साथ- साथ सीवना नदी पार कर रहे थे । साथीयो को प्यास बुझानी थी, वे नदी का पानी वैसे हातो से पीने को ही थे । समय सूचक पडितजी बोले "भाई ! पानी पीओ पर छान कर ! " उनके पास छन्ना नही था । हमारे पास छन्ना रहता ही था, वह उन्हे दे दिया । पडितजी की आत्मा बोल उठी– "**यह है सच्चा जैनत्व ।**"

ऐसे दृष्टिसंपन्न परमोपकारी रत्नत्रयधारक विद्वद्रत्न पडितजी के भव्य-दिव्य आत्मा को स्वात्मोपलब्धि और शिव सौख्य-सिद्धि प्राप्त हो – यह हार्दिक मनाभावना है ।

–मुनि आर्यनंदी

स्वस्ति श्री भट्टारक पट्टाचार्य कर्मयोगी श्री चारुकीर्ति महास्वामी अतिशय क्षेत्र मूडबिद्री

अनेकोत्तम शुभाशीर्वाद।

स्व. प्रशममूर्ति, व्याख्यान-वाचस्पति, सिद्धान्तशास्त्री, विद्वत्वर पंडित देवकीनन्दनजी के नाम से समाज भर में ऐसा कौन होगा जो अपरिचित हो। प्राचीन पीढीके विद्वद्रत्नो में पंडितजी आगम-परंपरा के बलशाली पोषक, जैन सिद्धान्त के विशिष्ट मर्मज्ञ, चोटी के विद्वान् रहे हैं। आगम अध्यात्म-करणानुयोग-चरणानुयोग-न्याय-दर्शन आदि में उनकी अप्रतिहत गति रही है वे अद्वितीय विद्वान् थे। समाजशास्त्र और समाजसेवा में उनकी रुचि विशेष थी। स्वाभिमान उनका आभूषण था। स्वभाव सरलता सौजन्य सहृदयता उदार विचारशीलता, वात्सल्य, परोपकार-परायणता आदी अमूर्त गुणों के वे मूर्तिमान साकार स्वरूप थे।

आज जबकि अभिनदन ग्रथो की बाढ सी आ रही है और दिवगत महान् आत्माएँ विस्मृति के गर्त में जा रही है और समाज की नयी पीढी उनकी लोकोत्तम महान् सेवाओ मे अज्ञात हो रही है। ऐसे समय मे असीम समाजसेवा साम्राज्य के स्वामी विद्वद्वर पडित देवकीनंदनजी का यह स्मृति ग्रथ प्रकाशित हो रहा है। यह समयोचित और अभिनंदनीय कार्य है। इस कार्य के लिए पीठ के द्वारा अनेकानेक शुभकामनाएँ है। ॐ शुभं भूयात्।

स्वर्गीय धीमान् और श्रीमानों द्वारा १९५० में किया गया पुण्य स्मरण

नररत्न चला गया, मेरा हृदय अत्यंत व्यथित है।

स्व. श्री. पू. क्षु. गणेश प्रसादजी वर्णी

एक कर्मठ व्यक्ति, समाज की अनेक आपत्तियो को सुलझाने वाला नर रत्न चला गया। मेरा हृदय अत्यत व्यथित है। स्वर्गीय पडितजी को जितना मै जानता हूँ, समाज उसका अश भी नही जानता। वे परवार समाज मे क्या, जैन समाज में एक देवकीनदन ही थे। यथा नाम तथा गुण था। कितना निपुण और नीतिज्ञ। जिन्होंने देवगढ आदि के रथोत्सव देखे हैं, वे उस सबंध मे स्वर्गीय महापुरुष के विशाल हृदय को जान सकते है।

ऐसा विकल्प आता है की, यदि वे कारजा न छोडते तो रग कुछ और ही होता।

पंडितजी की समाधान शैलीस संतोष होता था।

—स्व. श्री. सरसेठ रावराजा सरूपचंदजी हुकुमचंदजी, इंदौर

मैं उनकी विद्वत्ता, व्याख्यानशैली, सरल स्वभाव और समाजसेवा की तीव्र लगन से अत्यंत प्रभावित रहा हूँ। लगभग २५ वर्ष से मेरा उनमे निकट का परिचय है। कारजा आदि कई गुरुकुल और अन्य संस्थायें कीर्ति को प्रगट करती है। पडितजी साहब के असाधारण व्यक्तित्व, समाज की स्थिति और शिक्षासंस्थाओं के अनुभव, व्यवहारकुशलता तथा अन्य-दुर्लभ वक्तृत्व से मुग्ध होकर ही उन्हे मैने अपनी स्वाध्याय-गोष्ठी में रहने का आग्रह किया था और चार वर्ष से वे रहने भी लगे थे। तत्वचर्चा मे पंडितजी की समाधान-शैली से हम लोगो को बडा संतोष होता था। कठिन से कठिन विषय को वे सरल और सुबोध बनाकर कहते थे।

अध्यात्म और मनोविज्ञान का उन्होंने अच्छा मनन किया था। श्री. कानजी स्वामी भी उनकी प्रशंसा करते रहे और उनके पंचाध्यायी महान् ग्रथराज का गुजराती अनुवाद सोनगढ मे प्रकाशित भी कर दिया गया है। उनके वियोग से समाज को महान् क्षति हुई है। उनकी आत्मा को शांतिलाभ हो।

प्रभावक वक्ता और समाजसेवी

—स्व. ब. कॅ. सेठ भागचंदजी सोनी, अजमेर

एक महान् उद्भट विद्वान, निर्भीक एवं प्रभावक वक्ता और समाजसेवी पुरुष के असामायिक एवं आकस्मिक निधन से समाज की अपूरणीय क्षति हुई है। जैन समाज में शिक्षा प्रचार के लिए आपने जो सतत प्रयत्न किया है, समाज उसको कभी न भूलेगी।

उन जैसा सहयोगी मुझे नही मिला।

—वैद्यरत्न कन्हैयालालजी जैन, कानपूर

जैन समाज के अनुभवी विद्वानो में पडितजी का मुख्य स्थान था। ३०-४० वर्ष से मेरा उनका परिचय तथा प्रेम था। जब भी उनके दर्शन हुए उनको एकमी ही स्नेहभरी आकृती को पाया। वार्तालाप से हृदय गद्गद् हो जाता था। उनमें अपूर्व आकर्षण था। देशभक्ति, सरल प्रकृति, निरभिमानता आदि उनके स्वाभाविक गुण थे। उन जैसा दूसरा सहयोगी मुझे कभी नहीं मिला।

सभाचतुर—समाजवेत्ता

—स्व. पं. कैलाशचंद्रजी शास्त्री, बनारस

उन जैसा सभा-चतुर समाजवेत्ता अब विद्वानों में तो कोई दिखाई नही देता। नवयुवकों से भी उनकी उतनी ही पटती थी, जितनी वृद्धो से। वृद्धो के वे सलाहकार थे और नवयुवको के वे दोस्त। अपने से छोटो का सन्मान कैसे किया जाता है - यह उन्ही से सीखने की वस्तु थी। उनकी सेवापरायणता, कार्यदक्षता और समयोपयोगी विचारकता ने ही गुणग्राही कारंजावालो को उनकी ओर आकृष्ट किया।

समाज की अपूरणीय क्षति

—स्व श्री. ब्र. जीवराज गौतमचंद दोशी, सोलापूर
संस्थापक, जैनसंस्कृती संरक्षक संघ

श्री. पंडित देवकीनंदनजी कारंजा आश्रम में धार्मिक अधिष्ठान बनाये रखने के लिए पू. समंतभद्रजी महाराजजी के दाहिने हाथ थे। आपने अदाजन २२ वर्ष तक त्यागभावना से आश्रम की परिश्रम-साध्य सेवा की और विद्यार्थियों के चित्त पर धर्म संस्कारो का बीजारोपण किया; उसी के फलस्वरूप संस्था से शिक्षाप्राप्त कतिपय स्नातकों ने अपना जीवन संस्था के लिए समर्पण किया और समाज सेवा प्रस्तुत की। पंडितजी सिद्धांत शास्त्रों के रहस्यज्ञ थे। समन्वय-दृष्टि की कुशलता से उपयोग करने की क्षमता परासाधारण थी। हर विषय का मूलग्राही सर्वंकष विचार करके वर्तमान समय में उसकी उपयोगिता कैसी हो सकती है और धर्म परंपरा भी सुरक्षित कैसी रह सकती-इसका आपको पूरा खयाल रहता था। दृष्टिकोण सदाही विधायक रहा।

चिरस्मारक की आवश्यकता

—स्व. श्री. पं. भुवनेंद्रजी 'विश्व', जबलपूर

ऐसे उद्‌भट विद्वान् और प्रभावशाली वक्ता का चिरस्मारक बनाया जाना नितान्त आवश्यक है, जो कि इस महापुरुष की कीर्तिगाथा को अमर रूप प्रदान करने मे समर्थ हो।

SHRIYANS PRASAD

दिनाक १६ अगस्त १९९०

प्रिय श्री माणिकचन्दजी चवरे,

यह हर्ष का विषय है, कि पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री की पुण्यस्मृति मे ग्रन्थ प्रकाशन की योजना बनायी गयी है। आपका यह प्रयास प्रशंसनीय है।

पूज्य गुरुवर पं देवकीनन्दनजी ने अपने जीवन काल में समाज सेवा के क्षेत्र मे जो कार्य किये हैं, वे सदैव स्मरणीय रहेगे। पडितजी प्रखर विद्वान थे। और उनकी प्रवचन शैली बहुत ही प्रभावक थी। ग्रन्थों के अध्यापन मे तलस्पर्शी ज्ञान था। समाज मे उनका एक विशिष्ट स्थान और बहुत ही सम्मान किया जाता था। वे बहुत ही सरल प्रकृति के थे। सामाजिक, धार्मिक एव साहित्यिक क्षेत्र मे अवदान युग-युगान्तरों तक स्मरणीय रहेगा–ऐसे महान व्याख्यान वाचस्पति को मैं अपनी आदराजली अर्पित करता हूँ।

मुझे आशा है, पडितजी की पुण्यस्मृति मे प्रकाशित किया जाने वाला यह ग्रन्थ उनके व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व पर सम्यक् सामग्रीयुक्त होगा। ग्रन्थ के सफल प्रकाशन की सफलता की कामना करता हूँ।

आपका,
–साहू श्रेयांसप्रसाद जैन
बम्बई

श्रद्धा सुमन

व्याख्यानवाचस्पति श्रद्धेय पडित देवकीनंदनजी सिद्धांतशास्त्री का हमारा परिवार चिरऋणी है। उन्हो ने हमे धार्मिक ज्ञान प्रदान करते हुए धर्माचरण एव आध्यात्मिक संस्कार की ओर प्रेरित किया।

लगभग चार दशक पूर्व के उस अपूर्व समय का स्मरण आता है, जब पूज्य श्रीमंत सर सेठ हुकमचदजी साहब की स्वाध्याय सभा मे पंडितजी साहब के साथ उन्हीं के सहपाठी समाज के मूर्धन्य मनीषी विद्वान पंडित खूबचंदजी सिद्धातशास्त्री, न्यायालकार पंडित बशीधरजी सिद्धातशास्त्री, पंडित जीवंधरजी न्यायतीर्थ तथा पंडित लालबहादुरजी शास्त्री एवं उदासीन पूज्य ब्र. प्यारेलालजी भगत आदि पंडितगण और त्यागी वर्ग इन्द्र भवन के वैराग्य भवन में प्रातः, अपरान्ह, संध्या तीन बार तत्वचर्चा हेतु नियमित रूप से प्रतिदिन एक साथ बैठा करते थे। यह क्रम कई वर्षों तक चलता रहा।

पंडितजी साहब की प्रसिद्धि, प्रभावक व्यक्तित्व, ओजस्वी वक्तृत्वशैली एवं प्रकाण्ड वैदुष्य से प्रभावित होकर श्रीमंत सर सेठ साहब ने उन्हें अपने यहाँ इन्दौर में स्व-पर कल्याण हेतु स्थाई रूप से आमन्त्रित किया था। वे यहाँ सपरिवार निवास करते थे और उनका स्वर्गारोहण भी यहीं हुआ।

सर हुकमचद दिगम्बर जैन संस्कृत महाविद्यालय, जंवरी बाग में भी पंडितजी साहब विद्यार्थियों को सिद्धांत ग्रन्थों का अध्ययन कराने प्रतिदिन दोपहर दो घटे पधारते थे। वे सामाजिक एवं धार्मिक समारोहों में पहुंच जाते थे, तो वहाँ की शोभा द्विगुणित होकर सबको गौरव का अनुभव होता था।

समाज में उच्च श्रेणी के विद्वानों की श्रृंखला जो दृष्टिगोचर हो रही है, उसमें प्राय: पंडितजी साहब का शिष्य-प्रशिष्य मण्डल है। ग्रन्थराज पच।ध्यायी और सागारधर्मामृत की हिन्दी टीका की रचना उन्होंने सम्पन्न की थी। आगम ग्रन्थ धवला टीकाओ के सम्पादक गण उन्हें दिखलाकर, उनसे परामर्श करके ही प्रकाशन हेतु उन टीकाओ को प्रेस में देते थे।

पंडितजी साहब सहृदय, उदार, निरभिमानी, निर्भीक, लोकप्रिय एवं समाज के अग्रणी शिक्षा शास्त्री थे, जिनके संरक्षण में कारंजा एवं खुरई आदि गुरुकुलो का संचालन हुआ है।

वर्तमान स्वार्थमय जगत में पंडितजी साहब द्वारा कारंजा से इन्दौर आ जाने पर भी इतने दीर्घकाल पश्चात् भी यह स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन करने का प्रशस्त आयोजन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का अद्भुत अनुकरणीय उदाहरण है, जिसके लिए ग्रन्थ प्रकाशन समिति धन्यवाद की पात्र है।

मैं इस अवसर पर अपनी और अपने परिवार की ओर से जैन समाज की अनुपम निधि परम आदरणीय स्व. पंडितजी साहब के प्रति हार्दिक श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

–देवकुमार सिंह कासलीवाल
इन्दौर

स्मृति सुगंध

दि. जैन समाज के लिए इसा की बीसवी सदी के पूर्वार्ध में पडित गोपालदासजी बरैय्या तथा उनके प्रथम शिष्य वर्ग द्वारा जो शिक्षा का जागरण हुआ, उससे मै अत्यधिक प्रभावित था। उन्हो ने शिक्षा क्षेत्र मे विद्यालय संचालन द्वारा जागृति का काम किया, वैसा ही सामाजिक क्षेत्र में ही काम किया। पडित देवकीनंदनजी समाज का मानस जानते थे। उनके द्वारा गुरुकुल शिक्षा प्रणाली तथा सामाजिक क्षेत्र मे बहुमुखी सर्वस्पर्शी सेवाएँ हुई हैं। जैन समाज के उस काल का इतिहास उसका साक्षी है। ऐसे एक उद्भट विद्वान्, समाज सौहार्द के प्रतिष्ठापक और निस्पृह कार्यकर्ता के बहुमान मे प. पू. १०८ स्व. समंतभद्रजी महाराज द्वारा संकेत होने के कारण जो स्मृति ग्रंथ का प्रकाशन किया जा रहा है, वह एक समुचित कर्तव्य पालन है। इस से उनकी स्मृति-सुगंध से सुरभित होकर आगामी काल मे विद्वान् तथा सामाजिक कार्यकर्ता को चिरंतन प्रेरणा मिलती रहेगी, ऐसी आशा है। इस के संपादक मंडल बधाई के पात्र है। स्व. पंडित देवकीनदनजी शास्त्री को हमारी विनम्र श्रद्धाजली।

आपका

–साहू अशोक कुमार जैन

व्याख्यान वाचस्पति पण्डित देवकीनन्दनजी जीवन चरित्र–रेखा

१

शताब्दि का आश्चर्य तथा पुण्यस्मरण :

जैन समाज के अर्वाचीन सांस्कृतिक इतिहास में स्व. गोपालदासजी का अपना एक विशिष्ट आदरणीय स्थान है। कई सदियोंसे सारे जैन समाज में पीढी दर पीढी वैश्यवृत्ति तथा व्यवसाय प्रवण–प्रवृत्तिके कारण प्राय: मनोवृत्ति का क्षेत्र अर्थका संपादन ही रहा, ज्ञानका सपादन नही। अपनी ज्ञान–विज्ञान की विरासत विशाल व्यापक तथा ठोस है और इस ओर ध्यान देना अत्यंत आवश्यक है, ऐसा शायद ही किसी जैन ने कभी सोचा होगा।

स्व. गुरुणा गुरु पंडित गोपालदासजी बरैया एक मात्र ऐसे दूरदृष्टि संपन्न व्यक्ति इस शताब्दि में अवतरित हुए, जिन्होंने विद्या के विशेष रूपसे धर्म विद्या के प्रचार प्रसार की सार्वकालिक आवश्यकता को सही सही दृष्टि में लिया। जैन समाज सदियोंसे अल्पसंख्यांक रहा है। उसकी अपनी एक पवित्र संस्कृति है, स्वतंत्र ठोस तत्त्वज्ञान है तथा तत्त्वस्पर्शी दर्शन भी आमूलचूल स्वतंत्र है। उसके अध्ययन–अध्यापन, पठन पाठनका प्रबंध जैन समाज को ही करना जरूरी है। इस हार्दिक तीव्र भावना से स्वयं पंडित गोपालदासजी ने कदम उठाया। आत्मनेपदी सकर्मक बनकर भिण्डमें सन १९०७ के करीब धर्म विद्यालय का शुभ प्रारंभ किया। परन्तु शीघ्रही मोरेना उचित स्थान जानकर विद्यालय को सन १९१० में मोरेना ले आये।

अपने निजी व्यवसाय मे से अधिक से अधिक समय योगदान के रूप में समर्पित करके मनसा–वचसा–कर्मणा पूरा योग लगाया। गुरुजीकी आजीविका व्यापार व्यवसाय सें चलती थी, फिर भी जीवनी तो ज्ञानदानही रही। यह इस युग का एक सजीव आश्चर्यही है। इस विद्यालय से जो प्रथम श्रेणीके पंडितगण तैयार हुए उन विद्वदरत्नोमें से चरित्र नायक व्याख्यान वाचस्पति पं. देवकीनंदनजी एक प्रभावशाली नररत्न समाज को प्राप्त हुए।

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

झांसी जिले में झांसी माणिकपूर लाईनपर झांसी से २२ किलो मीटर दूरीपर बरुआ–सागर नामका एक छोटासा पर सुंदर कसबा था। अब तो बहुत विशाल हो गया है। आबादी करीब ४० हजार की हो गयी। विशाल सरोवर (सागर) के किनारे बसा हुआ होने से उसका नाम बरुआ सागर हो गया हो। गुरुवर्य पू. पंडितजी के पिताश्री हजारीलालजी यहीं के निवासी थे। पं. जी की माता का नाम ध. तुलसीबाई था। घराने में शताब्दिपूर्व कई पीढियों से नमक का बहुत बडा व्यापार था, इसी कारण 'नामक' नाम चलता आया। सैंकडो बोरियाँ नमक की आती जाती थी। पिता श्री हजारीलालजी न्यायप्रिय सद्‌गृहस्थ थे। गृहस्थी साधारण थी। व्यापार में भी परिवर्तन होकर व्यापार "घी" का और कपडा आदिका भी चलता था। विचारशीलता के कारण हजारीलालजी का समाज के सात गावों के पंचोंमें अपना एक विशिष्ट स्थान था।

बालक देवकीनंदन के जन्म के पूर्व की जनश्रुति से प्राप्त एक विलक्षण घटना है। एक साधु भिक्षा मांगता हुआ हजारीलालजी के दरवाजेपर आया। माँजी ने रोटीयाँ झोली में डाली। साधु भीतरी आवाज को रोक न सका। तत्काल बोल उठा, "इस घरमें एक कुलदीपक तत्त्ववेत्ता पंडित का जन्म होगा" माता प्रसन्न चित्तसे सलज्ज होकर घरमे लौट आयी। दूसरे दिन दरवाजे की दोनो बाजू अगल-बगलमें तथा माथेपर स्वस्तिक के चिन्ह नजर आये। हो न हो साधु की ध्वनि शतप्रतिशत सही निकली।[१] सन १८९६ में बालक देवकीनदन का जन्म हुआ। मेरा परम सौभाग्य रहा कि मैं पं. जी की परम पवित्र जन्मस्थली और जन्मदाता पिताश्री तथा माता के और गुरुवर्य पंडितजी के तथा छोटे भाई श्री. घनीरामजी, श्री. परमानंदजी तथा श्री. गोविंददासजी तथा परिवारगण के एक साथ दर्शन कर पाया। एक बहिन भी थी। नाम श्रीमती राजाबेटी था, जो रामदयालजी से (सरसेठ) ब्याही थी।

बालक देवकीनंदन की सब दुनिया से न्यारी द्वारका :

बालक नंदन की प्राथमिक शिक्षा यहीं देहाती स्कूल मे सम्पन्न हुई। शिक्षा के मात्र परिमित साधन उपलब्ध होने से एक प्रकार से शिक्षा का अध्याय यया तथा संपन्न होनेको था। साल दो साल योंही गये। किशोर देवकीनंदन की बाल क्रीडा तथा पौगण्ड अवस्था [TEEN YEARS] की साहसी खेलकूद जलाशय के किनारे, वृक्षराजी मे होती रही। तालाब मे उसने वर्षों अवगाहनभी किया। वे

टिप्पणी– पं. जी के सुपुत्र डॉ. श्री. प्रकाशचंदजी (भिलई) तथा सुकन्या सौ. विमलादेवी भदौरा के पत्रोंके आधारसे।

साहसी अच्छे तैराक हो गये। चढती नदी में घी से भरा हुआ पूरा कनस्तर लेकर उन्होंने आसानी से नदी पार की है। बालक देवकीनंदन के असाधारण प्रतिभा ने सहज ही में तालाब के जल से दिल की स्वच्छता सीखी, गंभीरता भी सीखी। भूगर्भसे सहनशीलता, स्वच्छ आकाश से चित्त की उदात्तता, तालाब से आनेवाली ठंडी हवासे हर विषयको ठंडे दिलसे सोचने की अद्भुत कला, आम के पेडोंसे सहज-सहकार-भावना, पंछियोंके कलरवसे वाचा की असाधारण मधुरता; समूचे निसर्गसे बेदाग-निस्पृह परोपकारिता और धारावाही समर्पणशीलता के पाठ भी स्वयं अमिट रूपसे हृदयांकित कर लिये। जनसामान्य की दृष्टि के परे देवकीनन्दन की यह अलग ही आंतरिक विचार-सृष्टि थी। सब दुनिया से न्यारी द्वारका थी।

योगायोग–विलक्षण भाग्ययोग :

योगायोगसे पू. बाबा ब्र. गणेशप्रसादजी वर्णीजी का बरुआसागर शुभागमन हुआ। यहाँ के प्रसिद्ध धनी पंचप्रमुख श्रीमान् सेठ मूलचंदजी सर्राफ तथा श्रीमान् राजारामजी टॉलवालोंसे बाबाजीका अच्छा सम्बन्ध था। वाराणसी स्याद्वाद विद्यालय की स्थापना में इन लोगों का बहुत कुछ योगदान भी था। वर्णीजी की दृष्टी बालक देवकीनन्दन पर पडी। बातचीत के दौरान बुद्धिमत्ता की झलक और विचारशीलता की चमक ख्याल में आयी। बाबाजी ने पिताश्री हजारीलालजीसे कहा– "इस बच्चे को हमें दे दो। हम इसे बनारस ले जायेंगे और पढायेंगे"। माँगमें प्यार भी था और आग्रह भी था। मानो कोई निपुत्रिक भाई गोद के लिए पुत्रवान् से बच्चा माँगता हो। स्वयं नायकजी ने और मालूम पडनेपर सेठ मूलचदजी ने भी "बाबाजी इस नटखट और उधमी को कहाँ ले जाते हो?" ऐसा कहकर बाबाजी को सचेत भी किया। जिसको ये पुरजन–परिजन लोग उधम समझते थे, वास्तवमें वह स्वार्थी दुकानदार लोगों के द्वारा अक्षरशत्रु देहातियोंके ऊपर जो अन्याय होता था और उन्हे फँसाया जाता था उसका वह किशोर अवस्था में संभाव्य प्रतिकार था। काच–कंकर में पडे हुए रत्न की पहिचान होनेके लिए मुरब्बी जौहरी की दृष्टि पू. वर्णीजीके पास थी। और बालक देवकीनन्दन का योगायोग बलवत्तर था। भाग्य में पांडित्य लिखा था और समाज को अद्वितीय सेवायोग मिलना था। नन्दन बनारस पहुँचा। "विधिर्चेटयतीधर्थः स्वयमेवहि देहितः।" होनहार होकर ही रहता हैं। सरस्वति के चरणों में समर्पित कलिका सुगंध से परिपूरित फूल के रूपमें पुष्पित हुई।

होनहार बिरवान के होत चीकने पात।

वाराणसी में तीन साढे तीन साल पढाई हुई। संस्कृत–व्याकरण, न्याय तथा साहित्य और साथही मध्यमातक धर्मशिक्षा भी हुई। एकदिन भरी सभा में

अधिकारियों के विपक्ष मे छात्रो के न्याय्यपक्ष को स्पष्ट रूपमे हिम्मत और साहस के साथ बडी खूबीसे रखा। सहपाठियोने सभा के उपरान्त अत्यत उत्साह के साथ, "**अजी बडे व्याख्यान-वाचस्पति आगये**।" इन शब्दोद्वारा उपहास-गर्भ आदरभाव प्रगट किया। आगे चलकर समाज भर मे नामके साथ "व्याख्यान-वाचस्पति" यह उपाधि भी अनन्य-भावसे जुड गई। जैसे "बापूजी" या "महात्माजी" कहते ही गाधीजी का स्मरण हो जाता है, ठीक वैसेही "व्याख्यान-वाचस्पति" कहनेसे पं. देवकीनन्दजी का समाज भर में स्मरण हो जाता है। आगे चलकर यही उपाधि देहलीवालोने सादर समर्पित की :

गुरु गोपालदासजी का पुण्यदर्शन और हृदयपरिवर्तन :

इन्ही दिनों मे विद्यालय में महामना पडित प्रवर गोपालदासजी का धर्मविद्याकी महिमाको लेकर प्रभावशाली व्याख्यान हुआ। सुनकर छात्र मुग्ध हो गये। संध्या के समय गुरुजीसे मिलने मंदाकिनी धर्मशाला में छात्रो का डेप्युटेशन पहुचा। एक शका सामने रखी और समाधान चाहा। गुरुजी ने कहा इस शंका का समाधान हमारे नवयुवक शिष्य प. बन्सीधरजी (सोलापूरवाले) करेंगे। समाधान सुनकर छात्रो ने आतरिक भावना प्रगट की कि वे सबको मोरेना ले चले। गुरुजी ने शातिपूर्वक कहा कि "अभी नही, वर्षान्त मे सत्र समाप्त होनेपर आ जाना।" देवकीनन्दनजी का हृदय-परिवर्तन हुआ। उन्होंने मन ही मन गुरु गोपालदासजी का अन्तेवासी होकर रहनेका दृढ निश्चय कर लिया। वर्षान्त में वे मोरेना पहुँचे और साथ मे उदयलालजी कासलीवाल, बन्सीधरजी (इन्दौर) और मक्खनलालजी को मोरेना खीच लिया। प्राय. यह वर्ष सन १९१०-११ होगा।

ज्ञानाराधना के उज्वल कालखण्ड में की गयी प्रामाणिक ज्ञानसाधना :

अखड वर्धमान उत्साह, तन्मय भाव और तैल बुद्धिसे दिनरात धर्मविद्या की-सिद्धांत-न्याय ग्रन्थों की भी तलस्पर्शी मर्मज्ञता की सम्पादना होती रही। छात्राणां अध्ययनं तप: '। आराधक की आराधना और साधक की साधना का वह एक सजीव-साकार रूप था। इन्हीं दिनों में गुरुजी के साथ प्रवास में देवकीनन्दनजी छाया के समान अपना डण्डा लेकर रहते थे। गुरु गोपालदासजी पारदर्शी-पुरोगामी विचारो के धनी थे। दस्साओ के लिए पूजाधिकार के पक्षपाती थे। निडर प्रवक्ता भी थे। इसी कारण रूढिवादियो के चित्त मे अंतर्ज्वाला थी।

सन् १९१२ में आर्य समाज के प्रकाण्ड विद्वान् स्वामी दर्शनानन्दजी के साथ जो ऐतिहासिक शास्त्रार्थ अजमेर के पंचायत गोधों के बडे नसीयाजी में न्यायमूर्ति खाण्डेकरजी के सभापतित्व में हुआ, उस मे आर्यसमाजियो की हार होनेसे आर्यसमाज भर में चिढ पैदा होना भी स्वाभाविक था। खूनखराबी का

भय था । गुरुजी के लिए प्रामाणिक अंगरक्षक की जरूरत भी थी । देवकीनंदनजी की यष्टि बलशाली थी । "सौ दण्डियों के लिए एक सच्चे बुंदेलखण्डी" के रूप में वे गुरुजी के लिए आजीवन तक सजग स्वयंभू अंगरक्षक भी बने रहे । 'गुरुशुश्रूपया विद्या ।' और 'आराधनैक सम्पाद्या विद्या नह्यन्यसाधना ।' विद्या आराधनासेही प्राप्त होती है, दूसरे उपायोसे नही । इन सिद्धान्तों के अनुसार पं. जी ने सैद्धान्तिक धर्म विद्या के साथ ही साथ व्यवहारज्ञान तथा चतुरता में काफी वृद्धि कर ली । गुरुजी शास्त्र प्रवचनो के समय प्रथम इन्हे खडा किया करते थे । कुछही समय में निडर होकर उचित वक्तव्य के अच्छे अभ्यासी हो गये । एक समय की घटना है विद्यालय मे पंडित देवकीनन्दजी का शास्त्र प्रवचन हो रहा था । सुकुमाल मुनि की कथा प्रभावक रूप से शुरू थी । गुरुजी दीवार की आड मे खडे होकर सुन रहे थे । श्रोताओ मे से प्रश्न आया "तप के बारह भेद कौनसे है ?" उत्तर अधूरा पहुचा । गुरुजी ने अपने शिष्य को पूरी हिदायत दी । फलस्वरूप दो ढाई माह के भीतर ही भीतर "सर्वार्थसिद्धि" ग्रंथ अच्छी तरहसे मुखोद्गत कर लिया ।

अध्यापन में आत्मार्पण–

तीन वर्षो में अध्ययन की समाप्ति हो गयी । 'अध्ययन की समाप्ति हो गयी' यह तो कहना मात्र है । वास्तव में अध्ययन-समाप्ति करनी पडी । उस समय "न्यायालंकार" की एक उपाधिपरीक्षा होती थी । पंडितजी भी एक उम्मीदवार थे । परीक्ष्य-ग्रंथो में श्लोकवार्तिकालंकार ग्रंथ था । प्रथमाध्याय का अंतिम सूत्र छोडकर शेष संपूर्ण ग्रंथ की तैयारी भी करली थी । विद्यार्थियो में चर्चा वार्ता होती रही । परीक्षक के पास जैसे वह समाचार पहुच गया कि देवकीनन्दन का अंतिम सूत्र तैय्यार नही हुआ है । परीक्षक को क्या सूझी भगवान् जाने ! प्रश्न–पत्र मे केवल उसी एक सूत्रपर ही आधारित दसो प्रश्न अंकित किये गये । परीक्षक का पक्षपात पंडितजी तत्काल ताड गये अपने ही दांत और अपनेही ओठ किसको क्या कहा जाय ? भविष्य मे किसी भी परीक्षा में सम्मिलित न होने का एक तरह से लोक–विलक्षण प्रण कर लिया । इस प्रकार अध्ययन के अध्याय की पूरी समाप्ति हुई । मध्यंतर काल मे अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा के लिए अच्छी छात्रवृत्ति तथा विदेशयात्रा का भी एक व्यामोह सम्मुख आया परंतु उसे ठुकाराया और मूल ध्येयपर देवकीनन्दनजी अडिग ही रहे ।

गुरुजी के आग्रह से विद्यालय में ही अध्यापन–कार्य शुरू हो गया । माहवारी रुपया केवल तीस मिलता था । विद्यार्थियो के साथ जिस वात्सल्यभाव से व्यवहार रहा, छात्र उन्हें सहज ही माता–पिता और गुरु के समान आदर–भाव देते रहे । आदरणीय पं. जगन्मोहनलालजी आदि लोगों ने पंडितजी से सागार-

धर्मामृत, सर्वार्थसिद्धि, न्यायदीपिका, परीक्षामुख आदि ग्रंथो का अध्ययन सन १९१६-१७ मे किया, जो उनके लिए आज भी गौरव की वस्तु बनी है। अध्यापन के अलावा अलिखित रूप से बोर्डिंग की सुपरव्हिजन, पत्रव्यवहार, अतिथि सेवासत्कार, बच्चो की स्वास्थ्य सुरक्षा इत्यादि नैमित्तिक कार्यों में योगदान तन्मयता के साथ वे देते रहे। इसी कारण आदि पं. जगमोहनलालजी ने तत्कालीन अनुभवो के आधार पर छात्रो के अभिभावक रूप में पं. जी का स्मरण किया है। सेवा सेवाभाव से थी। पूरा योगदान सेवाधर्म के रूप में ही रहा। इसी कारण जीवन एकाकी न होकर व्यापक और सर्वस्पर्शी बना। गुरुजी के साथ प्रवास में रहने से मानवी स्वभाव का परिज्ञान तथा सामाजिक दृष्टिकोण अच्छा परिमार्जित हो गया। थोडे ही दिनो मे वे एक दृष्टिसपन्न, विश्वासपात्र समाजशास्त्रज्ञ गिने जाने लगे। वास्तव मे समाजशास्त्र कोई ग्रथ-मात्रका विषय नही होता। पंडितजी समाजशास्त्री बने वह समाज के प्रत्यक्ष सूक्ष्म अवलोकन मनन और अध्ययन से बने। समाज के हिताहित का हिसाब-किताब अनुभवो पर आधारित होता है, वह प्रामाणिकता से पडितजी अपनी विशिष्ट दृष्टि से कर पाये। इसी लिए वे सच्चे अर्थ में समाजशास्त्री बन पाये।

स्व. विद्ववर प कैलासचन्द्रजी ने ठीक ही कहा[१]-" उन जैसा सभा-चतुर समाजवेत्ता अब विद्वानो मे कोई दिखाई नही देता "। यही आशय साहित्याचार्य प डॉ. पन्नालालजी ने (सागर) अंकित किया।

सेवायोग में पूरी समर्पणशीलता-

गुरु गोपालदासजी का जीवन तो विद्यादान था। उपर्जीविका मात्र स्वतत्र व्यवसाय द्वारा चलती थी। प्रसंग-विशेष पर गुरुजी के व्यवसाय विषयक कार्यों को भी पंडितजी चतुराई के साथ प्रामाणिकता से बराबर निभाते रहे। और गुरुजी के अत्याधिक विश्वास-पात्र बने सहयोगियो को वह भी एक ईर्ष्या का विषय बन गया। पंडितजी की पूरी सावधानी और प्रामाणिकता तथा क्षमता अनुभव में आने से गुरुजीने (गुरु गोपालदासजीने) विद्यालय के आर्थिक विभाग को संभालनेकी प्रेरणा भी की। परतु जन्मजात सरस्वती पुत्र को लक्ष्मी का दास और सेवक बनना कतई मजूर नही हुआ। इस विषय मे पडितजी ने गुरुजी को पूरी कल्पना दे दी और विनम्र भावो से स्पष्टतया एक तरहसे इन्कार ही किया।

गुरुजी विद्यालय मे सर्वे-सर्वा थे। उनकी कृपा बनी रहे और निजी स्वार्थ पूरा हो इस हेतु से स्वार्थियो द्वारा समय असमय मे खरी को खोटी बताके गुरुजी को चक्कर में डालनेकी कई चेष्टाएँ होती रही। देवकीनंन्दनजी पर भी

१. मराठी सन्मति (जून १९५०) मे प्रकाशित स्व. प जीका पत्र।

मिथ्या आरोप लगाये गये, उस समय पंडित देवकीनन्दनजी ने जिस चतुराई से काम लिया और अपराधियों को गुरुजी के सन्मुख ऐसे पेश किया जैसे किसी चोरको हाथ पाँव बांधकर खडा किया जाय। वे सारे किस्से अकबर-बीरबल की कहानियो मे वर्णित किस्सो से कम बुद्धिमत्ता के नहीं थे।

आदर्श गुरुभक्ति–

गुरुजीकी सेवा भी पंडितजीने असीम भक्ति भाव से समय-समय पर खूब की। पंडितजी के अपूर्व सेवापरायणताके विषय में स्वयं स्व. पू. गणेशप्रसादजी वर्णीजी ने जो अंकित किया वह इस प्रकार है " एकबार प गोपालदासजी और देवकीनदनजी इटावा गये। वहाँ पं. गोपालदासजी को दस्त लगने लगे। जिससे कोई उपाय नही सूझ पडा। बडाही कष्ट का अवसर था। वहाँ गुरुगोपालदास जी जब शौच जाते तब धोती बदलकर ही जाते थे। पीछे हाथ पैर धोने के लिए हर समय जल चाहिए था परतु जल के रखने के लिए बर्तन भी न था। श्री प. देवकीनन्दनजी को एक युक्ति सूझी। वे एक हलवाई के पास पहुँचे। उससे कहा भाई ? हम को इस कढाई की जरूरत है, जो भाडा होगा सो ले लीजिए। हलवाई ने भाडेपर कढाई देदी। उसे अपने स्थानपर उठा लाये और छने जल से भर दिया। जिस से हाथ पैर धोने का काम चला। धोती के टुकडे कर दिये गये। जिससे धोती बदलनेकी कोई कठिनाई नहीं हुई। ४०/५० दस्त लगने के बाद कुछ शांति हुई। कुछ समय बाद दस्त बद हो गये। पं देककीनन्दजी ने यह सेवा बहुत आनन्द एवं धैर्यपूर्वक की। पडितजी ने शान्त परिणामो से सब सहन किया (प. गोपालदास बरैया समृति-ग्रथ पृष्ठ ३१)

गुरुजी के अंतिम दिनो मे उनकी बीमारी मे रातदिन माता की तरह पूरी सवा अखड रूप से नि.संकोच होती रही। सकोच का विकल्प न था। महिनो रातदिन बराबर जगते रहे। कपडे भी साफ किये। सब कुछ अंतःप्रेरणा से अततक होताही रहा। सल्लेखना में पूरा योगदान देने को मिला। इसे वे अपना परम भाग्य समझते थे। गुरुजी के स्वर्गवास के अनंतर भी सन १९२२-२३ तक मोरेना संस्था मे सेवायोग दस वर्ष बराबर देते रहे।

कारंजा के लिए प्राप्त शुभ स्वीकृति–

सन १९१८ अक्षय तीज को कारंजा मे श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) की स्थापना हुई। प्रारंभ में ४/५ वर्षोतक धर्मशिक्षा का कार्य स्वयं ब्र. देवचंदजी और स्वाध्याय पडित प्रद्युम्नसावजी द्वारा निभाया गया। भविष्य मे धर्मशिक्षा-सिद्धांत-न्याय ग्रन्थोकी शिक्षा देने के लिए एक अधिकारसंपन्न

विद्वान्‌की नितांत आवश्यकता थी। समाज में उस समय मोरेना विद्यालय का सिक्का अच्छा चलता था। (संस्था के संस्थापकों में से प्रमुख विश्वस्त और दानी स्वाध्याय पं. ध. श्री. प्रद्युम्नमावजी पूर्व मे एकबार मोरेना हो ही आये थे।) और प्रत्यक्ष गुरुजी से (गुरुवर पं. गोपालदासजी) धर्मविषयक चर्चा–वार्ता भी कर आये थे। वे और सस्था के अध्यक्ष स्व. श्री. जयकुमारजी चवरे वकील दोनो इसीलिये मोरेना पहुते। योगायोग से पं. देवकीनदनजी की स्टेशनपर ही भेट हुई। प्रभात में शिष्यो के साथ प्रतिदिन घूमनेके वे आदी थे। पं. जी द्वारा " खात् पतिता नो रत्नवृष्टिः।" इन गिनती के शब्दोद्वारा अतिथियो का स्वागत हुआ। मोरेना पहुंचनेका प्रयोजन अतिथियो ने स्पष्ट किया। सत्य कहा जाय तो उडते हुए पंछियो के पंखों को गिननेकी क्षमता रखनेवाली पं. जी की प्रतिभा और तर्कशक्ति ने तत्काल ठीक ठीक अनुमान लगा लिया।

गुरुकुल के प्रसन्न वातावरण को ठीक बनाये रखनेकी क्षमतावाला, भाव–भावना और आत्मीयता से ज्ञानामृत का पान करानेवाला, चारित्रसंपन्न व्यक्ति अपनी संस्था को प्राप्त हो इसी एक मात्र भावना से मोरेना संस्था के तत्कालीन अधिष्ठाता स्व. श्री पं पन्नालालजी से चर्चा–वार्ता करके श्रीमान प. देवकी-नन्दनजी की कारंजा गुरुकुल के लिये माग की। चवरे वकील का और पं. जी का पूर्वमें ही किसी एक सामाजिक सभा मे सम्बध आया था। दोनो का पूर्व परिचय भी था। दोनों के पक्ष अलग अलग थे। दोनो विपक्षी ही थे, फिर भी उसी समय से पडितजी के समाजशास्त्र के अध्ययनकी गरिमा और तलस्पर्शी विधायक दृष्टिकोण और स्वच्छ विचारधारा से वकील सा. अच्छी तरहसे परिचित थे और प्रभावित भी थे। ऊचे विचारशील व्यक्तित्व की अमिट समादर की छाप भी अकित थी। चर्चा–वार्ता के अत में जो स्वीकृति कारंजा के लिए प्राप्त हुई वह केवल दो वर्षों की छुट्टी के रूप में।

कारंजा के लिए दो युगोंका महत्वपूर्ण योगदान

२

कालायसं हि कल्याणं कल्पते रसयोगत. ।। वादीभसिंहसूरि
(लोहा भी रससंयोग से सुवर्णत्व को प्राप्त होता है)

मोरेना से प्रस्थान तथा कारंजा मे शुभागमन

पडितजी कारजा के लिए मोरेना से रवाना हुए उस समय का आखो देखा हाल श्री. पं फूलचदजीने जो बताया वह आज भी हृदयांकित है। सारा विद्यार्थी समुदाय, नगरवासी जनसमूह, संस्था का अध्यापकवृंद मोरेना स्टेशनपर उमड पडा। सैकडो साश्रुनयनो से बिदाई हुई। वह अदृष्टपूर्व थी। लोकप्रियता का वह साकार रूप देख कर स्वय पं. धन्नालालजी आश्चर्यचकित हो गये।

पू. पं. जी का जिस प्रात: काल में कारंजा नगर के सेनगण मंदिर मे प्रथम दर्शन हुआ उस समय मै केवल ११ वर्ष का कच्चा बच्चाही था। हम सभी विद्यार्थी पूजन के कार्यक्रम में सम्मिलित थे। पंडित वस्तु क्या होती है? जिज्ञासा बहुत थी। आश्चर्यान्वित होकर टकटकी लगाकर देखता ही रहा। सफेद साफा, कुडता, और सफेद स्वच्छ धोती, आजानुबाहू कथंचित् श्यामवर्णी उस भव्य मूर्तिका हर कदम आवाज करता हुआ पद्रह् कदम दूरी से बराबर सुनाई दे रहा था। आज दावे के साथ कह सकता हूं कि संस्कृत साहित्य में वर्णित धीरोदात्त व्यक्तिमत्त्व क्या होता है और उसकी चाल क्या होती है उसका वह मूर्तिमान् रूप था। गर्भागार में पडितजी ने प्रदक्षिणा लगाते हुए आचार्य सिद्धसेन-कृत कल्याण मदिर की उनकी वे प्यारी पक्तियाँ

आकर्णितो पि महितो पि निरीक्षितोऽपि
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।

जातोस्मि तेन जनबांधव दुःखपात्रम् ।
यस्मात् क्रिया प्रतिफलन्ति न भाव-शून्या ।।

कईबार गुनगुनाते हुए बराबर सुनाई देती थी। प्रदक्षिणा तीन नहीं पांच थी; जो मेरे लिए आश्चर्य की बात थी। कईबार आगे चलकर देखा इन ही पंक्तियों को अनेकोंबार गुनगुनाते हुए प्रदक्षिणा कभी चार कभी पांच हो ही जाती थी। आत्मसाक्षीपूर्वक प्रामाणिकता से प्रगट होनेवाला भक्ति भाव का वह परम पावन भावभीना सजीव रूप था।

अनमोल सेवायोग के दो युग

पू पंडितजी ने कारंजा में जवानी के करीब २२/२३ वर्षोतक समर्पित भावो से योगदान दिया। पंडित-पान और घोडा अपनी जन्म भूमि से जितनी दूरीपर पहुंचते है, उतना ही उनका मूल्याकन अधिक मात्रा में होता है। यह सारा व्यवहार—दृष्टिसे ठीक भी है। परतु वास्तव में समाज की क्षणिक प्रसंग निष्ठ बदलती हुई भावना और चचल बुद्धि के द्वारा प्रामाणिक निरामय व्यक्तित्त्व की यथार्थ तुला हो ही नही सकती। रुपयो से तो हो ही नही सकती। वह उपमातीत और अनमोल होती है। और मूल्याकन सेवाभूमि विदर्भ देश जन्मभूमि से दूरका, भाषा मराठी बिलकुल अलग, जलवायु भिन्न, खानपान न्यारा, चाल—चलन स्वतत्र इन सारी बातो को पडितजी ने खूबही अपनाया। हम छात्रों के साथ एक पंक्ति मे बैठकर व सस्था की भोजन शाला में प्रारभ में भोजन भी करते रहे। उन्होने संस्था को पूरी निजी बनाली। प्रथम दिनसे ही लोक—विलक्षण व्यवहार पद्धतिसे पडितजी का सिक्का पक्का जम गया। सारा छात्र चमू, अध्यापक वर्ग, सस्था के कार्यकारणी के पदाधिकारी भी पंडितजी को संचालक ही समझने लगे। विकल्प का कोई कारण नही रहा। सही अर्थ मे संस्था—नौका के लिए मानो कर्णधार मिल गया।

मोरेना से कारंजा आने के पूर्व ही जो शर्तें थी उनमे एक शर्त यह भी थी कि अध्यापन मात्र का कार्य रहेगा। सुपरिन्टेन्डेन्ट था, आर्थिक व्यवहार की जिम्मेदारी नही रहेगी। परतु पं जी स्वयं स्वभाव से लाचार थे। परदुःख कातरता स्वभाव मे कूट कूट कर भरी थी। इसी कारण विद्यार्थी और अध्यापक तथा सहयोगियों के प्रतिकूलता का और अडचनों का ख्याल बराबर करते थे। अध्यापक पं जी को अपना सगा भाई समझते थे और छात्र अपने माता—पिता के समान समझते रहे। माता पिता को छोड आये बच्चों को पं. से गोवत्स की तरह प्यार मिलता रहा। नियमो के अतीत तथा और बंधनो से परे अमूर्तिक प्रेम के बंधन मे अध्यापक और छात्र बंधनबद्ध थे। सही मार्गदर्शन मिलता ही रहा।

निष्छल व्यवहार का प्रभावक रूप

अध्यक्ष श्री. चवरे वकील अकोला से जब भी १५ दिनमें आते थे सामाजिक विषयो मे परस्पर में खूब चर्चा होती थी। घर के सुख दु:खो की बाते भी आत्मीय भावो से होती थी। साध्याय-पडित श्री. प्रद्युम्नसावजी से धर्म चर्चा और स्वयं पू. देवचंदजी से (पू. मुनिश्री समंतभद्रजी के पूर्वावस्था का नाम) संस्था-संबंधी चर्चा मुक्त मन से बराबर होती थी। कार्यकर्ता लोगो को भी कार्य सचालन को सही सही पाठ मिल जाते थे। आत्मीय भावो की यह लोकविलक्षण रिस्तेदारी देखकर संस्कृत-भाषा-तज्ञ विचक्षण वकील श्री. नेमचंदजी गांधी (उस्मानाबाद), श्री. सेठ हिराचंदजी नेमचंदजी (सोलापूर), श्री. सेठ मोतीचंदजी गौतमचदजी (बबई), श्री बॅ चम्पतरायजी जैन, श्री. ध. प. धन्नालालजी आदि समाज मान्य व्यक्ति आश्चर्यान्वित हो गये। स्वय बॅरिस्टर साहब ने कईबार अपना स्वतंत्र निवास यहाँपर बधवाकर रहने के भाव भी प्रगट किये।

अध्यापन में मौलिकता तथा कुशलता

प्रौढ विद्यार्थियो को सागारधर्मामृत, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार (जीवकांड कर्मकाड), तत्त्वार्थराजवार्तिक, पंचाध्यायी, तथा न्याय ग्र थो में न्यायदीपिका, प्रमेयरत्नमाला, आप्तपरीक्षा, अष्टसहस्त्री तथा प्रमेयकमलमार्तंड आदि ग्रंथो को तथा काव्यो में क्षत्रचूडामणि, चद्रप्रभचरित्र, जीवंधर चम्पू, और धर्मशर्माभ्युदय. पडितजीने कई पीढियों को पढाया। ग्रथ के अतर्गत विषयो का मूल सूत्र वे प्रारभ मे सूक्ष्मदृष्टि से तथा रोचक सरलतम पद्धती से हम लोगो के सन्मुख रखते थे। अनंतर उसका विस्तार ग्रथकर्ताद्वारा कैसे कैसे किया गया, कौनसे अवांतर गौण मुख्य विषय भाष्य मे आये है, इसका पूरा स्पष्टीकरण करना उनकी पद्धति थी। विषय सहज मे हृदयांकित होता था। विषय-प्रतिपादन अनुपम के अनुभव अमृतोपम मधुर अनुपान के साथ अधिक से अधिक मात्रा मे होता था। सागारधर्मामृत, क्षत्रचूडामणि, पचाध्यायी पढाते समय गुरु गोपालदासजी तथा पूज्य वर्णीजी आदि व्यक्तियो की जीवन घटनाओ के प्रतिपादनद्वारा विषय रोचक रूपसे हृदयांकित होने मे सहजता आ जाती थी। सागारधर्मामृत, क्षत्रचूडामणि, पचाध्यायी इन ग्रथो के विषयो का दैनदिन जीवनचर्या मे कैसा अटूट सबंध है इसका पूरा अनुभव हो जाता था।

धर्मशिक्षा का आदान-प्रदान जीवन के लिये श्वासोच्छ्वास की तरह होता है, उसका उपयोग केवल उपजीविका के लिए करने के सकुचित आत्मघाती मनोवृत्तिसे वे सैंकडों कोस दूर थे। सागार-धर्मामृत के अध्यापन के समय उस्मानाबाद निवासी परमरसिक स्वाध्याय पडित श्री. नेमचदजी गांधी वकील

कईबार बैठे। "धर्मं यशः शर्मं च सेवमानः।" इस श्लोक के ऊपर का वक्तव्य धाराप्रवाही कई दिन तक चलता रहा। उसे सुनकर वकील साहब की आखों से प्रसन्नता की अश्रूधारा बहती हुई हमने देखी है। आनदाश्रुओ से गद्गद वदन का दृश्य अद्भुत था। "हमारे लिए वह अमृतवर्षा का लाभ हो रहा और धन्यता का अनुभव भी हो रहा है।" ऐसे वकील सा के हृदययोद्गार कईबार सुनने को मिले। इसी प्रकार श्री. चवरे वकील, ब्र. सीतलप्रसादजी आदि व्यक्ति तथा समय समय पर समागत अतिथिगण भी अनेकबार कक्षा में प जी का वक्तव्य सुनने को आते थे। स्व. पू. ककुमौसीजी के निवासस्थानपर तो कईबार अध्यापन होता रहा। विषय विन्यास तलस्पर्शी और भावाभिव्यंजकता निरंतर मधुरता के साथ होती थी। साथ ही साथ संस्कृत और हिन्दी के अश्रुतपूर्व सुभाषित, दोहे, उर्दू के शेर, नीतिकथाएँ सुनने को मिलती थी। ऐसा लगता था जैसे रत्नगर्भा रत्नाकर अपने तरंगों के द्वारा नाना रत्नो को और मोतियो को किनारे लाकर डालता है, केवल उन्हे उठाने मात्र का कार्य शेष रहा हो।

न्याय-ग्रंथों को पढाते समय यह देखा गया कि, विद्यार्थियों की जिज्ञासा जितनी अधिक उतनाही अधिक रस उन्हें पढाने में आता था। श्री. पं. ब्रह्मचारी माणिकचंदजी भीसीकर एम् ए. ने अपनी स्मृति मे ठीक ही कहा- "यदि किसी कठिन पक्तिका खुलासा और समाधान दिन में पढाते समय पूरा नही हो पाया तो कभी कभी रात्रि मे बारह बजे या दो बजे जब कभी आत्मप्रत्यय हो जाता था तो उसी समय पडितजी घर से आ जाते थे। हमे जगा देते थे और घटो प्रतिपादना शुरू हो जाती थी, जो अत्यत मूलग्राही और रसपूर्ण होती थी।" इसका मुझे भी कईबार अनुभव आया है।

पंडितजी का विलक्षण अभीक्षण-ज्ञानोपयोग

पं. जी के इस चिंतनशीलता को उनकी विद्यार्थी दशा के साथी विनोद भरे शब्दों में "स्त्यानगृद्धि दर्शनावरण" कर्म के उदय रूप मे कहते हुए उपहास गर्भ चेष्टाएँ करते रहे। परतु पू पडितजी का स्वभाव, असाधारण एकाग्रता, धारावाही चिंतन की विशिष्ट प्रामाणिक पद्धति तथा अतिम यथार्थ निर्णय इन सबका समुच्चय रूप से वर्षों अतिनिकट रहकर अध्ययन करने के अनतर मेरा यह स्वच्छ अनुभव रहा कि, पडितजी का अभीक्षण ज्ञानोपयोग-या समाधि ही इसका मूलाधार रहा है। इसी के बलपर वे न्यायविषयक और सिद्धान्त विषयक अनेक गुत्थियो को सुलझाने मे समर्थ हुए। स्वय विद्वद्वर्य पं. फूलचंदजी तथा पं. बालचंदजी ने धवला के संपादन के समय पं. जी का जो योगदान प्राप्त हुआ उसका अत्यंत समादरभावना के साथ उल्लेख किया है। सामाजिक जटिल से जटिल गुत्थियों को सुलझाने में पडितजी के इसी अचिंत्य चिंतनशीलता का तथा

ज्ञानोपयोग शक्तिका और लोककल्याण भावना का बहुत अधिक हिस्सा है यह ज्ञानोपयोग उन्हें आजीवन चिंतामणि रत्न जैसा उपयोगी सिद्ध हुआ है।

अध्यापन में दूसरी भी एक विशेषता अनुभव में आयी। विद्यार्थियों के चाहे वे कम बुद्धिमान् हो निरंतर उचित शब्दोद्वारा पं. उत्साह की वृद्धि करते ही रहे। जिससे धर्म विषय मे रुचि बराबर बनी रहती थी। परिश्रम और लगन में वृद्धि बन जाती थी। विद्यार्थी लाभ में रहते थे।

किसी भी तत्त्व को तोड-मोड करके उल्टा-सीधा कहने का पाप उनके द्वारा कभी हुआ नही। पंडितजी द्वारा प्रदत्त अष्टसहस्री और प्रमेयकमल मार्तंड में आये विषयो के नोटस् इंदोर में स्वयं पं जीवंधरजी ने और शिष्यवर्गों ने बारीकी के साथ देखे और वे आश्चर्यचकित हो गये। पंडितजी के शिष्य तीर्थ-परीक्षा में प्रथम श्रेणी में प्रथम और द्वितीय क्रमांक से गुणवत्ता के साथ उत्तीर्ण रहे। पंडितजी सिद्धांतशास्त्र के तो मर्मज्ञ और विशेषज्ञ थे ही, साथही साथ न्यायविषयों को भी अधिकार के साथ पढा देते थे। यह पं. डॉ. मूलचंदजी शास्त्री एम्. ए, पीएच् डी सनावदवालों का अनुभव और अभिप्राय बिलकुल सही सही है। अध्यापन-पद्धति का यह सारा अनुभूत बाहरी रूप का संक्षिप्त स्वरूप मात्र है, परंतु जिस मिठास और रुचि से अध्यापन हुआ है वह तो केवल अनुभूतिमात्र का ही विषय हो सकता है, उसका शब्दांकन अशक्य है। सर्वार्थसिद्धि, प्रमेयरत्नमाला, सागारधर्मामृत ये ग्रंथ तो उन्हे कण्ठस्थ थे। राजवार्तिक के कई अध्यायो का तथा पंचाध्यायी का स्वाध्याय पू. समंतभद्रजी महाराजजी ने पं. जी की साक्षी से किया और विद्यार्थियो को सागारधर्मामृत तथा सर्वार्थसिद्धि पढाया।

श्री. पं. सुमेरचंदजी दिवाकर और पं. किशोरीलालजी भी राजवार्तिक का अध्ययन करने के लिए कारंजा रहे। दोनों की दोहन क्रिया का सामर्थ्य विशेष था। रात्रदिन अध्ययन होता था। दोनो पूरे अंतेवासी के रूप में रहे। प्रातः और रात्री को घंटो धाराप्रवाही अध्ययन चलता हुआ हमने देखा है। उस आदान-प्रदान का स्मरण होते ही आ. वादीभसिंह का वाक्य "**स्वयं देया सती विद्यां प्रार्थनायां तु किं पुन**।" का प्रत्यय हो जाता है। पं. सुमेरचंदजी के पिता श्रीमान् सिं. कुंवरसेनजी का उन्हे कारंजा भेजने से यह भी एक उद्देश था कि, पं. जी सुमेरचंदजी को विवाह के लिए प्रेरणा करे। परंतु पंडितजी ने सुमेरचंदजी के दृढतर भावो को टटोल लिया। सहज स्वाभाविक विरक्त भावों को विपरीत दिशा मे बहाने का पाप कभी नही किया। आदि से अंत तक पूरी सावधानता का व्यवहार रहा।

व्यवहार का क्षेत्र व्यापक होता है। पुस्तकी शिक्षा की बात और होती है। और जीवनशिक्षा की बात कुछ और होती है। सिद्धान्तशास्त्री पं. फूलचंदजी ने पंडितजी के विषय में अपना अनुभव सुनाया।

"मैने पंडितजी से एक भी ग्रंथ नही पढा किंतु सत्य कहता हूं पंडितजी से सब कुछ पढा।"

एक सिद्धांताचार्य के इन हृदयोद्‌गारों से पंडितजी के अध्यापन विषयक विशेषता की और मौलिकता की कल्पना सहजही ख्याल में आ सकती है। पं. फूलचंदजी के "मेरे गुरुजी" इस स्मृतिरेखा में और भी कई विशेषताओ का दर्शन हो जाता है।

गुरुकुल के शिक्षा विभाग में लौकिक शिक्षा ५ वीं से मॅट्रिक तक दी जाती थी। सात वर्षों का अभ्यासक्रम था। Unrecognised रूप में कुछ वर्षोंतक चलता रहा। स्वतंत्र अभ्यासक्रम निर्धारित था। जिससे जैनबाल-बोध से लेकर द्रव्यसंग्रह, रत्नकरंडश्रावकाचार, छहढाला, तत्त्वार्थसूत्र, सागारधर्मामृत, गोमटसार, और सर्वार्थसिद्धि इन सिद्धांत ग्रंथो का अध्ययन हो जाता था। अनंतर उच्च धर्मशिक्षा हेतु तीन वर्षों का अभ्यासक्रम बनाकर सिद्धांत विद्यालय विभाग में गोमटसार, कर्मकांड, पंचाध्यायी और राजवार्तिक इन धर्मग्रंथो के साथही साथ परीक्षा मुख, न्यायदीपिका, प्रमेयरत्नमाला ये न्यायग्रंथ तथा काव्यों मे क्षत्र-चूडामणी, जीवंधर चम्पू, धर्मशर्माभ्युदय ये काव्यग्रंथ तथा लघुकौमुदी यह व्याकरण ग्रंथ भी पढाया गया। तथा पाच पीढियो को प्रमेयकमल मार्तंड तथा अष्टसहस्री पढाकर न्यायतीर्थ-परीक्षा भी दिलवायी गई। परन्तु लौकिक शिक्षा विभाग को शासन के द्वारा मान्यता प्राप्त करने के अनंतर अभ्यासक्रम बदलना पडा, फिर भी सर्वार्थसिद्धि तक अध्ययन होता ही रहा। यह एक प्रयोग था लौकिक शिक्षा के साथ धर्मशिक्षा भी देने का। इसविषय में यदा कदा इंदौर पहुचनेपर पंडितजी से पूछा भी गया कि, 'इन सारे धर्म-ग्रंथो की पढाई आप कैसी पूरी कर लेते हो?' जिसका पूरा समाधान पंडितजी ने रेकॉर्ड बतलाकर कर दिया था। इनमे से ऊंचे ग्रंथ तथा न्यायग्रंथो का अध्यापन पंडितजी द्वारा ही होता रहा।

पंडितजी का धारावाही औषधदान

मानसिक आधियों के लिए पं. जी जिस तरह ज्ञानदान में सदा सावधान समर्थ रहे। उसी प्रकार व्याधियो के लिए आपका प्रकृति-विज्ञान तथा औषधी विज्ञान और उपचार पद्धति विद्यार्थीवर्ग तथा अध्यापक लोगों के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुई। आयुर्वेद औषधियो का भण्डार घर मे भरा रहता था और मुक्त हस्त से उसका रातदिन उपयोग भी होता था। पं. जी के अनुभवो से

नगरवासी जनता भी काफी उपकृत रही। सभी लोग एक विश्वासपात्र अनुभवी वैद्य के नाते पं. जी के ऊपर अच्छी श्रद्धा रखते थे। ज्ञानदान की तरह औषधदान में भी मौलिकता रही जिस को भुलाया नहीं जा सकता।

वाग्देवता का कृपाप्राप्त सरस्वतीपुत्र

३

वक्ता दशसहस्रेषु वाग्मी भवति वा न वा ॥

(दस हजारों मे वक्ता एकाध होता, परंतु वाचासिद्ध व्यक्ति शायदही होता है)

वाग्देवता और सरस्वती दोनों देवता सही अर्थ में पंडितजी पर प्रसन्न थीं। दोनो का वरदहस्त पंडितजी के माथेपर सदा बना रहा। पंडितजी को व्याख्यान-वाचस्पति उपाधि तो देहली मे प्राप्त हुई जिसका एक तरहमे सूत्रपात बनारस विद्यालय में ही पढते समय हुआ था।

पंडितजी व्याख्यान के लिए जब खडे होते थे या प्रवचन के लिए "गणधर गद्दी" पर बैठते थे, विषय चाहे जो हो प्रारंभ से अंततक विषय की रोचकता बढती हुई देखने को मिली। विद्यार्थियो की साप्ताहिक सभा हो कार्यकर्ताओं की बिदाई की सभा हो, या विशिष्ठ अतिथि का सम्मान-समारोह हो, पर्व की सभा हो, या दशलक्षण महा पर्व की प्रवचना हो अथवा तत्वार्थ-निवेदन हो अमूर्त विषय मूर्तरूप मे प्रगट होता था। मिनिट दो मिनिट के भीतरही श्रोताओं का जो आकर्षण बन जाता था वह व्याख्यान-प्रवचन-समाप्ति तक बराबर वर्धमान रूप में रहता था। व्याख्यान के समय श्रोताओं में शांति निरंतर देखी गयी। साथही साथ जिज्ञासुओंकी जिज्ञासा-जागृति भी अंततक देखी गयी।

चालीस वर्ष पूर्व टेपरेकॉर्डर की उपलब्धि नहीं थी, जो आज सहज में उपलब्ध है। यदि होती तो वह पू पंडितजी के वचनो का अपूर्व पुण्यप्रसाद आज भी अनुभव में जरूर आता। और अमृतोपम अनुभवों का साक्षात्कार होता।

सुना है विज्ञानवेत्ता इस खोज में लगे है कि शताब्दिपूर्व के व्यक्तियों के वक्तव्य आज भी सुनने को मिले। उन्हे जरूर अत्यधिक भाग्यवान समझना होगा जिनको उस अमृत वर्षाका लाभ होगा।

पंडितजी का कार्यक्षेत्र केवल शालेय कभी नहीं रहा। कारंजा गुरुकुल केवल अधिष्ठान मात्र था। समाज सेवा के लिए मुक्तद्वार था। पं. जी पर्व के निमित्तसे, महावीर जयन्ति के निमित्त से या पूजा प्रतिष्ठादि के निमित्त से जिन सैंकडो जगह पहुचे। उन में से मुख्यतया निम्नांकित स्थान है।

देहल्ली, आगरा, कानपूर, ललितपूर, जबलपूर, नागपूर, सोलापूर, कोल्हापूर, टिकमगढ-डोंगरगढ, सोनगढ-देवगढ, अलीगढ-कन्नड, नांदगाव-बेळगाव, सागर-सतना, सिमला-सिवनी, छिंदवाडा-खंडवा, मुक्तागिरी-सोनागिरी, मांगीतुंगी-थूबोनजी, गंजपंथाजी, आहारजी-बडवानी, पपौरा-चंदेरी, झांसी-उज्जैन, विदिशा-कुरवाई, अशोकनगर-मुजफ्फरनगर, मथुरा-कुण्डलपूर, जयपुर-खुरई, इदौर-ब्यावर, रामटेक-भोपाल, फलटण-दहिगाव, नातेपुते-आळंद, कटनी-ग्वालियर, कलकत्ता-बम्बई, खतौली-बनारस, बीना-छपारा, गया-दुर्ग, बडवाह-बैतूल, पूना-वर्धा, बासम-अमरावती, अजमेर-सनावद, केवलारी, वारचौन, मेरठ-मुलतान. आदि सैंकडों जगह पंडितजी पहुंचे और हजारों श्रोताओ को व्याख्यान प्रवचनो का लाभ हुआ। उसे समाज भूल नहीं सकता। राजकीय विषयो पर या चालू लौकिक विषयोपर व्याख्यान देना सहज होता है, परंतु धर्म के पवित्र स्वरूप को यथार्थ रूप मे स्पष्ट करते हुए सुप्त धर्मभावों को जागृत करना, सद्विचार और सदाचारों को प्रेरित करना कठिन होता है। पं. जी उस में सफल रहे।

धर्म संबंधी आज जनता मे डेढ दो घंटा व्याख्यान होने के बाद मध्यरात्रि में पुनः उन्ही श्रोताओ के समक्ष जनता के आग्रहवश एक घटे का व्याख्यान पुनः आगरा में पंडितजी को देने पडा। जिसे सुनकर जनता संतुष्ट हो गयी। विषय-विन्यास मूलग्राही होकर भी सामान्य जनता को सहज पूरा समझ में आ जाता था। विषयो के अनुरूप दृष्टांत, मान्य व्यक्तियो की जीवन घटनाएँ-कथाएँ सुनानेकी उनकी पद्धति रही है। जिससे विषय साकार होता था और रोचकता की धारा अखण्डरूप से प्रवाहित होती थी।

पं. जी परवार सभा के दोबार अध्यक्ष भी रहे और संरक्षक भी बनाए गये। अध्यक्ष पद से दिया गया व्यख्यान अत्यंत मौलिक था। चालीस वर्षों के अंतराल से भी आदरणीय पं. जगमोहनलालजी ने स्मरणपूर्वक उसे शब्दांकित किया है। जो होश और जोश से परिपूर्ण है। एक तरहसे वह पंडित जी के व्याख्यान की झांकी ही है।

घंटो के प्रवचन-व्याख्यानों की तरह पांच-दस मिनिटों के लघूत्तम व्याख्यानो में भी वही विशेषता पायी गयी। सोलापुर गुरुकुल की स्थापना और कारजा श्राविकाश्रम की स्थापना के समय प्रमुख वक्ता पंडितजी थे; परंतु समय बहुत ही थोडा, केवल दस मिनिट मिल पाया। फिर भी समयोचित महत्त्वपूर्ण विचारों को ऐसे रखा गया कि, और वक्ताओ के लबे व्याख्यानों से जो बन नहीं पाया वह पडितजी के लघूत्तम व्याख्यान से सहज में बन पाया। सोलापुर में स्व. सेठ गुलाबचंदजी हीराचंदजी, ब्र जीवराजभाई गौतमचंदजी तथा कारजा मे समागत प. चंदाबाईजी आरा सभी अत्यंत प्रभावित हुए। स्थान का स्मरण नही हो पा रहा, सभवत कुरवाई मे प्रतिष्ठा के समय विद्वत् परिषद का अधिवेशन था। समय मिलवाया केवल ४५ मिनिट का। अध्यक्ष स्वयं प. जी थे। वक्ताओं को ३/३ मिनिट दिये गये। अधिवेशन शानदार रूप मे सम्पन्न हो गया। जनता का अभिप्राय यह रहा कि, 'ऐसा अधिवेशन न हुआ न होगा' स्वयं पं जी का अध्यक्षीय भाषण भी ५ मिनिटो मे सपन्न हुआ Brevity is the sign of Intelect सक्षिप्तता बुद्धिमत्ता की निशानी है यह महान तत्व स्पष्ट हुआ।

वाग्मी भवतिएष:

एक सस्कृत कवि ने ठीक ही कहा। सौ व्यक्तियो मे एकाध शूर होता है। हजारो मे पंडित एकाध ही होता है। दसहजारों मे वक्ता एकाध ही होता है और वाग्मी (वाचासिद्धव्यक्ति) शायद ही होता है। ऐसे वाचा सिद्ध व्यक्तियों मे पडितजी की गणना थी। मूल मे विचारो में निश्चयात्मकता थी। दृष्टिकोण व्यापक था। वाणो मे धारा-प्रवाहिता थी, मधुरिमा भी थी। भाषा मे लालित्य था। स्वाभाविक विनोदशीलता भी थी। यह सारा बाहरी वैभव तो था ही। पचाध्यायी के कर्ता पं. राजमलजी ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ मे जो कहा कि, "ग्रंथनिर्मिति में कवि का विशुद्धतर भाव ही हेतु है, परतु इस हेतुका भी हेतु कवि की सर्वोपकारिणी बुद्धि" है। यही पडितजी के व्याख्यान प्रवचनो के समय पायी गयी। इसीके कारण बुदेलखण्डमें ही नही, समाज भर में पं जी सहज ही लोकपूज्य मान्यता को प्राप्त कर पाये। जहा पर भी पडितजी पहुचते थे, उत्सव समारंभ के वे सहज ही प्रमुख नेता समझे जाते थे। लोगों को और कार्यकर्ताओं को बल मिल जाता था। आत्मविश्वास बढ जाता था। कार्यप्रवणता में नयी उमंग आ जाती थी। यह केवल स्तुति नही, वस्तुस्थिति रही। खुरई संस्था के जन्मोत्सव के समय, मुक्तागिरी प्रतिष्ठा के समय दानराशी की वर्षा हुई, जबलपुर वर्णी गुरुकुल के प्रारंभ में कच्चा द्वार पक्का करने में जिस बुद्धिमत्ता से काम लिया गया उस विषय में श्री. सि. हरिश्चचंद्रजी ने जो कहा था 'वह तो प्रेरणा की प्रभावी चरम सीमा ही थी। सागर मे जिस चतुराई से दान वर्षा हुई उसका पूरा वर्णन पं. डॉ.

पन्नालालजी की स्मृति मे यथार्थ रूप से आया ही है। हजारों जनता के हृदयपरिवर्तन सही दिशा में वे कर पाये। इस वाचाशक्ति को ही संस्कृत में "वाग्मिता" कहा है।

शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पंडितः।
वक्ता दशसहस्रेषु वाग्मी भवति वा न वा ॥

इस यशस्विताका कारण पूछनेपर उत्तर मे यह कहा गया कि "देखो भैया! व्याख्यान मे दिल की कहना होता है, साची कहना होता है, अनुभव की कहना होता है, पटी कहना होता है। लोक कल्याण भावना से, हित की कामना से कहना होता है। वही व्याख्यान है, बाकी सब बकवास है।"

प. जी के व्याख्यानो का यथार्थ मूल्याकन केवल कला की दृष्टि से नहीं हो सकता। कला तो अपूर्व थी ही। परंतु लोकोपकारिणी भावना स्वभाव में कूटकूटकर भरी हुई थी। श्री प. नरेंद्र प्रकाशजी जैन (संपादक जैन गजट) के पिताश्री रामस्वरूपजी पंडितजी के व्याख्यान प्रवचनो से यहाँतक प्रभावित रहे कि, उन्हो ने अपने सुपुत्र श्री. नरेंद्रप्रकाशजी को बचपन मे यह आशीर्वाद दिया कि "यदि वक्ता ही बनना हो तो पं देवकीनंदनजी जैसा हो।" इससे पंडितजी के वक्तव्यों की समाज के गण्य-मान्य विचारी नेताओ के ऊपर कैसी अमिट छाप थी इसका सहज मे पूरा अनुमान लगाया जा सकता है।

श्री पंडितजी की दृष्टिसंपन्न चिरंतन साहित्य सेवा

४

पं. जी के व्याख्यान जैसे अनुभवरस से ओतप्रोत इष्ट और मिष्ट होते थे, उसी प्रकार साहित्यसृजन भी हो ऐसी निकटवर्तियो की हार्दिक भावना रही। स्वयं. पं. जी भी चाहते थे, परंतु वैचारिक और भावनिक पिण्ड जितनी मात्रा में व्याख्यान प्रवचनादिकेलिए अनुकूल रहा, उतनी मात्रा में साहित्य की निर्मिति के लिए नही रहा। फिर भी प्राणप्रिय पंचाध्यायी की सरलार्थ प्रबोधिनी टीका निस्संशय अनुभव रस से ओतप्रोत बन गयी। कुछ श्लोको का अनुवाद दो दो तीन

तीन बार लिखा गया। जब तक पूरा आंतरिक समाधान नहीं हो पाता था, तब तक हेर फेर के बाद ही अंतिम रूप दिया जाता था। आध्यात्मिक विषय के यथार्थ आविष्कार केलिए विशिष्ट दृष्टि की और निश्चयनय-प्रधान भाषा की आवश्यकता होती है। पंचाध्यायी का विषय और प्रवचनसार आदि ग्रथों का सुमेल ख्याल में लेकरही यह अनुवाद पूरा हुआ है। जो अपने आप में अपूर्व है। पं. बंशीधरजी ने अपने अभिप्राय में उल्लेख किया है कि, 'समाज में उसका रुचिपूर्वक अध्ययन हो, इस प्रकारकी यह टीका बन गयी है।' आत्मवस्तु का अनुपचरित यथार्थ स्वरूप-भूतार्थस्वरूप जिन शब्दों में व्यक्त हुआ है वह इस अनुवाद की मौलिकता रही है।

आध्यात्मिक विषय और विषयो से अलग होता है। वैसे ही उसका आविष्कार ठीक ढंग से होनेपर व्यवहाराधीन या निमित्ताधीन पक्षपाती संस्कार वालों को एकांत की गंध आती ही है, यह अपराध ग्रंथकार का या अनुवाद का नहीं होता। निमित्त प्रधान दृष्टि, उपादान प्रधान भाषा, या उपादान प्रधान भावों को सही अर्थ में ग्रहण ही नही कर सकती, उपचरित रूप ही निमित्त के पक्षपाती दृष्टि में आता है। अध्यात्म-ग्रंथ की नग्न दिगंबर अध्यात्मता उन्हे स्पष्ट नहीं हो पाती। उपचारो के नगाडें की आवाज इस अनुवाद में नही है। "**उपचार-मेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति**"। आचार्य अमृतचंद्र के इस संकेत के अनुसार यह अनुवाद प्रामाणिक रहा है। अध्यात्म प्रधान भाषा की ध्वनी धारा-वाही प्रवाहित हुई है। व्यवहार प्रतिषेध्य ही होता है और निश्चय प्रतिषेधक ही होता है इसका सही निर्णय इस अनुवाद मे यत्र तत्र सर्वत्र प्रगट हुआ है, जो इसकी एक विशेषता है। समयसार की-विशेषत: बंधाधिकार की २७० गाथाओं से अंततक की गाथाओं का पं. जीका मनन और आविष्कार अभूतपूर्व था। इस ग्रंथ का प्रकाशन कारंजा मे ही आश्रम के विशिष्ट दातार है स्व. श्री. सेठ प्रभुदासजी चवरे के द्वारा हुआ है। इसका ही अविकल गुजरायी अनुवाद आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीमान श्रीकानजी स्वामी की प्रेरणा से प्रकाशित हुआ है। इस हिंदी अनुवाद को देखकर ही श्रीमत् श्री. स्वामीजी ने स्वाध्याय-नयो का और नयाभासो का पूरा खुलासा हो इसलिए श्री रामजीवकील सा. द्वारा सोनगढ से सोनगढ पधारने के लिए पत्राचारों से निमत्रण भी पहुंचा था। परंतु वह अवसर नही आ पाया। श्री. सर सेठ हुकुमचंदजी के साथ सोनगढ पहुंचने पर एक बार जरूर भेट और चर्चा हो पायी। "दंसणमूलो धम्मो।" तथा "चारित्तं खलु धम्मो।" इन आचार्यसूत्रो को सुमेल तथा विवक्षा-विशेष को लेकर प्रातःकालीन स्वाध्याय गोष्टी में कई दिन चर्चा चलती रही। पं. जी अपने विचारों पर अडिग रहे। बाद में अन्वयार्थ विरहित धाराप्रवाही हिंदी अनुवाद की प्रथमावृत्ति

पं. फूलचंद्रजी सिद्धान्त शास्त्री द्वारा तैयार हुई, जिसको पं जी ने स्वयं पढ लिया था। वह ग्रंथ "श्री गणेप्रसादजी वर्णी दिगबर जैन ग्रथमाला" द्वारा प्रकाशित हुआ। जिस की द्वितीयावृत्ति का सन १९८६ में पुनः प्रकाशन हुआ है।

सागारधर्मामृत

यह दूसरा ग्रथ है जिसका हिंदी अनुवाद प. जी द्वारा हुआ और प्रकाशन वीरसं. २४६६ आश्विन वदी ५ को सूरत से हुआ। प्रकाशकीय निवेदन मे स्वयं कापडीयाजी ने गौरव के साथ लिखा है कि अनुवाद हेतु पारिश्रमिक के लिए पं. जी से कहा गया तो उन्होने एक पाई भी लेना स्वीकार नही किया। यही उनकी पद्धति रही है।

इस अनुवाद में आचार की आत्मा स्पष्ट करनेका पूरा प्रयास किया गया है। जैसे ग्यारह प्रतिमा के आचार वर्णन मे "**अन्नहि रागादिक्षयतारतम्य विकसत् शुद्धात्मसंवित् सुखस्वादात्मसु।**" इस पद का अर्थ देखने लायक हुआ है। जहाँ तहाँ आचार की आत्मा स्पष्ट हुई है। इस ग्रथ की प्रेस कापी प. हजारीलालजी द्वारा तैयार हुई है। बाद मे मराठी मे उसका भावानुवाद भी मराठी के मनीषी लेखक श्री भाई रवीन्द्रजी जैन एम् ए द्वारा हुआ है। ग्रथ में अतिचारो का वर्णन आया है वह मननयोग्य है। इस ग्रथ की द्वितीयावृत्ति का विचार चल रहा है। साहित्याचार्य श्री डॉ पन्नालालजी सागर वालों ने इस ग्रथ को अति उपयोगी बतलाया है। सिद्धांताचार्य प फूलचदजी की भी इच्छा इस ग्रथ के पुनः प्रकाशन की प्रगट हुई है।

षट्खण्डागम प्रकाशन-सम्पादन-संशोधन में मौलिक सहयोग-

इटारसी में सन १९३३ को बॅरि. जमनाप्रसादजी के सभापतित्व मे दिगंबर जैन परिषद का अधिवेशन हुआ। उस समय गजरथ चलानेकी अपेक्षा सिद्धांत ग्रंथो को प्रकाशन की योजना विदिशा निवासी श्रीमत सेठ लक्ष्मीचदजी सिताबरायजी के सम्मुख रखी गयी। श्री. पं. जीसे इस विषय में काफी परामर्श हुआ और अतिमरूप... पं. जी की सलाह से ही दिया गया। श्री. पं. राजमलजी बडजात्या, डॉ. हीरालालजी जैन तथा अॅड्. तखतमलजी परामर्श-दाता रहे। षट्खण्डागम के सानुवाद प्रकाशित करनेकी पूरी योजना बनायी गयी। जिसका कार्यालय अमरावती मे था। श्री. डॉ. हीरालालजी जैन सम्पादक रहे। अनुवाद का कार्य श्री. स्व. पं. हीरालालजी (सादूमल) तथा श्री पं फूलचन्दजी सि. शास्त्री द्वारा तथा बाद मे पं. बालचंदजी शास्त्री द्वारा हुआ है। प्रारंभ के चार ग्रंथो का सानुवाद प्रारूप प्रकाशनपूर्व ८-१५ दिनो में कारंजा में आकर श्री. पं. जी को बतला दिया जाता था और आवश्यक शुद्धि के अनंतर ही मुद्रण होता था। इस विषय का उल्लेख स्वयं पं. फूलचदजी तथा स्वयं पं. बालचदजी ने

समादरपूर्वक अपने लेख में कियाही है। करणानुयोग ग्रंथ की गुरु परंपरा से प्राप्त प्रामाणिक दृष्टि तथा प्रगाढ मूलग्राही यथार्थ उत्पत्ति से यह बहुत महत्व पूर्ण कार्य संपन्न हुआ, और आगे के ग्रंथो के लिए सही सही रास्ता खुल गया। ग्रंथो के सम्पादक, अनुवादक और प्रकाशक स्व. पं जी का बहुत बडा उपकार मानते ही रहे। स सि. श्री. सुमेरचंदजी (जबलपुर) ने '**षट्खण्डागम के पुरोधा**' के रूप मे पं. जीका स्मरण किया है।

श्री अंबादास चवरे दिगंबर जैन ग्रंथमाला

कारंजा '**श्री अंबादास चवरे दिगंबर जैन ग्रंथमाला**' तथा '**श्री देवेंद्रकीर्ति जैन ग्रंथमाला**' द्वारा अपभ्रंश भाषा के साहित्य का जो प्रकाशन हुआ उन दोनो ग्रथमालाओ के निर्माण मे प जी का मार्गदर्शन तथा प्रेरणा विशेष रही है और श्री अबादास चवरे दिगबर जैन ग्रथमाला के प. जी स्वयं उपमंत्री भी रहे है।

'जैनसिद्धांत' मासिक-सपादन

'**जैन सिद्धान्त**' नामक मासिक पत्र का श्री भा दि. जैन शास्त्री परिषद के मुखपत्र के रूप मे प्रकाशन होता रहा। प जी संपादक थे। इसका प्रकाशन अजमेर से विद्या वाचस्पति पं वर्धमानजी पारसनाथजी द्वारा होता रहा। उसके मुखपृष्ठ का ब्लॉक प्रकाशित किया गया है। मुखपृष्ट पर आचार्य अमृतचद्र का निम्नांकित श्लोक मुद्रांकित रहा है।

अनंतधर्मण स्तत्वं-पश्यन्ति प्रत्यगात्मन. ।
अनेकांतमयी मूर्ति-नित्यमेव प्रकाशताम् ॥

प जी का प्यारा यह श्लोक पं जी की अध्यात्मरुचि और परिमार्जित स्वच्छ तात्त्विक दृष्टि की पूर्णत: परिचायक है, जिसका पंचाध्यायी के अनुवाद में यत्र तत्र सर्वत्र दर्शन होता है। इसी दृष्टि के ध्येय बिंदु को स्वय आ. अमृतचन्द्र ने कलश १८४ में 'सिद्धान्त' शब्द के द्वारा गौरव के साथ उल्लेख किया है और धीरोदात्त मुमुक्षु तत्वज्ञानियो को इसी एक मात्र जैन सिद्धांत की साधना करने की प्रेरणा भी दी है। वे तत्त्वज्ञ तो थे ही परतु तत्त्ववेदी भी थे।

सिद्धान्तोऽय मुदात्त चित्त चरितैर्मोक्षार्थिभि. सेव्यता
शुद्ध चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
हाते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यंसमग्रा अपि ॥ १८५ ॥

कमलपत्र की तरह गृहस्थावस्था में भी वे अलिप्त जीवन यापन कर पाये, इसका मूल उनके प्रामाणिक दृष्टिकोण में था। पं. जी के अनतर मासिक का प्रकाशन बंद हो गया।

श्री कंकुबाई धार्मिक पाठ्यपुस्तकमाला–मार्गदर्शन

'श्री कंकूबाई धार्मिक पाठ्यपुस्तक माला' द्वारा मराठी भाषा में श्री. बालबोधिनी जैन सिद्धान्त प्रवेशिका, रत्नकरण्डश्रावकाचार, द्रव्यसंग्रह, छहढाला, तत्वार्थसूत्र आदि ग्रंथो का जो मराठी भाषा में सानुवाद प्रकाशन हुआ वह सब आपके ही मार्गदर्शन में होता रहा।

इसप्रकार अनेक दृष्टि से आप की साहित्यिक सेवाएँ समाज के लिए सुनिश्चित उपयोगी सिद्ध हुईं।

पंडितजी का व्यापक दृष्टिकोण, जिस से संस्थाएँ लाभान्वित रहीं

५

उपर्युपरिबुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः। (आ वीरनन्दी)

(पारदर्शी प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों की चेष्टाएँ और लोगों की अपेक्षा कुछ अलग ही होती है।)

सामाजिक संस्था को समाज के भरोसे रखने के लिए संकेत :

जब पडितजी कारंजा आये, वह सस्था का ५ वा वर्ष था। संस्था के कार्यकारिणी की अपनी एक भावना थी। सस्था केलिए समाज की ओर से दान संकलित न कर के कारंजा वालो की ओर से ही संस्था–सचालन यदि होता है तो रिपोर्ट छपवाकर विज्ञापन करने की क्या आवश्यकता है? ऐसा एक मत-प्रवाह था। इस विषय में काफी चर्चा हुई। पडितजी का अनुभव ट्रस्टियों को उपयुक्त प्रतीत हुआ। उनका अभिप्राय यह रहा कि, "संस्था केलिए समाज से

पैसा लो, न लो, दान मांगो या न मांगो संस्था समाज को समर्पित होना ही उचित होगा।" सभापति श्री. जयकुमारजी चवरे वकील साहब को पंडितजी की सलाह व्यवहार्य प्रतीत हुई। बाद में संस्था की पहली चातुर्वार्षिक रिपोर्ट स्वयं वकील सा. ने लिखी और प्रकाशित की गयी। इसी विचारधारा से आगे कार्य होता रहा, जो सस्था के लिए लाभप्रद रहा।

सामयिक नयी सूझ, नयी उपलब्धि

सस्था के प्रारंभ में ट्रस्ट की रकम किसानों को लगानपर दी जाती थी। व्याज की आमदनी अच्छी होती रही, कार्य भी चलता रहा। योगायोग से छह माह के भीतर ही भीतर लवाद कोर्ट (Land Relief Court) आने की स्पष्ट सभावना दृष्टि मे आयी। प जी स्वय ट्रस्टी थे। जिम्मेदारी बडी थी। ट्रस्टियों के सम्मुख एकमात्र उपाय रहा, शीघ्र से शीघ्र प्रयास करके रकम की सुरक्षा के लिए किसानो की ओर से खेती सस्था के नामपर पक्की खरीदी करना। प्रयत्न किया गया। फलस्वरूप ५६ गावों की १८०० एकड जमीन संस्था की हो गयी। सन १९३३-३४ मे विदर्भ में जमीन का मूल्य धराशायी हो गया था। १५०-२०० रुपयों मे ४ एकड जमीन की पक्की खरीदी और बिक्री आमतौरपर होती थी। संस्था की प्राय. ध्रुवफंडकी राशी प्रकारातर से जमीन में इन्व्हेस्ट होने से आर्थिक व्यवस्था बिलकुल गडबडा गयी। प्राप्त जमीन की बिक्री कर के भी ध्रुवफंड की पूरी रकम खडी होना अशक्य हो गया। आमदनी कम होने से कक्षाएँ और विद्यार्थी कम करने का प्रस्ताव भी आया। पर पंडितजी को वह बिलकुल ना पसद था। उस समय पं. जी की सलाह से बहुत अच्छा निर्णय लिया गया। सस्था से शिक्षा प्राप्त स्नातकोंद्वारा १-२-३ वर्षों की सेवाएँ लेकर विद्यालय की पूरी कक्षाएँ चलती रहीं। सेवाभावो से कार्य मे नया उत्साह अधिक मात्रा में अनुप्रणित हुआ। स्वयं पं. जी के मेधावी सुपुत्र सुमतिचंदजी ने भी एक वर्ष की अवैतनिक सेवाएँ समर्पित की। बारह सालतक सस्था मे वह पद्धति धारावाही चलती रही। परीक्षा फल भी अच्छा रहा। १९४४ के अंततक खेत-जमीन को अच्छे भाव आ गये। ध्रुवफंड की पूरी राशी खडी हो गयी। संस्था बहुत बडी आपत्ति से बच गयी।

कारकल में श्री भुजबली ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना में पं. जी की हिम्मत

श्री. स्व. जिनराजजी हेगडे एम्. पी. (सेंट्रल) देहली से लौटते हुए कारंजा आये (सन १९४४)। संस्था का अवलोकन बारीकी के साथ किया। व्यवस्था देखी। हिसाब देखा। पढाई देखी। वे स्वयं कारकल मे संस्था की शाखा खुलवाने के विचार से ही आये थे। तीन दिन का मुकाम था। पू. महाराजजी से और कार्यकारिणी से शाखा के लिए अनुज्ञा चाही। कारकल कारंजा से काफी

दूरवर्ती होने से और भाषा अत्यंत भिन्न होने से तथा अभ्यस्त अनुभवी कार्यकर्ता उपलब्ध न होने से किसी की हिम्मत नही हो रही थी। इन्कार ही होता रहा। हेगडेजी का उत्साह अटूट था। अंत मे पं जी के माध्यम से अनुज्ञा प्राप्त करली। आर्थिक पूरा प्रबंध तथा स्थानीय कार्यो के निर्वाह की जिम्मेदारी हेगडेजी ने अपने ऊपर ले ली। सस्था की स्थापना दिनाक २७-९-४४ मे हो गयी। संस्था का अब तो विशाल भवन भी बन गया है। सस्था का कार्य धारावाही चालू है।

गजपंथ मे संस्था के विषय में

सिद्धक्षेत्र गजपंथ मे सस्था की शाखा सन १९४१ मे स्थापित हुई। १३ वर्षोतक काम बराबर चलता रहा। श्री शातिलालजी लोहाडे बी. ए. एलएल. बी. का उत्साहपूर्वक योगदान बराबर प्राप्त हुआ। सस्था के बृद्धिविकास के लिए योजनाबद्ध प्रयत्न किये गये। डेप्युटेशन मे प जी का नेतृत्व रहा। संस्था का कार्यक्षेत्र क्षेत्र की धर्मशालामे ही सपन्न होता रहा। संस्था केलिए यात्रियो द्वारा दान भी प्राप्त होता रहा। तेरह वर्ष तक सस्था का कार्य चलता रहा। प. जी का सामाजिक परिस्थिति का परिज्ञान इस सस्था के लिए अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुआ। यदि स्थानीय तीर्थ क्षेत्र कमेटी प जी की विचार धारा से चलती तो कमेटी और संस्था दोनो का रूप प्रशस्त बन जाता। अस्तु।

शांतिनाथ भगवान के चरणों मे शांति की प्रस्थापना

रामटेक गुरुकुल की स्थापना के समय एक महत्त्वपूर्ण कार्य सहज सिद्ध हुआ। कारंजा सस्था के कार्यकर्ता तथा पदाधिकारियो में महिनों एक अतर्द्वंद्व चल रहा था। कार्य तो होना रहा, परतु अत शाति न थी। समय पाकर पडितजी ने दोनो को जिस चतुराई से समझाया उसका विस्मरण अशक्य है। दोनो निर्विकल्प हो गये। ऐसा मेल हो गया, जैसे पूर्व मे कुछ द्वंद्वभाव था ही नही, जो कारंजा सस्था के लिए बहुतही बडी उपलब्धि हुई। यह पंडितजी के ही व्यापक दृष्टिकोण का पुण्यप्रताप समझना होगा।

संस्था का रौप्य महोत्सव तथा चिरकालीन अतर्द्वंद्व की सुखद-समाप्ति

सस्था का रौप्यमहोत्सव सन १९४४ मे इदौर निवासी श्री रा. ब हीरालालजी भैया साहब के सभापतित्व मे शानदार रूप से सपन्न हो रहा था। सस्था के प्रारभ के पाच सरक्षक दातारो मे श्री ध. प्रद्युम्नसावजी, श्री ध. जबुदाससाहूजी चवरे, उसी तरह ध श्री मोतीलालसाहूजी चवरे की ओरसे भी दस दस हजार रुपया प्राप्त हुआ था। प्रारंभ मे श्रीमान् प्रद्युम्नसाहूजी ने मोतीलालसावजी को कोषाध्यक्ष बनने के लिए प्रस्ताव रक्खा था। परतु स्वय उन्होने "मेरा स्वभाव इसके लिए अनुकूल नही है" यह कहकर श्री

जबसाहजी को ट्रस्ट के कोषाध्यक्ष बनाने की प्रेरणा की। कार्य चलता रहा। दोनों की प्रामाणिकता पूरी थी। दोनो का संस्था के प्रति अटूट प्रेम था। दोनों परस्पर की बुद्धिमत्ता की और उदारता की गरिमा का मूल्याकन करते थे। लेन देन के विषय को लेकर एकबार बोलचाल में गरमी आ गयी। दान की रकम वापस लेनेतक का भाषा-प्रयोग हुआ। अतरग मे तो कोई विकल्प न था। इस उत्सव के समय उस विकल्प ने पुनः जोर पकडा। इस समय पडितजी की दूर-दृष्टि तथा व्यापक दृष्टिकोण से सही सही रास्ता निकल आया। वापीस लौटाया गया रुपया तुरंत आधे घंटे के भीतरही पुनः श्री मोतीलालसावजी ने संस्था को लौटाया और भी दो हजार रुपया संस्था को नया पहुंचाया। वातावरण एकदम शात हुआ। संस्था मे और नगर में सर्वत्र आनद की नयी लहर फैल गयी। वर्षो का द्वद्व सदा के लिए समाप्त हो गया। संस्था केलिए एक नई उपलब्धि प्राप्त हुई। इस अभूतपूर्व घटना से स्वयं रा ब श्री ध हीरालालजी भैयासाहब अत्यंत प्रभावित हुए। कई वर्षो तक उन्हें इस घटना का स्मरण बना रहा और हर भेट के समय प्रस्थापित शाति के विषय मे पूछते ही रहे। दोनों श्री प्रद्युम्नसावजी तथा श्री मोतीलालसावजी परस्पर को मिलते रहे। आदरभावों मे सहजवृद्धि यहाँ तक होती गयी कि, श्री प्रद्युम्नसावजी के स्वर्गवास के दो दिन पहले श्री मोतीलालजी काकाजी ७५ वर्ष की उमर मे नगर मे पैदल चलते हुए आये। क्षमाभावों का आदान-प्रधान निच्छल भावो से हुआ। बाहर आतेही काका का आशय प्रगट हुआ, कि " संस्था का भाग्य रहा कि प्रद्युम्नसावजी का बुद्धिजीवी विचक्षण उदारव्यक्तित्व संस्था को आजीवन समर्पित रहा। भविष्य मे ऐसा योग दुर्लभ है।"

खुरई श्री पा ब्र. आश्रम जैन गुरुकुल के जन्मदाता

दक्षिण भारत में गुरुकुलो का जैसा विस्तार हो पाया, उसी प्रकार उत्तर भारत में हो तो और अच्छा होगा ऐसी हार्दिक भावना स्वय पडितजी की कईबार प्रगट हुई। रौप्य महोत्सव के समय श्री रा ब हीरालालजी भैयासाहब के साथ वार्तालाप मे इदौर में संस्था की शाखा खोलने के विषय मे सूत्रपात भी हुआ। जगह का भी विचार हुआ। परंतु योग खुरई का था। १९४४ की अक्षय तीज को संस्था की स्थापना पू श्री ब्र गणेशप्रसादजी वर्णीजी के करकमलो द्वारा सपन्न हुई। स्थापना के पूर्व का इतिहास श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमारजी की स्मृति मे आयाही है। स्वयं श्रीमंत सेठ साहब, अनुभव वृद्ध श्री स सि. गणपतलालजी गुरहा, संस्था का और पद्धति का अवलोकन करने के लिए कारंजा पधारे और निर्णय किया। १९४३ के पर्यूषण पर्व मे पं. जी के खुरई मे प्रवचनो से जनता खूब प्रभावित हुई। प. जी ने अपनी पद्धति के अनुसार प्रमुख

विचारशील व्यक्तियों से परामर्श किया। स. सि. गणपतलालजी गुरहा, माणिकचंदजी मुल्ला, स्व धर्मचंदजी मुल्ला, स्व. नन्हूलालजी मोदी, स्व. छगनमलजी सेठी, स्व. हजारीलालजी बजाज, स्व दीपचंदजी चौधरीजी, श्री धन्नालालजी सर्राफ, श्री धन्नालालजी सेठी, श्री स्व पूरणचंदजी वकील आदि समाज प्रमुखों से चुखराई के रूप में जो परामर्श हुआ उसी के फलस्वरूप संस्था का जन्म हुआ। स्वयं श्रीमंत सेठ साहब ने संस्था के लिए तीन एकड जमीन और विद्यालय, श्री जिनमंदिर-भोजनालय-शिक्षकनिवास, पानी का कुआ बनवाकर दिया। आज पांच छात्रावास-विज्ञान भवन अतिथि-निवास मानस्तंभ आदि भवन और धर्मायतन अन्यान्य दातारो के द्वारा बन गये है। इस संस्था के पंडितजी स्वयं अधिष्ठाता रहे। समयपर मार्गदर्शन बराबर होता रहा। विशेषता यह देखने को मिली कि सभी नगरवासियों के चित्त में गुरुकुलसबंधी प्रेमधारा अक्षुण्ण रूप से बनी रही, जिसे स्व. पंडितजी का ही मार्गदर्शन, परिश्रम और आशीर्वाद समझना होगा।

सेवामहर्षि पंडितजी की व्यापक समाज सेवाएँ

६

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

निरीह सेवा यह परमधर्म है उसकी साधना कठिन होती है। साधु संतो के लिए भी वह दुर्गम है।

समाजसेवा का व्यापक क्षेत्र

पं. जी का जीवन केवल शालेय कभी नहीं रहा। सामाजिक गतिविधियो में उनका जितना अधिक संपर्क रहा उतना शायद ही किसी और का रहा हो। वह बहुत रहा और अनेक प्रकार से रहा।

साधारण तौरसे यह जनता संपर्क छह खडो में विभाजित कर सकते। (१) पर्व (२) प्रतिष्ठाएँ (३) जयन्ति उत्सव (४) संस्थाओं के उत्सव तथा

कारवाही (५) सामाजिक सभाएँ (६) डेप्युटेशन (शिष्टमंडल) मोरेना के जीवन काल में तथा कारंजा के जीवन काल में जो जनसंपर्क या समाज संपर्क रहा उस विषय में प्राप्त रेकॉर्ड तथा स्व. पंडितानीजी से जो जानकारी प्राप्त हुई उसका सार संक्षेप इस प्रकार है।

(अ) पर्व सम्बन्धी

दशलक्षणिक पर्व मे इंदौर–दिल्ली–कानपूर–खुरई आदि २१ जगह पहुंचना हुआ। कारंजा मे चार वर्ष रहना हुआ। धर्मप्रवचन, उपदेशों से ठोस धर्म प्रभावना हुई।

(ब) प्रतिष्ठा महोत्सव सम्बन्धी

१. गजरथ प्रतिष्ठा में देवगढ आदि ९ जगह पहुंच कर जनता को मार्गदर्शन प्राप्त हुआ। इसी तरह केवलारी–कारंजा–इंदौर–नैनागिरी–रामटेक–गजपंथाजी–मांगीतुंगी–नादगाव–कन्नड–मुक्तागिरी–आदि पैंतीस प्रतिष्ठाओं में पं. जी पहुचे हैं। कारजा में ही प. जी के नेतृत्व में पाच प्रतिष्ठाएँ संपन्न हुई। प्रथम श्री महावीर पचकल्याणक प्रतिष्ठा के समय विद्यावारिधी पं. मक्खनलालजी भी प्रमुख अतिथि के रूप में उपस्थित थे। पं. जी प्रमुख संयोजक थे।

(क) जयन्ति महोत्सव

दिल्ली में तीन बार तथा इदौर–बासम–नागपुर–अजमेर–सिवनी–ललितपुर–आदि २१ जगह पहुचना हुआ।

(ड) संस्था संबन्धी–

खुरई–जबलपुर–सादूमल–वाराणसी–ईसरी–रामटेक ललितपुर–बाहुबली (कुंभोज)–सोलापुर–गजपथ–खुरई–कटनी–सागर–बीना आदि जगह की संस्था के जलसो में और कारवाही मे पं. जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। और २३ तीर्थ सम्बन्धी उत्सवो में प. जी उपस्थित थे।

(इ) डेप्युटेशन के रूपमें

मोरेना विद्यालय, कारंजा आश्रम (दो बार), कंकुबाई श्राविकाश्रम, वर्णी गुरुकुल जबलपुर, गजपंथ आश्रम, रामटेक गुरुकुल आदि नव संस्थाओं के शिष्ट मंडल में प. जी के प्रमुख नेतृत्व से सस्थाएँ लाभ में रहीं।

(फ) सामाजिक सभाएँ

सोनगीर आदि सात जगह पर शास्त्री परिषद के अधिवेशनो में, विद्वत् परिषद के पाच अधिवेशन में, अजमेर आदि चार जगह के शास्त्रार्थ सभाओ मे, बडनगर आदि ३ खंडेलवाल सभा में, भारतवर्षीय दिग जैन महासभा के वर्धा

आदि चार अधिवेशनों में, अमरावती आदि जगह की दिगंबर जैन परिषद की ३ बैठक में तथा मालवा प्रातिक बुंदेलखंड प्रात आदि प्रांतिक सभाओ मे और परवार सभा की ९ जगह की सभा मे पं. जी का महत्पूर्ण योगदान रहा।

जनतासंपर्क

इन अधिवेशनो के अलावा अन्यान्य संस्थाओ के अनगिनत झगडे और द्वंद्व तथा घर कुटुंब परिवारो से संबद्ध द्वंद्व जिनको प जी ने निपटाया है, ऐसे कम से कम २५० से ऊपर होगे। इन सेवाओ के बदले मे कभी किसी के द्वारा एक पाई की अपेक्षा नही की।उस विकल्प से वे सैकडो कोस दूर रहे। परिश्रम का स्वरूप लोकविलक्षण था, 'दिनको भागना और रात्रि को जगना' यही निरतर देखा गया।

परवार सभा के तो पं जी तीन बार अध्यक्ष निर्वाचित हुए और अत में सरक्षक भी बनाए गये। आम तौर पर पद्धति यह रही है कि सभाओं के अध्यक्ष प्राय श्रीमान् व्यक्ति को बनाया जाता है और मत्री कोई विद्वान् बनाया जाता है। परंतु पं. जी के कार्यकाल मे अध्यक्ष पं जी और मंत्री श्रीमंत सेठ बिर्धीचदजी (सिवनी) रहे। सन १९३८ मे जबलपुर में सपन्न परवार सभा के १४ वे अधिवेशन के समय व्याख्यान की मुद्रित प्रति उपलब्ध हुई वह आज भी अध्ययन की वस्तु है। व्याख्यान मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का यथार्थ चित्रण है। समाज मे फैली हुई कुरुढियो का और दृष्टिशून्य परपरा का स्पष्टतया सही सही निदान है, लाभकारी चिकित्सा और उपायो का दिग्दर्शन है। सस्कृति-सरक्षण तथा आवश्यक सुधारकेलिए उपयुक्त अंगोपागो का शुभ सकेत है। जो आज भी केवल परवार समाज के लिए ही नही, आम समाज भर केलिए उपयोगी वस्तु है।

उस अधिवेशन मे उपस्थित विद्वद्वर प जगन्मोहनलालजी शास्त्रीजी ने पं. जी के व्याख्यान की झाकी लिखी वह पं. जी के शद्वो में ही देना उचित समझकर जोडी है। सिवनी अधिवेशन मे मुझे भी स्वयं उपस्थित रहनेका अवसर प्राप्त हुआ। प जी के न्यायनीतिनिपुणता पर समाज का पूरा विश्वास पाया। इसी प्रकार देवगढ, बारचौन आदि जगह के अधिवेशनो में सामाजिक द्वद्वों के विषयो मे विशेषतः दस्सापूजाधिकार तथा गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव आदि विषयो में जो सही सही प्रामाणिक उचित निर्णय लिए गये, वे उभयपक्ष सम्मत सर्वप्रिय रहे। वह ऐतिहासिक वस्तु रही है। समाज और सभा का विभाजन बच गया। समाज-धारणा बराबर बनी रही। धर्मबधुओ को धर्मसाधना का अवसर बराबर उपलब्ध रहा।

न्यायदान और निर्णय पद्धति

समीचीन निर्णयपर पहुंचने के पूर्व और न्यायदान देने के पूर्व उनकी एक पद्धति रही है। वे दोनों पक्षों के मुखिया लोगो से सहजभाव से मिलते थे और आस्था भावो से विचार विनिमय कर लेते थे। जिसको वे 'चुखराई' कहते थे; जिस से मतभेद की उग्रता कम हो जाती थी। दोनों पक्ष के लोगो को पं. जी अपनेही पक्ष के है ऐसा विश्वास हो जाता था। सत्य परिस्थिति का परिज्ञान हो जाता था। पंचो का चुनाव बडी बुद्धिमानी से होता था। कटनी संस्था के सम्बन्ध में द्वंद्व के निर्णय का तथा श्री. सि कुँवेरसेनजी और कन्छेदीलालजी बकील के सहयोग से दिये गये न्यायदान के चिठ्ठा का अध्ययन करने पर सही आदर्श रूप निर्णय कैसा होता है इसका पूरा साक्षात्कार होता है।

तात्त्विक विषयों का यथार्थ निर्णय

सामाजिक और सांस्कृतिक विवादग्रस्त विषयों की तरह तात्त्विक विषयों मे भी लिए गये यथार्थ निर्णय महत्पूवर्ण रहे। जैसे धवल ग्रंथ संपादन के समय ९३ वे सूत्र में 'संजद' पद को लेकर समाज में दोनों पक्षो के विद्वानों में और त्यागियों में वर्षो आरोप प्रत्यारोप होते रहे। व्यक्तित्व के ऊपर भी छीटाकसी खूब होती रही। उस समय पू आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी महाराज के प्रभाव की आड मे समाज मे २७ वर्षोतक द्वंद्व जीवित ही रहा। स्वयं पं जी और विद्या-वारिधी प. खूबचंदजी सिद्धान्त शास्त्री आदि विद्वान् 'संजद' पदकी आवश्यकता है, इस पक्ष के रहे। अंत मे वह संजद पद मूल ताडपत्री प्रति मे पाया भी गया और स्वयं पू आचार्य श्री ने समाधिपूर्व अंतिम समय मे स्पष्ट तथा पूर्व की धारणा को प्रामाणिकता से बदल कर 'संजद' पद की आवश्यकता को स्वीकार किया।[1] अनुभव पर आधारित प जी के निर्णय शतप्रतिशत शास्त्रशुद्ध सिद्ध हुए।

प. जी द्वारा जो समाज के नाना क्षेत्रो में जो अनगिनत व्यापक ठोस सेवाएँ हुई है, उसका अध्ययन और मनन करने के अनंतर मेरा यह निर्णय है कि पं. जी वास्तव में सेवा महर्षी के रूप में सिद्ध होते हैं।

———

१. समाधिपूर्व प. पू आचार्य श्री. शांतिसागरजो महाराजजी के दर्शन हेतु विद्वद्वर पं श्री. जिनदासजी पार्श्वनाथजी फडकुले ब्र. गुलाबचंदजी गांधी के साथ पहुंचे। उस समय स्वयं. पू. आचार्यश्री.ने 'संजद' पद धवल के ९३ सूत्र मे होनाही चाहिए ऐसा मनोगत भाव प्रगट किया। उसका निर्देश पं जीके हस्ताक्षरों में इस प्रकार अंकित हैं।

महामानव की जीवन–यात्रा का अंतिम चरण

७

'विधिर्घटयतीष्टार्थं स्वयमेव हि देहिनः ॥' वादीभसिंहसूरि

श्रीमान् सर सेठ हुकुमचंदजी का आग्रह विशेष

देवगढ (म. प्र) के गजरथ प्रतिष्ठा के समय महासभा का अधिवेशन सर सेठ हुकुमचंदजी के सभापतित्व मे सपन्न हुआ। उस समय प. जी का समाज के ऊपर जो असाधारण प्रभाव देखा, तब से सेठ सा की यह हार्दिक इच्छा बनी रही कि, प. जी का साहचर्य अपनी स्वाध्याय–गोष्टी मे निरतर मिलता रहे। इसलिए श्रीमंत सेठ बिरधीचंदजी सिवनी वालो के माध्यम से काफी प्रयत्न होता रहा। सन् १९४५ मे पं जी के स्वास्थ्य मे भी परिवर्तन हुआ। आजीवन सामाजिक उत्सव तथा प्रतिष्ठा और अन्यान्य कार्यों के निमित्त प्रवास बहुत हुआ। शुरु शुरु में पडितजी चाय को स्पर्श भी नही करते थे। परतु उत्तर जीवन मे चाय की आदत लग गई। डायबिटीज(मधुमेह)के कारण शक्तिपात भी अनुभव में आने लगा। कारंजा, अमरावती में काफी इलाज किए परंतु उपयोग नही हुआ। बडवाह में वेदी प्रतिष्ठा थी। पूरी होने के अनंतर इंदौर श्री. नवलचद सेठ ले गये, श्री. पाटोदीजी के बगले मे मुकाम रहा। ७ दिन के बाद जब सर सेठ सा. को मालूम हुआ तो सब को फटकारा और मोटर भिजवाकर सब परिवार को बुला लिया। और इद्र–भुवन के गेस्ट हाऊस मे ठहरने का प्रबध किया। इंदौर में डॉ. मुखर्जी के औषधोपचार से कुछ मात्रा में लाभ अवश्य हुआ। माह डेढ माह तुकोगज–इद्रभवन के अतिथि–निवास में ही मुकाम रहा। सब व्यवस्था सर सेठ सा. की ओर से हुई। इसी समय सेठ सा. ने पुन: इंदौर में ही रहने के लिए आग्रह किया।

कारंजा में शालान्त शिक्षा के अनन्तर पुत्रों के महाविद्यालयीन शिक्षा का प्रबंध नही था। "इदौर में रहने से पुत्रो की शिक्षा भी होगी। स्वास्थ्य का

इलाज भी होगा।" ऐसा ही कुछ मन ही मन सोच कर निर्णय कर लिया। स्वय सेठ सा. ने अंतिम दिनो मे "मेरा समाधिमरण भी आपके साक्षी से हो" ऐसा हाथ पकड कर आग्रहपूर्वक कहा। बहुत कुछ आग्रह होनेपर पं. जी ने, "मुझे अब नोकरी नही करनी है कुछ व्यावसायिक प्रबंध हो तो इंदौर रहना संभव होगा" इस प्रकार भाव प्रगट किये। जिसपर एक लाख रुपयों लागतपर रेडीमेड कपडे की दुकान में पाती तय हुई और चालू खर्च के लिए माहवारी ढाइसौ रुपया उठाने का और निःशुल्क निवास का निर्णय हुआ। लिखित कॉन्ट्रॅक्ट भी हुआ।

पं. जी का इंदौर पहुंचना

कारजा से स्थान परिवर्तन की हार्दिक भावना नहीं थी। सेठ सा. ने कारंजा आश्रम के कार्यकर्ताओं को बुलाया और अपने भाव पुनः प्रगट किये कि, "प जी ने समाज-सेवा बहुत की है अब वृद्धावस्था है। उन्हे विश्राम की आवश्यकता है। यहां पर स्वास्थ्य हेतु पूरा उपचार प्रबंध भी डॉ मुकर्जीद्वारा होगा। अनः सस्था से प. जी को सेवामुक्त किया जाय।" ऐसा कहते हुए आश्वस्त किया। फिर भी प जी ने सस्था की सेवाओं के लिए दो माह की छूट भी रख ली थी। कारजा का सबंध विच्छेद न हो इसकी पूरी सावधानी रखवी गई थी। प. जी सेवा-साम्राज्य के एक तरह से अनभिषिक्त राजश्री थे। सेवामहर्षि थे। कारंजा केंद्र बनाए हुए थे।

स्वाध्यायगोष्टी में योगदान तथा अध्यापन

दो वर्षों तक स्वाध्याय गोष्टी में सुबह सन्ध्या में बराबर योगदान होता रहा। दो वर्षों के अनन्तर दुकान का हिसाब करने के लिए पं जी ने कहा तो "दुकान में घाटाही है, हिसाब क्या करे?" इम प्रकार उत्तर मिला। "मै केवल २५० रु. का नोकर हू?" इस विकल्प से पं. जी हताश हुए। इन्ही दिनों में संस्कृत विद्यालय मे मध्यान्ह मे अध्यापन के लिए भी कहा गया, उसे भी पं. जीने यह कहते हुए स्वीकार किया कि "मैने समाज की नौकरी छोडी है, धर्म की नही।" और ड्यूटी बराबर तीन वर्ष निभाते रहे। जिसका उल्लेख श्री. डॉ. पं. मूलचंदजी शास्त्री एम. ए, पी.च. डी. (सनावद) ने तथा स्वयं पं. नाथूलालजी शास्त्रीजी ने अंकित किया है। जबरीबाग आने जाने के परिश्रम से थकावट बढती गई। स्वय पं. जीने सेठ सा. से कहा कि, "अब मेरे द्वारा पढाई का कार्य नही बन पाता। मेरी २५० की वृत्ति बद कर दी जाय।" जिस पर सेठ सा. ने स्वयं उन्ही शब्दो द्वारा पुनः आश्वस्त किया कि "आपको मेरा समाधिमरण करना है। हम आपको पृथक नहीं करेंगे। और आपकी वृत्ति बंद नहीं होगी।" एक दिन स्वयं पं जी सर सेठ सा. के पास पहुचे और दुकान

की भागीदारी के (कॉन्ट्रक्ट के) सारे कागजात यह कहकर वापस लौटाये कि "आपके चित्त मे विकल्प न रहे और बच्चो को भी विकल्प न रहे।"

मानवता का उच्चांक और आत्मसम्मान की सुरक्षा

यहां पर सहज ही में महात्मा श्रीमन् श्री रायचंद्रजी का स्मरण हो जाता है। जिन्होने जवाहरात के व्यापार मे एक व्यापारी जिसको जवाहरात के यकायक भाव बढ जाने से लाखो रुपयो का घाटा उठाना पडता था। स्वय उसके पास पहुचकर सौदाचिठ्ठी फाड दी और निश्चिंत कर दिया। ठीक उसी तरह पं. जी ने व्यवसाय विषयक करार चिठ्ठी लौटा दी और सर सेठ साहब को भविष्य के लिए अपनी ओरसे चितामुक्त-निर्विकल्प कर दिया। स्वय निश्चित हो गये। महामना पं जी की महानता का उच्चाक प्रस्तुत हुआ। कर्मोदय की विचित्रता ही कहनी होगी। आगे चलकर वृत्तिविच्छेद स्वीकार किया और जब पुन सर सेठजी की ओर से पेन्शन् का विकल्प सम्मुख रक्खा गया तो उसे स्वय प जी ने स्पष्टतया इन्कार कर दिया। घटना को पूर्ण निर्विकल्प होकर निर्जरा का ही साधन बनाया। इससे बढकर धीरोदात्तता क्या हो सकती है। सात्त्विक स्वाभिमान--आत्मसम्मान पं जी का अंतश्चर भाव-प्राण रहा। उसकी सुरक्षा सावधानी से करते रहे। जिसके साक्षी से पं जीने कह दिया कि "मै पेन्शन भी नही लूगा। मैं नोकरी के रूप मे न आया। न रहा। न रहूगा।"

कहा जाता है, "फिकर फाड कफनी करे ताको नाम फकीर" प जी के पास फकिरी का जामा मात्र नही था। सेवा साम्राज्य के सम्राट सेवामहर्षि पं जी को प्रारंभ से ही निसर्गत केवल वचसा ही नही, मनसा भी गृहस्थ दशा मे तपस्वी जीवन स्वीकृत था। जन सामान्य की कल्पनाओ से परे प जी का तत्ववेदी चित्त विकल्पमात्र से अतीत आसनपर आसीन था। वे अपने ही सत्य सकल्प की पूर्ति के अमृतोपम रसस्वाद में मग्न थे। वे अडिग रहे। लोगो के नजरो में वे नौकर रहे हो, स्वामी पर अपने अंतश्चक्षु के साक्षी से वे अपने स्वामोही थे।

भक्तों की अतृप्तभावना

सारी घटनाये योगायोग से उदयपुर से आते हुए प श्री जगन्मोहनलालजी को अवगत हुई। और उन्होने खुरई पहुचकर श्रीमंत सेठ ऋषभकुमारजी सा. को सारा समाचार विदित किया। पं जी के खुरई मे रहने लायक भवन की तैयारी १-२ माह के भीतर ही हो गई। और प जी के परिवार का सारा प्रबध अपनी कोठी से करने का निर्णय श्रीमंत सेठ ऋषभकुमारजी ने प्रसन्नचित्त से कर लिया। और अपने बडे भाई को सिं कोमलचदजी को पडितजी देवकीनदजी को सपरिवार लिवाने के लिए पं. जगन्मोहनलालजी के साथ इंदौर भेजा। दोनों इंदौर पहुचे। बहुत अनुनय विनय के साथ खुरई चलने के लिए प्रार्थना की। परंतु

पं जी ने शांति से इन्कारही किया। संक्षेप में. पं जी ने यह कहा, "देखो भाई। मेरे तीन नियम थे। १ शहर में नौकरी नही करनी। २ एक व्यक्ति की नोकरी नहीं करनी। और ३ अपने देश में नौकरी नही करनी। जिसमें से दो नियमों को तो मुझे तोडना पडा। अब तीसरे नियम का भग मुझसे मत करवाओ।" पं. जी अडिग रहे। दोनो को हताश होकर वापिस लौटना पडा। ता. ६ मई १९५० को यह घटना हुई।

अंत की अद्भुत सावधानी

ता १२ मई को पं जी के स्वास्थ्य में वेगवान गिरावट हुई। वे दवाखाने में थे। भीतर से स्वयं ऐसा आभास हुआ कि अब आयु समाप्त होने को है। समाधिमरण की साधना का उपाय सचेत होकर सोच लिया "**प्राणप्रयाण वेलायां न हि कोके प्रतिक्रिया**॥" जीवन के अंतिम समय में विश्वभर में और दूसरा कोई उपाय नही होता। पडितानी जी को यह कहकर मंदिर भेज दिया कि "आज मेरा स्वास्थ्य कुछ ठीक है, मदिर में पूजा भक्ति कर आवो।" एक सुपुत्र को बाजार भेजा। और एक को डॉ. साहब की ओर भेजा। मोह के निमित्तो को तत्परता से सावधानी से दूर किया। सुपुत्री सौ विमलादेवी को आश्वस्त करके चटाई मगवाई। एक कपडा मात्र ओढकर लेट गये। स्व. गुरु गोपालदासजी जैसे ही स्वयं ही स्वयं के निर्यापकाचार्य बने '**स एव समयो यत्र जाग्रति स्वहिते बुधाः**।' यह वही समय है, जिस मे विवेकी आत्महितके लिए पूर्ण सजग होते है। इस महान् तत्त्व को कई बार पढा था और पढाया भी था, सुनाया भी था अब उसकोही गुनते रहे। सावधानता पूरी थी। समाधिमरण सुनाने को कह दिया ही था। वह पाठ चालू था। वे स्वयं निर्विकल्प हो गये। साधनामग्न हो गये थे।

इस लोक को तो पं जी ने पूरी सावधानी से पूरा पुरुषार्थ करके कमा ही लिया था। परतु मध्यतर काल मे हाथ उठाकर भगवान को परोक्ष प्रणमन किया। मन ही मन णमोकार मंत्रका आत्मसाक्षी से स्मरण किया। परलोक भी कमा लिया। सेवामहर्षि की जीवनसाधना पूरी हो ही गयी थी। आत्मसाधना करते हुए इस लोक की पवित्र जीवन यात्रा शाति से ता. १२ मई को प्रातः ९॥ बजे पूरी हुई। हंस अकेला आया था। वह अकेला ही उड गया। परलोक की–दिव्यलोक की यात्रा उसने शुरु कर दी।

डॉक्टर को लेकर सुमतिबाबू पहुच पाये। त्रिलोकबाबू और प्रकाशबाबू पहुंचे। ध. काकीजी भी खडी थी। सबके लिए यह वज्राघात था। परिवार गण के भाव भावनाओ का शब्दांकन अशक्य है। आसूओ के माध्यम से शोकावेग बहता ही रहा।

पुण्यस्मरण–विनम्र श्रद्धांजलि

सेवामहर्षि महामना पं. जी के सेवासामाज्यका विस्तार व्यापक फैला हुआ था। उसके आधारस्तंभ भी अनेक रहे। पर स्वय पं. जी का वैयक्तिक जीवन एक ही खंम्भावाले टेंट जैसा था। भरी पूरी गृहस्थी तो खडी थी, घर–गृह नहीं हो पाया था। टेट के आधार से ही बालक और बालिकाओं की बाललीला चालू है यह भी विधि ने देखा नहीं। यदि खम्मा अलग होता है तो टेंट गिर पडेगा इतना भी समदर्शि कहनेवाला वह यमराज सोच नही पाया। काल अकाल का विवेक भी विधि कर नहीं पाया। इसी लिए महाकवियोने " कालाय तस्मै नम: " कहा है। काल के विकराल धारावाही महा प्रवाह में सभी महापुरुषो को भी यथाकाल प्रवाहित होना ही पडता है। नियतिका यह निरपवाद नियम होता है।

महादेवी सरस्वती का प्यारा मानस सुपुत्र, मानवता का सच्चा सजग पुजारी, जीवन के अंतिम क्षण तक परोपकार ही परोपकार मे रुचिपूर्वक सर्वस्व खपा देनेवाला महामानव अपनी जीवनसिद्धि हो गयी इस भावना से आपूर्ण था। अपने में संतुष्ट था। तृप्त था। हसतो मुस्कान का अतिमदर्शन था। अब शोकाकुल कुटुंब परिवार को, विरह व्याकुल मित्र–परिवार को, उपकृत आश्रम–परिवार को, समाजभर को पुण्य–स्मृति मात्र शेष रही।

पूज्य पं. जी की महान् आत्मा को बारबार अनेक बार कृतज्ञ भावो से सादर श्रद्धावनत श्रद्धाञ्जलि समर्पित हो।

सेवा समर्पित सेवा महर्षि का व्यक्तित्व और कर्तृत्व

८

शतीका पूर्वार्ध–सामाजिक क्रांति का कालखण्ड

सेवा-महर्षी पं. जी के व्यक्तित्व का और उनकी सेवाओंका यथार्थ मूल्यांकन करना वास्तव मे शब्दशक्ति के अतीत है। फिर भी सही–सही जानकारी के लिए बीसवी शती के पूर्वार्ध की जैन समाज की परिस्थितियों का परिज्ञान अत्यंत आवश्यक है। यह कालखण्ड भारत भर मे विशेषत· जैन समाज की अपेक्षा से क्रांति का रहा है। यातायात के नये साधन उपलब्ध हुए और परिवर्तनशील कालप्रवाह का ठीक–ठीक अनुमान करके सामाजिक अभ्युत्थान हो-इस व्यापक भावनावाले दृष्टिसंपन्न व्यक्तियों का उदय हुआ। सामाजिक संगठन की आवश्यकता दृष्टि मे रखकर जगह–जगह प्रातीय जैन सभा (मालवा) प्रातिक जैन सभा, हाड प्रांतिक जैन सभा आदि इ.) जातीय जैन सभा (परवार जैन सभा, खडेलवाल जैन सभा आदि) आदि के रूप में सामाजिक सस्थाओं की स्थापना हुई। तीर्थों की सुरक्षा के लिए 'भारतवर्षीय दिगंबर जैन तीर्थक्षेत्र कमेटी' की स्थापना हुई। इसीतरह शिक्षाक्षेत्र मे भी पूर्व–पश्चिम–दक्षिण–उत्तर भारत मे जगह–जगह बोर्डिंग, पाठशालाएं, धर्म और सस्कृत शिक्षा हेतु छोटेबडे विद्यालय, आश्रम–श्राविकाश्रम आदि शिक्षा संस्थाओ की निर्मिति हुई। धर्मग्रथों के प्रकाशन हेतु प्रकाशन सस्थाओ का भी जन्म हुआ 'जैन–मित्र' 'जैन–बोधक' आदि समाचार पत्रो और मासिक पत्रिकाओ का भी प्रकाशन शुरू हुआ।

सामाजिक द्वंद्व और पं. जी का योगदान

इन सुधारणाओके साथ ही साथ अज्ञानजन्य रूढीयों में जकडे हुए समाज में दस्सापूजा, बालविवाह, वृद्धविवाह अंतर्जातीय विवाह तथा विजातीय विवाह, रोटी–बंदी तेरापथ, बीसपंथ, पंडित पार्टी, बाबूपार्टी आदि सांस्कृतिक और सामाजिक विषयो को लेकर वैचारिक द्वंद्व ने जड पकड ली। धर्मग्रंथो के छपाई का भी विरोध होने लगा। जिससे समाज के संगठनों में असमंजस की स्थिति

निर्मित हुई। वादविवाद और मतभेद जब मनभेद का रूप धारण करते हैं, तब छोटी-छोटी समस्याएँ भी जटिल हो जाती है। छोटे-छोटे कारणों को लेकर जाति-बहिष्कार की घटनाएं समाज मे होती रही। ऐसी परिस्थिति में व्यापक समन्वयवादी दृष्टिकोण से विचार करने हेतु समर्थ नेतृत्व की अतीव आवश्यकता होती है। ऐसे नेताओ मे पं जी का स्थान गौरवशाली समाजमान्य और आदरणीय के रूप मे अंततक बना रहा। प्राप्त स्मृतिरेखाओं से भी यह स्पष्ट हुआ। परिचित प्राय: सभी विचार चतुर लोगों ने प. जी की इस शक्ति का समादर के साथ स्मरण किया है।

दृष्टि संपन्न धीमानों का और श्रीमानों सामाजिक क्षेत्र में अवतार

सामाजिक संगठन और अभ्युत्थान मे विशेष रुचि लेनेवालो में अनेक धीमान् और श्रीमान् व्यक्तियो का अवतार स्मरणीय है। धीमानो मे श्री प. गोपालदासजी, श्री पू. क्षु गणेशप्रसादजी वर्णी, श्री ॲड. अजितप्रसादजी, श्री ब्र शीतलप्रसादजी, श्री बॅरि. जुगमंदरलालजी, श्री बॅ. चंपतरायजी, दि. ब. अण्णा बाबाजी लठ्ठे (कोल्हापूर), श्री जयकुमारजी चवरे वकील (अकोला) आदि थे और श्रीमन्तो मे स्व दानवीर सेठ माणिकचदजी पानाचंदजी जे. पी. (बंबई), श्री बाबू देवकुमारजी (आरा), श्री सेठ हीराचदजी नेमचदजी (सोलापूर), श्री सरसेठ हुकुमचदजी (इंदौर), श्री लाला जम्बुप्रसादजी (सहारनपूर), श्री. स. सि. गरीबदासजी (जबलपूर) आदि थे। महिलाओ मे भी श्री ब्र. ककुबाईजी, श्री ध. मगनबाईजी (बबई) तथा श्री. प. चदाबाईजी (आरा) आदि का स्थान स्मरणीय है।

पं. जी का निसर्गज सेवाभाव और प्रारंभिक सेवा साधना

विद्यावारिधी श्री. प. गोपालदासजी बरैय्या के प्रयत्नो से सस्थापित मोरेना सिद्धांत-विद्यालय के विद्वानो का तथा शिक्षाप्राप्त शिष्य-प्रशिष्योंका समाज के साथ विशेष संपर्क रहा। विशेषत: पं. देवकीनदनजी का भावनात्मक और वैचारिक पक्ष प्रारंभ से ही समाज के अभिमुख और सेवाभावी रहा। मोरेना विद्यालय मे भी केवल पाठक या अध्यापक की उनकी भूमिका नही रही। स्वभाव मे मिलनसार वृत्ति, परदु खकातरता और सहयोग की भावना होनेसे वे विद्यार्थिओ को आत्मीय या आत्मज ही मानते रहे। और विद्यार्थी भी उन्हें अपने माता-पिता और अभिभावक के रूप में देखते रहे। जैसे पं. जगन्मोहन-लालजीने स्वय अपने स्मृति लेख मे स्मृतिग्रन्थ (पृष्ठ ४) लिखा। गुरु गोपालदासजी के साथ प्रवास मे भी वे स्वयं संरक्षक के रूप मे सुरक्षा हेतु लठ्ठ लेकर रहते थे। गुरुभक्ति और सेवा के विषय मे श्री. स्व. पू. वर्णी गणेशप्रसादजीने अपनी आत्मकथा मे प जी की सेवापरायणता के विषय मे गौरव के साथ लिखा

(पृष्ठ ७) इसी समर्पित सेवा के कारण मोरेना में क्या और कारंजा में क्या पं. जी का जीवन केवल शालेय मात्र ही नहीं रहा सामाजिक भी रहा। समाज में अमीर और गरीब, शिक्षित-और अशिक्षित, सुखी और दु खी, पुरुष और महिला, स्थितिपालक और सुधारक, ग्रामीण और शहरी, युवा और वृद्ध सब ही के साथ उनका अच्छा संपर्क रहा। समाज मे यत्र-तत्र-सर्वत्र विहार होने से समाज का चतुर्विध अध्ययन भी वे तलस्पर्शी कर पाये और स्वयंभू समाजवेत्ता समाजशास्त्री गिने जाने लगे।

पूज्य क्षु. गणेशप्रसादजी वर्णीजी ने अपने १९५० के हृदयोद्गार में पं. जी को 'नररत्न' रूप में याद किया, वह यथार्थ ही है। इस नररत्न के लोकोत्तम व्यक्तित्व के कुछ पहलुओं का प्रामाणिक पुण्यस्मरण का यह अल्प प्रयास, उचित ही होगा।

पं. जी का अनुभूत नैष्ठिक प्रामाणिक ब्राह्मण्य

हमारा परम सौभाग्य रहा-जीवनी के प्रारंभ में जब जीवन की नींव भरनी प्रारंभ होती है, उस महत्त्वपूर्ण कालखण्ड मे बीस वर्षो तक पू. पं. जी के समर्थ मार्गदर्शन की छत्रछाया अखण्ड बनी रही। ग्रंथों का अध्ययन तो ज्ञान-निधी के चरण सान्निध्य में उनके श्रीमुखसे होता ही रहा। सिद्धान्त, न्याय और काव्यसाहित्य तीनों मे पं. जी के प्रतिभा की अप्रतिहत गति का साक्षात्कार होता रहा। ग्रंथ-विषयों को यदि औषधी और रसायन कहा जाय तो अनुभव कथन को इष्ट और मिष्ट अनुपान कहना होगा, वह उचित मात्रा में मिलता रहा। अध्यापन के, कार्य-संचालन के, लोक-व्यवहार के, समाज सेवा के प्रात्य-क्षिक पाठ अनायास मिलते ही रहे। इष्ट और अनिष्ट प्रसंगों मे मीठी और कडवी घटनाओ के मध्य मे विवेकपूर्ण माध्यस्थ भाव कैसा हो सकता है और गृहस्थ अवस्था मं भी स्थितप्रज्ञ पुरुष की परिणत प्रज्ञा किसप्रकार कार्यकारी हो सकती है इसके जीते-जागते पाठ पं. जी की ऋषितुल्य प्रसन्न जीवनचर्या से मिलते रहे। पढाते समय, समय का बंधन पं. जी को स्वीकार नहीं था। अध्यापन मे घटी की गुलामी उन्हे पसत नही थी। नियोजित समय के अनंतर भी और यदा-कदा रात्रि में भी अध्यापन रसपूर्ण होता रहा। संक्षेप में यह कह सकते है कि अध्ययन और अध्यापन मे पं. जी निरपेक्ष नैष्ठिक पापभीरू निरपवाद शुद्ध ब्राह्मण्य के शुद्ध स्वरूप ही थे।

पं. जी का विवेकी क्षत्रियत्व

वैश्यकुल में जन्म और गृहस्थी बहुत बडी होते हुए भी दिन-रात की विचारधारा मे और दैनंदिन के व्यवहार में बदनाम बनियायी का रत्तिभर अंश भी आया नही। व्यावहारिक निजी प्रापंचिक कार्यों तथा परोपकार संबंधी

कार्यों में और सामाजिक समस्याओं को सुलझाते समय न्यायनीति-निपुण पं. जी मे निर्भीक निस्पृह विवेकपूर्ण क्षत्रियत्व का जागृत पूर्णावतार पाया। प. जी ने सामाजिक कार्यों के लिए अपने स्वास्थ्य की और गृहस्थी की भी पर्वाह नहीं की। कई बार प्रात: वे आये और संध्या को दूसरे कार्यों के लिए उन्होने प्रस्थान किया। सद्य. सजात राजकुमारी को छोडकर वे पू. वर्णीजी के सकेतानुसार सेवा मे पहुंचे है। बस्ता और बेडीग सदा तैयार ही रहता था। इसप्रकार आजीवन विशुद्ध ब्राह्मण्य ओर विवेकपूर्ण तत्पर क्षत्रियत्व का सुमेल दृग्गोचर हुआ।

पं. जी की असामान्य निस्पृहता

समाजसेवा के निमित्त सेवा-महर्षि का आजीवन सेकडो जगह विहार हुआ। कही भी एक पाई की बिदायी ली नही। अपेक्षा ही नही की। कोल्हापूर में स्व. दानवीर श्री भूपाल आप्पा जिरगे द्वारा, मोलापूर मे स्व श्री. सेठ रावजी सखारामजी दोशी द्वारा, उस्मानाबाद मे. श्रीमान् नेमचंदजी गांधी वकील द्वारा तथा टीकमगढ नरेश द्वारा भेट मे पुरस्कृत शाल-दुशालो का स्वीकार किया ही नही। केवल श्रीफळ मात्र का स्वीकार किया। जैसे गुरु गोपालदासजी की पवित्र परपरा रही।

विद्यार्थी अवस्थामे ही इंग्लिश और फ्रेंच पढने के लिए अच्छी शिष्यवृत्ति तथा परदेश प्रवास और पक्की नोकरी का एक भाई ने अभिवचन दिया था, परतु वैयक्तिक नोकरी मे समाजसेवा बनेगी नही इस जागृत भावना से उस योजना का मात्र इन्कार ही नहीं किया, बल्कि उसे स्वीकार ही नहीं किया।

आयती श्रियं को वा पादेन भुवि ताडयेत् ? "बिन मांगे स्वय आती हुई लक्ष्मी को इस भूमण्डल मे कौन लौटाता है?" कविवर के इस प्रश्न का उत्तर प जी की ओर अगुली-निर्देश करके दे सकते हैं कि "यह वही सरस्वती पुत्र है, जिसने जिनवाणी-माता और समाज की निष्ठा पूर्वक सेवा की, फकीरीका स्वीकार किया, लक्ष्मी जी की एक तरह मे उपेक्षा ही की। सही कहा जाय तो आजीवन पूरी तपस्या ही की। श्रीमंत सेठ ऋषभकुमारजी खुरईवालो ने ४० वर्ष पूर्व ठीक ही लिखा "**गृहस्थी होकर भी धर्म और समाज सेवा के लिये वे एक तपस्वी जीवन व्यतीत करते थे।** (सन्मति अगस्त १९५०)

सागारधर्मामृत के किये गये अनुवाद का प्रकाशन स्व. श्री सेठ मूलचंदजी कापडिया, संपादक 'जैन-मित्र' द्वारा हुआ। उसके न्याय्य पारिश्रमिक के लिए आग्रह करने पर भी उसे स्वीकार नही किया। जिसका उल्लेख प्रकाशकीय निवेदन मे बहुमान पुरस्सर श्री कापडियाजी ने किया है। (दि. २१-९-४०)

धर्मचंद्रिका श्री ब्र. कंकुबाईजी द्वारा अपनी सप्तम प्रतिमा की दीक्षा के

समय मुक्तागिरि में सहजभाव से प्रदत्त सुवर्ण की अंगूठी अपना उचित हिस्सा मिलाकर संस्था को तत्काल समर्पित की।

– ऐसी अनगिनत घटनाएँ हैं, जिनका स्मरण करते ही ऐसा लगता है कि स्व. गुरु गोपालदासजी के जीवन से त्याग–तपस्या की और प्रामाणिकता की विरासत और आत्मसम्मान की सुरक्षा पं. जी ने जरूर की है।

नौकरी नहीं भागीदारी

पं. जी द्वारा स्वयं लिखे गये तीनो पत्र १६–६–४६ और १७–६–४६ तथा दि. ६–७–४६ के परिणतप्रज्ञ अंतरात्माकी सजग ऊँचाई और आत्म सम्मान निदर्शक है, जो साथ मे मुद्रित हैं ता. १५–६–४६ और ६–७–४६ के पत्रो में सावधानी के की कुछ पक्तिया उनकी अतरात्मा को व्यक्त करती हैं।

"अभी इंदौर गया था। श्रीमंत सर सेठ सा. एक चालू दुकान में दो आने की भागीदारी बनाने की स्वीकृति देकर इंदौर में अपने पास रखनेका निर्णय किया है, इस में बच्चे धंदे मे लग जावेगे। सामाजिक आजीविका से सम्बंध टूट जावेगा और उसमें मैंने २११ महिने स्वतंत्र रूप से धर्मप्रचार और समाजसेवा को रख लिये हैं। केवल वृत्तिछेद का इस्तीफा देना है, कार्य क्षेत्र से नहीं।" (दि. १५–६–४६)

"दो चार दिन बाद कारंजा आता हूँ, तब साक्षात् पूज्यवर्य महाराज का आशीर्वाद लेना है। तथा जीवनभर आश्रम की सेवा करने का विचार है। सेवा के लिए समय रीझर्व्ह स्वतंत्र रख लिया है। सेवा में और प्रेम में रत्तिभर अंतर नहीं पडेगा। (दि. ६–७–४६)

तत्ववेदी की सरलता और सादगी

वैयक्तिक गृहस्थी के जजाल मे क्या और सामाजिक कार्यों के चक्रव्यूह मे क्या ? प. जी ने मायाचारी से कभी किसी को धोका नही दिया, व्यवहार सदा सरल सत्य ही होता रहा। मायावी और मायाचारी व्यक्तियो से उनकी कभी पटी नही। जिन जिन व्यक्तियों ने मायाजाल बिछाकर प जी को फँसाने की चेष्टा की, उससमय बीरबल जैसी समयसूचक चतुराई से मायाचारियो का उल्लू जरूर सीधा किया गया। इंदौर मे मालवा प्रांतिक अधिवेशन के समय भरी सभा मे धांदली मे अनिष्ट प्रस्ताव की घटना पृष्ठ ९५ पर अंकित की गयी है, वह उनकी चतुराई का नमुना है। सिवनी परवार–सभा अधिवेशन के समय भी पं. जी की सावधानी से सही रास्ता निकल आया, वह दृश्य हमने स्वयं देखा है। सादगी भी असीम थी। कभी साबून का उपयोग स्नान के समय करनेकी आदत नही थी। कपडों में सादगी रही। पं. पन्नालालजी ने अपनी

स्मृति लेख में पं. जी के सदा ताजे नास्ते के मुगफल्ली और चने के विषयमे भी गौर के साथ उल्लेख किया है। (पृष्ठ २९)

कलकत्ता में गणधर गद्दी पर प्रवचन के लिए बैठने के पूर्व पगडी लगाकर बैठने की पूर्वपरंपरा थी। जिसके लिए पं. जी को आग्रह किया गया परंतु पं. जी ने साफ कहा, "मेरे दो रूप कभी नही रहे। सदा एक ही रूप रहा और एक रूपही रहेगा।"

परिमार्जित तात्त्विक यथार्थ दृष्टि तथा निष्कलंक चारित्र्य

यह सब पं. जी कर पाये, इसका कारण पं. जी की सही सही तात्त्विक दृष्टि है। जो करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अध्ययन, स्वाध्ययन और मनन से उन्हे प्राप्त थी। द्रव्यदृष्टि का जीवनी मे अवलंब होना, अनुभव होना, निष्ठा होनी और निर्वाह होना - यह इतनी सरल बात नही थी। पचाध्यायी के अनुवाद के समय व्यवहार और निश्चय, उपादान और निमित्त, क्या कारण और क्या कार्य, क्या हेय और क्या उपादेय, आदि विषयो मे स्वतंत्र मनन देखने को मिला। जो अनुवाद मे उतारने का पूर्व प्रामाणिक प्रयास हुआ है। समयसार की बंधाधिकार की और सवर-निर्जरा अधिकार की गाथाओं का मनन तलस्पर्शी था। आध्यात्मिक नयो के परिज्ञान के कारण ही स्वयं श्री कानजी स्वामीजी ने प. जी के पचाध्यायी के गुजराती अनुवाद के लिए प्रेरणा करके उसे प्रकाशित करवाया। व्यक्तित्व मे और समाज सेवा मे भी जो निखार आया, उसका सही कारण उनकी परिमार्जित स्वसपादित पारमार्थिक द्रव्यदृष्टि ही थी। कर्म को सेवाओ को धर्म का रूप आया। उसी दृष्टि की जीवन मे वरीयता रही। सस्थाओ की सेवाएँ और समाज की सेवाएँ भी स्वान्त:सुखाय बनी रही। धर्म बनी। पाडित्य पडिताई नही बनी, और विद्वत्ता या व्याख्यान प्रवचन केवल जनरंजनाय नही बने।

इस विचारधारा का परिणाम समूची दिनचर्या मे और जीवन मे प्रतिबिंबित रहा। पडिता गजाबेनजी ने कई बार कहा -"पडितजी की आँखो मे माता की सहज वात्सल्यभावना और पिता की सावधानी टपकती थी। उनके 'बेटा' 'बहिनजी' और 'माँ जी' शब्द द्वारा होनेवाले सबोधनसे महिलाएँ अपने सुख-दु.खो को निस्सकोच कह पाती थी और मार्गदर्शन से नि.शल्य हो पाती थी।

ऐसे नररत्न प. जी बेदाग व्यक्तित्व के सचेतन पहलुओं की निरभ्र आभा मद मधुर चांदनी जैसी सुखदा रही।

प्राप्त भाग्ययोग का सदुपयोग

चार बातो का उन्हें सदा गौरव रहा। एक स्व. स्याद्वादवारिधी गुरु गोपालदासजी का शिष्यत्व, जिनसे चारों अनुयोग का ज्ञान और अनुभव प्राप्त

हुआ। दूसरी पू. गणेशप्रसादजी वर्णी महाराज की कृपापात्र आशीर्वाद की छत्र-छाया बनी रहना, जिस कारण से बुंदेलखड (मध्यप्रदेश) की सामाजिक और संस्था-विषयक सेवाओ के लिए और समस्याओ को सुलझाने के लिए परस्पर विलक्षण सहयोग से काम बन पाया। तीसरी पू. क्षु समतभद्रजी महाराजजी के सत्संग मे वर्षों रहने को मिलना और चौथी समाज सेवा के लिए स्वयभू विचार और निजी भावनाओ के अनुसार धर्म–प्रचार–प्रसार के लिए निर्बाध स्वतंत्रता का लाभ होना। इन चारो को वे भाग्ययोग से प्राप्त निजनिधि और बलाधार समझते थे। लोक–विलक्षण इन चारो बलशाली आधारो पर आधारित सिंहासन पर आसीन अनभिषिक्त सेवामहर्षि प. जी ने आजीवन अपने विशाल सामाजिक सेवासाम्राज्य का निराबाध अनुशासन हिम्मत के साथ किया। ढाई सौ से अधिक छोटी बडी सामाजिक समस्याओ को सहज मे सुलझाने के कारण और बुंदेलखड मध्यप्रदेश–जैन समाज के लिए वे एक तरह से विश्वासपात्र छत्रमाल ही गिने जाने लगे।

समाज प्रबोधन

सामाजिक परिस्थितियो का वर्षो का अभ्यास, निजी अनुभवों का आधार तथा शास्त्राध्ययन से सुनिश्चित अंतरजातीय विवाह के विषय मे उनका विशिष्ट मर्यादा मे अनुकूल अभिमत स्पष्ट था। फिर भी वे उसके प्रचारक या प्रसारक नही थे। ब्यावर मे सन् १९३३ मे शास्त्री परिषद के अधिवेशन मे इसी प्रश्न को फिर से उठाया गया और पू आचार्य १०८ श्री शातिसागरजी महाराज (दक्षिण) की आड मे मत परिवर्तन के लिए प. जी के ऊपर काफी दबाव डाला गया। निर्विवाद विषय को पुन. विवाद का विषय बनाया गया। इस विषय को यहा तक आगे बढाया गया कि, यदि पं जी का मत–परिवर्तन नही होता तो उन्हे सस्था से सदा के लिए सेवामुक्त किया जाय।

इस षड्यत्र के लिए काफी प्रयास हुए। सब्जेक्ट कमेटी मे सवाल–जबाब के समय प. जी का होश के साथ जो जोशपूर्ण १० मिनिट का वक्तव्य रहा, वह हमने स्वयं सुना है। बौद्धिक द्वद्व मे पुरुष–सिंह का वीररस से आपूरित क्षत्रियत्व का अवतार भी हमने देखा है उससमय परिमार्जित अजेय समन्वयी दृष्टिकोन तथा विनोदपूर्ण शांतरस से आपूरित भाषाप्रयोग और मधुर व्यवहार की चरम सीमा थी। गुरुभक्ति मे और गुरुविनय मे रत्तिभर अंतर नहीं आने दिया गया। फिर भी आत्मसम्मान की पूर्ण सुरक्षा वे कर पाये। प्रतिपक्षियो को बिना विवाद के करारा उत्तर भी मिल गया। भोली समाज के फुसलाने के लिए और केवल नाममात्र समाधान के लिए सभा मे प्रस्ताव कुछ और करना और घरपर आते ही व्यवहार ठीक उलटा करते जाना – यह समाज का दयोसि

का रोग रहा। जिसकी पं. जी को भारी चिढ़ थी। समय के परिवर्तन का पं. जी का अनुमान सही सही था। एक तरह से उन्हे अनागत-विधाता (ज्ञाता) कहना शत् प्रतिशत् सत्य होगा। आश्चर्य यह है कि, जिनके सभापतित्व मे यह सब हो रहा था, उन्ही के विवेकी सुपुत्र का अतरजातीय विवाह हुआ। और जिस विद्वान् पडित को विवाद के लिए खडा किया गया था उन्हीं के सुपुत्र का कुछ ही वर्षों मे विजातीय विवाह हुआ। इस प्रकार काल ने भी प. जी को पूरा पूरा साथ दिया। अब तो समाज मे यत्र-तत्र-सर्वत्र अंतरजातीय विवाहो की संख्या मे वृद्धि ही होती जा रही है।

दस्साओं की पूजा के लिए न्यायदान और गजरथ प्रचलन

इसी प्रकार दस्सा-पूजाधिकार की समस्या जो गुरु गोपालदासजी के समय भी थी तथा गजरथ प्रतिष्ठा की समस्या को भी प. जी जिस चतुराई से और उदारता से देवगढ़ प्रतिष्ठा के समय निपटा सके, वह सास्कृतिक इतिहास का सुवर्णपत्र होगा। धर्मप्रभावना के कार्यों को करते-करवाते समय विधि-विधान मे भक्ति के अतिरेक मे भावना-विवश होकर जो अति होती है, वह तो सामाजिक रोग है, उसका तो प. जी के स्वप्न मे भी कभी पक्ष नही था। पूजा विधान पद्धति मे समयोचित हेर फेर करना ही होता है। व्यर्थ के खर्च को जैसे विवाहादि मे बचाना आवश्यक है, उसीप्रकार पूजा प्रभावना मे भी होनेवाले औपचारिक अनावश्यक खर्च को बचाकर उसी धन का उपयोग समाजोपयोगी ज्ञानवृद्धि आदि कार्यों मे करना उचित है। इस विषय का सभा के मच से भी स्पष्ट निर्देश वे युक्तिपूर्वक मिठास के साथ करते ही रहे। खुरई गुरुकुल की स्थापना इसी मध्यास्थ भावो का सुफल है। समाज धर्म-भावना और परपरा मे सुधार कितनी मात्रा मे पचा सकता है इसका प जी ने जो हिसाब लगाया और अनुमानित किया, उसका जबलपूर की परवार सभा के अध्यक्ष पद से दिये गये व्याख्यान मे स्पष्ट निर्देश है।

सर्वतोभद्र मार्गदर्शक व्याख्यान

वह संपूर्ण व्याख्यान वर्षो के अनंतर समाज-हित की दृष्टि से आज भी अध्ययन की, समादर की और मनन की वस्तु है। उससमय जो सफलता उन्हें प्राप्त हुई; उसका कारण पं. जी का परोपकार परायण समयोचित दृष्टिकोण, समाज की मनोवृत्ति का प्रामाणिक अध्ययन और समाज-हित प्रवण भावना- यह रत्नत्रयी रही है। सुझाओ मे और निर्णय मे द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावो की मर्यादा का स्वयं उन्हे पूरा-पूरा ख्याल रहा है। और समाज को भी इस विषय में वे काल के साथ चलने के लिए सचेत करते रहे-यह वस्तुस्थिति मान्य करनी होगी।

मुद्रित व्याख्यान में समाज हित के लिए प्राणभूत और भी कई मुद्दों का विचार प्रस्तुत हुआ है। इस व्याख्यान मे तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का (आज की भी परिस्थिति करीब वही है) सही सही नग्न निदर्शन है। आर्थिक दृष्टि, धार्मिक दृष्टि, तात्त्विक दृष्टि तथा सामाजिक दृष्टि से समाजोत्थान और समाजोद्धार के लिए समुचित और समयोचित मार्गदर्शन है। व्यक्ति-विकास से ही समाज के यथार्थ विकास की सभावना का यथार्थ दिग्दर्शन है। केवल बाहरी भोगोपभोग सामग्री की बहुलता की लिप्सा से अविचारकता मूलक अकर्मण्यता तथा कायरता आती है–इसका स्पष्ट निर्देश है।

समाजसेवा के दो सचेतन साधन

उक्त लेख मे हितैषी समाज सेवको के लिए और नेताओ के लिए दो सचेतन साधन प्रस्तुत किए। जिनकी प जी ने आजीवन साधना की, परीषह सहे और उपसर्गों को भी जीता है। एक "तप" और दूसरा "त्याग।" इनकी अनिवार्य आवश्यकता प्रदर्शित करते हुए तप का अर्थ "**कष्टसहिष्णुता**" तथा त्याग का अर्थ "**हृदय की सच्ची उदारता**" किया है। इनके बिना सारी चेष्टाएँ कैसी निरर्थक और बेकार होती है तथा वैयक्तिक स्वार्थ मे वृद्धि होने से सारा जीवन स्व-केद्रित स्वार्थी बनता जाता है, सामाजिक समुत्थान की भावना लुप्तप्राय होती है, उसे बदलने के लिए समर्थ शुभसकेत भी है।

प्रस्तावो की अमली कारवाही के लिए बलशाली सगठन की और संगठन के लिए वात्सल्यपूर्ण सही सही व्यवहार की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। समीचीन धर्मपरपरा और सनातन आदर्शो की सुरक्षा, तथा सस्कृति की सुरक्षा के लिए आवश्यक उचित उपदेश भी है। आदि से अत तक परिवर्तनशील काल प्रवाह को दृष्टि मे रखकर सावधानता से और तत्परता से आगे बढने के लिए आदेशगर्भ शुभसदेश भी है। प्राचीन और अर्वाचीन विचारो को धारण करनेवाले सभी के लिए वृद्ध और युवाओं को सेवामहर्षी द्वारा एक तरह से त्यागतपस्यापूर्ण स्वानुभवो से आपूरित और जीवनमूल्य से प्रवाहित होने के कारण पूरा व्याख्यान अपने आप मे स्वयपूर्ण और प्रभावशाली है। एक तरह से वह सेवा महर्षि का शुभाशीर्वाद ही रहा है।

तात्त्विक विषयों में दृढता

सामाजिक लौकिक समस्याओ की तरह तात्त्विक और सैद्धान्तिक विषयो मे उन्हे तत्वच्युती कभी पसद नही रही। धवला ग्रथो के सपादन के समय सूत्र ९३ मे "सजद" पद का उपलब्ध न होना–यह बात उन्हे बहुत अखरी, स्व. विद्यावारिधी प. खूबचदजी आदि विद्वद्गण तथा प. जी "सजद" पद सूत्र में होना ही चाहिए – इस पक्षके पक्षधर थे। मत परिवर्तन के लिए पू. आचार्य

शांतिसागरजी महाराजजी का पुन: दबाव भी लाया गया । गुरु परंपरा से प्राप्त करणानुयोग शास्त्र का अनुभव और अध्ययन-मनन से वे अपनी धारणा में अंत तक अडिग और अटल रहे । यद्यपि यह " संजद " पद नयी हस्तलिखित देवनागरी लिपीवाली प्रति मे नही था, लिपीकार द्वारा छूट गया था, फिर भी अंततोगत्वा मूल कन्नडी ताडपत्री प्रती मे वह मिल ही गया, परंतु इस एक समस्या से समाज के विद्वद्वर्ग मे २७ वर्ष तक खूब ही द्वंद्व बना रहा । लेखो-प्रति-लेखो की किताबे प्रकाशित हुई । अंत मे पू. १०८ आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराजजी ने सल्लेखना के समय स्वय अपना परिवर्तित अभिप्राय श्री प. जिनदासजी फडकुले शास्त्री (सोलापूर) से प्रामाणिकता से प्रकट करते समय स्पष्ट रूप से कहा कि, ' पं. जिनदास तु !' जे " संजद " पद पाहिजे म्हणत होतास, तेच खरे आहे " ऐसा कहा । आशय यह है कि, " आप जो कहते थे, ' संजद ' पद चाहिए ऐसा, वही सत्य है " इसप्रकार यह द्वंद्व समाप्त हुआ ।

पंचाध्यायी ग्रंथराज के कर्ता के विषय मे भी समाज मे एक वैचारिक मतभेद कई वर्षों तक रहा । यह आचार्य अमृतचंद्र की कृति नही, प. राजमलजी की ही हैं – यह प जी का अभिमत था, वह लाटीसहिता ग्रथ के प्रकाशन से अत्यंत स्पष्ट हो गया । दोनो ग्रंथो मे कई श्लोक समान आये है ।

प्रात:कालीन स्वाध्याय-गोष्टी मे भी सरसेठ सा के साथ "दंसणमूलो धम्मो" और "चारित्तं खलु धम्मो" इन दो सूत्रवाक्यों को लेकर कई दिनो तक चर्चा चलती रही । प. जी का समयसार की ३४ वी गाथा का तथा ३०४ से ३०७ गाथाओ का मनन अच्छा था । दोनो सूत्रवाक्यो का पचाध्यायी के आधार से सुमेल अपनी पद्धति के अनुसार बराबर बताते रहे । किसी के राजी-नाराजीकी पर्वाह न करते हुए व्यवहार और निश्चय पक्ष का परस्पर सुमेल व्यक्त करते रहे । तत्त्व मे तोड मरोड या एकातिक निरुपणा उन्हे पसंद नहीं थी, वे उसे आगम की हत्या समझते थे ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

सामाजिक सेवाओ के निमित्त से पं जी सेकडो जगह गये । समन्वयी परिमार्जित दृष्टिकोष और निरामय स्वच्छ स्वस्थ माध्यस्थ भावो से उन्होने सफलता भी पायी । समाज हित की सुरक्षा की । अपने आत्मसम्मान की सुरक्षा मे जैसे वे सावधान रहे, उस ही प्रकार अपने द्वारा किसी का अपमान भी नही होने दिया, प्रत्युत दुसरो के सम्मान की पूरी सुरक्षा ही की। आत्मवत् सर्व भूतेषु " इस उक्ति के अनुसार बडे छोटे नये पुराने सभीके विषय मे उनकी दृष्टि सजग और प्रामाणिक रही है ।

पंडित कैलाशचद्रजी ने ४७ वर्ष पूर्व ठीक ही कहा–" उन जैसा सभा-चतुर समाजवेत्ता विद्वानो मे तो कोई दिखाई नही देता। नवयुवको से भी उनकी उतनी ही पटती थी, जितनी वृद्धो से। वृद्धो के वे सलाहकार थे और नवयुवको के थे दोस्त। अपनेसे छोटो का सम्मान कैसे किया जाता है यह-उन्ही से सीखने की वस्तु थी। (सन्मति १९५० अगस्त)

स्व. पंडित श्री देवकीनंदनजी के महत्प्रयास से प्राप्त तीन पत्र

खुरई १५ । ६ । ४६

प्रियवर चि. माणिकचंद चवरे
अत्यत प्रेमपूर्वक शुभाशीर्वाद

मैं आज आपको अपने निश्चय के सम्बन्ध मे यह पत्र लिख रहा हू। जिसे बाचकर मैं जानता हू तुम अवश्य दु खी होगे इस मे सदेह नही। इस अन्तर्वेदन का मुझे आज अनुमान है और बाद में जीवनभर दुख रहेगा। परतु बहुकुटुम्बी होनेसे उपाय मे था वह अनायास मिल गया, इस लिए हिम्मत बाधकर उपयोग करने मे प्रयत्न कर रहा हू। भविष्य दैवाधीन है।

आपका, पू महाराजजी का अन्य मित्रो का सहयोग वाछनीय है! बडी कृपा होगी। जो समय समय आप सब सहयोग प्रदान कर अनुग्रह रखेगे! प्रेम करेगे क्यो कि मैं वृत्ति छोडने की इच्छा मे हू! सेवा और प्रेम को नही!

अभी इदौर गया था। श्रीमंत सर सेठ सा. से एक चालू दुकान मे दो आनेकी भागीदारी बनाने की स्वीकारता देकर इदौर मे अपने पास रखने का निर्णय किया है। इस मे बच्चे धदे मे लग जावेगे तथा सामाजिक आजीविकासे सम्बन्ध टूट जावेगा। और उस मे मैंने २।। महिने स्वतत्र रूप से धर्म प्रचार और समाज सेवा को रख लिया है।

इस सम्बन्ध मे मैं आपसे आज्ञा लेनेको आता था परतु मुझे मालूम है आप स्वीकारता नही देते। अत मे उस अनुभव के कारण स्वीकारता दे चुका। आश्रम की सेवा के लिए समय रख लिया है। केवल वृत्तिच्छेद का स्तीफा देना है कार्य क्षेत्रसे नही! समय २ पर जो जो सेवा लगेगी विचार है उसमे आनाकानी नही करूंगा।

इदौर जाने के बाद पू महाराज के आने पर सेवा मे हाजिर होऊगा। आप रज नही करना। पू महाराज की छत्र छाया है निस्वार्थी तरूणो की उच्च भावनाएँ त्यागी समाज के सेवक और पू. महाराज के भक्त दाताओ का सहारा बस कुछ उचित वातावरण बन जावेगा। यह अलंकार नही वस्तुस्थिति है। रही मेरे जीवन संग्राम की बात। सो मेरा अनुभव है हमने मुरेना और कारंजा

में अपनी आत्मा लगाई। सत्पथ प्रदर्शन मिला। इतना यश और स्वातंत्र्य अन्यत्र नही मिलता। भाग्यवान् हूँ ऐसे नेताओं के नीचे सेवा करने का मौका मिला। और अपनी जीवनी का असली भाग ऐसे सुसमागम मे लगा।

कुछ घर संभारने की इच्छा है। आपने भी यथा समय सहयोग दिया। हमारी आवश्यकताएँ अधिक है। आकुलता है। उससे मुक्त होने की इच्छाने इदौर रहने को बाध्य किया है। आप सबके लिए त्याग की छत्र छाया है। २७ वर्ष की तपस्यासे जैसा अपना आश्रम वृक्ष शाखा-पल्लव-फल-फूलो से सुरक्षित है भविष्य मे शतशः वृद्धिगत हो और उसके अंगभूत आप सब सफलता-से सुशोभित होवे और मुझे प्रेम से छुट्टी देवे! मेरे गलतियो को अतीत स्मृति के गर्त मे डाले। मै यद्यपि सद्गुरुदेव का सेवक हू तथापि आप अपनी उदारता से मुझे सहारा देने मे कृपा करते रहे।

मेल के समय सब ही सदव्यवहार करते है। विसर्जन मे भी सद्व्यवहार करे। आज वृद्ध हू, बहुकुटुम्बी हूं। ध्यान रखे। यदि बन सके तो मेरी बताई हुई समय २ की नीति पर ध्यान देना, उपेक्षा न हो।

आपका पुराना स्नेही
देवकीनन्दन

प्रियवर तात्याजी खुरई ता. १६।६।४६

शुभाशीर्वाद

परम पूज्य महाराज के चरणों मे त्रिवार नमोस्तु लिख दीजीएगा। श्रीमान माननीय दानवीर जम्बुदास सावजी, प्रद्युम्न सावजी से सादर जयजिनेश कहिएगा। श्रीयुत चिर. रावसा प्रेमचदभाई को शुभाशीर्वाद। अन्य बंधुओंको यथा योग्य कहिएगा तथा मेरे योग्य सेवा लिखिएगा।

मै यहा पर ता. २१।२२ तक रहूंगा। और अधिक २।४ दिन ठहरा तो आपको लिखूगा। उत्साहवर्धक पत्र लिखिएगा। किसी प्रकार का रंजन कीजीएगा। आप तो हमारे हितू है। आपसे हमे बडी २ आशाएँ हैं। आप की कृपा से हम लोगो का स्वास्थ्य साधारण अच्छा है।

भवदीय
देवकीनन्दन

ता. क.-

ता. १९ को जनरल मीटींग है। चि. अशोककुमार आ गएँ है। बडा हर्ष हुआ। आप की स्वीकारता न आने से अभी जबलपूर गुरुकुल की स्वीकारता नही दी है। परंतु पूज्य वर्णीजी की तीव्र इच्छा है कि, पू. महाराज कृपा करके आपने आधीन जबलपूर ले लेवे। आपके सहारे विना हम कुछ

नही कर सकते है। क्यों कि, आप सिवाय कोई भी गुरुकुल पद्धति को सफल बनाने में समर्थ नही है। आज पं. जगमोहन लालजी भी आए है उनकी भी यही राय है।

आपका
देवकीनन्दन

प्रियकर चिरं. तात्या — खुरई ६ । ७ । ४६

अनंत शुभाशीर्वाद

खुरई वालों ने बडी सेवा की अब आराम है। थोडी कसर है ४–६ दिन में बिलकूल आराम हो जावेगा एसी आशा हैं। सभापति सा. का भी सिं. धन्ना-लालजी के नाम से पत्र आया। और आपके भी पत्र मिले। मै दूविधा में पड गया हूं। आपके हृदय-वेदक ममता दर्शक पत्र मिले। २१४ दिन बाद सबको इंदौर भेज कर कारंजा आता हू। तब साक्षात पूज्यवर्य महाराज का आशीर्वाद लेना है तथा जीवनभर आश्रम की सेवा करने का विचार है। सेवा के लिए समय रोज स्वतंत्र रख लिया है। सेवा मे और प्रेम मे रत्तीभर भी अंतर नही पडेगा। मेरा किसी भाई से वैर विरोध नही है। मानसिक और आर्थिक यातनाएँ अपने स्वभाव के कारण पाई है। संभव है जीवनभर उनसे पीछा नही छूटेगा। मनुष्य मोहवश उपाय करता हैं होनहार अमिट होता है। कारंजा मेरा घर हैं, तुम हमारे हो, तुम्हे भला मै कैसे छोड सकता हूं!

मेरा तो अभिप्राय इतनाही है आजीविका इंदौर की सुलभ रीतिसे हितकारी है। थोडा सार्वजनिक जीवन मे फर्क जरूर पडेगा। परतु निःस्वार्थी सेवा जितनी बनेगी उतनाही पर्याप्त होगा। आपको मेरी चिन्ता है, प्रेम हैं, आदर है, सो तात्या तू परमपुण्यवान है! पू महाराज भी परम पुरुष है; उनसे जैन समाज का उद्धार हुआ है, परन्तु क्या किया जाय? हमारी आव-श्यकताओंने मेरे मनको ऐसा करने को बाध्य किया है। दस बाल बच्चों का संसार है। एक गृहस्थ का उन की उन्नतिका विचार अनुपादेय नही हो सकता है। तुम्हारी मदन की अपेक्षा है। कर्म-धर्म संयोग रहा तो पुनः हाजिर हो जाऊंगा। काल के पेट मे क्या भरा है कौन जानता है! हमे इसी मे समाधान है कि, हमने भरसक किसी को दुख नही पहुचाया? दुसरे को बदलना कठिन होता है, अपना बदल जाना सरल है, सो सरल मार्ग का अवलम्बन किया है।

पू. महाराज का आशीर्वाद दिलवाने का प्रयत्न कीजिएगा।

आपका स्नेहभाजन
देवकीनन्दन

नमः समन्तभद्राय ।

नमः समन्तभद्राय गुणरत्नैरलंकृते ।
समन्तानां सुभद्राय ज्ञानिने कर्मयोगिने ।। १ ।।
आत्महितं नु कर्तव्यं परहितं यथायथम् ।
सूत्रमासीत् सदा यस्य पावने दीर्घ-जीवने ।। २ ।।
आत्महिते सदा दक्षः स्वात्मधीर् मुनिरुत्तमः ।
आत्मा प्रभावितो येन रत्नत्रय-सुतेजसा ।। ३ ।।
स्वाध्याये निरतः स्वामी वाचना-पृच्छनादिके ।
आत्मज्ञो मार्मिको विज्ञो अध्यात्मामृतपूरितः ।। ४ ।।
'परं भवतु कल्याण' इत्याशीर्वादमंगला ।
कल्पवृक्षसमा दृष्टिर्यस्य कल्याणकारका ।। ५ ।।
कर्नाटके महाराष्ट्रे स्थापिता येन आश्रमाः ।
धर्म-शिक्षा-प्रसारार्थं बाल-कल्याण-हेतुना ।। ६ ।।
तीर्थरक्षापरस् त्यागी कुमारश्च दिगंबरः ।
शिक्षाशास्त्री महायोगी तत्त्वज्ञो भद्रचिंतकः ।। ७ ।।
शीलं ज्ञानं व्यवस्था च प्रेम सेवा प्रसूत्रकम् ।
प्रदत्तं येन छात्रेभ्यो विकासार्थं स्वतेजसः ।। ८ ।।
लोकसंग्राहको योगी देव ख्याति--पराङ्मुखः ।
गुणग्राही हिताकांक्षी धर्मशीलो महामुनिः ।। ९ ।।
'शान्तिस्थली' तथा सर्वे आश्रमाः स्मृतिरूपकाः ।
गायन्ति ते यशोगाथां यावच्चंद्र-दिवाकरौ ।। १० ।।
स्मरामि भद्रदासोऽयं मुनिश्रेष्ठस्य दिव्यताम् ।
प्रेरणादायिनी दीप्तां आत्मज्योति-प्रकाशिनीम् ।। ११ ।।

—उमाठेकुलोत्पन्नो विद्याधरः ।

गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।

[प्राचार्य-श्री विद्याधरजी उमाठे एम्.ए एम्.एड. श्रीबाहुबली विद्यापीठ बाहुबली]

व्यामोहात् दूरतः स्थित्वा ज्ञानाराधनतत्परः ।
ख्यातिप्राप्तं विशेषज्ञं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। १ ।।
नम्रता-गुण-संपन्नं रोचकोक्ति-सुधाकरम् ।
वाक्पतिं शारदा-पुत्रं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। २ ।।
चतुरस्रा मतिर्यस्य मिथ्यावादापहारिणी ।
स्पष्टवादी सदा योऽभूत् गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ३ ।।
तितिणी-सदृशा वाणी रसार्द्रा रसपूरिता ।
देवभाषा-समा यस्य गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ४ ।।
वत्सलता-प्रतीकं तं स्नेहार्द्रं छात्र-वत्सलम् ।
कीर्ति-लक्ष्मी-निरापेक्षं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ५ ।।
नंदन शारदायास्त देवकीनंदनोत्तमम् ।
दयाशीलं जनानन्दं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ६ ।।
नंदिता धार्मिका येन सिद्धान्तामृतभाषणैः ।
स्मरण-मात्र-रूपं तं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ७ ।।
रागिनां मोहनाशाय धर्मशास्त्रानुवादकम् ।
मित्रं धर्मपराणां तं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ८ ।।
विद्यया भूषितं रत्नं सागाराचारपाठकम् ।
द्यावाप्रभं प्रवक्तारं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ९ ।।
धर्मशीलं गुणोपेतं पंचाध्यायी-विवेचकम् ।
रश्मिमध्यात्म-भानोस्तं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। १० ।।
अज्ञ-समाज-संघर्षे सुसंवाद-प्रसाधकम् ।
हंसं क्षीराम्बु-भेदज्ञं गुरुश्रेष्ठं स्मराम्यहम् ।। ११ ।।

जयतु जयतु वाग्मी पुण्यपीयूषपूर्णः
जयतु जयतु विद्वान् मार्मिकस्तत्त्वगर्भः ।
जयतु जयतु मान्यो जैनसिद्धान्तशास्त्री
जयतु जयतु धन्यो देवकीनंदनश्रीः ।। १२ ।।

—उमाठेकुलोत्पन्नो विद्याधरः ।



धर्मनिष्ठा मातृहृदया

श्रीमती सुमित्रादेवीजी

धर्मपत्नी श्री पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्त शास्त्री गुरुकुल के छात्रों के लिए आदर्श प्रेरणा स्रोत

पंडितजी के परिवार गण के संस्मरण

ज्ञात होने पर भी अनुल्लेख सबसे बडी सजा

अतीत के चिर-सुवासित पुष्प की करोडों पंखुडियों में कुछ, शिक्षाप्रद, प्रेरणास्पद एवं अनंतकाल तक स्मरणीय हुआ करती है, वैसी ही चिर-स्मरणीय एवं सुगधित पंखुडी निम्नांकित है-कारंजा गुरुकुल, सन् १९४१। कक्षा दसवीं में हमारे शिक्षक थे पूजनीय पं. देवकीनंदन जी। उन के पुत्र स्व. सुमतिचंद्र मेरे ही सहपाठी थे, एवं मेरे अनन्य मित्र भी। अतएव उन के घर भी जाना होता रहता था। सुमति की मां, मातृत्व की प्रतिमूर्ति थी एवं बाई कहलाती थीं। कक्षा में मैं पंडितजी के घर का सदस्य ही कहलाता था; एवं डाटफटकार से बचा रहता था।

एक बार सुमति को बुखार ने आ घेरा।

डॉ. ने सुमति का बुखार विषमज्वर बताया। मित्रता के नाते मैं दिनरात पंडितजी के घर ही बीमार की सेवा-सुश्रुषा में लगा रहा। करीब एक सप्ताह के बाद उस का बुखार उतरा; परन्तु वह अत्यधिक कमजोरी महसूस करने लगा था। मित्र के ठीक होने में मेरा भी अथक परिश्रम सार्थक हुआ था। अतः अब उसे बाहर घुमाने ले जाने की जिम्मेदारी मैंने अपने ऊपर ली थी। एक दिन शाम को टहलते हुये रेल्वे स्टेशन के होटल के पास से हम गुजरे। वहा सुमति ने पेढा खाने की इच्छा प्रकट की। होटल मालिक पंडितजी का घनिष्ठ मित्र था। अतः सुमति होटल के भीतर जाने से घबराया। शाम का अंधेरा घिर आया था। मैं अकेला ही होटल में गया और पेढा खरीदा। पेढा तौलकर जब वह मेरे हाथों में देने लगा तो देखा, होटल मालिक के बगल में स्वयं पडित जी विराजमान है!! मेरे पैरो तले जमीन ही खिसक गयी! सूखे गले एव पसीने से भीगे हाथो से होटल मालिक को रुपया दिया; परन्तु छुट्टे पैसे लिये बिना नौ दो ग्यारह हो गया।

बाहर आकर सुमति को सारा दृष्टात सुनाया। मारे घबराहट के मिठाई खाने की इच्छा ही बाकी नही रही।

दूसरे दिन सुमति के घर भी न जा सका। जब कक्षा मे पंडितजी आये, तो मैं अपराध भावना से ग्रसित हो चुका था एवं पूरी कक्षा में सिर न उठा सका। उन की ओर देखा ही नही और न ही पढाई में ध्यान केन्द्रित कर सका। लेकिन पंडित जी भी मुझे कुछ नहीं बोले। उन्होने कल के छुट्टे पैसे सुमति के पास दे दिये!

मेरा मन आत्मग्लानि से भर गया। पंडित जी की मौन छडी, काफी सही जगह मार कर चुकी थी। मेरे अपराध की न दी गयी सजा मुझे मिल गयी थी।

प्रेषक
माणिकचंद धनुष्कर
रामनगर वर्धा

मेरे पूज्य पिताजी

डॉ. त्रिलोकचंद्र नायक

यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैं दिनांक १३ नवंबर १९८६ को कुंभोज बाहुबली गया। सौभाग्य से पूज्य पिताजी के परम प्रिय शिष्य विद्वान् मेरे अग्रज समान बाणी भूषण डॉ. मूलचंदजी शास्त्री एम. ए. पीएच्. डी. का साथ रहा। यहाँ पर परम पूज्य गुरुवर्य निग्रंथ साधु समंतभद्रजी महाराजजी के दर्शनों का अपूर्व लाभ प्राप्त हुआ। उनके दर्शन करने पर ३२ वर्ष का अन्तराल भेद जाता रहा। पूर्व की स्मृतियाँ पूज्य पिताजी का कारंजा का कार्यकाल तथा कारंजा में उस समय के पूज्य महाराज श्री के संबंध तथा कारंजा के प्रेमी जनो से सबंध वहा की शिक्षा, अनुशासन, नम्रता, धार्मिक ज्ञान और सर्वोपरि एकात्मता का भाव याद आया। इस अनुभूति का वर्णन अनिर्वचनीय है। पू पिताजी का कारंजा पहुंचना, परमपूज्य १०८ समंतभद्रजी महाराज के संपर्क में आना, वहां के लब्ध प्रतिष्ठित सज्जनो के साथ संपर्क होना यह उनके जीवन की विशेष घटना ही कही जायेगी। क्योकि उन को उन से इस से जीवन उत्थान विशेष हुआ, सामाजिकता आयी और गुणो में निखार आया। सपूर्ण भारत वर्ष की दिगबर जैन समाज में उन्होंने जो स्थान बनाया तथा स्नेह प्राप्त किया उसका श्रेय पूर्णतः उन्ही लोगों को जाता है।

सन् १९४५ में इन्दौर जाने के बाद शारीरिक अस्वस्थता के कारण तथा उपयुक्त वातावरण के अभाव में उनकी सामाजिक गतिविधियां क्षीण हो गई तथा उनका अंतिम जीवन जिस प्रकार से बनाना चाहते थे वैसा न हो सका। उनकी हार्दिक इच्छा समाज मे रहकर उसी में विलीन हो जाने की थी। कारंजा वे उन्हें जो स्नेह, आदर, विचारो की स्वतत्रता तथा प्रसिद्धि प्राप्त हुई वह हमारे संपूर्ण परिवार के लिये कभी समाप्त न होने वाली गर्व की वस्तु है। जब कभी भी कारंजावासी हम लोगो को मिलते हैं एकात्मकता का भाव जागृत हो जाता है।

हम लोग उन सभी के अत्यधिक आभारी है, जिन्होंने उनको ऐसी ऊचाई तक लाकर बिठाया कि उनके देहावसान के ३७ वर्ष बाद भी भूल न सके। यह हमारे संपूर्ण परिवार के लिये महान् गौरव की बात है कि, उनकी पुण्यस्मृति में कारंजा से एक स्मृति ग्रन्थ का शीघ्र प्रकाशन होने जा रहा है। मै इस महान शिल्पकार परमपूज्य गुरुदेव १०८ श्री समंतभद्र जी महाराज का जिन्होने अनेक गुरुकुलों की स्थापना की, जिनमें सहस्रो विद्यार्थी ज्ञान प्राप्त करते है तथा समाज के लिए उच्चकोटि के विद्वान तथा धार्मिक सामाजिक कार्यकर्ता तैयार हुए है, हो रहे है, एवं होते रहेंगे और आने वाली अनेक पीढियों को लाभ मिलता रहेगा। अत्यंत विनम्रता पूर्वक आभारी हूं।

पिताजी एक साधारण परिवार मे जन्मे तथा परमपूज्य स्व. क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी (पू. १०८ गणेशकीर्ति मुनिमहाराज) एवं गुरुणांगुरु पं. गोपालदासजी बरैया द्वारा प्रशिक्षित हुए। वे सहज, सरल निष्कपट, निर्लोभी, स्वाभिमानी, व्यवहार कुशल स्पष्ट-वक्ता विद्वान् थे। वे व्याख्यान वाचस्पति, साहित्य सूरि, आदि उपाधियों से समाज द्वारा अलंकृत किये गये थे। उनका जन्म सन् १८९२ के लगभग हुआ तथा देहावसान १२ मई १९५० को प्रातः ९॥ बजे हुआ।

मेरा यह परम सौभाग्य रहा कि मेरे पूज्य पिताजी मुझे यात्रा के समय सदा साथ रखते थे। उद्यमी स्वभाव के कारण मेरी पूज्य माताजी एवं अन्य परिवारजन मेरे प्रवास से प्रसन्न रहते थे। पूज्य पिताजी को हाथ पैर दबवाने की आदत थी। वे मेरी हाथ पैर दबाने की कला से बहुत प्रसन्नता का अनुभव करते थे। मुझे भी उनके साथ रहने में तथा समाज में होने वाले उनके आतिथ्य से लाभ होता था एवं प्रसन्नता का अनुभव होता था। मैं सदा उनके साथ जाने को उत्सुक रहता था। वे बाहर जाने पर कार्यक्रमों में अत्यधिक व्यस्त हो जाते थे तथा लोगों से घिरे रहते थे।

वे सामाजिक समस्याओं को बहुत ही कुशलता से सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में निपटा दिया करते थे तथा अधिकतर रात्रि को खुले पंडाल में व्याख्यान देते थे, जिनमे श्रोताओ की सख्या भारी मात्रा में रहती थी। उनके व्याख्यानो की श्रोताजन भूरि-भूरि प्रशंसा करते थे। यह सुनकर व देखकर मुझे भी भारी प्रसन्नता का अनुभव होता था। वे शरीर से हृष्ट पुष्ट थे तथा धोती कुर्ता पहिनते थे व सिरपर साफा बांधते थे। उन्होने अपने भाई-बहिनो को अच्छा सहयोग दिया। मोरेना से आकर के उन्हे ऋणमुक्त किया, निश्चित किया। आर्थिक सहयोग भी पहुंचाया। गृहस्थी खडी करने में योगदान भी दिया। अत मे पैतृक घर सपत्ती समर्पित करके बरवासागर छोडा। वे परवार समाज में अग्रगण्य माने जाते थे। अनेक वर्षों तक परवार सभा के अध्यक्ष पद को सुशोभित करते रहे। वे सामाजिक कुरीतियो के विशेषतः मृत्युभोज के विरुद्ध थे। अच्छे पारखी प्रवृत्ति के कारण उन्होंने अपने जीवन में उत्कृष्ट लोगों से अपने सबध स्थापित किये थे। धन के प्रति विशेष आस्था न होने से सदा ही अर्थभाव बना रहा किन्तु उनके द्वारा लगाया गया बगिया हर दृष्टि से फल-फूल रहा है। संपूर्ण परिवार में आज भी आनुवंशिक एकात्मकता पूर्ण रूपेण विद्यमान है।

प्राप्त रिकार्ड से ज्ञात होता है कि वे सन् १९११ में मोरेना महा-विद्यालय मे अध्ययन करते थे। वही सन् १९१६ मे अध्यापन का कार्य करने लगे थे। उस समय उन्हे प्रारभ में केवल ३० रुपये मासिक व बाद में ४० रुपये मासिक प्राप्त होते थे। उन दिनो जैन समाज मे त्यागियो एवं विद्वानो का पर्याप्त अभाव था। तथा आपस में काफी मतभेद रहते थे।

श्री. पं विद्यावारिधि खूबचंदजी शास्त्री, श्री. प बंशीधरजी न्यायालकार, श्री मक्खनलालजी न्यायालंकार, श्री. पं. उमरावसिंहजी शास्त्री आदि उनके सहपाठी थे। उन दिनो आर्य समाजियो से धार्मिक विषयों पर वाद-विवाद होता रहता था। पूज्य पिताजी को ऐसे अनेक अवसर प्राप्त हुए, जिसमें उन्हे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई थी। स्वयं गुरु गोपालदासजी विवादस्थ विषयों पर अपने शिष्यो को पहले वाद विवाद के समय खडा करते थे।

मेरे पूज्य पिताजी प. देवकीनदनजी दशलक्षण पर्व के दिनो मे प्रवचन हेतु समाज के निमंत्रण पर जाते थे। वे समाज का दोहन समाज के लिये ही करते थे। उन्होने उत्तर भारत वर्ष में प्राय. छोटे-बडे नगरों का भ्रमण किया था तथा वहा की समाज में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था।

मेरी पूज्य माताजी

डॉ. त्रिलोकचंद्र नायक

पूज्य माताजी का नाम सुमित्राबाई था तथा उनका जन्म १९१० के आसपास हुआ था । देहावसान २५ अप्रैल १९८६ में रात्री के १ ३० बजे हुआ उनकी शिक्षा साधारण थी। केवल पढना, लिखना आता था। किंतु पूज्य पिताजी के सम्पर्क से उन पर पर्याप्त प्रभाव पडा तथा वे व्यावहारिक ज्ञान में बहुत ही निपुण हो गई थी। यही कारण है कि पूज्य पिताजी के देहावसान के बाद जबकि मेरे बडे भाई सुमतिचद ही केवल कमाने वाले थे, उन्होंने अत्यधिक कष्ट ढोने के बाद भी साहस व धैर्य मे कभी कमी नही आने दी तथा माता पिता दोनों का कर्तव्य निभाया। सभी भाई बहनो को उत्साहित कर सामाजिक शिक्षा से शिक्षित किया तथा सबमे एकात्मकता का भाव बनाये रखा। वे ऊपर से अत्यत से अत्यंत कठोर दिखती थी, क्योंकि वह स्पष्ट वक्ता थी, तथापि उनका हृदय पवित्र था वे अन्तर से किसी का भी अहित नही चाहती थी। उनका कारंजा से अत्यधिक लगाव जीवन के अत तक बना रहा तथा ब्र माणिकचद्र जी चवरे के प्रति अत्याधिक वात्सल्यभाव व आदर का भाव था। ऐसा ही पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी वालो से भी रहा।

पिताजी के व्यक्तित्व का अंतिम वर्ष

स्व. डॉ. प्रकाशचंद्र नायक, M. B. B S. **(दुर्ग)**
निर्मलकुमार नायक (एंजिनिअर) दमोह

सन् १९५० स्व पू पिताजी के व्यक्तित्व का अंतिम वर्ष शुरु हुआ। एकायक सर सेठ साहब को टॅक्स-बगैरह को कठिन आर्थिक परिस्थितियों ने घेरा और उन्हों ने अपनी अचल व चल सम्पत्ति बेचना शुरु किया। तथा साथ मे दूसरे खर्च भी घटाना शुरु हुआ। उन की सुबह की शास्त्र सभा में तीन रत्न थे। १ पूज्य पिताजी २ पं. बशीधरजी व ३. प. जीवधरजी पं. वंशीधरजी व जीवधरजी पहले से ही संस्कृत विद्यालय नसियाजी में दोपहर को पढाते थे। पिताजी ही एक ऐसे विद्वान थे जो कि इन्द्रभवन में ही शास्त्र चर्चा और स्वाध्याय गोष्ठी के लिये थे। शायद १९४९ जनवरी ही थी। सरसेठ साहब ने पिताजी को वृत्ति के विषय मे कुछ कह दिया। हम भाई बहनो के परिवार में ग्यारह व्यक्ति थे केवल हम चार बडे थे बाकी सभी ६ बहुत छोटे थे। पढाई मे पू स्व. सुमतिचद्रजी एम् ए. हुए थे व छोटे भाई मा. डॉ त्रिलोकचदजी एम्. बी बी. एस् की पहली साल में थे। सेठ साहब से चर्चा करने के बाद उन्हो ने कहा कि "पंडितजी आप ऐसा कीजिए कि, सस्कृत विद्यालय में १० से ५ बजे तक पढाने जाइए। पू पिताजी ने नसिया पढाने जाना शुरु किया। वे करीब ३ मील पैदल जाते थे, व शाम को लौटते थे। मधुमेह से पीडित तो थे ही। शाम को घर आते ही भोजन करते व शाम होते ही बिस्तरे पर पडे रह जाते। हाथ पैरों में कडा दर्द रहता था। हम लोग पैर दाबते थे तब ही सो पाते थे। डॉ.

मुकर्जी विदेश गये हुए थे । कोई वैद्य या अच्छा डॉक्टर नहीं था । अतः अस्पताल मे जो कि के ई एम् हॉस्पीटल के नाम से जाना जाता है भरती किया ।

करीब १०-१२ दिन वे प्रायवेट वॉर्ड में रहे, सब रिस्तेदार आकर देखकर गये । हॉस्पीटल् में रात को, बिमला बहन, पू. मा. त्रिलोकचंदजी व मैं रहा करते थे । ता. ११ मई की रात को सभी भाईबहन साथ बैठे थे । पिताजी थोडा अच्छा महसूस कर रहे थे । बडे भाई को न जाने क्या समझ कर उन्होंने "अपने से छोटे पर पूरा ध्यान रखना" कहा व सब कुछ समझाते रहे, केवल इसी बात को दोहराते रहे कि "जिन्दगी में कुछ भी पैसा नही जोड पाया । अब किस तरह काम चलेगा ? " सुबह के ५-५.३० बजे होंगे ही कि उन्होंने आवाज दी और पुनः लेट गये, विमला बहन को न जाने क्यों यह कहा कि "मुझे बडा समाधिमरण सुनावो", विमला बहन समाधिमरण सुना रही थी, सुबह के ९-३० का समय था । हम सोच रहे थे कि अभी पिताजी की आख लगी है व सो रहे हैं । परन्तु यकायक उन्होंने आंखें खोली और दोनो हाथ उपर कर के जोडे और फिर बिलकुल स्थिर हो गये । थोडे ही समय में पिताजी देह त्याग चुके थे । यह दिन शुक्रवार १२ मई १९५० था ।

सबसे पहले यह बुरी खबर मै सेठसाहब को कहने गया । उन्होने श्री राजकुमार सिंहजी को भेज दिया । सब जगह जहां भी पहचान थी उन्हे खबर की । पिताजी का शिष्य वर्ग भी आ गया, चूंकि मई का महिना था, गर्मी बहुत थी अतः सबने जो कि वहाँ इकट्ठे हो पाये थे । अन्दाजन १५०–१६० जैनी भाई होंगे । यह तय किया कि श्मशान घाट यही से सीधे ले जायेगें । अर्थी उठाई व नसिया के पीछे वाले श्मशान घाट पर ले गये । एक विद्वान् व समाज-सेवी का दाह संस्कार किया गया । दाह संस्कार के समय चिता में अग्नि देने के प्रसंगपर हम तीनो भाईयों ने एक साथ कसम उठायी कि हम कभी अलग नहीं होंगे । छोटो को साथ लेकर ही चलेंगे । उसी कसम के अनुसार आज तक पूरा व्यवहार पूज्य पिताजी के आशीर्वाद से निभा पाये । बडे भाई सा. सुमतिचंदजी तथा डॉ. त्रिलोकचंदजी ने आजीवन कई टयूशन करके सबको पूरा पढ़ाया । सभी की विवाह शादिया सपन्न की । और वृत्तिका भी प्रबंध करने में पूरा पुरुषार्थ किया । पू स्व. बडे भाई साहब ही केवल उस समय नौकरी करते थे । अतः पैसो की तंगी बहुत थी । घर आकर सभी जगह तार पत्र द्वारा पू. पिताजी के निधन के समाचार दिये । कुछ रिस्तेदार तुरन्त आ गये । कुछ तेरहवे दिन आये ।

एक बडे पंडितजी की छोटी सी तेरहवी के दिन सभा हुई । जिस मे सभी पहलुओंपर विचार किया गया । अच्छा हुआ कि कारंजा से तात्याजी, कटनी से प. जगमोहनलालजी व दूसरे हितैषी आये थे । वहा पर हमारे परिवार के बारे मे सोचा गया । कुछ लोगो ने कहा कि सुमतिचद्रजी ही अकेले कमाते हैं अतः खर्चा नहीं चल सकेगा, तो छोटे भाई बहनों को बडनगर के अनाथालय में भर्ती कर दो । इस पर पं. जगमोहनलालजी, तात्याजी चवरे, श्रीमान् सेठ रिषभकुमारजी ने कहा कि इस प्रकार से कतई नही होगा । जो कुछ खर्चा होगा हम देखेंगे पर बच्चे अनाथाश्रम में नही भेजे जायेंगे । पू. स्व माँ भी बडनगर सुझाव पर बहुत दुखी व नाराज हुई थी । शोक सभा पूरी हुई । पं. जगमोहनलालजी के प्रयत्न विशेष से वहीपर परिवार के शिक्षा हेतु आर्थिक प्रबंध की योजना बनायी गयी ।

समय बीतता गया । पू. माँ ने भी हिम्मत के साथ हम सभी को पूरा पढने दिया । सेठ साहब ने उसी दिन घोषणा की थी कि दो वर्ष तक के दो कमरो का किराया नही लेंगे । बाद में ३ कमरो का ६० रु. माह किराया देते रहे ।

पिताजी के नही रहने के बाद फिर भी ३७ वर्ष तक हम सब बहन भाईयों पर माँ का आशीश रहा, उन्होने हमें माँ का वात्सल्य और पिता का प्यार दिया, हिम्मत दी, धीरज बंधवाया हम भी उन्हें निश्चित रखनेका

प्रयास करते थे । सभी भाई बहन अच्छी तरह से पढे व अच्छी जगहोंपर काम भी करते रहे । पू. पिताजी से विरासत में मिली सरस्वती ही हमारे साथ रही; फिर समय के अनुसार धन इकट्ठा हुआ । पू माँ यह सब देखती रहती थी पर यदा कदा यही कहती रहती थी कि " काश तुम्हारे पिता यह देख लेते कि बच्चे किस तरह फुले फले हैं ।"

" जिस समय पिताजी ने देह त्यागा था, उस समय कुछ भी दान धर्म नही कर पाये थे । अब में अपने जीते जी दान करना चाहती हूँ ।" सो उन्होने स्वर्गवासी होने के आठ दिन पूर्व ही सब दान लिखवा दिया और हम सभी भाई बहनो को जता दिया कि इस प्रकार दान सब जगह भेजो । उन्होने हम किसी से पैसा भी नहीं मागा । स्वयं के जेवर बेच कर दान करने को कहा था सो उसी प्रकार से दान सहर्ष सभी जगह भेजा गया । जो चालीस हजार के करीब का था ।

हम सभी भाई बहनों को व्यवसाय भिन्नता के कारण यद्यपि दूर दूर रहना पडा है । पर आज भी भावनाओ से हम एक ही है । मन की भावनाएँ अत्यधिक सम्मिलित हैं । अपने जीवन मे हम लोग अपने स्व. पिता एवं माता के दर्शाये हुए मार्गपर चलने मे समर्थ बन पाये इस में हमारे मातापिता के अनंत आशीर्वाद का ही प्रभाव समझते हैं ।

SOME MEMORIES OF DADA

Ajitkumar and Satishkumar Nayak

We all called our father, DADA. Dadaji had a strong desire that we all children should have very good education. It appears to us that probably he migrated from Karanja to Indore for the sake of education of his children. He was not financially sound but he had put his elder son Sumati in hostel at Inore for education. He had also put his second son Trilokchand in Medical College at Indore by paying capitation fee in his last days. He willingly allowed us to have education of our choice. He had appointed regular tutors for us. He knew that the future of his children lay in better higher education.

He had support of a large number of well wishers. Though he had dedicated himself for the cause of entire society at large, we were looked after by his well wishers.

He never differentiated between 'Raja' and 'Rank'. During his evening strools he used to talk with Mali, Paharedar and Rasoiyas.

His flair for teaching Jain Shastras had been tremendous. When he was at Karanja and Indore, he used to deliver discourse on Jainism thrice a day to groups of Jain Scholars in the presence of Sir Seth Hukumchandji when he was requested to teach Jain philosophy at Jain Sanskrit Mahavidyalaya, Nasiya at Indore he willingly said his services without any honorarium.

In his last days, he had no desire to continue at Indore. He had discussed in this respect so many times with Pt. Jaganmohanlalji. His well wishers at Khurai requested him to stay at Khurai / Katni for passing his last days peacefully, but higher education of his children and his failing health did not permit him to move out of Indore. He always felt why he left Karanja.

He liked to take food within limitations. But he could not resist requests from his hosts for taking Sweets, though he was prohibited. He neverwanted any one to feel that he would not accept their requests.

Whenever time permitted, he spent his time with Chowkidars of Indra Bhavan also, because he never had an ego that he was a great scholar and has a special position in the communitly. Biographies of great scholars would rarely mention such simple nature of great persons.

Though he spent most active part of his life in Maharashtra he had enlightened Jain Community in U. P. and M. P. There is hardly any Jain family who had not heard about Panditji and his noble work.

Jain community at Karanja bestoned so much respect love and affection upon him that his heart always lived with Karaja at Indore. We find the same love and affection showered on his children to day after 37 year also. We should always remain undebted to Karanja and Karanja people. Their love and affection kept him and his family at Karanja, an interior part of Maharashtra for twenty five years. It is a rare experience in these days.

Dada never had greed for money and material, whatever little honorarium he got had just kept his family going on. At the time of his death, he hardly left any property. Rightfully there was no need of such material things as what he earned during his life-time was something unique and beyond valuation.

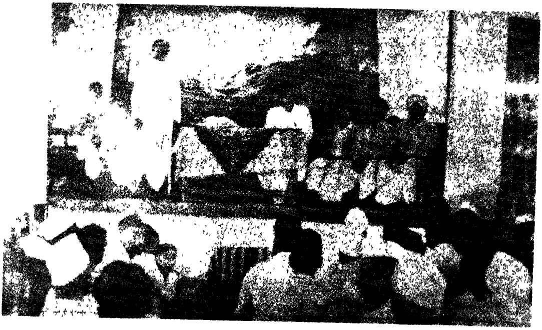
Dada had dedicated his full life for the cause of people. He rarely sat with his children. He was always busy in discussing with scholars or studing Shastras.

He had become very serious in one morning and hinted that he would not recover from the sickness. Sou. Vimal Jijee was reciting Samadhimaran to him. He raised his folded hands from time to time and the end came at 9.30 A. M. on Friday the 12th May 1950.

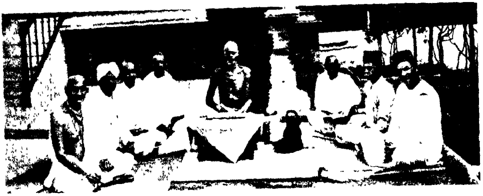
A bright star from horizon of Jainism had vanished in eternity.



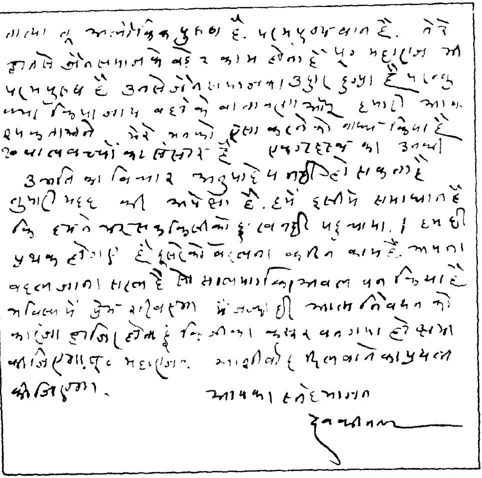
म ब्र आश्रम रौप्यमहोत्सव के समय अध्यक्ष, ट्रस्टी, कार्यकर्ता एवम् उपस्थित अतिथि



म.ब्र आश्रम रौप्यमहोत्सव के समय मानपत्र को उत्तर देते हुए
व्याख्यानवाचस्पति पं श्री. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री



आचार्य श्री सूर्यसागरजी महाराज के शास्त्र प्रवचन में सर सेठ साहब हुकमचन्दजी, पंडित मंडली और त्यागीवर्ग बाएं से दूसरे पं. देवकीनन्दन जी



पं. देवकीनन्दनजी का हस्ताक्षर

पंडितजी का परिवार



स्व प्रा सुमतिचन्द नायक
पडितजी के ज्येष्ठ चिरजीव



डॉ प्रकाश नायक
पडितजी के द्वितीय चिरजीव



पडितजी की बडी लडकी श्रीमती विमलाजी भदौरा उनके पति के साथ

पंडितजी का परिवार



बाएँ से दाएँ डॉ. प्रकाश, डॉ त्रिलोकचन्द, सतीश, सुमतिचन्द, निर्मल, अजित सन १९६५ बम्बई हवाई अड्डा, सतीश को छोडने गए थे।



बाएँ से दाएँ · श्रीमती कुसुम नायक W/o त्रिलोकचन्द, श्रीमती अजना नायक W/o अजित, श्रीमती चंद्रा नायक W/o डॉ प्रकाश, पूज्य माताजी, सतीश, श्रीमती क्षमादेवी W/o सुमतीचन्दजी, श्रीमती सुलोचना W/o निर्मल, बहन राजकुमारी W/o डॉ इगनचन्दजी और बच्चों के साथ

मेरे माता पिता

डॉ. सतीश कुमार नायक

जब पिताजी शांत हुअे, उस समय मैं आठ साल का था ! पिताजी के बारे में बहुत कुछ याद नही है ! मगर कुछ बाते अभी भी मन पर ऐसे लगी हैं जैसे यह कल की ही बात है ! मुझे बडी अच्छी तरह से याद है कि १०-११ मई १९५० दादा की तबियत ठीक नही थी। स्वास्थ्य ज्यादह खराब हो गया। वे अस्पताल मे थे ! १२ मई की सुबह सब बच्चो को अस्पताल जाना है ऐसा शाम को घर पर कहा। १२ की सुबह बडी भाभी ने खाना जल्दी ही बनाया। हम लोग ८ बजे खा पीकर निपट गये और एकाध घंटे मे अस्पताल की ओर पैदल घर से निकल गये। भगवान का नाम लेते जा रहे थे ! नाथ मंदिर के पास, घर से करीब १ मील दूर पर, छोटे भाईसाहब घर की तरफ सायकल से जा रहे थे। रात के जगे थे। काफी थके लग रहे थे और दुखी थे। भाईसाहब के चेहरे को देखकर भाभी समझ गयी, दादा शांत हो गये. शांत होने की खबर सुन कर ऐसा लगा, जैसे सारा आसमान टूट पडा। घर का क्या होगा, कैसे निकलेंगे अब दिन-आदि सब विचार मन मे आने लगे। एकदम रोना आ गया। १२ मई का दिन अभी भी कल जैसा याद है।

पिताजी का कमरा पहली मंजील पर था। उनसे ऊपर आना जाना नही होता था। दादा को चाय और तमाखू का काफी शौक था। तमाखू आधीकतर किसी के साथ खाया करते थे। इंद्रभवन में उस समय एक दाढीवाला चौकीदार था। हम सब अुनको महाराजजी के नाम से जानते थे। महाराजजी एक रामायण के बडे पंडित थे और ज्योतिष विद्या का काफी ज्ञानथा। दादा अधिकार चौकीदार के साथ बैठे ज्योतिष विद्या एवं धर्म की बाते करा करते थे। बडे होने पर मालूम पडा कि दादा सेठसे लेकर गरीब तक से और विद्वान से लेकर बच्चे तक से सहज भाव से बात करथे थे। यह पिताजी का एक बडा गुण था। माँ हरवक्त कहती थी - धर्म की या समाज की कठिन बात को सुलझाना और अन्योक्ति के साथ कहना दादा को बडी अच्छी तरह से आता था। कहावते और कहानियों के साथ बात समझाया करते थे। कहावतें और कहानियाँ कहने की आदत माँ में भी थी।

बचपन में मुझे पढाई मे कम रुचि थी, ऐसा माँ का कहना था। दादा मुझे पढने को कहते, तब मैं उनसे यह कहता था कि तुम पढोगे, तो मैं, भी पढूंगा। दादा के न रहने के बाद, शाम को कारजा के दगडे गुरुजी जो कि नसीया मे पढते थे, मुझ को गणित पढाने आते थे। पाँचवी तक मुझ को पढाया। दगडे गुरुजी और मैंने मिलकर गणित पढा। दादा को मालूम था, यह लडका अकेला नही पढेगा। इस के साथ किसी को बैठना पडेगा; नही तो इसका उद्धार नही होगा। दगडे गुरुजी की मेहनत सफल हो गयी। पाचवी के बाद पढाई की रुचि बढ गई।

पिताजी के न रहने के बाद इतना बडा घर चलाना कोई सरल काम नही था। माँ ने पिताजी के साथ रहकर, कठिन समस्या का हल कैसा निकालना समझ लिया था। माँ हरवक्त कहा करती थी कि दादा को पैसे का हिसाब कम ही आता था। घर गृहस्थी का काम माँ ने ही संभाल रखा था। दादा के न रहने के बाद सब भाई बहनों को एक साथ बिना मन मुटाव के साथ रखने का काम माँ ने बडी कुशलता से किया। माँ ने और बडे भाई साहब ने निस्वार्थ रूप से मेहनत की। हम सब बच्चो की पढाई मे कभी कमी नही आने दी। अच्छी शिक्षा पाना यह सब का ध्येय था। उसमे कभी कमी नही की बच्चो की पढाई जरूरी थी, इसी कारण दादा ने इन्दौर की नोकरी की, नहीं तो कारंजा जैसी अच्छी जगह कभी नही छोडते।

मुझे क्रिकेट और फुटबाल खेलने का बहुत शौक था। घर से एक मील दूरी पर हमलोग खेला करते थे। आते आते रात हो जाया करती थी। माँ ने रात को खाने के लिये मना कर रखा था। मैंने कई रातों को खाना नहीं खाया। कभी कभी भाभी ने छुपाकर खाना खिलाया; मगर माँ ने जब तब हो सका रात के समय खाना नही दिया। जैसा समय बदला, वेसे मां भी बदल गयी। बच्चे रात को खाना खाते है, उससे उनको अब फर्क नही पडता, मगर खुद ने सूरज डूबने के बाद अन्न कभी खाया नही, पानी कभी पिया नही।

मां को इस बात का बडा अभिमान था कि उनके सब बच्चे अच्छी तरह पढ गये। प्रोफेसर, डॉक्टर एव इंजिनियर बने। जब मैं बम्बई से आय. आय. टी. पढकर आया, तब मैंने मा से कहा कि मुझे अमेरिका दो साल की पढाई के लिये जाने की इच्छा है। मां की इच्छा न थी कि मै घर से बाहर जाऊं। विदेश में कैसे रहेगा, क्या खायेगा, कौन देखेगा वगैरह सोच कर मना कर दिया। सिर्फ दो साल के लिये जा रहा हूं और मुझे वहाँ भी स्कॉलरशीप भी मिल गयी है, तब मां ने बडी मुस्किलसे अनुमति दी। उसके मन में शंका थी। शायद मैं वापिस न आऊं। दो साल होने के बाद मैंने माँ को लिखा कि मैं पीएच. डी. करना चाहता हू, तीन साल और लगेंगे तब माँ को विश्वास हो गया कि इस को भेजकर अच्छा नहीं किया। पढाई के लिये ना कभी नही करती, मगर छोटा लडका घर के बाहर है, यह अच्छा नही लगता था उनको। जब मैं सात साल बाद, १९७२ में वापस आया, तब बहुत खुश थी, मगर हरवक्त यह कहती थी कि मैं झूठ बोलकर बाहर गया। घरपर आठ और बच्चे थे, उन की चिंता से ज्यादह चिंता मेरी करती थी। मुझे "छटा" लडका है, यह कहती थी। वैसे मेरा छटवा नंम्बर भाईयो मे है। कानपुर मे मेरे साथ रही और घर जमाने की इच्छा पूरी करली।

माँ का कारंजा के लोगो के प्रति बडा स्नेह और लगाव था। सप्ताह मे दो–चार बार कारंजा की कोई न कोई बात निकल आती। माँ का तात्याजी एवं महाराजजी के प्रति विशेष स्नेह था। माताजी का असर हम सब भाई बहनो पर भी पडा। आज कारजा छोडकर ४० साल हो गये, मगर कारजा हम लोगो के लिये वही है, जो आजसे ४० साल पहले था। हम भाई बहन जब भी मिलते हैं, कारंजा की बात जरूर होती।

माँ की कुछ चीजे मैं कभी नहीं भूल सकूंगा। मा को खाना बनाने की बहुत रुचि थी। खाना अपने हाथ से और बडे प्रेम से बनाती थी। खाने मे Variety बहुत थी। हम लोग जब भी सनावद आते थे, तो माँ के हाथ की चटपटी दाल भाजी ही खाया करते थे। उन का खाना बहुत ही स्वादिष्ट बनता था। माँ का दिनभर का कार्यक्रम पक्का था। सुबह पांच बजे उठकर चाय करती थी। नहा धोकर मंदिर जाती और चाय पीती। अगर कोई बच्चा परेशान न करता तो थोडी–सी झपकी ले लेतो थी खाना दस के पहले नही बनाती थी। मा अष्टमी व चतुर्दशी को एकाशन–उपवास करती थी। इसीकारण उन का स्वास्थ्य अच्छा था।

मां अपनी पेटी को बडी संभालकर रखती थी। अगर पेटी खोलने का काम हो, तो मा अधिकतर पेटी रात को दो बजे के आसपास खोला करती थी। पेटी मे हर चीज बडी अच्छी तरह से संभालकर रखती। हर डिब्बे के लिये मा ने पुराने कपडो की थैलियां बनाकर रखी थी। चिठ्ठी भी मां अधिकतर इसी समय पर पढती थी। हर चिठ्ठी कम से कम दो या चार बार पढती थी। मां को वाद विवाद करना अच्छा लगता था। हर दो चार मिनिट में कोई न कोई कहावत बोल दिया करती थी। माँ को नाती–नातिनों से बात करने में बडा मजा आता था। किसी भी विषय पर चर्चा कर लेती थी। नातिने दादी को बडा "माडर्न" समझती और दादी को "अंग्रेजी" शब्दो का प्रयोग करना अच्छा लगता। जब शब्द का प्रयोग गलत हो या उच्चारण ठीक न हो, तब तब सब बच्चे लोग दादी का मजाक करते। दादी ने मजाक को बुरा कभी नही माना; बल्कि उनको अच्छा लगता था। कभी किसी बच्चे पर आवाज बढाई हो, ऐसा मुझे बिलकुल याद नही। दादी की दो–तीन दर्जन नाती–नातिनें थीं, मगर दादी ने सबको एक समान देखा, प्यार किया। कोई खास लाडला या लाडली नहीं थी, मगर दादी सभी की लाडली थी।

नौकरी और पेशे के कारण सब भाई बहन अलग अलग शहर में बसे। माँ का एक जगह दिल हीं न लगता हर बच्चे के पास जाकर अपनी आँखों से देखती थी। वह आराम से है या नहीं। माँ को सनावद कारंजा जैसा लगा। छोटा गाँव, प्रेमी और स्नेही समाज, मंदिर और खाना पकाने की सुविधा, सभी आसान था। साल मे तीन चार महीने बाहर रहती थी, मगर उनका मन सनावद में ही था मा "दूर" घर जाती थी। बच्चों को सुखी देखकर अच्छा लगता था।

१९८४ में माँ की तबियत कैसे खराब हुई यह तो किसी को नही मालूम। तबियत की खराबी के कारण माँ का वजन काफी कम हो गया। हम लोगो को बताया कि तबियत बहुत खराब है। एक बार देख आओ। हम लोग १९८४ के दिसम्बर में आये थे। तब माँ का स्वास्थ्य एकदम ठीक था। माँ इस समय भिलाई में थीं! मां की तबियत देखकर आसू आ गये। तबियत तो खराब थी ही, वजन भी कम हो गया था, मगर उनके चेहरे पर से रोशनी नही गयी: अभी भी वह उतनी ही सतर्क थी, जितनी पहले थी। आखो में निराशा नही दिखी। कमजोर भर थी। राजकुमारी, डा. साहब, प्रकाश भाईसाहब, भाभी सभी लोक तन मन धन से सेवा कर रहे थे। चूंकि तबियत में बदल नही हो रहा था। इससे सब निराश हो गये थे। परेशान थे। डाक्टरी कुछ काम नहीं आरही थी। मैने मा से पूछा, "बम्बई चलकर अच्छे डाक्टर को दिखा दें, तो अच्छा रहेगा।" मा के मन मे कुछ शंका हुई और बोली, अगर तेरी यही इच्छा है, तो मै चलूगी।" बम्बई मे उसका इलाज अच्छा हुआ। और तीन सप्ताह मे मा की तबियत में परिवर्तन हो गया। खाना पीना भी शुरु कर दिया। बम्बई मे तात्याजी भी आये हुए थे। मा को उनसे मिलकर बडा समाधान हुआ। तीन सप्ताह तक हमको और मेरे साले साहब भूपेंद्र भंडारी एव हेमलता भडारी को सेवा करने का अवसर मिला। यह मेरे और प्रेमलता के लिए बडे भाग्य की बात थी।

बम्बई से मा की सनावद जाने की इच्छा थी। मेरे जबरदस्ती करने पर वे भिलाई वापस जाने को तैयार हो गई। भिलाई मे थोडा चलना फिरना और खाना शुरु हो गया! जब मैने भिलाई छोडा, मुझे पूरा विश्वास था कि तबियत ठीक है और कुछ समय मे अच्छी तरह से ठीक हो जायगी! मगर भाग्य में कुछ और ही लिखा था। अतिम दिन सनावद में निकले ऐसी मा की तीव्र इच्छा थी। प्रकाश से जबरदस्तो करके सनावद आ गयी। आगे क्या होने वाला है, इसका उनको ज्ञान हो गया था।

आज हम सब भाई बहनों में जो प्रेम और आत्मीयता है, उसका कारण मां थी। मा एक लोह चुंबक थी और हम सब लोहा थे। घर को अपने सामने बनाया रखा। मां के कारण आना जाना काफी रहा। दूर रह कर भी सभी लोग पास थे। दादा की कमी कभी महसूस नही हुई। माँ ने यह सब कैसे किया कहना मुश्किल है।

बेटा, अब तो समाधिमरण सुनने का समय है।

सौ. विमला भदौरा
(टीकमगढ)

पू. पिताजी का स्वभाव बहुत ही दयालु व शांत था। पिताजी के सम्पर्क में जो भी आता था, उनकी मृदुवाणी के कारण उसकी पिताजी के ऊपर अपार श्रद्धा हो जाती थी। पंडितजी के प्रवचन सुनने के लिए अत्यधिक संख्या में लोग उपस्थित होते थे। उनकी वाणी कर्णमधुर होती थी! वे अपनी विलक्षण प्रतिभा के

कारण गूढ विषय को भी इतनी सरलता से प्रस्तुत करते थे कि एक सामान्य श्रेणी के व्यक्ति के लिए भी विषय वस्तु सरल व रसपूर्ण होती थी। पर्यूषण पर्व पर आपको कई स्थानों से आमंत्रण प्राप्त होते थे। वे जहाँ भी प्रवचन देने गये, वहाँ से बिदाई में अपने लिये कुछ भी नही लेते थे। जो कुछ भी लिया वह आश्रम के लिए दान स्वरूप होता था। वे मानपत्र लेने का भी विरोध करते थे। उन्होंने अपना सपूर्ण जीवन परोपकार मे ही व्यतीत किया। पिताजी तीसरी बार बीमार हुए, तब इन्दौर के अस्पताल मे भर्ती रहे। प्रतिदिन सुबह-सायं वे भक्तामर पाठ एवं भजन सुनते थे। अतिम क्षणो में पिताजी ने मुझसे (पडितजी की बडी लडकी) कहा, "बेटा, अब तो समाधिमरण सुनने का समय है। तुम मुझे समाधिमरण सुनाओ।" समाधिमरण सुनते समय पिताजी ने दोनों हाथ जोडकर सभी से अन्तिम बिदा ली।

पिताजी के स्वर्गवास के बाद उनके दोनो बडे पुत्रो ने अपने सभी छोटे भाई-बहनो को अच्छी से अच्छी उच्च शिक्षा दिलाई एव सभी प्रकार की जिम्मेदारियो का निर्वाह किया। आज भी हम सभी यही मानते हैं कि पूज्य पिताजी शुभाशीर्वाद एव उनकी छत्र छाया में ही हम सभी हर प्रकार फलीभूत हो रहे हैं।

मेरे ससुरजी

डॉ. राजेंद्र जैन
(सागर)

मेरे भाग्य में शायद अपने ससुरजी को देखना नही लिखा था। परंतु उनकी गरिमा तथा आदर्श आज हमारे लिए अनुकरणीय है। ऐसा लगता है कि स्वर्गीय पडितजी ने अपने समस्त जीवन का निचोड मेरी सास पूजनीय माताजी सुमित्रा देवी एवं नायक परिवार में डाल दिया है। आज स्व. पडितजी एवं माताजी दोनो हमारे बीच नही हैं, परतु उनके आदर्श नायक परिवार एव मेरा निबुआवाला परिवार हमेशा हमेशा ही दिल में रखेगा।

विद्याधन ही सबसे अच्छा धन है।

डॉ. सरोज जैन
(सागर)

जिस समय पिताजी का स्वर्गवास हुआ था, उस समय मेरी उम्र केवल ४ साल की थी। कुछ धुंधला ख्याल आता है कि वे मुझे बहुत स्नेह करते थे। वे अक्सर मा से कहते थे कि जब मैं इस दुनिया मे नही रहूंगा तब तुम यह ख्याल रखना कि बच्चे पूरी शिक्षा ग्रहण करे। क्योंकि 'लक्ष्मी बहुत चचल है। उसका ठिकाना नही है। परतु विद्या व्यक्ति के पास हमेशा रहती है। इसे तो चोर भी चोरी करके नही ले जा सकता। विद्याधनही सब से अच्छा धन है।" यही उद्देश्य मैं ने अपने जीवन में रखा और इतनी शिक्षा ग्रहण की। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आज अपने बच्चोपर भी संस्कार कर पा रही हूँ। मैं इस कार्य के लिए प. पू. १०८ श्री समंतभद्रजी महाराज की चिरऋणी हूँ। जिनके शुभाशीर्वादो की छाया हमारे परिवार पर अन्त तक बराबर बनी रही।

परिशिष्ट–१

परवार सभाका जबलपुर अधिवेशन सन १९३८

(समाजनौका के लिए दीपस्तंभ स्वरूप पं. जी का समर्थ मार्गदर्शन)

अध्यक्ष–पं. देवकीनन्दनजी

(ले. : पं. जगमोहनलालजी शास्त्री कटनी)

२७–२८–२९ दिसंबर १९३८ में परवार सभाका महत्त्वपूर्ण १४ वां अधिवेशन था। पूज्य पं. देवकी-नन्दनजी उसके अध्यक्ष थे। परवार जाति के नवयुवकों की जिन्दादिली का इतिहास यदि इस अधिवेशन को कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।

सामाजिक परिस्थिती

समाज की गिरी हुई आर्थिक अवस्था एव उसके धनिकों द्वारा समय और समाज का ख्याल न रखकर देश काल के विरुद्ध किए जाने वाले दान के प्रतिकूल जो एक प्रतिक्रिया के मात्र उत्पन्न हो गये हैं, उसका प्रतिबिम्ब इस अधिवेशन में देखने को मिलता है।

पुरातन और नूतन विचारधारा की चरमसीमा

यह अधिवेशन पुरातन एवं नवीन विचारधारा का अभूतपूर्व संगम था। समाज हित के लिए संघर्षमय था। बिकट समस्या सामने देखकर सब चिन्तित थे कि इस अधिवेशन में क्या होगा ?

देवगढ़ में गजरथमहोत्सव समर्थक ललितपुर आदि बुन्देलखण्ड की एक दृढ पार्टी आयी थी। और नागपुर आदि की ओरसे उसे व्यर्थ व्यय के रूप मे विरोध करनेवाली तथा इस धनव्यय के प्रवाह को समाज व शिक्षाहित मे मोड देने वाली पार्टी, दोनों का कुरुक्षेत्र में कौरव–पाण्डव पक्ष की तरह जमाव था। पूरा समाज आन्दोलित था। संघर्ष चरम सीमा पर था, जो साम, दाम, दण्ड से अपना–अपना वर्चस्व स्थापित करने पर दृढता के साथ कटिबद्ध था।

पं. जीकी साहस पूर्ण नीति से समाज और सभा की सुरक्षा

ऐसे बिकट समय पर समाज के एक मात्र प्रिय तथा प्रतिष्ठित प्रभावी लोकनेता पू. पंडित देवकी-नन्दनजी के कुशाग्रबुद्धि तथा बुद्धिकौशल्य के दर्शन अध्यक्षपद से अभूतपूर्व सफलता के साथ दर्शनीय थे। उन्होंने अपनी साहसपूर्ण नीति से उस संघर्ष से सभा को बचाया।

ये तीन दिन समाज के उभयपक्ष के सज्जनों की सक्रियता व संघर्ष से परिपूर्ण थे। इनके मध्य टिकने की कल्पना असंगतसी दीखती थी, पर अध्यक्ष पूज्य पंडितजी महाभारत में श्री कृष्णजी की भूमिका की तरह उसे शमन की प्रक्रिया बडी शान्ति और धैर्य के साथ बिना किसी अकुलाहट के अपनाए थे।

बाहिर से व्यवस्थितरूप से आए हुए उभयपक्ष के प्रतिनिधी २९६९ थे। एक एक वोट की कीमत उभय पक्ष को थी। नियमबाह्य किसी व्यक्ति का प्रतिनिधित्व स्वीकार नही किया जाता था। पहले से ही जमाव था और २६ ता. को ही लोग अध्यक्ष पं. जी के आनेकी क्षण–क्षण प्रतीक्षा कर रहे थे। रात्री ९ बजे पंडितजी पधारे तो जनता में पूरी समाज में, यह खबर बिजली की तरह फैल गई।

अध्यक्ष पंडितजी का जुलस और प्रथमदिन की कारवाही

२७ ता. प्रथमदिवस। बहुत बडे समारोह से नगर में अध्यक्ष का जलूस निकाला गया। साथ ४-५ हजार लोगों का रेला था। २ घंटे तक यह समारोह चलकर बोर्डिंग आया, जो अध्यक्ष का निवासस्थान था।

दो बजे दोपहर में कविवर दिनेशजी B. A. द्वारा मंगलगान व स्वागतगान के बाद कार्यवाही प्रारम्भ हुई। स्वागताध्यक्ष के भाषण के बाद अध्यक्ष महोदय का भाषण हुआ। आपने कहा, "समाज को अपनी शक्ति संघर्ष में खर्च न करके मिल जुल कर उसके उत्थान मे लगानी चाहिए। समय द्रुत गति से परिवर्तित हो रहा है और हमे और आपको समय के साथ चलना है; पर हमारी संचालन नीति धार्मिक मर्यादा को भंगकर नही होना चाहिए; तभी समाज उन्नत बन सकेगा।" पं. जी का भाषण मुद्रित है, जो आप पढ सकते है। उसमें आप उनके समाज सेवा के विचारो से पूर्ण परिचित हो सकेंगे। यह भाषण तथा गजरथ सम्बन्धी विवाद का समाधान दोनों उनके आन्तरिक हृदय की धार्मिकता के साथ समाजोत्थान के उन्नत विचारों से ओतप्रोत हैं।

मुद्रित भाषण के साथ साथ उनका मौखिक भाषण भी चलता था; उसमे ही उनकी स्वाभाविक वाणी तथा; हृदय की संवेदन-शीलता के दर्शन होते थे। उनके मौखिक भाषण के कुछ नमूने यहा प्रस्तुत है, पाठक पढे।

"भाईयो! आप सबको आलस्य त्यागकर समाज हित मे लगना चाहिए। आलसी और नपुसक संसार में कभी उन्नति नहीं कर सकते : एक अवसरपर कुछ आलसी सडक के किनारे जामून के वृक्ष के नीचे पडे थे। काम काज की बात आवे तो एक दूसरे पर डाल देते थे। आलस की भी हद होती है रास्ते से जानेवाले एक भले राज कर्मचारी को बुलाया और हाथ के पास जमीनदार पडे हुए जामून को मुहँ मे डालने के लिए कहा। उसने जामून तो डाले थे। पर थप्पड मारकर कान पकडकर खडा किया और घोडागाडी मे जोत दिया और न चलनेपर हण्टर भी लगाये। इसी तरह प्रमादी बनोगे तो समय हण्टर लगाएगा। वह बहुत द्रुत गतिसे बदल रहा है। आप समय की दौड के अनुसार न चलेगे, तो उसमें पीछे रह जायेंगे, तब पछताना होगा।"

"आपमें धर्मप्रेम है। आप दान भी करते है। प्रतिष्ठाएँ करते है। ये सब अच्छी बातें है। पर समाज-हित मे असमर्थ भाईयों को अभीतक अपने भाव और शक्ति का उपयोग नही किया। गरीबो की सेवा से 'दीन बन्धु का' प्रशस्त पद पाओगे। अवतारी पुरूष माने जाओगे। 'अव' का अर्थ होता है नीचे गिरा हुआ उस को तारो, उठाओ तो 'अवतारी जन' बनोगे। आपका मन तो समाजसेवा का है, पर अब स्वयं कुछ न कर दूसरोपर डालते आये हो, अब इससे काम न होगा।"

"यह कहने से काम न चलेगा कि, साप के बिल मे हाथ तुम डालो और मै मन्त्र पढता हूं। बनिया हो तो काम बनाओ, बनिया शब्द का तो यही अर्थ है। "**बनावे सो बनिया।**" जबलपूर के इस गोलबाजार में लखपतियो का गोल इकठ्ठा हुआ है। सब समाज की यह गोल कॉन्फ्रेस है। कुछ 'गोल' (संगठन) का काम करे।

"परवार सभा को सब अपना योगदान करे, तो वह समाजोत्थान के कार्य करने में सक्षम हो सकेगी। मै २२ साल से जबलपुर आ रहा हूं। आप सबका आदर है; पर आदर तो यथार्थ तब माना जायगा, जब मेरे द्वारा बताए गये मार्गपर भी चलोगे। मैं आपसे निवेदन करता हूं कि, मैं दुर्बल हूं। एक पण्डित हूं। आप मुझे बड़ा मानते रहे, आदर देते रहे, पर अब केवल इससे काम न चलेगा। मुझे सहयोग दे। मुझे सहयोग चाहिए आदर प्रशंसा नही। तभी मै आप सबकी सेवा कर सकूगा।"

इतना कहकर अपना भाषण पं. जीने समाप्त किया। इस बैठक में समाजोत्थान के अनेक प्रस्ताव पारित हुये। नव युवकों में काफी जोश था।

सब्जेक्ट कमेटी के लिए २१ सदस्यो का चुनाव हुआ। उसमें सिवनी अधिवेशन के प्रस्ताव के अनुसार विचार करनेका प्रस्ताव आया। वह प्रस्ताव था– "समाज के बालको को उद्योग की शिक्षा प्राप्त हो सके, इसलिए एक औद्योगिक संस्था का निर्माण करने के विषयसंबंधी" प्रस्ताव के पक्ष में अनेक सुझाव आये। परस्पर विचार हुआ। काफी समय इसी वाद–विवाद में चला गया।

अध्यक्ष पद से पू. पं. जी ने कहा, "आप चन्दा इकट्ठा करके इसकी रूपरेखा बनावे। यदि धन आपकी योजनानुसार एकत्रित हो जाय, तो तदनुसार योजना कार्यान्वित करे। यदि इतना धन न हो, तो छात्रों को संकलित धनराशी से छात्र वृत्तिया दे कर देश के विविध औद्योगिक संस्था में उन्हें भेजें।" सर्व सम्मति से इस रूप में प्रस्ताव पास हुआ और समय अधिक हो जाने पर सभा स्थगित की गई।

दूसरे दिन की कारवाही

दूसरे दिन २८ ता. को पुनः बैठक हुई। पं. जगन्मोहनलालजी द्वार मंगलाचरण करने के पश्चात अध्यक्ष ने गत अधिवेशन के बाद समाज के जिन प्रमुख महानुभावों का वियोग हो गया है, उनके लिए शोक प्रस्ताव रखा।

तत्पश्चात् संस्थाओ के सगठन संबंधी प्रस्ताव मन्त्रिजी ने प्रस्तुत किया। यह निश्चय हुआ कि सभी वर्ग के सज्जनो की समिति गठित की जाय। इससे समाज का कम व्यय में जादा काम होगा। पूज्य वर्णीजी का भी पत्र इसी विषय का था। वह पढा गया। उन्होने लिखा कि मध्यप्रान्त और बुन्देलखण्डकी ७ संस्थाएँ चल रही हैं। उनको सगठित करने के लिए एक प्रबधकारिणी बनायी जाय। उसमें परवार, गोलापूर्व, गोलालारे आदि प्रमुख सभी जातियो के श्रीमान् और विद्वान् लिये जाय। यदि आप इसमें सफल हुए, तो भारतवर्षीय सभी संस्थाओ का भी संगठन सम्भव हो जायेगा। इनका एकीकरण करे तथा आर्थिक कठिनाई को दूर करने का प्रचार करके प्रस्ताव को कार्यान्वित करने की पांच व्यक्तियो की समिति बनायी जाय। कुछ संशोधन के साथ प्रस्ताव पारित हुआ। ४ था प्रस्ताव महावीर जयन्ति का पास हुआ।

मुनि विहार प्रतिरोध निवारण प्रस्ताव भी पारित हुआ इसप्रकार प्रस्ताव पास हुए।

बाबू कस्तूरचंदजी वकील नागपुर के प्रस्ताव पर विधवा सहायक फण्ड की स्थापना हुई और ९००० के करीब चन्दा हुआ।

गजरथ का प्रस्ताव पक्ष–प्रतिपक्ष की बहस के कारण १०॥ बजे रात से ५ बजे प्रातः तक चला। इसमें अध्यक्षमहोदय पं. देवकीनन्दनजी का मौलिक, मार्मिक भाषण हुआ। अन्त में सब ने एकमत से अध्यक्ष महोदय को एक मुखिया चुना, जो फैसला वे देंगे, उसे दोनों पक्ष बिना किसी विरोध के स्वीकार करेंगे। परवार बन्धु मासिक के सम्पादक पं. जगन्मोहनलालजी व सवाई सिंघई धन्यकुमारजी बनाये गये। नियमावली–संशोधन, बजट आदि अनेक प्रस्ताव हुए, जो यहा प्रासंगिक न होने से नही लिखे गये हैं। जनरल अधिवेशन मे गजरथ के प्रस्ताव आनेपर सब्जेक्ट कमीटी के प्रस्तावानुसार अध्यक्ष पं. देवकीनन्दजी पर फैसला सौपा गया।

पं. जी ने इस प्रस्तावपर बोलते हुए कहा,

"बन्धुओ! आपने बहुत बड़ा भार मेरे कन्धोपर डाल दिया है। आप इसका ख्याल न करे कि मेरे द्वारा जो निर्णय हो उसे आप मान्य ही करें तथापि मुझे हर्ष है कि समाज व धर्म की रक्षा को हमारे युवकों ने

स्वीकार किया है। मैं इसका आभार मानता हूं। एक गाडीको जोते गये दो घोडे यदि एक दिशा में समानरूप से न चले, तो गाडी की क्या हालत होगी? विचार भिन्न होना बुरा नही है, तथापि लक्ष्य एक हो। बुद्धि भिन्न-भिन्न लोगो में भिन्न-भिन्न हो सकती है, पर उद्देश्य भेद न होना चाहिए वह एक हो तो विचारों में सामंजस्य बैठ जायगा। आपने मुझे इस काम के लिए चुना वह आपकी बडी भारी बात है। दो लडने वाले एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझ ले, तो झगड़ा नही हो सकता। यही तो जैनधर्म का अनेकान्त वाद है। जीवन में ऐसे-ऐसे विरोध के अवसर आते है कि जिन में हमे अपने व समाज हित के लिए अपने-अपने आग्रह को छोड़ना पडता है। कईबार कई बातो में प्रतिक्रिया का भाव छोड़कर आगे को बढना पडता है, तभी समाजोत्थान होता है।

आपने अपने विरोध के विष का प्याला पीने को मुझे बाध्य किया है। मै इसे आपके आग्रह से पीता हूं पर दवाई के साथ। अब आप सब के मन में पारस्परिक प्रतिक्रिया के भाव बिलकुल न रहे। यदि मै कुछ कर सका तो अपने को पुण्यशाली मानूगा।

मैने सब्जैक्ट कमेटी में पूरी ताकत लगाई, पर आपने मेरी नही चलने दी और गले मे यह हार पहिना दिया। अब आपने मुझपर जो बात सौप दी है, उसके बाद आप विरोध का बिगुल न बजाना। यहा आपने हरिश्चन्द्र कवि का यह श्लोक पढा

लब्धात्म-लाभाबहुधान्यवृध्यै।
निर्मूलयन्ति घननीर सत्वम॥

पंच का फैसला कैसा हो? जो परोपकारी हो, जिसका भाव और भाषा प्रेम पर उपकार मे लगा हो। जिसका चरित्र स्वयं निष्कलंक हो, वही पच दूसरो की कलह दूर कर सकता है।

अन्त में वीर प्रभु को नमस्कार करके मै इस को अपने माथेपर रखता हूं। जयघोष पूर्वक सभा विसर्जित हुई।

परिशिष्ट २

श्रीमान व्याख्यान वाचस्पति पं देवकीनन्दनजी सिद्धांतशास्त्री

(अध्यक्ष श्री भारतवर्षीय दि. जैन परवार सभा स्थान-जबलपूर)
(१४ वा अधिवेशन दिनांक २७-२८-२९ दिसंबर १९३८)

मंगल-मय मंगल-करण वीतराग-विज्ञान।
नमो ताहि जाते भये अरहंतादि महान्॥

श्रीमान सम्माननीय सभापति महोदय श्री स्वागत कारिणी सभा तथा प्रतिनिधिगण, सभासदगण और सज्जनों तथा बहिनों!

आज आप सभी महानुभाव समाज के इस केन्द्रभूत स्थान जबलपूर नगर में धर्म और समाज की शुद्ध सेवा के पवित्र भावों को साथ में रखते हुए उपस्थित है यह देखकर मुझे परम हर्ष होता है।

प्रारंभिक

यह स्थान हमारे संगठन प्रेमी व सभा के सरक्षक बुजुर्ग स्व० माननीय स. सि. गरीबदास जी की जन्म-भूमी तथा कर्मभूमी है। इस सभा का जन्म श्रीमान के कर कमलों से श्रीमान माननीय वकील कन्छेदीलाल जी सा. के मंत्रित्व में हुआ है। यहा की पंचायत का सगठन सुसंगठित तथा प्रभावशाली रहा है। विशेष विचार-शीलता के कारण वृद्ध और युवक परस्पर में प्रेम से अच्छे रूप में संगठित है। यही कारण है कि आज का यह अधिवेशन यहा संपन्न हो रहा है। यदि मेरा अनुमान ठीक है तो मै कह सकता हू कि बहुभाग सब स्थानों के जाति बन्धुओं की यहाँ उपस्थिति है। इसीलिये आज का समय शातचित्त से समाज के रोगो का निदान तथा उपाय योजना सबंधी सागोपाग विचार करने के लिये सर्वथा योग्य है। परतु जहां हमे आशा और हर्ष की उमंगें उठती है वही पर एक आश्चर्य पैदा होता है। वह यह है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण अधिवेशन के लिये मुझ जैसे साधारण से साधारण व्यक्ति को सभापति निर्वाचित किया है। अच्छा होता यदि आज के महत्वपूर्ण समय मे महत्वपूर्ण विकट घटनाओ को हल करने के लिये किसी दूसरे शक्ति सामर्थ्य संपन्न प्रभावशाली व्यक्ति के ऊपर यह भार सोपा जाता। परन्तु बार बार प्रार्थना करने पर भी उसकी सुनाई नही हुई। अस्तु मै तो आपकी आज्ञा पालन को कर्तव्य समझता हूं तथा आप सभी के सहयोग के भरोसे पर ही इस जोखम भरे पद को स्वीकार करता हूँ। तथा श्री वीर प्रभू के चरणों मे प्रार्थना करता हू कि वह हमे ऐसा बल आदान करे कि जिससे हम सब अपना कर्तव्य पालन कर सकें।

हमारी परिस्थिती

बन्धुओ! सब से पहिले हमे अपनी बिकट परिस्थिति का विचार करना है हमारी समाज शहरो की अपेक्षा ग्रामो में अधिकतर निवास करती है और वह भी देश व्यापी आर्थिक संकट से अछूति नही है। हमारा व्यापार साहुकारी, बजाजी, देन लेन, मालगुजारी और कृषी आदि का है परन्तु काल चक्र के आक्रमण से उन सब की परिस्थिति उत्तरोत्तर अधिकाधिक बिगडती ही चली जा रही है। व्यापार के नष्ट होने से आजीविका अत्यत कठिन बन गई है। ऐसी अवस्था में हम कितना भी चाहे शांति कायम नही रह सकती, यह हमारा सहारक रोग कोने कोने में फैला हुवा है।

आर्थिक दृष्टि

हम पहिले से आपसी तू तू मैं-मैं मे फसे ही थे; परन्तु उसमे पहिले समय में आर्थिक संकट की जोड नही थी आज आर्थिक कष्ट भी मिला हुवा है। हमने ज्ञान का सहारा तो पहिले ही से छोड दिया है। लक्ष्मी जी के सहारे पर नाचने वाले हमारे लिये लक्ष्मी जी के इस वियोग ने बडी आकुलता पैदा की है। हमारा यह व्यापक सकट शायद कुछ श्रीमानो को न सताता हो, परन्तु हमारे उन गरीब भाइयो के लिये बडा ही भयकर है, जिनके पास पूजी नही है और आवश्यक ज्ञान नही और श्रम करने की आदत नही है। कुछ प्रसंग मेरे स्वय के देखे हुये है, जिनके स्मरण मात्र ही से रोमाच उत्पन्न होते है। मेरे समान आप भी इन अनुभवों से खाली न होंगे यह हमारी आर्थिक दुरवस्था का हाल है। अब हम अपनी धार्मिक व सामाजिक परिस्थिति की तरफ झुकते है।

धार्मिक दृष्टि

धर्म का मूल आचार्यों ने समीचीन श्रद्धा, ज्ञान, चरित्र की एकता मे बताया है। आर्थिक परिस्थिति का चित्रण तो हमें सहज था परन्तु धार्मिक परिस्थिति का चित्रण सहज सुलभ नहीं है। फिर भी वह करना अत्यंत उपयुक्त है। श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र की समृद्धि के जो जो आवश्यक साधन आचार्यों ने बताये हैं, उनकी ओर

अपना बहुत कम ध्यान है । जिन मंदिर, शास्त्र भंडार आदिक धर्म के जो आयतन है उनकी और अपनी उपेक्षा सी हो रही है । जैन साहित्य जिसके बल पर ही जैन धर्म टिका हुवा है, उसकी रक्षा अब भी केवल पूजा करके ही की जाती है । उसके भीतर भरे असली भाव का मनन, अध्ययन, तथा प्रकाशन आदि की ओर अपनी दृष्टि बहुत कम है । भारत के दुर्भाग्य से कुछ ऐसे शिथिलाचार के साधन यहा पर निर्माण हुये और होते जा रहे है, जिनका हमारे चारित्र के ऊपर बडा बुरा परिणाम हो रहा है। खान–पान की शुद्धिमें भी काफी अंतर पड रहा है ।

सामाजिक दृष्टि

हमारी सामाजिक अवस्था भी समाधानकारक नही है, जिसकी हमें आज अत्यंत आवश्यकता है । उस संगठन को हम दिन प्रतिदिन भूलते ही जा रहे है । जगह २ पार्टीबंदी हैं । कलह भी बढने जा रहे है । आपसी वैमनस्य ने भी अपना क्षेत्र बढा लिया है । जो धर्मायतन हमारे सगठन के लिये बुजुर्गो ने निर्माण किये और कराये वे ही स्थान आज हम विचार की सकीर्णता से पक्षोपपक्ष के निर्माण के लिये समुचित समझ रहे हैं । इसके अलावा समाज में कुछ ऐसे रीतिरिवाज है जिन में अत्यधिक खर्चीलापन है, जिनके कारण हमारी कमाई का असली भाग उसकी संपन्नता में खर्च हो जाता है । अनेक वर्षो के गहरे सस्कार से हमारी मनोवृत्ति भी ऐसी हो गई कि हम उसे छोडना नही चाहते या योग्य परिवर्तन करने में हम अपने अरमान का अनुभवन करते है । हजारो गृहस्थ इसी खर्च से बेरोजगार हो गये है । हजारो गृहस्थ इसी के कारण चिंतित है और हजारो कन्यायें इसीके कारण अच्छे घरों मे नही परनाई जा सकती है और हजारो तरूण इन्ही खर्चीली रीति रिवाजो की विषमता से विवाह संबंध से वंचित रहते हैं । इन परिस्थितियो की बिकट समस्याओ के सुलझाने के लिये हमारे नेताओ का ध्यान कुछ काल से आकर्षित है और जगह जगह ज्ञान के प्रसार के लिये उन्होने विद्यालय, पाठशाला, कन्याशाला, हाईस्कूल, बोर्डिंग, आश्रम, श्राविकाश्रम, ग्रन्थमालाओ का प्रकाशन, समाचार पत्रों का प्रकाशन आदि संस्थायें तथा सभा और संघ स्थापित किये है । हमारे धर्मबंधु उनका संचालन करते है । दान देते है । स्वार्थत्याग करते है. परन्तु खेद है कि दृष्टिपरिवर्तन की आवश्यकता का इन उपायो से हमारी जैसी उन्नति चाहिये वैसी उन्नति नही हुई है यदि कारण ढूढा जाय तो हमारी दृष्टि मे केवल यह है कि अभी हमारी मनोवृत्ति परिवर्तित नहीं हुई है । जब तक हमारी मनोवृत्ति न बदलेगी, जब तक हम धर्म सेवा का महत्त्व न समझेंगे तब तक हमारे सबही प्रयत्न असफल रहेंगे । आज हम पडौसी की फिकर नहीं करते, आज हम समाज के अभ्युदय में अपने अभ्युदय का अनुभव नहीं करते है । आज हम अपने धर्म के विकास को केवल परलोक सुधारने का साधन समझ रहे हैं । जहां हमारे आचार्यों ने आत्मोन्नति के साथ साथ इहलोक और परलोक सफल बनाने का साधन बताया है । हम शास्त्रों को वकील के रूप मे देख रहे हैं, जज के रूप में नहीं । उपदेश देने की चीज समझ रहे हैं, स्वयम पालने की नहीं । हमारे धर्म में आत्मविकास का जो वैज्ञानिक साधन बताया है उसकी हम साधना नही करते, केवल कहते ही है । यदि इस दिशा में मनोवृत्ति बदल जावे कि हम सब के जीवन मे हमारा जीवन है, भाईयो के कल्याण मे हमारा कल्याण हे, आत्मोन्नत्ति भी हमारा साध्य है, दूसरे के सुख दुख अपने निजी सुख दुख है, तो आप जो भी कर रहे है, और जो भी करेंगे उन सब कार्यों की काया पलट हो सकती है । आज जो अकर्मण्यता और हताशवृत्ति दिख रही है वह सब कर्मण्यता ओर उत्साह के रूप में परिवर्तित हुई दिखने लगेगी । इस वृत्ति परिवर्तन के बिना हम जीवन की ओर नही जा सकते इसलिये इसके बदलने के लिये ही हमें मिल जुलकरप्रयत्न करना चाहिये ।

यह काम कहने को तो सरल है परन्तु करना कठिन है । इस की सिद्धि के लिये संयम, तप और त्याग की जरूरत है ।

व्यक्तिविकास से समाजविकास

हमारी मानसिक शारीरिक शक्तियों का विकास व्यक्ति-विकास में कारण पड़ता है और व्यक्ति-विकास ही समाजोन्नति का मूल है (मानसिक और शारीरिक शक्ति का संचय संयम से होता है) इन्द्रियों की लोलुपता जिसके रास्ते हमारी जीवन-शक्ति दुर्बल होती है, उसका सबसे पहिले त्याग करना चाहिये। जब तक हम अपनी लोलुपता को वश में न करेंगे तब तक दूसरे से कभी नही करा सकते हैं। **भोगोपभोग की सामग्रियोंसे मन अतिरंजित होता है। अविचारी अकर्मण्य बनता है। अपने स्वार्थ के सिवाय वह दूसरे किसी की परवाह नहीं करता हैं, कायर बनता है। ऐसे लोगों की बाहुल्यता से ही समाज पतित कहलाता है।** किसी भी नेता को देखिये जब तक उसमें संयमपना नही आता, तब तक उसका प्रभाव नही पड़ता है और लोग भी उसके द्वारा बताये हुये मार्ग का अनुसरण नहीं कर सकते हैं। जिन्होंने जग मे कुछ अलौकिकपना बताया है, वह सब उनके संयमी जीवन का प्रभाव है।

समाज सेवा के दो प्रधान साधन

समाज सेवा का ध्येय सिद्ध करने के लिये सेवकों के लिये हमने जो जो बातें बताई हैं, उसमें एक '**तप**' बताया है, जिसका यहां पर '**कष्टसहिष्णुता**' यह अर्थ अभिप्रेत है। जब हम किसी ध्येय को निश्चित कर लेते हैं और उसकी पूर्ति की इच्छा से कार्यक्षेत्र में उतर पड़ते हैं। उस समय अनेक बाधायें परीक्षक के रूप में उपस्थित होती हैं, ऐसी स्थिति में हम शांत रह सके, विचलित न हुये, मन के विचारों का समतोलपना कायम रख सके तो निश्चित रूप से विकास होता है। अनेक आशाये साधक के रूप को धारण करती है। इस अतुलशक्ति की प्राप्ति बिना '**सहनशीलता**' रूप तपस्या प्राप्त नही हो सकती। कार्य पर दृष्टि रखिये, बाधाओं पर नही। उन्नति का मार्ग विरोध की डाढों में होकर हैं।

समाजसेवकों का प्राण, त्याग होता है

संयम और तप के साथ साथ '**त्याग**' समाज सेवको के लिये अत्यंत आवश्यक है। इसी को मैं अन्य शब्दों में यह कह सकता हूं। **हृदय की उदारता** अत्यन्त आवश्यक है। दूसरे की शांति के लिये स्वयंम को कष्ट में डालने की आदत सीखनी चाहिए। अपनी उपलब्ध साधन सामग्री भी दूसरे के कल्याण के लिए समर्पण करने की भावना को अतःकरण में अच्छा स्थान होना चाहिये। अपनी मानसिक, शारीरिक और धन संबंधी प्राप्त शक्तियां समाज सेवा के प्रति खर्च करने की भावना रखने वाले तरुणों की आज समाजोद्धार के लिये अत्यंत आवश्यकता है। यदि कुछ लोगों ने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देते हुये इस ओर कदम उठाया, तो थोडे ही दिन की तपश्चर्या से समाज को इतर समाजों से अग्रेसर होने में किसी प्रकार की देरी न होगी।

अमली कारवाही के लिए संगठन की आवश्यकता

केवल प्रस्ताव कर देने से या लेख लिखने मात्र ही से अब काम नही चल सकता, उनके अमल की जरूरत है। प्रस्ताव थोडे कीजिए, परंतु कार्य परिणत कीजिये। निमयावली के अनुसार हमें कुरीति निवारण, धर्मायतनों की रक्षा, ज्ञानप्रसार, असहायों को मदद, धर्म प्रस्तावना का प्रसार इत्यादि कार्यों को अमल में लाने के लिये संघटित रूप से प्रयत्न करना चाहिए। बिखरी हुई हमारी अनंत शक्तियों का संगठन होना चाहिये। बिना संगठन के हम कुछ भी नहीं कर सकते। संगठन को इतना विशाल बनाना चाहिये कि उसका उपयोग हम धर्म व अपनी समाज का सुधार करने के लिए कर सकें और हम भिन्न होकर भी सबमें अभिन्न देव का दर्शन करें।

धर्म और संस्कृति का आदर्श जीवित रहे

जितने भी प्रयत्न हो रहे हैं, वे सब जनता की मनोवृत्ति बदलने के लिये है, परंतु हम यह चाहते हैं कि, इस दिशा में जो भी प्रयत्न किये जावे उसमे धर्म का आदर्श, अपनी संस्कृति का आदर्श लुप्त न हो, इसकी चिंता सबसे अधिक रहनी चाहिए। हमे जैनत्व को कभी भी नही भुलाना चाहिये। हमें अपने आचार्यों के बताये मार्ग की प्रभावना करना है। और उस मार्ग को उज्ज्वल बनाकर अपने समाज को उन्नत करना है।

आचार्य स्वामी समंतभद्र जी ने "**न धर्मोधार्मिकैर्विना।**" धार्मिकों के बिना धर्म नही टिकता इस अनमोल वाक्य से जैन धर्म की रक्षा के लिए धार्मिक व्यक्ति पैदा करते रहना ही मार्ग बताया है। यदि हमने धर्म के आदर्श को छोडकर उन्नति की, तो उसे आप उन्नति कहो, हम तो उसे धर्म व समाज की उन्नति नही कह सकते है।

साध्यसिद्धि हेतू साधनशुचिता

संगठन के लिए हमने जो संयम तप और त्याग को धार्मिक तत्त्वो के आधार से उपादेय बताया है, उसका हेतु यह नही है कि केवल इतने ही उपाय है। आंदोलन व आधुनिक प्रचार के तरीके उपाय नही हैं। यह भी उपाय हैं; परंतु बाहरी साधन हैं। अंतरंग मे जनता के चित्त को आकर्षित करने वाली प्रचारक और उपदेशक या मार्गदर्शक व्यक्ति की पवित्रता ही प्रभाव डालती है। जब तक हम लोग हृदय मे धार्मिकता आदि गुणो से विश्वास उत्पन्न नहीं कर लेवेगे, तब तक हम जनता की मनोवृत्ति बदलने में सफल नही बन सकते हैं।

विकल्प और सभा का रिश्ता

देवगढ के रथोत्सव के विषय मे एक विवाद उत्पन्न हो रहा है। हमारे कुछ सुधारक सज्जन सत्याग्रह की तैयारी कर रहे हैं। परवार सभा से उन्होने परामर्श भी लिया था और हमने भी सभा के इरादे को प्रकाशित कर दिया है। अपना मत भी उसमे प्रगट कर दिया है। अतः मेरी इच्छा थी कि इस विषय को न छेडता, परन्तु जो सज्जन सत्याग्रह की तैयारी को जोर दे रहे हैं, वे भी हमारे है और बुंदेलखड प्रांत की जनता व अन्य धार्मिक जनता की धार्मिक भावना दुख रही है। इसका भी खेद है और सत्याग्रह करने वालो के जोशीले लेख आग में तेल का काम कर रहे हैं और वह सब बहुधा परवार जाति गत व्यक्तियो के द्वारा उठाया जा रहा है। ऐसी स्थिति में जातीय सभा मे उसकी उपेक्षा नही की जा सकती है।

अंतिम संदेश

प्रिय समाज हितैषियो !

हमारी जातीय सभा की स्थापना हमारी जाति के अभ्युदय के लिए हुई है। हमने अब तक अपने इस ध्येय की पूर्ति के लिये बहुत कुछ किया है। फिर भी अभी बहुत कुछ करना है। जब तक परवार जाति में एक भी सामाजिक या धार्मिक त्रुटि शेष है, परवार सभा का कार्य अपूर्ण ही समझना चाहिये। सभा को अपने ध्येय की पूर्ति के लिये साधन और साध्य दोनों ही प्रकार के कार्य करने होंगे। साधन भूत कार्यों से मेरा तात्पर्य उन कार्यों से है, जिनके द्वारा हम अपने ध्येय को पूर्ण कर सकते है। इसे ही यदि सरल शब्दों मे कहना चाहें तो सभा का लोकसत्तात्मक संगठन कह सकते है। यह मानी हुई बात है कि जो वस्तु जिसकी है उसका उसके ध्यान है। उसको पतन एव अभ्युदय से वह अपना पतन और अभ्युदय समझता है। उसके पतन के द्वारा उसको दुख एवं अभ्युदय से उसको सुख होता है। यदि हमारी परवार सभा का

संगठन प्रतिनिधि सत्तात्मक हो जाता है, तो फिर परवार-जगत के प्रत्येक व्यक्ति का हार्दिक सहयोग हमको स्वयं प्राप्त हो जाता है। अतः अब सर्व प्रथम हमको अपनी सम्पूर्ण शक्ति इस ही विषय पर जुटा देनी चाहिए। हमको शीघ्रातिशीघ्र स्थानीय एवं प्रान्तीय परवार पंचायतो का संगठन कर डालना चाहिए। हमारा स्थानीय एवं प्रांतीय संगठन किस प्रकार का हो इसके लिये यहा मै इतना ही संकेत कर देना चाहता हूं कि इसके लिये हमको एक क्षेत्र को निश्चित करके इसको अमल मे लाकर नियमावली के अनुसार उसका रूप निश्चित करना चाहिए। यदि हमने ऐसा किया और हम उसमे सफल हुए तो इसके द्वारा हम परवार समाज के सामने एक आदर्श उपस्थित कर सकेंगे। समाज संगठन के साथ ही हमको सभा के पिछले प्रस्तावों के अमल पर भी पूरा पूरा ध्यान देना चाहिए। जो जो प्रस्ताव हम पास कर चुके है, उन को सफल बनाना हमारा नैतिक कर्तव्य है। इसी प्रकार हमको समाज की आर्थिक दशा को भी दृष्टि से परे नहीं कर देना चाहिए। इसके लिये भी हम को पूरा पूरा ध्यान देने की जरूरत है। आर्थिक संकट के समय मे भी हमारी समाज में ऐसे नर-रत्नों का अभाव नही है, जो कि इस कार्य को सफल बना सकते हैं। आज भी हमारी जाति के नर-रत्न समाज एवं धर्म के पवित्र कार्यों मे लाखों रुपया खर्च करते हैं। श्रीमान सेठ लखमीचंद जी भेलसा और सिघई गणपतलालजी गुरहा खुरई में से हैं। यदि हम मे किसी बात की कमी है तो वह हमारा न्हास होना है। आज हमारा न्हास होना इस भांति का नही।

संगठन हेतु वात्सल्यभाव की आवश्यकता

आज हम मे से सम्यक् दर्शन के वात्सल्य अग का अभाव सा होता जा रहा है। यदि हम में यह भावना उत्पन्न हो जाय, तो वर्षों की तो बात ही क्या है, दिनो मे हम अपनी जाति की बेकारी दूर कर सकते हैं। यदि हमारी इस प्रकार की भावना बन जाय और हम को अपने बेकार बन्धुओं की बेकारी खटकने लगे, तो यह किस प्रकार सम्भव हो सकता है कि हम विपुल धन राशि विवाहादि कार्यों में तो खर्च करें और ऐसे कार्यों का ध्यान न करें। मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि अब हम को अपने दृष्टि कोण को इधर भी ले जाना चाहिए और समाज की आर्थिक दशा को सुधारने के लिये किसी भी क्रियात्मक आयोजना को तैयार करके उसे पूर्ण सफल बनाना चाहिए। यदि मैं अपने सम्पूर्ण भाव को थोडे ही में आप के सामने रक्खू तो मुझे यू कहना चाहिये कि परवार सभा को अपने आगामी वर्ष मे निम्नलिखित कार्यों को सफल बनाना चाहिये।

(१) परवार सभा को पूर्ण प्रतिनिधि सत्तात्मक रूप देना।
(२) गत अधिवेशनो में पास हुए प्रस्तावों को क्रियात्मक रूप देना।
(३) समाज की आर्थिक दशा को सुधारने के लिए औद्योगिक कार्य को प्रारंभ या असमर्थ सहायक फड की स्थापना।

यदि हम इस राय में सफल हुये, तो यह निश्चित है कि इसके द्वारा हम परवार जाति की बहुत भारी सेवा कर सकेंगे।

अंतिम निवेदन

सज्जनो! मैंने आप का बहुत समय ले लिया है तथा जो कुछ मुझे कहना था वह मैंने आप के समक्ष उपस्थित भी कर दिया है। अब तो मैं आप से केवल यही निवेदन करूंगा कि आप मे से प्रत्येक व्यक्ति परवार सभा की इन रायो में पूर्ण सहयोग प्रदान करें, जिस में आप की यह सभा अपने ध्येय की पूर्ति में पूर्ण सफलता

प्राप्त कर सकें। मेरी हार्दिक भावना है कि प्रभु जिनेंद्र भी हम सब को बल प्रदान करें, जिससे हम समाज की सेवा एवं उद्धार के कार्य को सफल बना सकें।

अन्त में आपने मुझ को सभापति पद प्रदान करके मेरा जो सम्मान किया है, उस के लिए एक बार फिर आप का आभार स्वीकार करता हुआ अपने वक्तव्य को समाप्त करता हूं।

शुभमस्तु सर्व जगतः

—देवकीनन्दन

परिशिष्ट ३

समाज—गौरव परिवार

(भाग्यशाली एक सुविद्य सुसंस्कृत संस्था)

सदा सावधान पंडितानीजी

पंडितजी का जीवन समाज के लिए समर्पित था। सामाजिक कार्यों के निमित्त सदा प्रवास रहा। सहजही घरेलू प्रापंचिक कार्यों में अवधान धारावाही असंभव था। उस जिम्मेदारी का निर्वाह पंडितानी सौ. अयोध्यादेवी अपर नाम सुमित्रादेवी ने पूर्ण सावधानीपूर्वक किया। आप खानियाधाना स्टेट अंतर्गत मुडरा (वसई) निवासी प्रसिद्ध नेता पिताश्री रामदीनजी और माताश्री सौ. कौसल्या की लाडली कन्या थी। जन्म सन १९१० में हुआ। बौद्धिक और भाषा की पात्रता अच्छी थी, पर समाज में स्त्री पर्याय की शिक्षा के विषय में उपेक्षा ही रही। शालेय शिक्षा केवल हिंदी तीसरी कक्षातक हो पायी। होना था पंडिता परंतु निसर्ग की कभी कभी बडी भूल होती है। सुसंस्कृत पंडितानी मात्र रूपमे सतोषी बनकर रहनेका नियोग था, नियतीने अपना निर्धार पूरा किया।

प्राप्त राजसम्मान

खनियाधाना छोटी स्टेट थी। स्टेट के राजा पं. जी को स्टेटके दामाद के रूप में मानते रहे, उसी रूपमे देखते रहे और 'लालाजी' कहते हुए सम्मान देते रहे। एकबार की बात है, राजासाहब को पंडितजी द्वारा चढायी गयी भेंट को राजासाहब ने अपनी ओरसे कुछ मिलाकर यह कहकर नगरके दो मंदिरों में पहुंचादी कि "लालाजी! आप तो हमारे राज्य के दामाद हो। आपकी भेंट तो भगवान् कोही चढायी जायगी! इसी प्रकार टीकमगढ में जब प. जी के अनेक समाचार राजासा को मालूम हुए तो बुलावा भेजकर आमसभा में सम्मानित किया। यह था पंडितजी का असाधारण राजसम्मान.

तत्पर आतिथ्य और वात्सल्य

देवी सुमित्राजी की शिक्षा अत्यल्प होते हुए भी समझदारी अच्छी थी। हिंदी अच्छी पढ लेती थी। कारंजा पहुँचने के उपरांत स्व. पू विदुषी ब्र. कंकुमौसी के निकट साहचर्यसे और घर में चलनेवाली ज्ञानविज्ञान



डॉ ज्ञानचन्दजी, डॉ श्रीमती राजकुमारी और उनका परिवार



डॉ राजेन्द्र, डॉ श्रीमती सरोज और उनका परिवार



डॉ त्रिलोकचंद नायक जैन सनावद उनकी धर्मपत्नी व परिवार



प जगन्मोहनलालजी शास्त्री



पंडित फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री



पंडितजीकी जीवन सहयोगिनी
मॉ पुतलीबाईजी

की चर्चा से तथा शास्त्रस्वाध्याय से थोडे ही समय में अच्छी प्रगति कर ली। स्वभाव में स्वाभाविक कोमलता और धर्मक्रियाओ में कमठता थी। पंडितजी की तरह समतुल आत्म-सम्मान की भावना पूरी थी। पंडितजी की मृत्यु के अनंतर पुत्रों को पू. वर्णीजी के पत्र पहुँचते रहे, 'पुरुषासिंह के सपूत हो' स्वाभीमान के साथ रहने का' संकेत था। उसकी पालना पूरी तरह से की गयी। उन्होंने आजीवन आत्मसम्मान के विषय में कठिन से कठिन समय आने पर भी कभी समझौता नही किया। सीमित आय में घरगृहस्थी कुशलता से और परिश्रमशीलता से पूरी निभायी। सामाजिक कार्यों के निमित्त आने जानेवाले सामाजिक गण्यमान्य व्यक्तियों का और विद्वान् लोगों का तांता लगा रहता था। उनके तत्परतापूर्ण आतिथ्य में कभी किसी प्रकारकी कमी नहीहुई। इस सजग सुव्यवस्थित अंतर्व्यवस्था के कारण पं. जी घर की चिंता से सदा ही मुक्त रहतेथे और सामाजिक सेवाओ के लिए निःशंक होकर मनसा-वचसा-कर्मणा उत्साह से समर्पित रहते थे। गुरुकुल परिवार पं. जी को धर्मपिता और तीर्थस्वरुप काकीजी को धर्ममाता के रूपमें ही समादर भावना से देखता रहा। स्वभाव-सिद्ध मातृहृदय से काकीजी हम छात्रो को वात्सल्यभाव से यदा कदा घर पर भोजन भी कराती रही। मिलनसार स्वाभाव के कारण अध्यापक निवास में रहनेवाले इतर अध्यापक वर्ग के परिवार द्वारा सदा पूरा सम्मान भी पाती ही रही। एक उत्तर प्रांत की महिला महाराष्ट्र में इतने लम्बे कालके लिए पूरी घुल मिल गयी यह एक आश्चर्य था; और मराठी जैसी उच्चारण के लिए दुर्गम भाषा सही रूप मे बोलना यह भी एक चमत्कार ही था। श्री. काकीजी ने कारंजा को खूबही अपनाया। इंदौर पहुंचने के अनंतर भी कारंजा और कारंजावासी तथा आश्रमवासियो की याद वैसे ही जीवित रखी जैसे कारंजा अपना प्यारा पीहर हो। देह इंदौर में थी। आत्मा कारंजा में थी। पं. जी के स्वर्गवास के बाद आपने सब को पूरी हिम्मत दी। शिक्षा प्राप्त कराने मे कभी कमी नही की। पं. जी के स्वर्गवासके पश्चात् सोना और गहना बेचकर पुत्रो की शिक्षा भी पूरी की। कुटुंब का संपोषण विधिवत् आदर्श रूप में करती रही। स्त्री स्वभाव-सुलभ भावना से अपने पुत्रपौत्रो का भरा पूरा परिवार देखकर प्रसन्नता से सब का आशीर्वाद द्वारा सिंचन करती रही। कईवार पुत्रो के सम्मुख विकल्प भी व्यक्त करती रही "यदि यह फला फूला बगीचा-समृद्ध परिवार देखने को आपके पिता होते तो!" आपका ता. २६ अप्रैल १९८६ को मध्यरात्रि में सनावद मे शांतिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

समृद्ध परिवारगण-संक्षिप्त परिचय—

पं. जी की प्रथम पत्नीका का नाम श्री. सौ. सुमित्राबाई था। कन्या का नाम श्री. सौ. पानकुंवरबाई था। द्वितीय संतान के जन्म के समय सौ. सुमित्राबाई का अकाल में स्वर्गवास हो गया। कन्या श्री. पानकुवरबाई का विवाह चिरगांव (जि. झाँसी) निवासी श्री. सिं. गोविंददासजी के साथ हुआ। आप के तीनों सुपुत्र आज ललितपुर में अच्छे प्रतिष्ठित व्यवसायियों में गिने जाते हैं।

(१) श्री. सिं. जिनेश्वरदासजी – व्यापारी हैं।
(२) श्री. सिं. पूरणचंदजी – इंजिनीअर है। (वर्तमान मे मनमाड महाराष्ट्र में है।)
(३) श्री. सिं. अनिलकुमारजी – व्यवसायी हैं।

प्रथम पत्नी सौ. सुमित्राबाई का सन १९६८ मे स्वर्गवास हो गया।

पं. जी की द्वितीयपत्नी सुमित्राबाई से अपरनाम अयोध्याबाई से संजात संतान नौ है। छह सुपुत्र और तीन सुकन्याएँ (१) सुमतिचद्र (२) त्रिलोकचंद (३) विमलादेवी (४) प्रकाशचंद्र (५) निर्मलकुमार (६) अजितकुमार (७) सतीशकुमार (८) राजकुमारी (९) सरोजकुमारी

यह संपूर्ण परिवार अब सुविद्य, सुसंस्कृत और स्वावलंबी होकर प्रशस्त रूप से अपने पावोपर खडा हो गया है। कुल व्यक्ति ७१ है।

परिवार गण का चरित्र-चित्र देखते हुए सहजही कवि वचन का स्मरण होता है,

"आकरे पद्मरागाणां जन्मः काचमणेः कुतः !।" पद्मराग मणियो की खान मे काचणमणी की पैदास असंभव होती है।

संक्षेप में परिचय इस प्रकार है–

प्रथम सुपुत्र प्रो. श्री. स्व. सुमतिचंद्रजी एम. ए., एलएल्. बी. प्राध्यापक

होल्कर कॉलेज इंदौर (अध्यक्ष इंग्लिश विभाग)

जन्मस्थान : बरवासागर मिति. इ. स. १-५-१९२६

शिक्षा : कारंजा म. ब्र. आश्रम गुरुकुल मे प्रारंभिक शिक्षा संपन्न करके १९४३ नागपुर बोर्ड एस्. एस्सी. प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण हुए। इंटर आर्टस् १९४५ मे गणित विषय लेकर पास किया १९४७ मे बी ए. और १९४९ में एम. ए. तथा १९५० मे एलएल्. बी. की उपाधि प्राप्त की।

इ. स. ११४६-४७ में आप मराठी भाषा मंडल के प्रधान मंत्री रहे और प्रभावी वक्ता रहे।

परिवार–पत्नि श्री. क्षमाबाई

तीन कन्याएं :

१. सौ छायादेवी – पति श्री. अंड सिगई विनयकुमारजी, खुरई.
२. सौ. नीतादेवी – पति श्री. राजेंद्रकुमारजी (इंजिनिअर) भिलाई.
३. सौ. अमितादेवी – पति श्री. डॉ. शिखरचंदजी, देहली.

इस प्रकार तीनों कन्याएँ समृद्ध परिवार मे विवाहित है। और एक सुपुत्र डॉ सुनीलकुमारजी नायक एम् बी. बी. एस् है। इंदौर में प्रायव्हेट प्रॅक्टिस कर रहे है। पत्नीका शुभनाम सौ. मीना नायक है।

श्री. सुमतिचंदजी की कॉलेज में नौकरी का प्रारंभ पं जी के स्वर्गवास के कुछ समय पहले हुआ था। पं जी के पश्चात् आपने "ज्येष्ठ भ्राता पितुस्समः" अग्रज भाई पिता के समान होता है इस न्याय से आपने सभी परिवार को अंततक आत्मीयता से सभाला। सब की शिक्षा पूरी की। विवाह शादियाँ शान के साथ संपन्न की। स्वतंत्र घरगृहस्थी भी खडी करने मे पूरा योग लगाया। सुखदु.खो मे सहभागी रहे।

कॉलेज में आपका एक विशिष्ट स्थान था। आपका विषय अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य था। अंग्रेजी विभाग के आप अध्यक्ष भी रहे। अपने मिलनसार विनम्र स्वभाव के कारण शिक्षको मे और विद्यार्थियो मे अत्यंत लोकप्रिय रहे। सहयोगियो के सलाहगार थे, और सहयोगी भी थे। विद्यार्थियो के मार्गदर्शक थे और परिवार के लिए विश्वासपात्र आधार थे।

स्वर्गवास के बाद परिचित विद्वानों ने और समाचार-पत्रों ने आपकी बुद्धिमत्ता, कार्यप्रवणता, हृदय की निर्मलता एवं निस्पृह सहयोगिता के विषय में एक स्वर से स्मरण करते हुए कहा कि आप "स्व. पंडितजी के विचारनिधि के सम्मानित वारिस थे, और सद्भाव भावनाओं के स्वामी थे।"

आपका ता. १२ फरवरी १९७३ में हृदयक्रिया अवरुद्ध होने से यकायक स्वर्गवास हुआ। यह सामाजिक बहुत बडी हानि हुई। शिक्षाजगत् की भी बहुत बडी हानि हुई। भाई सा. के स्वर्गवास के अवसर पर होल्कर

कॉलेज के प्रिंसीपाल श्री. रविप्रकाशजी द्वारा जो मनोगत व्यथा प्रगट हुई, वह उस समय स्पेशल बुलेटिन में प्रकाशित हुई। वह सुमतिसाव के व्यक्तित्व और कर्तृत्व की कॉलेज स्टाफ के ऊपर और अधिकारियों के ऊपर कैसी अमिट छाप थी और कैसा प्रभाव था इसकी पूर्ण परिचायक है। वह इस प्रकार है।

(२) द्वितीय सुपुत्र डॉ. त्रिलोकचंदजी नायक एम्. बी. बी. एस् (सनावद)

जन्मस्थान : बरबासागर सन २७ (मार्च) १९२९

शिक्षा : प्रारंभिक कारंजा मे, अनंतर इन्दौर में एम् बी बी एस् सन् १९५४ में पास की।

व्यवसाय : कुछ समय शासकीय चिकित्सा कार्य करने के अनंतर निजी चिकित्सालय, सनावद में कार्यरत।

परिवार : पत्नि श्री. सौ. कुमुमबाई

दो पुत्रियाँ : १. सौ. उषादेवी एम् एस्.सी. पति डॉ. श्री. विनोदकुमारजी जैन एम्. बी. बी. एस्. (भिलाई)
२. सौ. निमादेवी एम्. एस् सी. पति इंजि. श्री. विनोदकुमारजी जैन
दोनों जमाई भिलाई (म. प्र.) सुखमय जीवन व्यतीत कर रहे है।

सुपुत्र एक : १. चि. डॉ. शरदकुमारजी अस्थिविशेषज्ञ है और उज्जैन में शासकीय चिकित्सालय में कार्यरत है। सुखी जीवन यापन कर रहे हैं। पत्नी सौ. सुजाता नायक।

स्वभाव : पूर्ण मिलनसार है, सेवाभावी, परोपकार-प्रवण, उदार, सामाजिक कार्यों में विशेष रुचि। परिवार भर के लिए छात्र के समान बराबर सजग रहकर सुरक्षा में सदा सावधान और प्रयत्नशील, जैसा स्व पू. पंडितजी का अनुमान था। सामाजिक कार्यों में आपकी रुचि विशेष है।

(३) प्रथम सुपुत्री सौ. विमलादेवी :

जन्म : कारंजा ता. १५ मई १९३१

शिक्षा . कारजा श्री. कंकुबाई श्राविकाश्रम।

परिवार । पति-टीकमगढ (म. प्र) निवासी श्री सेठ सुंदरलालजी भदौरा-थोक वस्त्र-विक्रेता।

चार कन्याएँ : १. सौ. आशादेवी एम्. ए , पति श्री. सुरेशचंदजी (अॅड्व्होकेट) विदिशा
२. सौ. किरणदेवी एम्. ए., पति श्री. एजि. श्रेयासकुमारजी जैन. कानपुर
३. सौ. अरुणादेवी एम् ए., पति श्री एस् सी. जैन (प्राध्यापक) टीकमगढ
४. कु डॉ. मीनादेवी. गोल्डमेडॅलिस्ट, एम्. बी. बी. एम् पढाई ग्वालियर मे चालू (एम्. एस्)

सुपुत्र दो १. डॉ. सुनील कुमारजी पत्नी सौ. अर्चनादेवी (एम्. ए.)
२. इजि. प्रवीणकुमारजी जैन बी. ई. (फायनल) जबलपूर

(४) तृतीय सुपुत्र स्व. श्री. डॉ. प्रकाशचंदजी नायक एम्. बी. बी. एस् (भिलाई)

जन्मस्थान : कारंजा मिति. २७-४-३४

शिक्षा : प्रारंभ मे कारंजा अनंतर इंदौर एम्. बी. बी. एस्. तक

परिवार : पत्नी श्री. चंद्राबाई

सुपुत्र दो : १. डॉ श्री संजीवकुमार पत्नी सौ रानी देवी नेत्र चिकित्सक भिलाई
२. डॉ. श्री. राजीव कुमारजी एम् बी. बी. एस्. भिलाई

कन्या एक । १. डॉ. श्री सौ. साधनादेवी एम्. बी. बी. एस् भिलाई
पति श्री. डॉ. विनोद कुमारजी जैन (एम्. बी. बी. एस्.)

स्वभाव : सेवाभावी, व्यवहार चतुर, मिष्टभाषी, बहुभाषावेत्ता, परोपकार परायण, सामाजिक कार्यों में रुचि विशेष, प्रारंभ से घरके लिए बाजार मास्टर के रूप में रहे। आप की अध्यक्षता में भिलाई में सुंदरतम मंदिर बन गया। जिसमे श्री. डॉ. ज्ञानचंदजी का विशेष योगदान रहा। परिवारिक कार्यहेतु प्रवासमें ही सिवनी में हृदयक्रिया अवरुद्ध होने से यकायक दि. २७-७-८७ को दुःखद स्वर्गवास हुआ।

(५) चतुर्थ सुपुत्र : बाबू निर्मलकुमारजी नायक : इंजिनिअर (दमोह)

जन्मस्थान : कारंजा सन १९३६

शिक्षा : प्रारंभ में कारंजा गुरुकुल, अनंतर इंदौर, बी. ई. (उच्चपदाधिकारी इंजि.)

व्यवसाय : मध्यप्रदेश शासन-यंत्री के रूप में सेवारत. (रायपुर)

परिवार : पत्नी सौ. सुलोचनाबाई बी. ए.

सुपुत्री एक कु. नूतनदेवी एम्. ए. मिलनसार मित्रपरिवार बहुत बडा

सुपुत्र दो १. श्री. संदीपकुमारजी इंजिनीअरिंग शिक्षा चालू

२. श्री. सुदीपकुमारजी शिक्षा (१० वीं) सुरू

स्वभाव : शांत, परिश्रमशील, सेवापरायण, मितभाषी, सहयोग की जागृत प्रामाणिक भावना.

(६) पंचम सुपुत्र : बाबू अजितकुमारजी नायक : इंजिनियर (बम्बई)

जन्मस्थान : कारजा सन १९३८

शिक्षा : प्रारंभिक कारंजा (गुरुकुल) अनंतर एम् टेक् (इंजि.) [खडगपुर]

व्यवसाय : भारत पेट्रोलियम (बंबई में) उच्च पदाधिकारी और मेंबर इंडि. रोड कौन्सील

परिवार : पत्नी-सौ. अंजनादेवी बी. ए.

सुपुत्र दो : १. चि. संजयकुमार (एम्. बी. ए. कर रहे है।) (इंजिनीअर)

२. चि. समीरकुमार (१० वीं) शिक्षा चालू

स्वभाव : परिश्रमशील, दृष्टिसंपन्न, बुद्धिजीवी मधुरभाषी व्यवस्थाप्रिय

(७) षष्ठ सुपुत्र : बाबू डॉ. सतीशकुमारजी नायक (इंजिनिअर पीएच्. डी. अमेरिका)

कारंजा : जन्म ता. ७ अगस्त १९४१

शिक्षा : प्रारंभ में कारंजा गुरुकुल. अनंतर एम टेक् (बंबई) बी. एच. डी. (अमेरिका) सेंट लुईस.

व्यवसाय : प्रोफेसर तथा कन्सलटन्सी (अमेरिका में)

परिवार : पत्नी सौ. प्रेमलताबाई M. D.

दो सुपुत्र : १. चि. राहुलकुमारजी (शिक्षा चालू)

२. चि. रविकुमारजी (शिक्षा चालू)

स्वभाव : प्रतिभासंपन्न, परिश्रमी. अध्ययन अध्यापन में रुचि-विशेष, उदार, जागृत सहयोग भावना

(८) द्वितीय सुपुत्री : सौ. राजकुमारी जैन (बी. ए.) (भिलाई)

जन्म : कारंजा सन १९४३.

परिवार : पति श्री. डॉ. ज्ञानचंदजी जैन एम. बी. बी एस्. (भिलाई) आपने अत्यंत दूरदृष्टि से स्व. पं. जी के सुपुत्रों को भिलाई मे व्यवसाय को लगाया और गृहस्थी खडी करने में पूरी शक्ति भक्ति लगायी, यह अपूर्व स्नेहसिक्त आदर्शरूप कार्य हुआ है।

दो कन्याएँ : १. सौ. प्रतिभादेवी पति श्री. डॉ. राजकुमारजी भिलाई
२. प्रो. कु. प्रीतीदेवी M. Sc. इन् होम सायंस
दो सुपुत्र : १. डॉ. प्रवीणकुमारजी (M. S. आर्थोपेडिक्स) पत्नी–सौ. नीलम बी. ए
२. चि. प्रणयकुमारजी पढ रहे हैं।

(९) तृतीय सुपुत्री सौ. डॉ. सरोजदेवी जैन एम्. बी. बी. एस्. (सागर)

जन्म कारंजा सन १९४४
शिक्षा : प्रारंभ में कारंजा श्राविकाश्रम विद्यालय और अनंतर इंदौर (एम्. बी. बी. एस्.)
परिवार : पति–डॉ. राजेंद्रकुमारजी जैन (सागर)
दो कन्याएँ : १. कु. रश्मी कक्षा १० वी पढती है।
२. कु. रेणु कक्षा ७ वी पढती है।
सुपुत्र एक : राहुल कुमार कक्षा ७ वी में पढते हैं।

सबही परिवारगण को हम पूज्य पंडितजी के घरानेके है इसका स्वाभिमान है। शैक्षणिक पात्रता सभी ने सिद्ध कर दी है जो अत्यंत स्पष्ट है।

परिवार का संक्षिप्त सर्वेक्षण :

आदरणीय पंडितजी के सम्मिलित पुत्रपौत्रादिको का परिवार ७१ से ऊपर व्यक्तियोंका हो जाता है। विचारपूर्वक सर्वेक्षण करनेके अनतर आश्चर्य होता है। परिवार की संख्या केवल गण–पूरक ही नही। प्रत्येक व्यक्ति गण्यमान्य रूप है। सारे परिवार को सुसंस्कृत–सुशिक्षित रूपमें देखकर अंतःकरण भर जाता है। परिवार में डॉक्टर १६, इंजिनीअर १२, ग्रॅज्युएट ८, अॅडव्होकेट २, प्रोफेसर २, अच्छे व्यवसायी ४, उदीयमान शिक्षाचालू शिक्षित १८, इसप्रकार का परिवार का सर्वांग सुदर समृद्ध स्वरूप है। समाज भर में शायदही ऐसा परिवार होगा। इस लिए इस परिवार को गौरव के साथ "समाज गौरव" शब्दद्वारा और 'सुविद्य सुसंस्कृत" संस्था शब्दद्वारा स्मरण किया है। चमत्कार यह है कि सभी व्यक्ति अपने को स्व. पंडितजी के शुभाशीर्वाद की छत्रछाया मे रहने को मिला इससे स्वयं को धन्य मानते हैं। और पं जी के ही लगाये बगीचे के फूल झाड समझते हुए अपने को गौरव शाली समझते है। परस्पर में सहयोग की बलशाली अटूट भावना रखते हुए भिन्न–विभिन्न स्थानों मे रहकर एकत्व–विभक्त रूप में सुखमय स्वावलंबी जीवन यापन करते है।

एक विकल्प और मनीषियों का उत्तर :

इतना सब होते हुए भी समाज में यदा कदा एक विकल्प उत्पन्न होता ही है कि, "पंडितजी के परिवार में कोई पंडित दिखाई नहीं देता "मानो यह सब जिम्मेदारी पं. जी की थी ? विचार कर देखा जाय, तो समाज भरके मनीषी अनुभवी विद्वानों के अनुभव पर आधारित एकमात्र अभिप्राय रहा है कि, इसमें गैर जिम्मेदार समाज का हिस्सा कम नहीं है। खट्टे, मीठे, कडुए, गंभीर अनुभवों के आधारपर भुक्त भोगी पं. जी कहा करते थे "हम तो जगले के झाड हैं," पाताल के पानी से और आस्मान की हवासे जैसे वैसे जीते रहे; ठंडेग रम हवा के झकोरो के आघात–प्रत्याघात सहते रहे। पर बच्चे तो अपने पुरुषार्थ से और भाग्यसे बगीचे के ही फले फूले फलझाड बनकर ही रहेंगे।"

निसर्ग नियम भी यही कहता है, किसी भी एक खेत से हरसाल एक ही फसल कभी नहीं निकाली जाती। विकल्प, विकल्प है। निसर्ग नियम निसर्ग है।

RAVI PRAKASH
M. Sc., Ph. D.,
D. Sc., F. A. Z., F. Z. S. (London)
Principal & Professor of Zoology
Holkar Science College

INDORE
Feb. 13, 1973.

Dear Editor,

I am deeply grieved to learn the sudden and untimely passing away of Professor S. D. Nayak. Head of the English Department. He was a trusted and valuable colleague. He did so much for the development of the College that it would be difficult to forget him for many years to come. The construction of the Non-Resident Student Centre and the Post-Graduate Science Block to be constructed shortly will always remind us of his great contribution to the progress of this institution. Professor Nayak enjoyed the greatest goodwill of all his colleagues. As a teacher of English Language and Literature few could equal him. He was devastating with a great sense of humour and yet he left no bitterness behind I do not have adequate words to express my sense of supreme shock, profound sorrow and dismay at the sudden and premature death of a senior valuable colleague and a trusted lieutenant who had been very near and dear to me. It is for the first time that I had to attend the funeral of a member of the staff of my college. This brings poignant memories of my association with Professor Nayak. I join the Holkar Science College family in paying tributes to the great services rendered by Professor Nayak and in mourning the death of such a fine man, scholar and teacher. May I take this opportunity to pray the Almighty to grant the members of the bereaved family and to those of us who have been so deeply attached to him, courage and fortitude enough to bear this great loss. May the soul of the dear departed rest in peace.

Yours Sincerely,
Ravi Prakash

Shri P. S. Avadhani,
Editor,
Holkar Sc. College Bulletin.



स्याद्वादवारिधि, वादिगकेसरी, न्यायवाचस्पति
गुरुवर्य गोपालदासजी बरैया

गुरूजी का शिष्य-परिवार



प माणिकचन्दजी कौन्देय

गुरुजी के मित्र एवं सहयोगी



स्व प धन्नालालजी जैन



स्व प वशीधरजी शास्त्री,



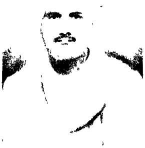
प वशीधरजी न्यायालकार



स्व ब्र ज्ञानानन्दजी



स्व प खूबचन्द्रजी शास्त्री



स्व प देवकीनन्दनजी शास्त्री



प मक्खनलालजी शास्त्री

पंडितजी का परिवार



स्व.डॉ प्रकाश का परिवार
संजीव, सौ चन्द्रा, स्व डॉ प्रकाश,
स्व डॉ राजीव व पूज्य माताजी



डॉ प्रकाश, डॉ सतीश, डॉ त्रिलोकचन्द,
निर्मल व अजीत



सौ. सुजाता, सौ कुसुम, पू माताजी,
डॉ. शरद, डॉ त्रिलोकचन्द,



डॉ सतीश, डॉ प्रेमलता, बडा राहुल व रवी


श्री सुमेरचन्दजी कोशल, बी ए सिवनी,


स्व प दीपचन्दजी वर्णी


बा कस्तुरचन्दजी एडवोकेट,


प देवकीनन्दनजी सि सा सभापति


स सि धन्यकुमारजी कटनी,


वैद्य विशारद प सुन्दरलालजी दमोह,


सिं गणपतलालजी गुरहा, खुरई,


श्रीमत सेठ लखमीचन्दजी भेलसा


सि कुँवरसेनजी सिवनी,

मनीषियों के संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ

(अ) समाज के गणमान्य तथा पं. देवकीनंदन जी से परिचित विद्वान् और समाज नेताओं के संस्मरण

(आ) उनके साक्षात् शिष्यों के संस्मरण (हिंदी तथा मराठी)

(इ) पंडितजी का बटुवा (बाहुबली से प्रकाशित होनेवाले 'सन्मती' मासिक में प्रकाशित 'पंडितजींच्या आठवणींचा बटवा' इस शीर्षक मराठी लेखमाला का हिंदी अनुवाद)

एक आदर्श विद्वान की जीवनगाथा

पं. जगन्मोहनलालजी,
कटनी

सन १९०७ के आसपास गुरुवर्य प गोपालदासजी ने भिण्ड मे जैन संस्कृत पाठशालाकी स्थापना की थी । पर वहा का वातावरण उन्हे उपयुक्त न जचा, अत: मोरेना व्यवसाय की दृष्टि से आए । विद्यालय भी यहाँ आ गया । यह सन १९१० की बात है । विद्यालयमे शिक्षा देनेवालों मे एक स्वय गुरु गोपालदासजी थे और दूसरे नियुक्त श्री ध माणिकचदजी न्यायाचार्य थे । व्यवसायमे से गुरुजी बराबर समय देते थे । छात्रोको अपने अपने खर्च का–छात्रवृत्ति का प्रबध स्वय करना होता था, या गुरुजी सोलापुर बंबई आदिके धनी मानी जनोसे करा देते थे । इनके पास प्रारभ में जो छात्र विद्याध्ययन को आये उन में बरुआ सागरके चरित्र नायक प देवकीनन्दनजी भी थे । बचपनेसेही इन्होंने अपनी सेवासे गुरुजीका आशीर्वाद प्राप्त कर लिया और न्याय व्याकरण-धर्मसिद्धात व साहित्य मे पारगत विद्वान् बने ।

गुरु गोपालदासजी का प्रभाव

प. गुरुवर गोपालदासजी का प्रभाव दिन-दिन समाज मे बढ रहा था, तात्कालिक कुछ पडित मान्योको यह सहन न था । अत: जहाँ जहाँ समाज मे गुरु गोपालदासजी बुलाए जाते, वही एक विरोधी पार्टी हमला करने वालो कीभी बन जाती थी । तथापि गुरुजीका प्रभाव सूर्यकी प्रकाशकी तरह दिन-दिन बढता गया । एक तो सदाचारी-मार्मिक, गभीर और जैनधर्म की प्रभावना हेतु समस्त वादि प्रतिवादियो के समक्ष-जैन धर्म का झण्डा ऊंचा करनेवालों मे थे । मात्र रेलव्यय जो आनापाईमे हुआ हो उसके अलावा कोई भेट वे स्वीकार न करते थे । जब कि पण्डित मान्य हजारो रुपया ठहराकर विदाई लेते तथा निमत्रणकर्ता को तंग भी करते थे । फलत. गुरु गोपालदासजी के निस्पृह-नि:स्वार्थ सेवा के आगे उनकी प्रतिष्ठा गिरती गई और गुरु गोपालदासजी की बढती गई ।

पं. जीका मोरेना पहुंचना

प देवकीनन्दनजी तो प्रारम्भमे ही अक्खड और बलिष्ठ थे । अत: वे गुरुजीकी रक्षार्थ सदा उनके साथ लठ्ठ लेकर ही चलते थे । उस कालमे उन्होने गुरुजी से निस्पृह, नि:स्वार्थ सेवा की एक तरह से दीक्षा ही ली और जीवनभर समाज में सर्वत्र हरकठिन परिस्थिति मे समाज सेवा करते रहे और सफलता प्राप्त करते रहे ।

मोरेना में गुरुजी से संपर्क

सन १९१३ मे हमारे पुज्य पिता श्री गोकुल प्रसादजी सप्तम प्रतिमाधारी मोरेना अध्ययनार्थ गए। मेरी उम्र १२ सालकीथी। मातृ विहीन था, घर मे कोई न था, अतः साथ-साथ रहता था। उस समय प. देवकीनन्दनजी, पं बंशीधरजी, प. माणिकचंदजी आदि भी गुरुजीके पास गोम्मटसार आदि ग्रन्थो का अध्ययन करने तथा आगत अन्य छात्रोंको अवैतनिक अध्ययन करानेके लिए ६ रु माहवार एक मकान किराए पर ले रक्खा था। उसमे छात्र रहते थे। भोजन बनता था। सब अपनी भोजन फीस देते थे जो ६ माह की थी। भोजन का प्रबन्ध उत्तम था।

प. पन्नालाल गोनी और दक्षिण प्रान्त के क्षीरसागरजी आदि भी रहते थे। हमारे पिताजीने भी गोम्मटसार जीवकाण्ड व कर्मकाड पढा। हमने भी उस बाल्यावस्था मे गुरुजीसे रत्नकरण्ड श्रावकाचार (जो मूलमात्र मुझे कण्ठस्थ था) के २० श्लोक पढे। पश्चात् जो महाविद्यालय (महासभाश्रित) काशी विद्यालय मे मिला दिया गया था पुनः अलग होकर मथुरा आया। गुरुजीने मेरे पिता को सुझाव दिया कि इसे मथुरा भरती करा आवो। वे करा आये। मै मथुरा मे पढने लगा।

शास्त्रों की विनयविशेष

इन दिनोकी कुछ घटनाए सस्मरणीय हैं। गुरु गोपालदासजीको मैने त्रिलोकसार पढाते हुए देखा। पर वे बिमार रहते थे, अत प्रात स्नान देरसे करते थे। बिना स्नान ग्रन्थ को स्पर्श करना वे ग्रन्थका अनादर मानते थे, अतः पढनेवाले प देवकीनन्दनजी, प बशीधरजी आदि कोई भी छात्र स्नान व धौतवस्त्र पहिनकर ग्रन्थ सामने रखते थे व पन्ना पलटते जाते थे और गुरुजी बिना स्पर्श किए दूरसे ग्रन्थको देखते जाते थे और पढाते जाते थे। वह छापखाना के प्रचार का समय न था।

मथुरा मे पं. गौरीलालजी हम छात्रोको छहढाला पढाते थे, तब हम छात्रोको भी प्रातः ५ बजे स्नान व धौतवस्त्र पहिनकरही पढना होता था। यह जिनवाणी की विनय की शृखला कुछ दिन चली। सहारनपुर आदि शुद्धाम्नायी जनतावाले नगरी मे तो सन २५-२६ तक भी शास्त्र सभा मे हस्तलिखित ग्रन्थही बाचे जाते थे। मै पढता था तो ग्रथ पुजारी शुद्ध स्नानवस्त्रादिसे सज्जित हो ग्रथ के पत्र पलटता, तब हम शास्त्र प्रवचन करते थे। उस समय प्राय. सर्वत्र यही प्रथा थी। छापाके ग्रन्थ मदिरो मे नही रखे जाते थे।

सन १९१५ दिसम्बर ता. १५ को मै कटनीसे पुन मोरेना अध्ययन करने भेजा गया। उस समय स्व पं. देवकीनन्दनजी व पं. बशीधरजी मात्र ३० रु माह वेतनपर अपनी गृहस्थीका निर्वाह करते हुए अध्यापक थे। पं माणिकचन्दजी न्यायाचार्य ४० रु. माह लेकर अध्यापन करते थे। उस समय पं. जगन्नाथजी शास्त्री साहित्यके प्रौढ विद्वान् थे। उनके पास हम व्याकरण और साहित्य पढते थे।

मोरेना में पं. जीका जीवन

स्व प देवकीनन्दनजी स्वभावके मृदु थे। सब छात्रो पर उनका स्नेह बरसता था। जब कि अन्य अध्यापकोसे छात्र मात्र पढने के समय ही सम्बध रखते थे। तब पं. देवकीनन्दनजी से हर समय स्नेह पाते थे। कभी किसी छात्र को कोई कष्ट हो, आर्थिक हो, शारीरिक हो किसी भी अन्यप्रकारकी चिन्ता हो, पं. जी अर्थ से, सेवासे तथा अपने नैतिक उपदेशो से सब का मन हर लेते थे। प्रत्येक छात्र उन्हे अपना अभिभावक ही मानता था। किसी के भी कष्टके समय उनका दरवाजा सदैव खुला रहता था।

मुझे सागारधर्मामृत, सर्वार्थसिद्धि, न्यायदीपिका, परीक्षामुख आदि ग्रन्थोंका पठन श्री पं. देवकीनन्दनजी से प्राप्त हुआ। आत्मपरीक्षा, गोम्मटसार श्री प. बंशीधरजी से पढा। सन १७ मे या १८ में मै काशी विद्यालय की महिमा सुनकर काशी गया पर ३ वर्ष बाद पुन. मोरेना आ गया।

पं. जीका कारंजा पहुंचना

सम्भवतः सन २३ मे प देवकीनन्दनजी को कारंजा के प्रमुख पुरुष कारंजा ले गये। और वहां पूज्य श्री १०८ समतभद्रजी आचार्य की आज्ञासे वहा अध्यापन आदि कार्य करने लगे। कारजामे कई बार मं उनके पास गया और आया। उन मे गुरुत्व भावके अलावा जो आत्मीय वात्सल्य भाव था, उसके कारण समय समय पर मैं उनके पास जाता था।

देवगढ पंचकल्याणिक प्रतिष्ठा तथा गजरथ महोत्सव-महाराष्ट्र का अधिवेशन

उसी समय देवगढ मे पञ्चकल्याणिक प्रतिष्ठा थी। प जी भी गए थे। मै भी था। महासभाका अधिवेशन था। जनसख्या लाखो थी। अधिवेशनमें अध्यक्षता सरसेठ हुकुमचन्द्रजी कर रहे थे। बाहिर के प्रतिनिधि सदस्य ३६ थे। जो प्रस्ताव आता था, उसके समर्थन मे तो आम व्यक्ति बोल सकता था, पर विरोध मे केवल प्रतिनिधियो की सम्मति से किया जाता था। जनता मे इसकी प्रतिक्रिया हुई। लोग चाहते थे कि जनमत लेकर पास किया जाय, क्या, महासभा केवल ३६ व्यक्तियोंकी है? हम लाखो व्यक्ति भी भिन्न भिन्न स्थानोके प्रतिनिधि है, हमारा क्या महासभा मे स्थान नही है? परसादीलालजी पाटणी मत्री थे। उनने जनमत की उपेक्षा कर-अधिवेशन की कार्यवाही चालू रक्खी। फलत. जनता उखड पडी, बडा विरोध हुआ। शोर बढनेपर, प्रयत्न करनेपर भी आग भडकती गई। पाटणीजी जो मेरे पास ही बैठे थे वे मुझसे बोले, अब क्या उपाय किया जाय-सेठ साहिब अध्यक्ष की कुर्सी छोडकर चले गए थे।

बिगडी सभाके सुधारमे पं. जीका योगदान

मुझे विश्वास था कि माननीय पं देवकीनन्दनजी ही इस अशान्त जनता को शान्त कर सकते है। अतः मैंने उक्त सुझाव दिया। वे पडितजी साहब को तलाश कर उनके पास मुझे ले गये। मैंने परिस्थिति बताई। पाटणी की और मेरी प्रार्थना पर वे सभास्थानपर पडाल पहुचे,। वह लाऊड स्पीकर का युग न था। अतः टेबिल पर खडे होकर हाथके इशारेसे सबको शान्त होकर बैठनेका आग्रह किया। जब शोर शान्त हो गया। जनता अपने अनन्य नेता को सामने देखकर चुपचाप बैठ गई। पडितजीने टेवलपर खडे खडे ही यह आवाज दी कि, 'मुझे कोई पहचानता है?' जनता से एकसाथ आवाज आई कि 'यहा कौन है जो आपको पहिचानता नही?' तो प. जी ने कहा 'पहचानते हो तो बताओ मैं कौन हू?' जनता समूहसे आवाज आई 'कि हमारे सिर मौर-नेता-तथा हमारे प्रान्तके प्राण है।' पं. जी ने कहा 'यदि ऐसा मानते हो तो शान्त बैठ जाओ। सभाकी कार्यवाही जैसी चली थी चलने दो।' जनसमूहका प्रतिनिधित्व करने वालो ने कहा कि हमारी न सुनकर कुछ सीमित प्रतिनिधियो (३६) के मतसे कैसे प्रस्ताव पास किया जा रहा है? पंडितजी स हिबका उत्तर था कि "यद्यपि आप सबका तर्क उचित है, तथापि यह बुन्देलखण्डकी भूमि है। यहाँ-ये अपना अधिवेशन करने पधारे है। पाहुनोसे विवाद नही किया जाता। यदि वे कुछ उपद्रव भी करे तो सह लेना अपना कर्तव्य होगा। प्रस्ताव जो पास करेंगे वे उसे मानेगे। जो पास न करेंगे उनकी इच्छा है। उसे माने या न माने। जनतासे प्रस्ताव मनाने के लिए उनका मत लेना आवश्यक है। यह बात तो सभा सचालको के विवेकपर अवलम्बित है। अतः आप शान्त होकर कार्यवाही

होने दे।' शान्ति प्रस्थापित हो जाने पर अध्यक्ष सर सेठ सा. भी वापिस आ गए। कार्यवाही शान्त वातावरण मे सम्पन्न हुई।

पं. जीका इंदौर पहुँचना

सर सेठसाहिब प. जी के इस अद्भुत जन प्रभावसे अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके मन मे आया कि ऐसा प्रभावशाली विद्वान् जिसकी उगली के इशारेपर लाखो जनता चलती है यदि ये इन्दौर आजाय तो श्रेष्ठ हो। उन्होने प्रकारान्तर से अपना उपाय किया और वे उसमे सफल हुए। पडितजी कारंजा छोडना नही चाहतेथे, पर अपने सुपुत्रो को उच्च शिक्षा देना चाहते थे। अत कारजा जहा उच्च महाविद्यालय न थे छोड़कर इन्दौर आना स्वीकृत कर लिया।

पडितजी के अनुरोध पर मै सर्व्हिस नही करना चाहता, कोई व्यापारिक काम अब करना चाहता हू। उसमे मुझे कुछ प्रकारकी सुविधा दे। सेठ सा. ने एक फैसी कपडेकी दुकान १ लाख की पूंजीसे स्थापितकर उसका आठ आने का भागीदार प जीको बनाया। स्टॅम्पपर लिखा पढी हो गई। दैनिक खर्च को पडितजी २५० रु मासिक लेते थे। दो साल बीतने पर भी उस दुकानका न हिसाब हुआ और न कोई हिस्सा मिला। प जी सा. ने सेठ सा से कहा-उत्तर मिला कि "उस मे तो घाटा ही है, अत क्या हिसाब करे!"

वे जान गए कि, २५० रु. माह का मै नौकर रखा गया हू। अत वह स्टाम्प लाकर सेठजी का दे दिया और कहा-"मेरे लडको के निमित्त से आपको कोई कष्ट न हो और आपके चित्त मे विकल्प न हो इसलिए वापिस करता हू?" पं जी पर विवश थे। पुत्र कॉलेज मे शिक्षा ले रहे थे। अत स्थान छोडा नही जा सकता था। उनको अपनी उस अवस्था पर घोर पश्चाताप हुआ। कुछ समय बीतनेपर प जी अस्वस्थ रहने लगे। एक दिन सेठजीसे कहा, "अब मै अस्वस्थ रहता हू। शास्त्रसभा मे उपस्थित नियमित नही आ पाता अत. मेरी २५० रु की वृत्ति बन्द कर दीजिए।"

सेठ सा ने प जीके हाथ पकड कर बडे अनुराग (वात्सल्य) भरे शब्दो मे कहा, "आप मेरा साथ न छोडो। आप ठीक हो जावेगे। मेरी वृद्धावस्था है और आपको मेरा समाधिमरण कराना है. अत. आप साथ न छोडे। मै आपको छोडूगा नही।" प जी कुछ आश्वस्त से हुए पर बीमारी बढती गई। उन्हे अस्पताल मे भरती होना पडा। अचानक सेठ सा का फोन मिला कि "आप अस्वस्थ रहते है। आ नही पाते अत. उस बातको आज स्वीकार करता हू और आपको सेवामुक्त करता हू।" पेन्शनका विकल्प सम्मुख आया पर प. जीने उसे स्वीकार नही किया।

मेरी चिन्ता

मै उदयपुर गया था। वापिस जब आने लगा तो अपने गुरु होने के कारण उन्हे देखने इन्दौर आया। सब जानकारी मुझे मिली और मुझे लगा कि समाज के इतने बडे विद्वान् की यह अवस्था है। यह हमारे प्रान्त की ही नही, अखिल जैन समाज की अनुपम विभूति है। जब-जब जहा-जहा बुलाया गया, गए। और सारे सामाजिक झगड़े, ग्राम-ग्राम के झगडे सुलझाए। जन-जन मे प्रतिष्ठा बढी। लोग उनको अपने सिरमाथे रखते है। सब दूर धर्मका प्रचार-प्रसार किया। सारा जीवन परोपकार मे ही लगा दिया। कभी एक पाई भी समाज से भेट नही ली।

प्रकारान्तर से सर्वस्व (समाज को) समर्पित किया पर उसके बदले में कभी बिदागी धन नहीं लिया प्रतिष्ठा खूब पायी पर यह अन्तिम जीवन कैसे चलेगा ? मेरा हृदय चिन्तित हो गया । मैं सोचने लगा कि सम्पूर्ण समाज की बात छोडो और अपने प्रान्त की इस विभूति को पूरी सेवा दो । बुन्देलखण्ड का आव्हान करो । बुन्देलखण्डका तो कर्तव्य हैं कि अपनी इस विभूति की इस अवस्था मे सेवा करे ।

एक प्रयास जो सफल नहीं हो पाया

इन्दौर छोडने के पूर्व मैंने उनके ज्येष्ठ पुत्र सुमतिचन्द्र को देखा कि बहुत उद्विग्न हैं, उदास है क्यों कि वे बडे भाई है । बाकी ५ छोटे हैं । भार तो ज्येष्ठपर आता है । मैंने उसे आश्वासन दिया और मैं इन्दौरसे चलकर खुरई पहुचा । श्रीमन्त सेठ ऋषभकुमारजी वहा के प्रमुख घराने के है । मेरा रिश्ता भी है । इनके पिता श्रीमन्त सेठ मोहनलालजी बडे कर्मठ समाज सेवक थे । महासभा के अनेक वर्ष महामंत्री रहे । उनके समय में ही कुण्डलपुर (दमोह) मे महासभा का अधिवेशन आरा के सुप्रसिद्ध रईस देवकुमारजी की अध्यक्षता मे हुआ था, जो आज भी वृद्धो की जबान पर हैं ।

श्रीमन्त सा. से सब समाचार कहे तथा अनुरोध किया कि आप बुन्देलखण्ड के सुप्रसिद्ध धनी परिवार के व्यक्ति है । आपको पं. जी को और परिवार को अन्तिम जीवन मे साथ देना है । यह बुन्देलखण्ड की कृतज्ञता का उत्कृष्ट नमूना होगा । सेठ सा. ने तत्काल स्वीकृति दी । पडितजी और उनके परिवार के निवास योग्य भवन की व्यवस्था की, तथा 'जो उनका पारिवारिक तथा औषधी व्यय होगा वह सब हमारी कोठी उठायेगी आप प्रयत्न पूर्वक प. जी सा को ले आय' । मेरे साथ इन्दोर उन्होंने अपने जेष्ठ भ्राता स्व कोमलचदजी को भेजा और उन्हे कहा कि भाई साब ! आप पडितजी (मेरे) के साथ जाकर आदरणीय पडितजी को (श्री देवकीनदन जी को) बडे आदर के साथ आमन्त्रण मेरी ओर से दे आओ ।

हम लोग इन्दौर गए । पं जी से मिले तथा वह सब श्री. कोमलचन्दजी ने निवेदन किया । गुरुजी अत्यन्त प्रसन्न हुए—बोले "आज मेरी शल्य दूर हुई ! मुझे लगा कि मेरी सेवाओ का किसीने तो मूल्याकन कर इस अवस्था मे साथ दिया । मुझे यह अनुमान करते भी देर न लगी कि उनके ज्येष्ठ पुत्र सुमति के पास जीवन निर्वाह के लिए पर्याप्त रुपया नही है । बाजार से लाकर कुछ फलादि पहुंचाए । और सोचा—खुरई लौटकर इसे कुछ रुपया भेजना है ।

पडितजी की स्वीकृति लेकर हम लोग चलने लगे तो पुनः प्रार्थना दुहराई । गुरुजीने कहा अस्पताल से छुट्टी मिलनेपर मैं समाचार दूगा । श्री. कोमलचंदजीने निवेदन किया "आपका समाचार आते ही मैं स्वय आपको लेने आऊगा । एक ट्रक सामानको ढोने और दो कार सबको लेने मेरे साथ रहेगी । " पं. जी ने प्रसन्नता के साथ स्वीकृति दी तथा आनन्द व्यक्त किया । हम सब स्टेशन गए । गाडी ४ घण्टे लेट थी अतः कोमलचन्दजी तथा उनकी सुपुत्री जो साथ थे स्टेशन पर छोडा और मै अस्पताल आ गया। चर्चाए होती रही । अन्त मे मैं स्टेशन आने लगा तो मैंने पुनः अपनी बात दोहराई पर गुरुजीने उत्तर दिया वह विलक्षण था । बोले, "मेरे लेने न भेजना न आना । मै कही जाऊंगा नही !" मुझे आश्चर्य हुआ मैंने तत्काल कहा, कि "गुरुजी आपने स्वीकृति भी कोमलचदजी को दे दी है; फिर ऐसी बात कह रहे हो ?" पंडितजी बोले, "मेरी इस अवस्था मे जिसने इतनी सहानुभूति जताई, मै उसे स्वीकृति न देता तो क्या इन्कार कर उन्हे दुखी करता । पर मैं जाऊगा नही । " मेरे प्रश्न करने पर कि क्यो आप निर्णय बदल रहे है ? गुरुजी बोले, "आपने स्वीकृति तो दे दी है !" पं. जी का उत्तर था, "उन्होने मुझे

सन्तोषित किया, मेरी शल्य दूर हो गई जो किंचित् थी । तो मैंने भी उन्हे अपने शब्दाद्वारा प्रसन्न किया इससे जादा मैं कुछ करनेवाला नही हू ?" मैं अवाक् रह गया । मेरी सारी योजना पर पानी फिर गया । मै श्रीमन्त सा को क्या कहूगा ! मैं सोचकर चुप हो गया कि यह सब कुछ नही कहना है श्री कोमलचन्दजी मे जो बात हुई वे उसे कहेंगे । मैं मात्र उन की बात की सत्यता का समर्थन करूगा । ६ जून ५० को इन्दौरसे हम सब खुरई जब आए तो सब चर्चा श्री कोमलचन्दजीने की । सेठ साहिब बहुत प्रसन्न हुए । जिस मकान मे प जी सा को ठहराना है उसमे कारीगर मजदूर लगे थे वह सुन्दर से सुन्दर बनाया जा रहा था । मैंने ५०० रु. का वीमासे भेजना तत्काल खर्च को उचित समझा और भेजा ।

अंतिमक्षण की पूरी सावधानी

दिनाक १२ जून को पं. जी सा की तबियत कुछ बिगडी । उन्हे आभास होगया कि आज जीवन समाप्त होगा । तब समाधि तो करनी है । पर अस्पताल मे परिवार के साथ कैसे सम्भव है । उन्होने उपाय सोच लिया । गुरुमीनी (उनकी पत्नी) से कहा, "मेरी तबियत आज प्रसन्न है । ऐसा मन है कि आज मन्दिर मे १२ बजे तक खूब भजन पूजन करो" । ज्येष्ठ पुत्र से कहा, "डॉक्टर सा के घर जाओ और जब वे यहाँ आवे तो साथ आना, पूछे तो कहना तबियत बहुत अच्छी है, पर आप जब अस्पताल जाय तो मिल ले !" दूसरे बच्चो को बाजार साग आदि लाने भेजा जो (इतवारा बाजार) दूर था । सबको भेजकर मात्र एक बडी पुत्री सौ. विमला से कहा कि, मेरा समय आया ! तुझे मोह हो तो तू भी घर जा ! उसने कहा, 'मुझे मोह नहीं है । मैं पास रहूंगी ।' पण्डितजीने उससे चटाई मगाई और सब परिग्रह त्याग कर मात्र एक वस्त्र लेकर चटाई पर पडे रहे और लडकीसे कहा "समाधिमरण सुनाओ ! मेरा समय आगया !" लडकी सुनाती रही । आप पच नमस्कार पढते रहे और हाथ उठाकर ३ बार हाथ जोड सके । १०॥ बजे शरीरका इस प्रकार त्याग किया । यह है उनके पवित्र जीवन के अंतिम दिनो की झांकी ।

डॉक्टर सा आये, माताजी पूजन कर आई, बच्चे बाजार से आये, अग्निसस्कारकी तैयारी करनी पडी सेठ सा को तथा नगर के परिचित भाईयो को फोनसे समाचार दिए । सेठानी सा आ गई, नगरसे १५० / २०० करीब जैनबन्धु पहूँचे ।

खुरईमे भेजा गया रुपया समय पर पहुच गया । अया चिन घटना घटनेसे परिवारको तत्काल बडा बल मिला । सब तैयारियाँ हुई । अर्थिके साथ २००-२५० व्यक्ति तक हो गये और अग्नि सस्कार हुआ । हमे खुरईमे तार द्वारा यह समाचार दिये गए । हम सब विधिका विधान देख अवाक् हो गए । सारी योजना समाप्त हो गई ।

श्रद्धान्जलि सभा में समर्पित श्रद्धाञ्जलि-तथा कृतज्ञता

श्री प. फूलचन्दजी, श्री माणिकचन्द्रजी चवरे तथा समाज के सुपरिचित लोगो को तथा बरूआसागर परिवारके अन्य भाई बन्धुओको तार से समाचार भेजे । पगडी का दिन निश्चित करके समाचार भेजे ।

मै समाजके प्रमुख श्रीमान श्रीमन्त सेठ सिघई ऋषभकुमारजी खुरई श्रीमन्त सेठ विरधीचन्दजी शिवनी, स. सि. धन्यकुमारजी कटनी, सेठ हरिश्चन्द्रजी जबलपुर, टडैया जिनेश्वर दासजी ललितपुर, सर्राफ भगवान दासजी ललितपुर, श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्दजी भेलसा आदि प्रमुख पुरुषोके साथ पगडी के दिन पहुचा । प फूलचन्दजी शास्त्री, श्री चवरेजी तथा कारजा से अनेक व्यक्ति भी पहुँचे । रात्री मे शोक सभा हुई सबने हार्दिक दुःख प्रगट किया । सभा म सेठ राजकुमारजी, माताजी आदि भी थे । दूसरे दिन सेठजीके पास सब पहुचे । सेठजीने भी दुख प्रकट किया ।

बुन्देलखण्डके श्रीमन्तोंने पूरे परिवारकी सम्हालके लिए पूरी योजना बनाई, जो अविस्मरणीय है। इस सब योजनामें आदरणीय पं. माणिकचन्द्रजी चवरे कारंजा तथा आदरणीय पं. फूलचन्दजी शास्त्री वाराणसी का ही प्रमुख योगदान था। ये दोनों भी पंडितजी के प्रिय शिष्य हैं। आज तक दोनों सज्जन उनकी कीर्ति को विस्तार करने में योगदान कर रहे हैं। श्री पं. देवकीनन्दनजीके नाम से एक छात्रवृत्ति फण्ड पं. फूलचन्दजी आज भी वर्णी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत चला रहे हैं। श्री चवरेजी का ही यह प्रयत्न है कि यह गुरु गौरव प्रदर्शित स्मृति ग्रन्थ समाजके सामने आ रहा है। परम पूज्य श्री १०८ आचार्य समन्तभद्रजी जो उस समय ब्र. देवचन्दजी बादमें प. पू. आचार्य शान्तीसागरजी द्वारा श्री प. पू. क्षुल्लक समन्तभद्रजी रुप मे दीक्षित हुए तथा आजके दिन आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं। आज भी कारंजा गुरुकुल के उत्थान में स्व. पंडित देवकीनन्दनजीकी अमूल्य सेवाओंका कृतज्ञता पूर्वक स्मरण करते हैं। तथा उनकी प्रेरणासेही यह ग्रन्थ पं. धन्यकुमारजी भोरे तथा पं. माणिकचन्द्रजी चवरे तथा प्राचार्य विद्याधरजी तैयार कर रहे हैं।

पंडितजी के स्वर्गवास के बाद स्थानकी समस्या भी परिवारके लिए खडी थी। उसे पं. फूलचन्द्रजीने अपनी सूझ-बूझ से हल करने का प्रयत्न किया। सेठ सा. से २ साल तक फ्री मकान मिल सका।

सुपुत्रों की शानदार अस्मिता तथा कृतज्ञता

समाज का जो सहयोग उन्हें मिला वह उन्होंने मात्र ३ साल तक ही स्वीकार किया। इन दिनों दूसरा छोटा भाई त्रिलोकचन्दजी पढकर डॉक्टरी करने लगा। तीन साल के बाद पं. जी के पुत्रोंने सहायता लेने से इन्कार कर दिया यह कहकर कि आप सब की कृपा से अब हम दोनों भाई परिवार को सम्हालने मे समर्थ हो गये है। ५ वर्ष बाद प्राप्त सहायता को वापिस करने का प्रस्ताव मेरे सामने रखा तो मैंने उन्हें मना किया। मैंने कहा, "किसीने सहायता नहीं की, बल्कि अपनी कृतज्ञता के नाते ही परोक्ष में उनके चरणो मे अपनी भेंट समर्पित की है उसे कोई वापिस नहीं लेगा।"

अब पं. जी के सभी पुत्र शिक्षित होकर अपनी-अपनी गृहस्थावस्था का उत्तमरूप से संचालन कर समाज-सेवा कर रहे हैं। श्री भाई सुमतिचन्द्रजीका देहावसान हो चुका है। माताजीका भी वियोग इसी वर्ष हो चुका है। और तृतीयसुपुत्र डॉ. प्रकाशका भी, असमय में ही अल्पायु में ही स्वर्गवास होगया।

सामयिक चेतावनी

इतने बडे सेवाभावी समाजको सर्वस्व समर्पण करने वाले व्यक्ति की यह 'जीवन गाथा' समाज की भावी पीढी को यदि कुछ शिक्षा दे सके इसलिये अंकित की गई है। आज समाज में विद्वत्ताका मापदंड बदल गया है। यदि वह समाजसेवा के उपलक्ष्य में वेतन लेता है तो उसकी परोक्ष में अप्रतिष्ठाही जनता करती है, आलोचना करती है। यदि नहीं लेता तो दरिद्रता का शिकार होता है। यदि स्वतः व्यवसाय कर जीविका चलाता है तो समाज और धर्म सेवाको समय नहीं जुटा पाता। यह विसंगति कैसे सुधरे यह प्रश्न है।

मेरे गुरुजी

सिद्धांताचार्य (पं. फूलचन्द्रजी शास्त्री)

भविष्यवाणी की सत्यता

बात सन १९१९ की है। उस समय मैं साढूमल (ललितपुर) का एक विद्यार्थी था। परीक्षाका समय था। किसी कारण मेरे मुख्य गुरुजी प. घनश्यामदास जी परीक्षा में उपस्थित नही हो सके थे। यह क्रम कई दिन तक चला। इससे सभी छात्र दुःखी हुये। आपस मे विचार किया कि, इस परीक्षाको मटिया-मेट कर दिया जाय। फलस्वरूप इसके लिये एक उपाय निकल आया। परीक्षा के दिन ऊपरी मजिल में दिवाल के मध्य किवाडो के पास एक पटिया निकला हुआ था। उससे अटारी के नीचे के कमरे मे खबर पहुचायी जा सकती थी। इसके लिए बारीक एक डोरा बाधा गया। जो छात्र निकले हुए पटियों के पास बैठता था उसके पास एक कागज पर प्रश्न लिखकर पहुचा दिया जाता था, वह उस खंदक मे पुरजे को नीचे गिरा देता था। नीचे जो बडे छात्र बैठे रहते थे वे उस प्रश्न का उत्तर लिखकर डोरेसे बाध दिया करते थे और डोरे को हिलानेपर पास बैठा हुआ छात्र डोरे को ऊपर खीचकर जिसका प्रश्न होता था उसके पास उत्तर पहुचा दिया करता था। पूरी परीक्षा मे यह क्रम चलता रहा। बाद मे इसकी जानकारी किसी तरह पाठशाला के सस्थापक श्रीमंत स्व सेठ लक्ष्मीचदजी तक पहुच गई।

श्रीमन्त सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी साढूमल के बडे सहृदयी महानुभाव थे। वे अपनी धर्मपत्नी से कहा करते थे कि "तुम एक बच्चे को मरती हो। देखो ये तुम्हारे कितने बच्चे है। इन्हे पढाओ लिखाओ, इन्हे इस योग्य बना दो ताकि ये आगे चलकर समाज के काम तो आयेंगे ही, उससे हमारा तुम्हारा जीवन भी सफल होगा।" प्रसग पाकर उन्होने हम बच्चोको बुलाया और यह कहकर कि, "इससे तुम लोगोका कोई नुकसान नही होगा परीक्षा मे तुम लोगोने नकल का सहारा क्यो लिया। उसका कारण हमे जानना है ताकि आगे का मार्ग अपनाने मे सहूलियत हो"।

सेठजीके यह आश्वासन देने पर कि हम लोगो का कोई नुकसान नही होगा, हम लोगोने सही कारण बतलाते हुये कहा कि हमारे बडे गुरुजीको परीक्षा से बाहर रखनेका अकारण षड्यंत्र रचा गया था। वे इतने स्वाभिमानी थे कि उन्होने हम लोगों की ओर देखा भी नही और शान्ति से परीक्षा होने दी।

अन्त मे सोच-समझकर मोरेना विद्यालय से दो विद्वानो को बुलाया गया कि इन बच्चोंको मुखाग्र परीक्षा ली जाय। सेठजीके आमन्त्रण पर मोरेना से जो विद्वान आये थे उन मे एक हमारे गुरुजी पं. देवकीनंदनजी भी थे।

उन्होने हम सबकी मुखाग्र परीक्षा ली। गर्मी के दिन थे। वे सेठजी के भवन के आगन में रात्रिको विश्राम कर रहे थे। हम पाठशाला के बडे लडके उनसे मिलने के लिए गये। बातचीत के प्रसंग से हमारे गुरुजी बोले- "तुम लोगो ने ग्रन्थ की अच्छी तैयारी की है। तुम लोगो के गुरुजी बहुतही व्युत्पन्न विद्वान है, स्वाभिमानी तो है ही। उन मे अन्त तक पढाने की क्षमता भी है। परन्तु उससे समाज और विद्वानों मे तुम लोगो की प्रसिद्धि कम होगी, जबकी मोरेना विद्यालय मे पढनेसे तुम लोग उत्तर दक्षिण के, पूरे भारतवर्ष के सभी विद्वानो और समाज मे अपने आगमाश्रित विशिष्ट ज्ञानकी सुगन्धि से महक उठोगे" गुरुजी की यह भविष्यवाणी सत्य निकली। मोरेनाके कारण हमारी जितनी प्रसिद्धि हुई उतनी साढूमल मे पूरी पढाई करने पर भी नही होती। यह सब गुरुजी की कृपा का ही फल है। जिससे वर्तमान मे हम लाभान्वित हो रहे है।

मोरेना विद्यालय में सहपाठियों के साथ

गर्मीके अवकाश के बाद हमने मोरेना जानेका निश्चय कर लिया। सस्था के सस्थापक स्व. श्रद्धेय सेठजी ने हम लोगो का हित जानकर मोरेना जाने की स्वीकृति दे दी। फलस्वरूप मै मोरेना विद्यालय का छात्र बन गया। हमारे साथ स्व. पं किशोरीलालजी शास्त्री भी मोरेना गये। स्व प. हीरालालजी शास्त्री इन्दौर चले गये। किन्तु कुछ दिन रहनेके बाद हम दोनोका यहाँ चित्त नही लगा, इसलिए हम दोनो लौटकर साढूमल चले आये। उस समय स्व. सेठजी बीमार हो गये थे। जैसेही उन्होने हम दोनो को देखा, तत्काल पुनः मोरेना भेज दिया। यह देख गुरुजी हम दोनोका मोरेना विद्यालय मे बहुत अधिक ध्यान रखने लगे। मै शास्त्री प्रथम वर्ष मे पढने लगा। श्री. प जगन्मोहनलालजी शास्त्री और श्री प कैलाशचन्द्रजी शास्त्री भी वही पढते थे। वे हमारे सहपाठी बन गये। अन्य छात्रों के साथ हम तीनो एक कमरे मे ही रहते थे।

भादोका महिना था। गुरुजी को दिल्ली से आमंत्रण आने पर श्री. प किशोरीलालजी के साथ मुझे दिल्ली ले गये। दिल्ली मे उनके प्रवचनो की धूम मची थी। मुझे तो वे पहाडी धीरज के जिन मन्दिर मे प्रतिदिन प्रवचन करने के लिए भेजने लगे। वहा प्रवचन करके लौट आता तो अन्त मे गुरुजी के प्रवचन सुननेका लाभ लेने लगा। उनके प्रवचन की रोचकता इसीसे समझी जा सकती है कि अन्त मे उन्हे "व्याख्यान वाचस्पति" नाम की उपाधि से विभूषित करने की प्रथा चल पडी।

गुरुजी के स्नेह की विशेषता

दशलक्षणपर्व मे हम लोगो के दिल्ली रहत हुए अष्टमी और चतुर्दशीको छोडकर प्रति दिन प्रातःकाल ही समाज की ओर से हलुवा और फल आने लगे। हम दोनो के खाने के लिए मना करने पर पहले दिन ही गुरुजी हम दोनों को डाँटने लगे और कहने लगे- "ससरे हो ! तुम दोनो को बालक जानकर समाज नाश्ता भेजती है, । फिर भी तुम दोनो लिपोची बनते हो, खाओ।" लाचार होकर हम दोनो खाने लगे। जीभ मे पानी तो आता ही था, खाने की इच्छा भी होती थी, पर लज्जावश खाते नही थे। अन्त मै गुरुजी के बहुत आग्रह करने पर हम दोनो नाश्ता लेने लगे। ऐसे स्नेही थे हमारे गुरुजी। उन बातोको याद कर-करके उनकी स्नेहमयी वह मूर्ति आज भी हमारे सामने खडी हो जाती है।

स्पष्टवादी गुरुजी के मुखसे

गुरुजी स्वयं सुनाते रहे कि, जब मै मोरेना जैन सिद्धान्त विद्यालय में अध्यापन करता था तब मै विद्यालय के अधिष्ठाता स्व. श्री, प धन्नालालजी तथा अन्य दूसरे विद्वानो के साथ बरुआसागर लौट रहा था। उस

समय रेलगाडी मे इतनी भीड नही होती थी जितनी अब होती है। सभी पण्डितो के मिलनेपर मार्ग में अनेक विषयोपर चर्चा चल रही थी। उन मे एक विषय अन्तर्जातीय विवाह के विषय मे भी चल निकला। दूसरे विद्वान् अन्तर्जातीय विवाहका विरोध कर रहे थे, किन्तु मै उसका पक्षधर था। मैने दृढतासे उसका समर्थन किया। चर्चा में गर्मी आगई। उसी जोश मे स्व. श्री. प धन्नालालजी बोले. "आजकल 'देवकीनन्दन' तुम मुह बहुत खोलने (चलाने) लगे।" मैने भी उसी जोश मे उत्तर दिया– "पं जी जब कोई नाक दबा लेता है तो सास लेनेके लिए मुंह खोलनाही पडता है।" ऐसे स्पष्ट–वादी थे हमारे गुरुजी।

गुरुजी का मोरेना से प्रस्थान

मेरा मोरेना विद्यालय मे दूसरा वर्ष चल रहा था। अनेक गुरुकुलो के संस्थापक श्री १०८ पूज्य मुनि समत भद्रजी की इच्छा को मान देकर कारंजासे कुछ महानुभाव गुरुजी को मोरेना छोडकर कारजा श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल मे लेने के लिए आये हुये थे। गुरुजी की कारजा जानेके लिए जो शर्ते थी वे मान ली गयी थी। जब गुरुजी कारजा के लिये प्रस्थान करने लगे उस समय का दृश्य देखने लायक था। मोरेना समाज और अधिकारीगण तथा अध्यापक गण के साथ छात्र भी नहीं चाहते थे कि गुरुजी मोरेना छोडकर कारजा जाये। पर कारजा ब्रह्मचर्याश्रम की एक कमी को पूरा करने के लिये उनका कारजा ब्रह्मचर्याश्रम मे जाना जरूरी था। इसलिए लाचार होकर गुरुजी को बिदाई देनी पडी। छात्रो मे उनके प्रति जो आदर विशेष था वह उस समय देखने मे आया जब गुरुजी मोरेना छोडकर कारजा के लिये विदा होने लगे।

समाजसे सम्पर्क का अवसर और स्वयंभू नेतृत्व

गुरुजी के कारंजा के गुरुकुल मे रहते हुये अध्यापन के साथ ही उन के लिए समाज के सम्पर्क के अवसर विशेष आये। उनका समाज से सम्पर्क का लाभ समाज को तो मिला ही लेकिन गुरुकुल की पद्धतिका समाज म प्रचार–प्रसार विशेष हुआ। साथ ही उनकी कीर्ति भी बढी। उसका अंदाज इसी से लगाया जा सकता है कि पूरे जैन समाज ने उन्हें अपना नेता स्वीकार कर लिया। वे बुन्देलखण्डके तो आत्मा थे ही। उनकी आवाजही बुन्देलखण्डकी और उस के आस पास के प्रदेशकी आवाज मानी जाती थी। उन मे व्यावहारिकता कूटकूट कर भरी हुई थी। किसी विषयपर समाज मे विवाद उत्पन्न होनेपर उसे निपटा देना उनके बाये हाथका खेल रहता था। वे पूरे समाजशास्त्री थे। वे व्याख्यान कला मे इतने निपुण थे कि उनकी एतद्विषयक प्रतिभा देखकर दिल्ली मे उन्हें '**व्याख्यान वाचस्पति**' उपाधिसे विभूषित करने की पद्धति चल पडी थी।

गुरुजी का प्राप्त प्रथम आशीर्वाद

एक दोहा है।

"कला बहत्तर पुरुष की, तामे दो सरदार।
एक जीवकी जीविका, एक जीव उद्धार ॥

हमारे परिवार म साहूकारिका धधा होता था। धीरे धीरे उसके क्षीण होजाने से घरकी परिस्थिति बिगडती गई। हम पढलिख तो गये थे। घरकी आजीविका का सवाल मुख्य था। हम घर पर ही थे कि अकस्मात हम क्या देखते है कि गुरुजी हमारे घर आ रहे है। पहले तो उन्हाने श्री जिन चैत्यालय मे जाकर जिनदेवके दर्शन आदि किए। हम उनके साथ हो लिए। हमसे बोले हमारे भाई के विवाह मे तुम्हें साहूमल चलना है। मै उनके साथ गया या बाद मे गया इसकी तो मुझे नवकी खबर नही है। किसी तरह गया और विवाह मे सम्मिलित हो गया।

प्रसंग पाकर संस्था के संस्थापक के बडे भाई श्रीमंत सेठ चन्द्रभानजीसे बोले– 'अपनी पाठशालाकें लिये योग्य अध्यापक चाहिये इसलिए मैं फूलचन्द्रको ले आया हूं।' सेठजी की स्वीकृति मिलनेपर मुझे बुलाया गया और पाठशाला मे हमारी नियुक्ति करा दी गई। "सूरा क्या चाहता है दो आखें" घरकी परिस्थिति देखते हुए मुझे भी आजीविका की चिंता थी। गुरुजी के शुभाशीर्वाद से वह समस्या निपट गई। मैं आजीविकासिर हो गया इससे घरमें प्रसन्नताकी लहर दौड गई।

धीरे धीरे समय बीतता गया। साढूमल मे ५-७ महीने ही अध्यापन का कार्य किया था कि, बनारस के श्री स्याद्वाद महाविद्यालय की ओरसे आमंत्रण आनेपर वहां अध्यापन का कार्य करने लगा। वहां कुल मिलाकर चार वर्ष ही रहा था कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की गई कि मैं वहा मे निवृत्त होकर 'बीना' पाठशाला में प्रधान अध्यापक के पदको स्वीकार कर वहां आ गया। बीना पाठशालाकी आर्थिक स्थिति बिगडने से मैंने त्यागपत्र दे दिया अन्त में गुरुजी ही शरण आये। उनके आग्रहपर मैं सोलापूर मण्डलान्तर्गत नातेपुते मे अध्यापन का कार्य करने लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमे और हमारे कुटुम्बकी परिस्थिति सम्हालने में गुरुजी का बार-बार सक्रिय सहयोग मिलता रहा है। यह उनका आशीर्वाद है जिसका फल मैं आज भी भोग रहा हू।

एक चिंताका विषय

कारणवश सन १९३७ में मैं नातेपुते से निवृत्त होकर बीना घर आ गया। चित्त तो अनुचित रूढियों के विरुद्ध था ही। दस्साओंकी समस्या मुह बाएँ खडी थी। जैन होते हुये भी उन्हे श्री जिनमन्दिरजी मे पूजन करनेकी बात तो दूर रही, दर्शन भी नही करने दिया जाता था। हमे यह देख कर आश्चर्य तो होताही था। अनुचित भी लगता था। हम ने स्वय इस बातका बीडा उठाया कि इन्हे सदा जैन बनाये रखने का तो यही उपाय है कि इनके उपर आये हुए श्री जिनमन्दिर न जाने देनेके इस कलक को सदा के लिए धो दिया जाय। आन्दोलन किया पर समाज अपनी लीक पर ही चलना चाहती थी। बहिनों की बुरी हालत थी। घर मे किसी बहिन के विधवा होजानेपर उसे नीची निगाहो से देखा जाता था। उसका एक काम रह गया था कि "वह पूरे घरके लिये चक्की पीस कर आटा तैयार करे, पानी भरे, पुरे घर को सफाई करे, यदि घर मे गाय-भेसे हो तो गोबर कूडा की सफाई करे और घर मे सबके भोजन कर लेने पर जो शेष बच जाये उसे खा-पीकर अपना जीवन यापन करे। मागलिक कार्य विवाह आदि मे वह हिस्सा नही ले।" बहुत क्या कहे कई जगह तो उसे घरसे निकाल दिया जाता था। लाचार होकर यदि कोई जैन मिल गया तो उसके साथ वह नया घर बसाने के लिये मजबूर हो जाती थी। अन्यथा वह गुजारा चलाने के लिए मुसलमान तक से नाता जोडकर मुसलमान हो जाती थी।

परवार सभा का कुरवाई अधिवेशन

वह घटना सम्भवत. सन १९४० की होनी चाहिये। गुरुजी बीना आये और वहा के प्रमुख महानुभाव सिंघई श्री नन्दनलालजी के यहा रुके। भोजन करके जब जाने लगे तो उनसे यह कहने गये कि, "कुरवाई मे परवार सभाका अधिवेशन होनेवाला है। उस में पं. फूलचन्द्र आये तो मैं नही आऊगा।" बाद मे हमें इस बातका पता लगा।

थोडे दिनके बाद मुझे इन्दौर कार्यवश जाना था। वहाँ गया और गुरुजी के यहाँ ठहरा। चर्चा के प्रसंग से गुरुजी बोले "फूलचन्द ! तुम्हें परवार सभा के अधिवेशन मे कुरवाई चलना है" उनकी वह बात सुनकर मैं

भोचक्का रह गया और गुरुजी से बोला कि, "आप 'बीना' यह कह कर आए हो कि, परवार सभा के अधिवेशन में तुम कुरवाई आये तो मैं नही आऊंगा और अब यह क्या कह रहे हो ।"

गुरुजी से यह बात मैं ने थोडे उत्तेजित होकर कही । मेरे गुस्से को वे ताड गये । मुझे शान्त करते हुए बोले "फूलचन्द्र ! तुम्हें कुरवाई चलनाही है । में तुमसे समझौता करुंगा और दस्साओंको सदा के लिये मन्दिर खुलवा दूगा । मैं तुम्हारी पीडा को समझता हू । तुम कोई बुरा नही कह रहे हो । वे भाई सदा जैन बने रहे यही तो तुम चाहते हो । तुम कुरवाई जरुर चलना । बाकी सब बातें मार्ग मे तय करेंगे ।"

कुरवाई अधिवेशन में पारित प्रस्ताव

अन्त मे मैं गुरुजी के साथ कुरवाई गया । कुरवाई में समाज के सब मुखिया आये हुए थे । प्रसंग पाकर दस्साओ के सम्बध मे मेरे प्रस्ताव रखने पर अनुकूल-प्रतिकूल खूब गरमागरम चर्चा चली। जब चर्चा में खूब गरमी आ गई तो गुरुजी खड़े हुए और बोले, "यह समस्या जटिल है । यदि दस्सा पुरुषों और महिलाओं को जैनी बनाए रखना है तो इन लोगो की बात अवश्य सुनी जानी चाहिए। ये जैनी कैसे बने रहे यही तो ये चाहते है । ऐसी एकता की ये बात नही करते कि जिससे समाज मार्गच्युत होकर समाज में अनीति का बोलबाला हो जाय।" गुरुजी ने मेरी बात को समाजके सामने हर तरहसे प्रस्तुत किया जिस से वह उक्त समस्या पर विचार करने के लिए तैयार हो गई और तत्काल इस बातको तय करनेके लिए निर्णय लिया गया। दोनों पक्ष की एक उपसमिति बनी जिस में परम्परावादियों की तरफ से (१) स्व श्रीमंतसेठ वृद्धिचदजी (२) स्व. स सिगई गणपतलालजी गुरहा (३) स सि धन्यकुमारजी कटनी (४) पलटूरामजी और (५) श्री. पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री लिए गए । तथा सुधार वादिओं की ओर से (१) मैं (२) स्व श्री पं. महेन्द्रकुमारजी न्या आ. और(३) स्व.वकील नन्दकिशोरजी लिए गए । तथा गुरुजीको इस समितिका मुख्य पच बनाया गया । साथही दूसरे दिन १ बजे मिलकर समस्याके हल करने का निश्चय हुआ ।

दूसरे दिन दिनके एक बजे उक्त समितिकी बैठक हुई । बैठक मे सब ने भाग लिया और अपने अपने विचार प्रस्तुत किए । इससे ऐसा भान होता था कि सब इस समस्याको हल करना चाहते है क्योंकि प्राय: गाव-गांव मे दस्साबन्धु निवास करते है । इस लिए वे देखते है कि, अभी भी दस्सा बन्धुओं के मन मे जैन धर्म की निष्ठा बनी हुई है । वे केवल जिनमन्दिरजीकी खुलासी चाहते है । इसलिए मिलकर विचार करने के बाद सब की रायसे यह तह हुआ कि, "प्रत्येक गाव या शहर की परिस्थिति को देखते हुए वहा की पचायत के आधार पर अपने दस्सा बन्धुओं के लिए श्री जिनमन्दिर दर्शन आदि के लिए खोल दिए जाए यह परवार सभा की राय है"

मैंने देखा कि, जिस समय यह प्रस्ताव खुले अधिवेशन मे रखा गया करतल ध्वनि के साथ उसे समाज ने तत्काल स्वीकार कर लिया । इस मे किसी का विरोध नही दिखाई दिया ।

पूर्वकी घटना और वर्तमान परिस्थिती

इसके पहले मैं गजाधरलालजी बामोरा के पक्ष मे अदालत मे बयान भी दे चुका था । मेरा कहना था कि, गजाधरलालजी भले ही दस्सा होगया है पर वह जैसे पहले भी जिनमन्दिर मे जाता था और दर्शन पूजन करता था वैसेही इसे करने दिया जाय । किसीके धर्म में हस्तक्षेप करने का अधिकार दूसरोंको नही है, किन्तु रूढिके आधारपर इस मुकद्दमे मे गजाधरलालजी को कामयाबी नही मिली थी । वस्तुत: यह मामला अदालत के निर्णय करनेका है भी नही । यह सामाजिक समस्या है । समाज इसको हल कर सकती है ।

इस समय जितने भी जिनालय हैं वे भलेही धर्मस्थान कहे जाते है, पर समाज उनकी व्यवस्था करती है, इस लिए इस अपेक्षा से वे सामाजिक भी है । समाज मे सदाचारकी व्यवस्था बनाए रखने के लिए उनका सदा से

उपयोग होता आया है और इस समय भी चल रहा है। किन्तु प्रत्येक गांवकी स्थिति पर ध्यान देनेसे विदित होता है कि अब पुराने रीतिरिवाजोंमें बहुत अन्तर होता जा रहा है। पहले प्रत्येक भाई-बहिनका जिनमन्दिर जाकर दर्शन पूजन करना अनिवार्य था। यहां तक कि छोटे-छोटे बच्चोंको कलेवा (नाश्ता) तब मिलता था जब वे श्री जिनमन्दिर जाकर दर्शन कर आये हो। अब कोई पूछनेवाला नहीं रहा। छोटो की बात तो छोडो, बडे-बडे लोग भी श्री जिनमन्दिरजी नहीं जाते। बहिने अवश्यही इस नियमका पालन करती आ रही हैं। धीरे-धीरे नई पीढिकी बालिकाओ में भी कमी आती जा रही है यह स्थिति बदलेगी इसके आसार कम दिखाई दे रहे हैं।

श्री षट्खण्डागम धवलाजी का सम्पादन-प्रकाशन

सन १९३८ का समय था, मुझे श्री षट्खण्डागम धवलाजीके सम्पादन व अनुवाद आदि के लिए आमन्त्रित किया गया। उस समय इस का कार्यालय अमरावती मे था। श्री स्व. डॉ. हिरालालजी इसके प्रकाशन के मन्त्री थे। श्री. स्व. पं. हीरालालजी शास्त्री अनुवाद आदि कार्य करते थे। इसके पहले स्व. डॉ. हीरालालजी ने एक पत्रक तैयार कर प्रकाशित किया था। वह अनेक अशुद्धिओ से परिपूर्ण था। बहुत आलोचना हुई थी। इसलिये मुझे बुलाया गया था। स्व. श्री. प हीरालालजी शास्त्री ने जो अनुवाद किया था वह मुझे दिया गया। इस विषय की समिति मुद्रण की स्वीकृती नही दे रही थी। इस लिए मै श्री. प. जीके द्वारा किये गये अनुवाद में आवश्यक परिवर्तन कर के सस्था की स्वीकृतिपूर्वक उस अनुवाद को गुरुजी को सागोपांग दिखलाने के लिये कारंजा ले जाने लगा और गुरुजी के द्वारा सुझाये हुए संशोधनों के साथ उसे अन्तिम रूप देने लगा। फलतः उसके मुद्रण की स्वीकृति मिल गई और उसका मुद्रण प्रारम्भ होने लगा। यही कारण है कि गुरुजी का प्रत्येक संस्करण में " संशोधन में सहायक " के रूप मे नाम जुडने लगा।

श्री. गुरुजी की साहित्य सेवा

इसके सिवाय गुरुजी के साहित्यिक दो काम और है-एक, पंचाध्यायी का अनुवाद और दूसरा सागार धर्मामृत का अनुवाद। पंचाध्यायी का अनुवाद कारंजा गुरूकुलसेही मुद्रित हुआ है। और सागार-धर्मामृत का अनुवाद सुरत से प्रकाशित हुआ है। इतना अवश्य है कि उन की इच्छा को मान देकर मैने उनकी राय से पंचाध्यायी का अन्वयार्थ के बिना दूसरा संस्करण तैयार किया था। उसे गुरुजी ने भी आद्योपान्त देखाही नही, पढा भी है। दुःख इसी बात का है कि, उन के जीवन काल मे उस का वह संस्करण मुद्रित नही हो सका। वह वर्णी संस्थान वाराणसी से मुद्रित हुआ है। इसी वर्ष उसका दूसरा संस्करण भी मुद्रित हो चुका है।

गजरथ के सम्बन्ध में

समाज में गजरथ विरोधी आन्दोलन का जोर था। उसे हमने ही एक संगठन बनाकर चालू किया था। दूसरी सभा और पचायतें उस मे सम्मिलित होती गईं। इस आन्दोलन के पीछे हेतु कई थे। अब उनकी चर्चा करने मे कोई लाभ नहीं।

परवार समाज की सक्रिय एक सभा है। यद्यपि उस का अस्तित्व अब भी बना हुआ है। विचार कर देखा जाय तो अब उसका इतना ही काम रह गया है कि उस के स्थायी कोष से जो वार्षिक आमदनी होती है उसका विनिमय छात्रवृत्ति के रूप में छात्रो में कर दिया जाता है और कतिपय विधवा बहिनो को कुछ वार्षिक सहायता के रूप में दे दिया जाता है।

कोई समय था जब उसके अधिवेशन होते थे। प्रबन्ध समिति भी चुनी जाती थी। उसके मन्त्री और अध्यक्ष बनाये जाते थे। मेरा भी एक बार अध्यक्ष पद के लिये चुनाव हुआ था। परंतु उसका खुला अधिवेशन न हो सकने के कारण वह चुनाव होकर ही रह गया था।

बारचौन अधिवेशन

एकबार उसका बारचौन में अधिवेशन हुआ था । उसी मे यह प्रस्ताव पास किया गया था कि गजरथ महोत्सव मे सार्वजनिक पंक्तिभोज बंद हो । उसका परिणाम यह हुआ कि गजरथ महोत्सव का स्थान एक व्यक्ति से हटकर चन्दे ने ले लिया । माता-पिता व इन्द्र आदि की प्रायव्हेट या खुली बोली, बोली जाने लगी । उससे गजरथ महोत्सव की दिशा ही बदल गई । बात यह है कि, पहले जितने गजरथ महोत्सव होते थे वे एक गृहस्थ के माध्यम से ही होते थे । उसके पूरे खर्च के भार का वहन एक गृहस्थ ही करता था । आमन्त्रण पत्रिका उसीकी ओर से प्रत्येक स्थान को भिजवाई जाती थी । प्रतिष्ठा के अवसर पर लाख-पचासहजार समाज प्रतिष्ठा महोत्सव में सम्मिलित होता था, वह पूरा समाज उस गृहस्थ का अतिथि माना जाता था । फलस्वरूप सत्कार के रूप में पूरे उपस्थित समाज को दो या तीन आदि पंक्तिभोजनों की व्यवस्था करता था । बैलो के चारा, इंधन, बर्तन और पाल या तम्बुओंके लिये खूटियों आदि की व्यवस्था करना था । किन्तु उक्त प्रस्ताव के फलस्वरूप प्रीतीभोज की प्रथा के बन्द हो जाने के कारण उक्त महोत्सवों की दिशा ही बदल गई है । अब वे महोत्सव किसी भी निमित्त से रुपये बटोरने के साधनमात्र रह गये है । करनेवाला एक व्यक्ति नहीं होता । उसका स्थान चन्दे ने ले लिया है । अतिथि सत्कार नाममात्र को रह गया है ।

पहले जो व्यक्ति इस महोत्सव का आयोजन करता था वह अतिथिसत्कार का जम्मेवार होता था । अब कोई जुम्मेवार नही होता । बोलियोंद्वारा रुपया बटोरना यह काम मुख्य हो गया है । चन्दा देकर सिंघई, सवाई सिंघई आदि बन जाते हैं तो कोई आश्चर्य नही ।

पपौरा अधिवेशन और परवार सभा का संरक्षक होना

भविष्य मे यह स्थिति उत्पन्न हो जाने वाली है यह देखकर गुरुजी मुझसे प्राय कहा करते थे कि– 'फूलचन्द्र ' बारचौन अधिवेशन मे उक्त प्रस्ताव पास करा कर मैंने बडी भूल की । इस से इस महोत्सव का महत्व ही कम हो गया है ।" वे बडे दूरदर्शी थे । परवार समाज के तो वे अनभिषिक्त राजा ही थे । यही कारण है कि 'पपौरा ' अधिवेशन में उन्हे परवार सभा का संरक्षक बनाया गया था । वे जहाँ भी जाते थे सर्वत्र उनका गाजे-बाजे के साथ स्वागत होता था । गाव या नगर की छोटी बडी समस्याये सुलझा देना उनके लिये साधारणसी बात थी। ऐसा कोई महोत्सव या सभा नही होती थी जिस मे वे न पहूँचे हो । इनकी उपस्थिति के आधार पर ही उस महोत्सव आदि की सफलता मानी जाती थी ।

समाज का भाग्य कालानुकूल विचारों से ही संभव है ।

मुझे मालूम है कि जब मैंने गजरथ विरोधी आन्दोलन को चालना देने के लिये केवलारी में अनशन किया था तब उन्होंने पत्र लिखकर समाज को सलाह दी थी कि, 'फूलचन्द्र ' की बात सुनी जानी चाहिये, उनके साथ दुर्व्यवहार नही होना चाहिये ।" यह समाज का दुर्भाग्य है कि वहाँ जो भी निर्णय किये गये थे उस पर वह स्थिर न रह सकी और ऐसे महोत्सव को अर्थार्जन का साधन बना लिया गया । इस मे वे भाई भी सम्मिलित है, जो अपने को सुधारवादी और उदार मानते हैं और समाज के उद्धार की बात करते है । किसी भी संस्था या क्षेत्र का उत्कर्ष हो यह सब चाहेगे । वे भगवान महावीर द्वारा दिखाये गये मार्ग के दीपक के समान है । वे सदा प्रज्वलित रहे यह दूसरी बात है । किन्तु गजरथ जैसे धार्मिक उत्सव को अर्थार्जन का साधन बनाकर पूरा समय इस काम में लगाया जाय यह दूसरी बात है । अब धार्मिकता के जागरण को स्थान अर्थार्जन ने ले लिया है । मैंने अपनी आँखो से देखा है कि ऐसे अवसरों पर केवल सपन्न लोगों को महत्व दिया जाता है, उनके लिये सारी सुविधाएँ मुहैय्या की जाती हैं । जब की गरीब साधर्मी भाईयो की व्यवस्था की ओर थोडा भी ध्यान नहीं दिया जाता है यह कैसी विडम्बना है ।

सामाजिक समस्याओं को सुलझाने की रामबाण दवाई जो गुरुजी के पास थी।

इस प्रकार मैं देखता हूं कि इस काल मे हमारे गुरुजी एक ऐसे समयज्ञ व्यक्ति हो गये हैं, जिन्हों ने सम्पन्न व्यक्तिओ को और समाज के स्वयंभू नेताओ को यदि अपने अनुकूल कराया था तो केवल इसलिये कि उनको आगे सब समाज को देश-काल के अनुसार सुधार की दिशा मे मोड दिया जाय। उनकी सर्वथा उपेक्षा करने से समाज प्रगति के मार्ग पर नही चलने पायेगी। इस बात को वे अच्छी तरह से जानते थे। इसके लिये उनका पेटेन्ट शब्द था "**चुखराई करना।**" यह उनके काम करने का प्रबल अस्त्र था। साधन था। इस आधार पर वे समाज से जो उसके हित में होता था वह काम करा लेते थे।

दक्षिण प्रांत की अपूर्व सेवाएँ

मै जब सन १९२१-२२ मे मोरेना मे था तब गुरुजी वहीं शिक्षाका कार्य सम्पन्न करते थे। किन्तु गुरुजी मे शिक्षा शास्त्री होने के साथ व्यावहारिकता कूट-कूटकर भरी हुई थी। विवाद का विषय उत्पन्न होने पर उसे निपटा देना उनके बाएँ हाथ का खेल था। इस आधार पर वे समाज शास्त्री भी थे। वे व्याख्यान कला मे इतने निपुण थे कि, उन की एतद्विषयक प्रतिभा देखकर उन्हे 'व्याख्यान वाचस्पति' उपाधिसे विभूषित किया गया था। उन की इस ख्याति की प्रसिद्धि दूरदूर तक फैली हुई थी। यही कारण है कि श्री १०८ पूज्य मुनि समन्तभद्रजी महाराज की ओर से उन्हे लेने के लिये कारंजा समाज के प्रसिद्ध दो महानुभाव मोरेना आये थे। इस लिये बहुत सोच-विचार के बाद गुरुजी ने कारजा आकर वहाँ के गुरुकुल की सेवा करने का निर्णय लिया था। विचार कर देखा जाय तो उन्ही के कार्य काल में कारंजा के गुरुकुल ने बडी उन्नति की है। स्थान-स्थान पर उसकी शाखा-प्रशाखाएँ स्थापित हुई है। पूरे गुरुकुलो की गणना करने पर वे १०-११ से कम नही होगे। पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण सब जगह इस आधार पर गुरुकुल देखने को मिल सकते है। इन गुरुकुलो के मूल में जो महापुरुष हैं वे है पूज्य श्री १०८ मुनि (आचार्य) समन्तभद्र महाराज। और उनके कर्मठ कार्यकर्ता पूज्य गुरुजी तथा उनके बाद श्री. ब्र पं. माणिकचदजी चवरे और श्री. भाई पं. माणिकचदजी भिसीकर आदि।

गुरुजी के स्वभाव की विशेषता

गुरुजी के स्वभाव मे जो सबसे बडी विशेषता है वह है विरोधी को भी अपने अनुकूल बनाये रखना। इस आधार पर किन्ही स्थानीय कारणो से समाज के माने हुए कार्यकर्ता कारंजा गुरुकुल के अनुकूल नही थे। उनके भी गुरुजी आदरणीय बने हुए थे और गुरुजी कारजा गुरुकुल के सम्बन्ध मे जो सलाह देते थे उसका वे अक्षरश पालन करते थे। यह बात मेरे अनुभव मे आई है, मात्र इसीलिये यहां मैने इस बात का उल्लेख किया है।

षट्खण्डागम के सम्पादन में सहयोग

सन १९३८ मे जब मै षट्खण्डागम के धवलाजी के अनुवाद सहित सम्पादन के लिये अमरावती आमन्त्रित किया गया था उस समय पुस्तक की सत्प्ररूपणा को मै पुन: तैयार करता था उसे लेकर संस्था की स्वीकृतिपूर्वक १०-१५ दिन मे मै कारंजा गुरुकुल मे गुरुजी के पास आवश्यक संशोधन के लिए जाया करता था, इसलिये गुरुजी को पढकर उसे सुनाया करता था। ऐसा करते हुए गुरुजी उस मे जो संशोधन बतलाते थे उसके अनुसार उसे अन्तिम रूप देकर मुद्रण के लिये उसे प्रेस मे दे दिया करता था। यही कारण है कि मेरे अमरावती पहुँचने के बाद लगभग एक वर्ष के भीतर उसकी प्रथम पुस्तक मुद्रित होकर स्वाध्याय के लिये समाजको उपलब्ध हो सकी। उस समय सम्पादक के रूप मे मुख्य नाम किसका रहे यह विवाद अवश्य उठा था। किन्तु यह काम किसी

तरह सम्पन्न होता रहे इसके लिये एतद्विषयक उपसमिति की राय से हम लोग चुप रह आये और श्री. डॉ. हीरालालजी को उसका मुख्य सम्पादक माना गया। यहीं क्रम धवला की दूसरी और तीसरी पुस्तक के अनुवाद सहित सम्पादन के समय तक चलता रहा। इस प्रकार मै देखता हू कि षट्खण्डागम धवला जैसे महान ग्रन्थो के सम्पादन मे गुरुजी का पूरा सहयोग मिलता रहा। यदि यह कहा जाय कि गुरुजी के सहयोग के कारण ही सिद्धान्त साहित्य का यह महान कार्य सम्पन्न हो सका तो कोई अत्युक्ति नही होगी। उसके कारण कई है, जिनको मैं यहाँ लेख विस्तार के भयसे चर्चा नही करना चाहता।

वर्णी संस्थान की स्थापना

यह प्रायः सब भाई जानते है कि पूज्य वर्णीजी का हमारे ऊपर विशेष उपकार रहा है। उसीके फल स्वरूप मैने गुरुजी से परामर्श करके प्रारम्भ मे 'श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला' की स्थापना का संकल्प किया था। इस समय वह श्री. गणेश वर्णी दि. जैन संस्थान के रूप मे बनारस मे चालू है। सर्व प्रथम इसकी स्थापना इन्दौर मे ही हुई थी। उस मे मेरी राय से प्रबन्ध समिति बनाई गई थी। उसके प्रथम अध्यक्ष गुरुजीही हुए थे। मुझे यह स्वीकार करते हुए प्रसन्नता होती है कि प्रारम्भ मे गुरुजी के सहयोग के कारण ही उसे चालना देने मे मेरी अनुकूलता बनी थी। वर्तमान मे उसका एक भवन है। उसकी स्थायी निधि दो लाख से अधिक है। साथ ही उसका एक ग्रंथागार है। उस मे अनेक विद्वानो का सहयोग है। इस मे मेरे सिवाय सिद्धान्ताचार्य श्री. प. कैलाशचंद्रजी सि. शा. का विशेष हाथ है। उस मे ग्रन्थो के प्रकाशन के साथ पीएच् डी के लिये छात्रवृत्ति की व्यवस्था है। यह सब गुरुजी के आशीर्वाद का फल है।

जिस समय इस संस्था को मूर्तरूप दिया गया था उस समय गुरुजी इन्दौर में ही विराजमान थे। गुरुजी ने जो पंचाध्यायी का लेखन कार्य कारजा मे बैठकर किया था उसका अनुवाद गुजराथी भाषा मे सोनगढ से भी प्रकाशित हुआ है।

यह गुरुजी के जीवन की सामान्य झांकी है।

पं. देवकीनन्दनजी की कुछ स्मृतियां

पं. जगन्मोहनलालजी
कटनी

गुरुजी की सेवामें तत्परता

गुरु गोपालदासजीके साथ पं. देवकीनंदनजी अक्सर बाहिर धर्म प्रचार पर जाते थे। उस समय भी समाजका वातावरण स्वस्थ न था। प गोपालदासजी के विरोधी पंडित थे। पहिले पंडित लोग कामका रूपया बिदाई ठहराकर के प्रतिष्ठाओ मे व समाज के उत्सवो मे जाते थे। पं. गोपालदासजी एक पाई भी भेट लेना गुनाह मानते थे। तब बिना विदाई दिए यदि श्रेष्ठतम विद्वान् आता है तो लोग उनकोही प्रायः बुलाते थे। अतः इस एक कारणसे भी तथा दूसरे सैद्धान्तिक मतभेद के कारणसे भी अन्य विद्वान् (कोई २) मत्सरभाव रखते तथा समाज में गुरुजी के विरुद्ध वातावरण तैयार करते थे।

श्री पं. देवकीनन्दनजी स्वस्थ हृष्ट पुष्ट थे। वे एक लंबा डंडा साथ लेकर गुरुजी के संरक्षक गार्ड के रूप मे साथ रहते थे तथा समाज सेवा का कार्य उन से सीखते थे।

समयकी सूझ

गुरुजी कही प्रचार पर जा रहे थे। प्रातः जंक्शन पर रूकना पडा। स्नान करने को गरम पानी चाहिए यह अनुभव कर पं. देवकीनंदनजी सोचने लगे कि ठंडे पानी से गुरुजी जो कमजोर स्वास्थ्य के थे बीमार न पड जाए। तत्काल बाल्टी को साथ लेकर एंजिन के पास जाकर उसे १ रु. देकर एंजिन का गरम पानी ले आए और स्नान योग्य जल बनाकर गुरूजी को स्नान कराया।

ग्राहक को ऐसा पटाया

श्री पं. देवकीनन्दनजी के घर इंदौर मे कटनी के श्री हुकुमचंदजी चौधरी (जो मोरेना में उनके साथ थे) गए थे। पं. जीने भोजन के लिए आग्रह किया। हुकुमचंदजीने कहा, "भोजन नहीं करूंगा। पेट ठीक नहीं है। उपवासही ठीक है।" पं. देवकीनन्दनजीने कहा– "उनोदरस्य फलं उपवासः।" उनोदर करलो उपवास के फल को प्राप्त हो जाओगे। ग्राहक पटा लिया। आतिथ्य पूरा किया।

औगुन तब सेईये, गुणहो न पूंछे कोय !

एक उक्ति पं. देवकीनन्दनजी सुनाया करते थे ।" औगुन तब को सेइये जब गुणहि न पूछे कोय !" । अर्थात् केवल गुणाकाही सग्रह नही करना एकाध अवगुण भी साथ रखो । जहाँ गुण का आदर न हो और कष्ट पड़े तो अवगुण से भी काम लेना चाहिए ।

एक नगर मे मै पर्यूषण मे गया । मुनिसघ का चातुर्मास था । मै संघ की श्रद्धा भक्ति तो करता था पर कुछ सैद्धान्तिक मतभेद था । आचार्यश्री तो इस पर भी कोई कषायभाव मुझ पर नही रखते पर साथी (सघ मे) कुछ रखते थे ।

अन्त मे नगर के लोगो ने कहा कि हमारे श्वेतांबर घर भी है । हमारा उनका अच्छा व्यवहार है । हम पर्यूषण के अन्त मे क्षमावली को उन सबसेही क्षमा याचना को जाते है और अपने पर्व के दिन वे भी हमारे पास आते हैं ।

अब इस साल अपने सौभाग्य से अपने साधु संघ का चातुर्मास है उनसे क्षमायाचना करने सभी श्वेतांबर बंधु आए । अब हम यह नही समझ पाते है कि हम लोग जब उनके साधुओं के पास भी क्षमायाचना को जाते है, तो अपने गुरुजनो से भी क्षमायाचना करना उचित होगा या क्या चलन है ? आप बतावे । मैंने कहा कि क्षमायाचना तो उत्तम बात हैं जब सब से मागी जाती है तो अपने गुरूजनों से क्यों नहीं ? उनका दूसरा विचार था महाराज को व संघ को एक अभिनदन पत्र भेट करने का । मैने कहा कि यह पद्धति नही है । अभिनदन तो साधारण जनो के भी होते हैं । आप एक क्षमापण पत्र बनाओ । इसी नाम से दो । अभिनन्दन के रूपमे नही । क्षमापण पत्र बन गया । और क्षमावणी का दिन भी आगया । सभी एकत्रित हुए । मुझ से कहा गया । मैंने वह अभिनंदन पत्र पढा–सुनतेही जो संघस्थ मेरे से नाराज थे वे बोले, "यह गलत बात है–गुरू से प्रायश्चित्त मागना चाहिए, क्षमा नही ।" मैंने समझाया कि जब तीन जगत के प्राणियो से क्षमा सामयिक मे मांगी जाती है तब अपने गुरुओं से क्यो नही मागना चाहिए । एक दूसरे सघस्थ बोले–उनका कुतर्क जागा बोले, "क्या महाराज क्रोधी है जो क्षमा की बात करते हो ।" मैंने उत्तर दिया कि 'क्रोधी क्षमा क्या देगा ? गुरूजन तो क्षमा के भंडार है, वे ही क्षमादान कर सकते है, क्रोधी नहीं ।' यह मेरे तर्क कम न आए तो उपस्थित दो विद्वानो को मैंने अर्ज किया कि 'क्या यथार्थ है ? आप विद्वान् है स्पष्टीकरण करे ।' पर वे दोनो विद्वान् उन सघस्थ व्यक्तियो के समर्थक थे, मौन रहे । मैंने आचार्यश्री से निर्णय करने को कहा वे भी मौन रहे ।

समाज मे तहलका मच गया । लोग कहने लगे कि पडितजी ने गलत सलाह दी । मै अकेला रह गया । समाज भी नाराज, आचार्यश्री मौन, पंडितद्वय भी मौन ।

मैंने अपने गुरू पं. जीका (प. देवकीनदनजी का) स्मरण किया । वे समाज के क्षेत्र के योद्धा थे । स्मरण करतेही मुझे याद आया कि "औगुन तबको सेईए, गुणही न पूंछे कोय ।" स्थिति ऐसीही सामने आयी । तो मैंने आचार्यश्री के पास चरणो मे माथा रखकर कहा कि आचार्यश्री मुझे प्रायश्चित्त दे । बोले–"कैसा प्रायश्चित्त ?" मैंने कहा यह अपराध समाज का नही मेरा था । मेरी सम्मति से यह क्षमापणा–पत्र बनाया गया । मुझे ज्ञात न था कि, साधु से क्षमा मागना घोर अपराध है । नरक का कारण है । मुझ पर कृपा कीजिए । महाराजजीने मौन तोडकर कहा कि, अब कैसा प्रायश्चित्त ? अभी आपने कहा था कि "प्रायचित्त व्यक्तिगत अपराध का होता है" मैंने कहा– "यह मेरा भी व्यक्तिगत अपराध है ।" मौन रहे । मै गिडगिडाया, "कृपा करे, नही तो इस गलती के फलस्वरूप मैं नरक चला जाऊगा । मै प्रायश्चित्त करने के साथ सभी विद्वानो को अखबार द्वारा सूचित करूंगा कि, कभी कोई साधुजनो से क्षमा न माँगे । यह घोर अपराध है, नरक भेजनेवाला है । मुझे ज्ञात न था पर अभी अमुक स्थान के अमुक आचार्यश्री से मैंने जाना है अत. सब सावधान रहना ।"

आचार्यश्री बोले-" नही यह कोई अपराध नही है, न प्रायश्चित के योग्य है।" मेरा समाधान हुआ। समाज मे भी कोलाहल बद हुआ।

यद्यपि मैं मार्गसेही चला था। गलती नही थी पर किन्ही लोगो की कषायवश ऐसे कुचक्रमें फँसा कि कोई साथी न रहा।

बाद मे समाज के लोग बोले-बहुत उत्तम रहा। मैंने कहा कि, आप तो सब विचलित हो गये थे। मुझ पर सबको रोष आगया। पडितोने भी साथ नही दिया। यदि मेरे पास गुरुमंत्र न होता तो बच न पाता।

श्रीमान् पं. देवकीनन्दनजी की नीती सब जगह बडी काम आती थी। क्षत्रचूडामणिमें कथानक के साथ नीतियो की भरमार है उसका उपयोग करते मैने पं. देवकीनन्दनजीको ही देखा।

बहुत देर से स्मृतिग्रन्थ छप रहा है। समाज के चालीस साल तक के लोग तो उनके नाम से भी परिचित नही है इस प्रयास से उनकी जीवन स्मृतियाँ जागृत हो तो समाज को अभी भी लाभ मिल सकता है।

विनोदशीलता का उत्कृष्ट नमूना

पडितजी विनोद प्रिय थे। बडीसी बडी विरोधी स्थिति भी सभाओ में आजाय तो वे घबडाते नही थे। अपनी बुद्धि कौशलता से सुलझाते थे।

बुदेलखड मे छोटे छोटे अपराधो पर भी पच लोग व्यक्ति का सामाजिक बहिष्कार कर देते थे। एक व्यक्तिने मदिर के बाहर मदिर का परकोटा बना दिया। पंचायत हुई कि बिना पंचायत की मंजुरी के मदिर परकोट क्यो बनाया। बिरादरी मे बंद कर दिया गया। प. जी उस नगर मे पहुंचे तो समस्या सामने आई। लोगो को समझाया कि इसका एक नारियल दण्ड लेकर समाज मे लेलो। उसने दण्ड तो दिया पर प जी से पूछा- " आखिर मेरा अपराध क्या हुआ? मेने तो अपना रुपया लगाकरही मदिर की सुरक्षा की।" पं. जी का उत्तर बडा विनोद का था। बोले-" मनुष्यगती मे चारो गति के जीव आते है। उन की प्रकृति भी पूर्व संस्कार से बनती है। कुछ पशुयोनी से आते हैं। उनकी पूछ थी, तो तू यदि उनको पूछ लेता तो कुछ अपराध न था। बस इतनाही अपराध था। अब पूछकर काम करना।"

विनोद का दूसरा उच्चांक

परवार सभा अधिवेशन सिवनी मे था। पं जी सभा में न थे। आराम करने लगे तो श्री जमनाप्रसादजी बॅरिस्टर समझ और अपने तर्क बल पर सारी सभा को हिला रहे थे। बहुत उत्तेजना पैदा हो गई। कुछ चतुर लोगो ने प जी को जगाकर बुलाया। समस्या उन्होंने अपने बुद्धिबल से सबको शात कर दिया। जमनाप्रसादजी भी मान गए। लोगो को आश्चर्य हुआ कि यही बात हम सब करते थे, सो माने नही। पं. जी आप से कैसे मान गए। विनोद मे प. जी ने उत्तर दिया। "उक्ति प्रसिद्ध है कि-श्रीकृष्ण जन्म के बाद बलदेव गोकुल मे छिप कर ले जा रहे थे। जमुना खूब बह रही थी, बरसात भी थी। उन्होंने प्रवेश किया कि श्रीकृष्ण के पुण्य से पैर लगतेही जमुना उतर गई वे गोकुल पहुच गए। मेरा नाम देवकीनंदन है यह भी कृष्ण का नाम है। बिना उनके पैर छुए जमना की बाढ कैसे रुकती?" यह थी उन की सूझबूझ बॅरिस्टर सा. ने उन के पैर छू लिए।

पं. जी के आजीवन सहयोगी-पं. बंसीधरजी

मोरेना मे सन-११-१२-१३ मे श्री पं. देवकीनंदनजी के साथ अनेक छात्र थे। जिन मे उनके सहृदय मित्र श्रीमान् पं. बशीधरजी थे। इन की जन्मभूमि महरोनी (झाशी) थी। गुरु गोपालदासजी के पास दोनो अन्य

सहयोगियो के साथ अध्ययन करते थे । गुरुजी ने इनको अन्य सिद्धान्त की भी शिक्षा दी और मोरेना विद्यालय में ही ३० रु. मासिक वृत्ति पर अध्यापक नियुक्त किया । उनकी आज्ञा थी कि कष्ट सहकर भी विद्यालय के माध्यम से धर्म की सेवा आप लोगों को करनी है । एक साथी और थे वे भी नियुक्त हुए । पर उन्होंने गुरु आज्ञा पर दृढ न रहकर विद्यालय छोड अन्यत्र सर्व्हिस कर ली । तथापि ये दोनों डटे रहे । गुरुजी का देहावसान हो गया । मैं भी सन १६ मे पढने गया था, तब उक्त दोनो शिक्षकही मेरे गुरु थे । श्री पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्य ने न्यायशास्त्र तथा श्रीमान् जगन्नाथजी शास्त्रीने व्याकरणसाहित्य पढाया । सिद्धान्त का अध्ययन उक्त दोनो विद्वानो से किया । सन १८ तक दोनों साथ साथ शिक्षक रहे । सन १८ मे (वर्तमान) आचार्य समंतभद्रजी के आग्रह से श्री प्रद्युम्नसावजी कारंजा श्री प धन्नासाजी कासलीवाल जो मोरेना विद्यालय के अधिष्ठाता थे । उनकी अनुज्ञा से श्री प. देवकीनंदनजी को कारंजा ले आए और तबसे वे २१ वर्ष कारंजा गुरुकुल का संचालन व धर्म शिक्षा का कार्य करते रहे ।

सन १९२३ मे मोरेना विद्यालयसे ही पं. बशीधरजी को मोरेना छोडने को बाध्य होना पडा । वे जबलपुर जैन शिक्षामदिर मे शिक्षक नियुक्त हुए और प्रायः सभी (२२) छात्र वहाँ छात्र रहे । कालातर से सर सेठ हुकुमचंद की अत्याग्रह से इन्दौर चले गए ।

सर सेठ हुकुमचंदजी जौहरी थे । फिर इस रत्नको कैसे छोडते ! आगे चलकर प. देवकीनदनजी ने अस्वस्थता से वहा भी काम करना छोड दिया और इदौर मे ही उन्होंने बिना किसी की सहायता से स्वयंबुद्ध होकर अपना जीवन समाधिपूर्वक उत्सर्ग किया ।

श्री पं. बशीधरजी का स्वर्गवास इंदौर मे ही हुआ । दोनों समकक्ष-बालसखा थे और जीवन के प्रारंभ मे और अन्त मे भी साथ रहे ।

प बंशीधरजी सिद्धान्त के पारगामी थे । उनका अध्यापन गभीर था । छात्रो को इस तरह विद्या सिखाते थे कि जैसे माता बच्चों को घुटी पिलाती है । सहज स्नेह के साथ छात्रों पर कडा अनुशासन भी रखते थे ।

सन १८ मे जीवकाड पढता था । वे ही पढाते थे । पर मै पढने में प्रमादी था । परीक्षालय के परीक्षक भी वेही थे । सोलापुर परीक्षा के-छात्रों के सामने उनकी कापियां जाचते थे, और उनकी गलतियां भी बताते जाते थे । मेरी कापी भी जाच कर बडी कजूसी से (कठिनाई से) नबर देते थे, नंबर कटते जाते थे । मै निराश सा हो गया । पर जब सब मार्क जोडे गए तो ३५/१०० हो गए । मै प्रसन्न हो गया अन्त मे कुछ छात्रों को पारितोषक स्वरूप कुछ नंबर बढाए, पर मेरे ५ नंबर काट लिए । मै बहुत दु.खी हुआ । मैंने कारण पूछा तो बोले,-" नबर का क्या करे । तुम्हे ग्रथ तो आता नही है । मेरे पास पढते हो, मै पूरी स्थिति जानता हूँ । फलतः मै फेल हो गया ।"

प्रतिक्रिया मेरे मन मे हुई और मै विद्यालय मोरेना छोडकर काशी चला गया । वहाँ व्याकरण-न्याय साहित्यकाही अधिक अध्ययन कर घर चला आया ।

मेरे साथी पं. कैलाशचदजी ने मुझे प्रेम से और फटकार से पुनः मोरेना बुला लिया । मुझे पं. जी पर श्रद्धा तो पूर्ण थी फिर उन के पास क्षमायाचना कर पढने लगा । आज जो कुछ मेरे पास ज्ञान है उन की कृपाका ही फल है।

आव. पण्डितजी का सतर्क मार्मिक उत्तर

प बशीधरजी तर्कशील थे । किसी भी प्रश्नका उत्तर देना उनका साधार और सतर्क रहता था ।

एक बार एक श्वेताम्बर साधु महोदय, जो विद्वान थे, इदौर मे पडितजी से मिले और बोले,- " हमारा आपका धर्म तो एकही है । मात्र रोटी बेटी व्यवहार का फर्क रहा है । वह भी निपटलो तो सहज एकता हो

जाय।" पं. बंशीधरजीने उत्तर दिया, "रोटीबेटी व्यवहारही कठिन बात है। रोटी की बातका भेद केवली को कवलाहार मानने से हो रहा है। बेटी व्यवहार स्त्री मुक्ति मानने से हो रहा है। आप दोनों बातोंका सुधार करे तो एकता की भूमिका बन सकती है।" साधु चुप हो गए।

स्मृतियां बहुत है। छोटे लेख मे नही आ सकती। एक वर्ष (ब्रह्मचर्य प्रतिमा लेनेके बाद) उनका कुंडलपुर चातुर्मास हुआ। मैं भी प्रायः उनके पास रहा। गोम्मटसार कर्मकाण्ड उनको कंठाग्र था। उस की टीका भी वहीं लिखी गयी।

भगवत् गीता का "जैन दृष्टिसे" उन्होंने अनुवाद किया। दोनों कृतियां उन के जीवन मे प्रकाशन में नही आ सकी। और कुछ समय उनके प्रपुत्र से अनेक बार प्रार्थना करने पर भी उत्तर मिला कि मिलती नहीं कही रखी थी।

श्री. पं. देवकीनन्दनजी के साथ उनके सहृदय मित्र श्री. पं. बंशीधरजीकी भी गाथा मैंने संक्षेपसे निबद्ध की। दोनों ने समाजके लिए शिक्षाके क्षेत्र मे अपना जीवन लगाया।

मेरा दोनो विभूतियो को शत शत प्रणाम।

व्याख्यान–वाचस्पति पं. देवकीनन्दनजी
संस्मरण

श्री डॉ. पं. पन्नालालजी जैन
साहित्याचार्य, सागर

पू वर्णीजी की भविष्यवाणी

'मेरी जीवन गाथा'– प्रथम भाग मे पू क्षुल्लक गणेश प्रसादजी वर्णीने 'बुन्देलखण्डके दो महान विद्वान' शीर्षक मे स्व. प. देवकीनन्दनजी तथा स्व पं बशीधरजी न्यायालकार के विषय मे स्नेहसिक्त शब्दो म बहुत कुछ लिखा है और उस से विदित होता है कि वर्णीजी को किसी व्यक्ति की परख कितनी सही थी। पं देवकी-नन्दनजी के विषय मे लिखा है कि मैं जब बरूआसागर (झासी) के मन्दिर मे जाता था तब बालक देवकीनन्दन मिलता था। इसके पिता जाति के पच थे तथा बुद्धिमान् थे। उनका कहना था कि यह बालक बुद्धिमान् तो है परन्तु दिन भर उपद्रव करता है। आप इसे अपने साथ बनारस ले जाये। मैंने देवकीनन्दन से कहा–क्यो भाई बनारस चलोगे? बालक ने कहा हा चलेंगे।

मै जब उसे बनारस ले जानेके लिए राजी हो गया तब मूलचदजी सराफ ने यह कहते हुए बहुत निषेध किया कि क्यो उपद्रव की जड लिए जाते हो? परन्तु मैने उनकी एक न सुनी। उन्होंने बाईजीसे भी कहा कि व्यर्थ ही उपद्रव की जड साथ लिये जाते है, पर बाईजीने भी कह दिया कि भैया! तुम जिसे उपद्रवी कहते हो, उसके लिए 'पडितजी' और 'महाराजजी' कहते कहते तुम्हारा गला न सूखे तो हमारा नाम न लेना।

श्रद्धा की वृद्धि होती ही गयी

मेरी जीवन गाथा के दोनो भागोका सम्पादन करते समय पं देवकीनन्दनजी के विषय मे जो श्रद्धाका भाव उत्पन्न हुआ था वह आगे आने वाले सपर्क तथा समागम से दिन दूना रात चौगुना बढता गया।

एक बार आप सागर आये। किसी अन्य रिश्तेदार के यहा जाते समय मेरे घर के सामने से निकले। प्रात काल का समय था। मै घर के बाहर दातोन कर रहा था। मेरे पास आकर बोले, "देखो मै यहाँ एक जगह जा रहा हू। आधा घटे मे लौटकर आऊगा। फीकी चाय बनवाकर तैयार रखना।" मैने कहा फीकी क्यो? बोले, शक्कर नही डलवाना। फीकी चाय तैयार कराकर मै प्रतीक्षा करता रहा पर उन्हे आने मे बहुत विलम्ब हो गया। बोले, "जहा गया था वही प्रबध हो गया आपको व्यर्थ कष्ट उठाना पडा।" मैने कहा, "कष्टकी कोई

बात नही है । यदि आप आज सागर रहे तो रात मे आपका प्रवचन रख लूं ।" उन्होंने स्वीकृति दी और रात के आठ बजे गौराबाई जैन मन्दिर कटरा आ गये । मैं इसी मन्दिर मे प्रवचन करता था । आपने अपना प्रवचन–

पं. जी का प्रवचन जो भूल नहीं सका

"दुक्खक्खओ कम्मक्खओ, समाहिमरणं च वोहिलाहो य । मम होऊ जगत् बांधव, जिणवर तव चरण सरणेण ।"

शान्ति भक्ति की इस गाथा से शुरू किया और इस शैली से किया कि सारी सभा मंत्रमुग्धसी हो गई । मै तो आजतक उस प्रवचन को नही भूला हू ।

समाजसेवा की कठिनता

एकबार बुन्देलखण्ड प्रान्तीय सभा के अधिवेशन मे नैनागिरी पधारे थे । किसी प्रकरण को लेकर सभा में विसंवाद होने लगा; तब आपने इस कौशलसे सभा का सचालन किया कि सब विसवाद दूर हो गया । आपने एक दृष्टात दिया कि समाज सेवा करना ऐसा–जैसा बुन्देलखण्ड मे होली के अवसर पर झडा का गुड तोडना । एक ऊचे खम्भे पर थैले मे गुड बाध दिया जाता है, उसे तोडने के लिए जो खम्भेपर चढता है उसको चमारने बाँस मारती है । कुछ लोग बीच मे मार खाकर लौट आते है और कोई साहसी मार खाता हुआ ऊपरतक चढकर गुड तोडकर नीचे ले आता है । पश्चात् गुड तोडनेवालोका हार, गुलाल आदि से सत्कार होता हे । समाज सेवा के लिए जो आगे आते है उन्हे अनेक लोगों की बुराईया सहन करना पडती है, पर जो उनकी ओर ध्यान न देकर अपना कार्य करता जाता है, वह वर्णीजी के समान लक्ष्य को प्राप्त होता हे ।

देवगढ गजरथ में पं. जी का सातिशय योगदान

देवगढ का 'गजरथ' सघर्ष मे चला था । गजरथ के विरोधी गजरथ का विरोध कर रहे थे पर आपकी चतुराई से रथ ऐसा चला कि किसी प्रकारकी विघ्न बाधा नही आई । आपकी प्रेरणा से सर सेठ हुकुमचंद्रजो भी दलबल सहित उस रथोत्सव मे पधारे थे ।

पू. वर्णीजीकी जयमाला की प्रेरणास्रोत से प्राप्त दानविशेष

सन ४४ मे जब पूज्य वर्णीजी इसरी से पैदल सागर आये तब सागर की समाज ने बडा भारी समारोह किया था । उसमे प जीवन्धरजी इन्दौर, पं. तुलसीरामजी बडौत आदि बडे बडे विद्वान् पधारे थे । वर्णीजीके विषय मे कृतज्ञता ज्ञापन के अनेक भाषण हुए । वर्णीजीने भी उत्तर मे महत्वपूर्ण भाषण दिया । भाषण के समय उन्होंने मगा की माला टेबल पर रख दी और जब भाषण देकर बैठने लगे तब मालाकी ओर ध्यान गया । में माला उठाकर देने लगा– वर्णीजी बोले– "अच्छा भूल गया तो जाने दो यह माला विद्यालय की हुई ।"

एकदम देवकीनन्दनजी और तुलसीरामजी उठकर खडे हो गये और माला हाथ मे लेकर बोले– देखो– "वर्णीजीने यह माला विद्यालय को दी है इसके माध्यमसे वर्णीजीने लाखो नमस्कार मन्त्र का जाप किया है जो भी इसे अपने घर मे रखना चाहे वह सामने आये ।" सुनते ही मलैया परिवार मे शोभाराम जी मलैया ने ग्यारह हजार देकर माला ली, और उनके लघुभ्राता बालचन्द्रजो मलैयाने जैन हायरकूल का भवन बनाने के लिए चालीस हजार स्वीकृत किये । उस समय सागर मे ५०० रुपयोंका दान भी महान दान कहलाता पर मलैया परिवार से ५१००० (इक्कावन हजार) का दान देखकर समाज स्तम्भित हो गई ।

पंडितजीका सदा साधा ताजा नास्ता

इस समारोह की समाप्ति होने पर बाहर से आगत विद्वानों के लिए नाश्ता रखनेका काम मेरे जिम्मे था। सबको नाश्ता रखकर मैंने पं देवकीनन्दनजीसे कटोर दान मागा। आप बोले-मेरे पास रक्खा है, मुझे नाश्ते की आवश्यकता नही है। मैंने कहा पण्डितजी। पाच दिन हो गये घर का रखा नाश्ता सड गया होगा, मै दूसरा रख दू। बोले- मानो, नही सडा है। मैं पीछे पड गया तब उन्होने एक छोटीसी थैली निकालकर मेरे सामने रख दी, जिस मे भुने हुये चने और नमकीन मूगफली रखी थी। बोले-बताओ कहाँ सडा है हमारा नाश्ता ?

पं. जी के समयसूचकता से संपन्न दानवर्षा

पण्डितजी की सादगी देख कर मेरी आखो से आसू आ गये। एक समय की बात हैं। वर्णीजी सागर में विद्यमान थे। सर सेठ हुकमचन्दजी इन्दौर, पार्टीसहित वर्णीजी के दर्शन करने के लिए सागर आए थे। प. देवकीनन्दनजी, ब्र प्यारेलालजी भगत तथा प. जीवन्धरजी भी साथ थे। स्वागत समारोह हुआ। पण्डित देवकीनन्दनजी ने धीरे से मुझ से कहा-देखो, कल सेठजी का जन्म दिवस है। इशारा पाते ही मैंने कटरा बाजार मे नागरिक अभिनन्दन का आयोजन कर दिया और उसमे सेठजी की ओर से २५००० विद्यालय को तथा २५००० नगर की अन्य संस्थाओं को घोषित किए गए। दूसरे दिन शास्त्र प्रवचन के बाद वर्णीजी ने कहा कि देखो सेठजी ने पच्चीस हजार रुपये हमारे सामने रखे है यदि आप अपने विद्यालय मे लेना चाहे तो पच्चीस हजार आप लोग मिलाए नही तो मै कही दूसरी जगह के लिए दे सकता हूँ। आधा घण्टे के अन्दर पच्चीस हजार सागर की समाज ने भी मिला दिए। विद्यालय को पचास हजार का लाभ हो गया। प. देवकीनन्दनजी ने भी सागर की गरिमा पर प्रकाश डालते हुए वर्णीजी की महिमा पर प्रकाश डाला।

पं. जी का विद्वत् परिषद में प्रवचन

एक बार भारतवर्षीय दि जैन विद्वत्परिषद के द्वारा सागर मे आयोजित शिक्षण शिबिर में उपस्थित होकर विद्वानो को अच्छा निर्देश दिया था। साथ ही चौधरनबाई के मन्दिर मे आयोजित एक सभा मे जिस मे पूज्य वर्णीजी भी उपस्थित थे। **"तत्र म्यञ्चति नो विवेकतपनो..."** सागारधर्मामृत के श्लोकांश पर प्रभावक प्रवचन दिया था। वर्णी ग्रथमाला और विद्वत् परिषद दोनोही आप से अनुप्राणित रहे है।

सिद्धांतशास्त्री अद्वितीय समाजशास्त्री

आप जहा जैन-सिद्धान्त के विशेषज्ञ थे वहां समाज शास्त्र के भी विशेषज्ञ थे। इनके समान दूसरा समाजशास्त्री विद्वान् देखने मे नही आया।

आत्मगौरव में जागृत पंडितजी

आत्मगौरव की ओर आपकी जागरूकता सदा रही है। उन्होंने जहाँ इस में बाधा देखी, वहाँ से दूर हट गए। गुरुणां गुरु पं गोपालदासजी बरैया के शिष्यो मे आप प्रधान शिष्य थे तथा उन के आदेश से मोरेना में भी कुछ समय तक कार्यरत रहे। बाद मे कारंजा तथा इन्दौर आदि स्थानो मे रहे।

पं. जी का सहजोद्गार " मैं हूं सागारधर्मामृत का पण्डित ! "

आप कहा करते थे-" भैया! बडे-बडे ग्रन्थ तो ये बडे पण्डित जाने, मै तो सागारधर्मामृत का पंडित हूं ।" उसकी एक विशद हिन्दी टीका उन्होने लिखी थी जो सूरत से प्रकाशित हुई थी । खेद है कि ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ एकबार प्रकाशित होकर रह जाते हैं । फिर उनका मिलना दुर्लभ हो जाता है । उनके जीवन का विशेष भाग कारंजा मे व्यतीत हुआ है । वहाँ रह कर उन्होंने पञ्चाध्यायी तथा सागार धर्मामृत की टीका लिखी थी ।

पण्डितजी की साहित्यिक, शैक्षणिक और सामाजिक सेवाओ को कभी भुलाया नहीं जा सकता । उनके स्मृतिग्रन्थ के महत्वपूर्ण कार्य को सम्पन्न करने के लिए कारंजा गुरुकुलकी समिति अग्रसर हुई यह प्रशंसनीय है ।

व्याख्यान–वाचस्पति स्मरणाञ्जलि

श्री स्व. डॉ. ज्योतिप्रसादजी जैन, एम् ए , एल्एल् बी., पी.एच्.डी.
लखनौ

श्री पं जी अपने युग के दिग. जैन समाज के सर्वोपरि महारथी शास्त्रीय विद्वानो मे से थे। हमारी किशोरावस्था मे यह सर्व प्रसिद्ध था कि गुरुणागुरु पं गोपालदासजी बरैया के चार प्रधान शिष्य है–(१) न्यायाचार्य प. माणिक्यचद्र कौन्देय (२) व्याख्यान वाचस्पति प देवकीनन्दनजी सि. शास्त्री (३) न्यायालकार पं. बशीधरजी और (४) शास्त्रीतिलक पं. मक्खनलालजी न्या. आ । इन चारो ने क्रमश सहारनपुर (उ प्र) कारंजा (महाराष्ट्र) इन्दौर (मध्य प्रदेश) और मोरेना के दि. जैन महाविद्यालय का महत्वपूर्ण पद सम्भाला और अत्यंत सफलतापूर्वक उसका निर्वाह किया। इन चारो ही सुशिष्यो ने स्वगुरु के यश मे चार चाद लगाए। अब से दशको पूर्व वे चारो ही महानुभाव दिवगत हो चुके है किन्तु उनके व्यक्तित्व, कृतित्व एव यश को स्मृति धूमिल नही हुई है। उसको अक्षुण्ण बनाए रखने का सुखद भार उनके शिष्य-प्रशिष्यो पर है। स्यात् इसी कर्तव्य का भान होने से विशेपतया पूज्य मुनिराज श्री समतभद्रजी महाराज की सद्प्रेरणा से स्व व्याख्यान वाचस्पतिजी की स्मृति–रक्षणार्थ प्रस्तुत योजना रूपायित हुई।

यों तो गत शताब्दि में अनेक विद्वान् भारी–भारी विविध पदवियो से समाज द्वारा अलकृत हुए, और वे प्राय सब ही सुवक्ता एव प्रवचन पटु रहे परन्तु "व्याख्यानवाचस्पति" बिरूद से सर्वत्र एव सुदीर्घकाल पर्यत प्रसिद्ध रहनेवाले एकमात्र विद्वान् कारजावाले स्व प. देवकीनन्दनजी ही है। वह बिरूद उनका पर्यायवाचीही बन गया। अब से लगभग साठ वर्ष पूर्व श्री हस्तिनापुर के कार्तिको वार्षिक मेले पर हमें स्व पडितजी के दर्शन एव उनका शास्त्र प्रवचन सुनने का सर्व प्रथम लाभ मिला था। उस वर्षका वह मेला भी सामान्य से अधिक धूमधामसे हुआ था। मेरठ का मन्दिर भी ले जाया गया था। जनता भी अन्य वर्षो को अपेक्षा तिगुनी–चौगुनी थी। श्रोताओ से खचाखच भरे विशाल पडाल मे पीठ पर विराजित व्याख्यान वाचस्पतिजी का धारा प्रवाह प्रवचन सबको मुग्ध कर रहा था। बीच मे ही दो–तीन वर्ष की आयु का अर्धनग्न बालक दौडता हुआ आया और पंडितजी के गले से लिपट गया–उन्होंने एक हाथ उसकी कमर मे लपेटकर उसे अपने वक्ष से लगा लिया, किन्तु मुख पर किसी भाव परिवर्तन के बिना ही प्रवचन पूर्ववत धारा प्रवाह चलता रहा। उसके लगभग दस वर्ष पश्चात् भेलसा (विदिशा) मे स्व सेठ राजमलजी बडजात्या के निवास स्थान पर पडितजी का पुनः दर्शन हुआ। और भेट चर्चा–वार्ता भी हुई।

पू. पंडितजी के निरभिमान सरल स्वभाव, सादा रहन–सहन, प्रसन्न वदन और विनोदी प्रकृति तथा गंभीर वैदुष्य की छाप स्मृतिपटल पर यथावत् अंकित है। श्री पंडितजी अधिकांशत: कारंजा से ही जुडे रहे। वहाँ की श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम निर्मिति में आपका हिस्सा बहुत है। कारंजा मे सेन–संघकी प्रसिद्ध भट्टारकीय पीठ भी रही है। शास्त्र भण्डार भी अच्छा रहा है। उन सबका विशद परिचय आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ से प्राप्त होगा। महापंडितों के उस युग मे भी अग्रिम पंक्ति को सुशोभित करनेवाले स्व. व्याख्यान वाचस्पति श्री प. देवकीनन्दनजी की स्मृति में यह संक्षिप्त सुखद स्मरणाञ्जलि अर्पित कर के कृतार्थता का अनुभव हो रहा है।

धर्म व समाज के यशस्वी नेता

श्री हरकचंदजी सेठी
संपादक, सरेराह, अजमेर

पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री का उदय समाज मे उस समय हुआ था जब कि जैन समाज मे प्रौढ विद्वानों का अस्तित्व नही था और 'निरस्त पादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते' वाली नीति चरित्रार्थ हो रही थी।

विद्वानो के जनक न्याय वाचस्पति वादिगज–केशरी स्याद्वादवारिधी पं. गोपालदासजी बरैया ने अपने समय मे समाज को प्रौढ एव प्रखर विद्वानो को जन्म दिया था।

दिगम्बर जैन समाज में सबसे प्रथम आर्य समाज के सन्यासी स्वामी दर्शनानंदजी से अजमेर मे पचायत गोधो के धडे की नसिया मे सन १९१२ मे शास्त्रार्थ श्री खाण्डेकर जी अतिरिक्त डिस्ट्रीक्ट न्यायाधीश की अध्यक्षता में हुवा था। उस समय रायबहादुर सेठ नेमीचन्दजी सोनी मौजूद थे।

अजमेर में जैन कुमार सभा थी। उसकी प्रतिवर्ष नगर में शोभा यात्रा निकलती थी। उस सभा ने समाज मे धर्म का बडा प्रचार किया। उस समय आर्य समाज ने जैन समाज को चैलेन्ज दिया, जिसे समाज ने सहर्ष स्वीकार किया। स्व. चन्द्रसेनजी वैद्य, कु. दिग्विजयसिंहजी जैन आदि जैन तत्त्व प्रकाशनी सभा इटावा की ओर से अजमेर आये तथा गुरुगोपालदास जी भी इस समय आये। इसके साथ प. माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, प देवकीनदनजी शास्त्री, पं. मक्खनलालजी न्यायालकार आदि इनके शिष्य भी थे।

उस समय जो शास्त्रार्थ हुआ उसकी अमिट छाप जैनेतर समाज मे आज तक थमी हुई है। गुरुगोपालदासजी ने स्वामी दर्शनानन्दजी से 'ईश्वर कर्तृत्व' पर शास्त्रार्थ किया, तथा पं. माणिकचन्दजी न्यायाचार्य ने आर्य विद्वान् पं. यज्ञदत्तजी शास्त्री से उक्त विषय पर संस्कृत मे शास्त्रार्थ किया। इस समय गुरुजी को इन शिष्यो ने शास्त्रार्थ मे बहुत बडा सहयोग दिया; जिसके कारण जैनेतर धर्मके विद्वान भविष्य मे कई वर्षों तक अपना सिर नहीं उठा सके। आर्य समाज के सस्थापक स्वामी दयानदजी ने सब से प्रथम आर्य समाज की स्थापना बुंदी में की। इसके बाद अजमेर मे स्थापना की। समाज यह अनुभव करने लगा कि विद्वानो की अत्यन्त आवश्यकता है और इसलिये समाज मे यत्र तत्र सर्वत्र विद्यालयो की स्थापना हुई तथा महासभा परीक्षालय व शोलापूर परीक्षालय का जन्म हुआ तथा विद्वानो का उद्गम होने लगा।

पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री समाज के मूर्धन्य विद्वानों में से प्रमुख थे और अपनी विद्वत्ता से उन्होंने शेकडो विद्वानो को पैदा किया । जहां वे विद्वान थे वहा वे विचारक तथा बात के धनी भी थे । भाषण शैली आप की महत्त्वपूर्ण रही है । यही कारण था कि आपको समाज ने भाषण कला से प्रसन्न होकर ' व्याख्यान वाचस्पति ' नाम से अलंकृत किया । विद्याध्ययन की समाप्ति पर पंडितजी प्रथम मोरेना विद्यालय मे अध्यापक हुये और फिर महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारजा मे पहुँचे ।

आपका अधिकांश जीवन महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा की सेवा मे व्यतीत हुआ । जीवन का कुछ शेष भाग सर सेठ हुकमचन्दजी सा. के यहाँ भी दिया । आपके जीवन की सबसे बडी विशेषता रही कि आप अपने विचारों को निर्भीकता पूर्वक नि:सकोच कहते थे ।

जीवन का प्राय: समस्त भाग अध्यापन, समाजसेवा तथा धर्मसेवा में व्यतीत हुआ । समाज मे विवाद से सदा परे रहे, फिर भी विद्वत्ता के कारण समाज सम्मान देती रही और आप बिना विवाद के समाज की सेवा करते रहे ।

सबसे प्रथम भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परिषद का वार्षिक अधिवेशन अमरावती में सबजज्ज श्री जमना प्रशाद जी जैन की अध्यक्षता मे हुवा था । उस समय अन्तर्जातीय विवाह को परिषद के अधिवेशन में मान्यता मिली थी और आप ही उस समय एक ऐसे विद्वान् थे कि परिषद के अधिवेशन मे इसका समर्थन किया । इस पर पं मक्खनलालजी न्यायालकार ने अपने सपादकीय मे जैन गजट मे जोरदार टिप्पणी की थी, फिर भी आपने उसका युक्ति व आगम के आधार पर स्पष्टीकरण किया ।

पडितजी सा ने अपने विचारो में तिल तुष मात्र भी परिवर्तन न करके अन्तर्जातीय विवाह का जीवन पर्यन्त समर्थन ही किया ।

भारतवर्षीय दि. जैन शास्त्री परिषद की मुखपत्रिका 'जैन सिद्धान्त ' के आप प्रधान सपादक रहे तथा उसके माध्यम से गवेषणात्मक पूर्ण सैद्धान्तिक लेख समाज के विद्वानो को देते रहे । आपके त्यागपत्र के बाद यह पत्रिका प्रकाशित नही हुई ।

शास्त्री परिषद के अधिवेशन मे ब्यावर में अक्टुबर १९३३ मे सेठ रावजी सखारामजी दोशीजी की अध्यक्षता में हुआ । उसमे अन्तर्जातीय विवाह के समर्थक विद्वान् अंगुली पर गिनने लायक थे और विरोध मे वहाँ विद्वान् ज्यादातर थे । उस समय श्री दोशीजी ने उनके विचारो के समर्थन में आपका खुब विरोध किया तथा आजीविका संबंधी धमकी दी लेकिन आप अपने विचारों से बिलकुल नही हटे ।

ब्यावर में आचार्य श्री शान्तिसागरजी महाराज ससंघ चातुर्मास में विराजते हुये थे उस समय रात्रि में सेठ चंपालालजी की नसिया मे आपका भाषण हुआ । समाज ने बडी दिलचस्पी से आपके भाषण को सुना तथा सराहना की । भाषण के बाद धन्यवाद देने के लिये डॉ. गुरुचन्दजी पाटनी अजमेर अपने विचार प्रकट करते हुये पडितजी के भाषण की आलोचना भी करने लगे इससे उपस्थित समाज को विरोध सहन नही हुआ । इस तरह वह कार्यक्रम समाप्त हुआ ।

पंडितजी सा. का भाषण सरल, मिष्ट भाषा में हुआ जो कि सर्व साधारण से लेकर विद्वानो तक प्रशंसनीय कहा जा रहा था और इसके लिये समाज के नवयुवको ने दूसरे दिन भाषण देने के लिये सानुरोधपूर्वक प्रार्थना की तथा पडितजी सा. ने सहमति प्रदान करते हुये भगवान महावीर व उनकी अहिंसा पर भाषण दिया ।

ब्यावर के कुछ सामाजिक कार्यकर्ताओं ने दूसरे दिन डिक्शन छत्री के यहां पंडितजी सा. का सार्वजनिक भाषण का आयोजन किया तथा इसके लिये सूचना पत्र जनता में बितरण किये गये । इस सभा का समाचार समस्त शहर मे फैल गया ।

सेठ चंपालालजी रानीवाले को जब यह ज्ञात हुआ कि पंडितजी का भाषण नसियाजी मे नही कर डिक्शन छत्री पर हो रहा है तब वे नसियांजी मे पंडितजी के पास आये तथा उनसे नसियाजी मे ही भाषण के लिये आग्रह किया। पंडितजी सा. ने कहा कि यहा के कार्यकर्ताओ के आग्रह पर मैने अपनी स्वीकृति दे दी है। उसी समय सूचना पत्र दूसरे प्रकाशित हुए।

पडितजी सा. का भाषण प्रारम्भ होने मे पूर्व ही पडाल खचाखच भर गया था तथा पडितजीका अपना भाषण ठीक रात्रि के साढे ८ बजे प्रारम्भ तथा रात्रि के ९।। बजे समाप्त हुआ।

भाषण के समय मे जनता अपनी जगह से जरा भी नही हिली और स्वस्थ शान्त वातावरण बना रहा। पडितजी सा. के भाषण से जनता प्रसन्न थी और इनके भाषण की सभी ने मुक्त कठ से प्रशंसा की। इस भाषण को जैनेतर समाज ने बडी उत्कठा से सुना तथा गदगद हो गई।

इसके बाद अन्तर्जातीय विवाह पर शास्त्रार्थ की बात चली तथा न्यायालकार प. मक्खनलालजी शास्त्री ने इसके लिये चैलेन्ज दिया तथा प. देवकीनन्दनजी ने स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रातः काल साडे सात बजे शास्त्रार्थ स्थल पर पहुच गये। उनके साथ प अजितकुमारजी शास्त्री, प. शोभाचन्दजी भारिल्ल व प. रमेशचन्दजी न्यायतीर्थ साम्भर थे। बाद मे पडित मक्खनलालजी शास्त्री न्यायालकार अपनी पार्टी के साथ उपस्थित हुये।

प्रारम्भ मे शास्त्रार्थ के नियम की बात चली। प. देवकीनंदनजी शास्त्री ने कहा कि आप जैसा चाहे करे मुझे सब स्वीकार है। लेकिन किसी भी बात पर स्थिरता नही हुई और समय निकलता रहा।

इस समय का दृश्य देखने योग्य था। एक तरफ आचार्य शान्तिसागरजी महाराज व उनके मध्यस्थ मुनि त्यागीगण तथा दूसरे आचार्य शान्तिसागरजी महाराज व उनका मत (छाणी) सेठ टीकमचन्दजी सोनी, सेठ चंपालालजी रानीवाले, सेठ रावजी सखारामजी दोशी शोलापुर तथा अन्य आगत श्रीमन्त लोग उभय पक्ष के विद्वान् एकत्रित थे।

पडित देवकीनदनजी शास्त्री अन्तर्जातीय विवाह के पक्ष मे बार मे कह रहे थे कि जैसे सगोत्र विवाह नही हो सकता है उसी प्रकार अग्रेवाल आदि जाति के घर थोडे रह गये है। अतः जैन समाज मे से विवाह कर लेवे तथा कन्या जिस परिवार मे विवाहित होकर जावेगी उसका वही गोत्र हो जावेगा। इससे धार्मिक क्षति नही हो सकेगी। और अर्जैन होने से बच जावेगे।

अन्त मे पडित मक्खनलालजी न्यायालकार ने कहा कि आचार्य श्री शान्तिसागरजी का निर्णय मान्य होगा। उस समय पं. देवकीनन्दनजी ने कहा कि यह भी मुझे स्वीकार है पर जैसे मुसलमान गायो को आगे करके राजपूतो से लडते रहे, किन्तु राजपूतो ने गाय के कारण प्रहार करना बद कर दिया। इसलिये राजपूत युद्ध में हार गये और मुसलमान विजयी हुये। उसी प्रकार अन्तर्जातीय विवाह का निर्णय करवाया जा रहा है।

आचार्य श्री ने आदेश दिया कि जैसी परम्परा विवाह के संबध मे चली आ रही है वही बनी रहे।

इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह का शास्त्रार्थ का पटाक्षेप हुवा। पडित देवकीनन्दनजी सा. के इस सम्बध मे अपने विचार सुदृढ पाये। पश्चात् समाज मे इन विचारो का समर्थन बढता ही गया।

अनन्तर पंडितजी सा. के साथ तथा उनके सम्पर्क मे आने का अवसर नही मिला। फिर भी जो उनके साथ रहने का ब्यावर मे अवसर मिला। उसकी छाप जैन समाज मे आज भी कायम है।

पंडितजी अपने जीवन में सादगी से रहे । उनके धारा प्रवाही भाषण में उनकी विद्वत्ता की झलक थी। उनकी वाणी में मधुरता, शिष्टता एवं वस्तुस्थिती का प्रतिपादन रहता था । सन १९२९ के बाद से वे समाज के मंच पर विशेष रूप से आये ।

व्याख्यान वाचस्पति पद से अलंकृत रहे । इस उपाधि को आपके जीवन के अतिरिक्त अन्य विद्वानो को समाज मे उस समय नही मिली । पचाध्यायी, सागारधर्मामृत के आप टीकाकार भी रहे ।

पडितजी सा. पाडित्य के धनी तथा उच्च विचारों के पोषक रहे । उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित है ।

व्याख्यान वाचस्पतिजी को श्रद्धांजली

विद्वद्रत्न श्री पं. हीरालाल जैन 'कौशल'

देहली, मंत्री अ. भा दि जैन विद्वद् परिषद्

सम्माननीय पं. देवकीनन्दनजी सिद्धांतशास्त्री उच्चकोटि के विद्वान, अत्यन्त प्रभावशाली वक्ता, व्यवस्था एवं व्यवहारपटु, कुशल टीकाकार तथा समाज को एकसूत्र मे बाधनेवाले प्रसिद्ध विद्वान् थे। उन में ऐसे अनेक गुण थे, जिनके कारण वे सर्वप्रिय थे। मुझे बचपन मे ही उनको ललितपुर मे कईबार देखने तथा उनके प्रभावशाली भाषण सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था।

मेरी छात्रावस्था सन १९२८ से ३६ के मध्य। वे सर सेठ हुकुमचन्दजी के आग्रह पर इन्दौर पधारे। वे सेठ साहिब के मेहमान थे तथा उन्ही के यहाँ इन्द्र भवन मे ठहरे थे।

एक श्लोक पर १५ दिन तक हुआ अपूर्व प्रवचन

व्याख्यान वाचस्पतिजी जब विद्वानो से मिलने तथा महाविद्यालय और बो. हा. देखने जँवेरीबाग पधारे तो सब लोगो ने आप से कुछ समय वहाँ देने का आग्रह किया। उन दिनो आप सागार धर्मामृत की हिन्दी टीका लिख रहे थे। अतः उनसे श्रावक धर्म के विवेचन करने पर ही जोर दिया। आपने स्वीकृति दी तथा इन्दौर मे रहने तक लगभग १५-२० दिन सागारधर्मामृत मे वर्णित श्रावक के लिए आवश्यक 'न्यायोपात्तधन यजन्गुणगुरुन्' श्लोक में से शाम को प्रतिदिन घंटा-डेढ घटा एक दिन में एक पद की अत्यन्त सुन्दर विविध उदाहरणोंसहित सुरुचि-पूर्ण व्याख्या करते रहे। उस समय को याद कर उनकी विद्वत्ता के आगे आज भी श्रद्धा से मस्तक झुक जाता है।

देहली के निमंत्रण पर महापर्व पर पहुंचना

मै सन् १९३६ मे देहली आगया था। पर्यूषण पर्व तथा महावीर जयन्ती पर आपको अत्यन्त आग्रहपूर्वक देहली बुलाया जाता था। यहाँ लोग आप की विद्वत्ता तथा भाषणकला पर अत्यन्त मुग्ध थे। उस समय आप से मेरा पर्याप्त निकट का सम्पर्क हो गया था।

खुरई में गुरुकुल संस्था के लिए किया गया प्रयास

खुरई समाज की इच्छा थी कि वहाँ एक अच्छी शिक्षा संस्था स्थापित हो। उन्होने पंडितजी से यह बात

कही । पंडितजी गुरुकुल प्रणाली और उन के लाभों से सुपरिचित थे ही । वे चाहते थे कि खुरई में अच्छा गुरुकुल बने । यह काम कैसे हो तथा उसकी क्या व्यवस्था बने यह एक बड़ा प्रश्न था । इसके लिए श्रीमान् पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, श्री डॉ. महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्य खुरई (वाराणसी) तथा मैं [मैं भी उन दिनों गर्मी मे खुरई चला जाता था] पंडितजी के साथ दोपहर का समय प्रति दिन समाज के किसी एक सज्जन के यहां व्यतीत करते । वहा उन सज्जन से गुरुकुल के विषय मे पर्याप्त चर्चा तथा ऊहापोह होता । रात को उनकी तथा अन्य विद्वानों की शास्त्रसभा का आनन्द रहता । इस प्रकार धीरे धीरे वातावरण तैयार हो गया ।

खुरई मे श्रीमंत सेठजी सिंघई गुरहाजी, श्री बजाजजी, श्री सराफजी, श्री मुल्लाजी बा पूरणचन्दजी आदि समाज के सभी सज्जनो के प्रयत्न और सहयोग से श्री पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल की स्थापना हुई । जो उत्तर भारत की एक महत्वपूर्ण प्रभावशाली सस्था के रूप मे समाज सेवा मे संलग्न है ।

सिद्धांत ग्रंथों के प्रकाशन में पं. जी का महत्वपूर्ण योगदान

पडितजी जिनवाणी के परम भक्त थे । तथा उसके प्रचार-प्रसार के लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे । श्री षट्खंडागम ग्रथ के प्रकाशन हेतु श्री सेठ लक्ष्मीचदजी विदिशावालो को तैयार करने तथा समय समय पर व्यवस्था और शका समाधान जैसी गुत्थियो को सुलझाने मे डॉ. हीरालालजी और प. फूलचन्दजी सिद्धांतशास्त्री आदि विद्वानों का सहयोग लेकर ग्रथ प्रकाशित करा के समाज के सन्मुख ला देने मे पडितजी का योगदान संस्मरणीय रहेगा ।

पं. जी की साहित्यसेवा

पचाध्यायी तथा सागारधर्मामृत ग्रन्थो पर आप की टीकाएँ आपकी तलस्पर्शी विद्वत्ता तथा कठिन से कठिन विषय को सरल शब्दों मे प्रतिपादन करने की आप की शैली की परिचायक कृतियां हैं ।

एकता के प्रस्थापक चतुरपंच

आप मे समाज के आपस के मनोमालिन्य को मिटाकर प्रेम और एकता स्थापित करा देने की अपूर्व क्षमता थी । आपकी बातों से प्रभावित होकर लोग आपसी कटुता को भूलकर एक सूत्र मे बंध जाते थे । इस कार्य मे आप एक अच्छे प्रभावशाली चतुर पच थे ।

आपका जल्दी निधन समाज के लिए दुर्भाग्य की बात थी, पर आपके परिवारने बहुतही अच्छी उन्नति करके एक आदर्श उपस्थित किया है ।

वे पूर्व दिन सदा स्मरण रहेंगे

संहितासूरी पं. नाथूलालजी शास्त्री
इन्दौर

व्याख्यान वाचस्पति पं देवकीनंदनजी सिद्धान्तशास्त्री का व्यक्तित्व एवं वक्तृत्व प्रभावशाली होने से वे समाज मे मनोज्ञ (वैयावृत्य तप के भेदो मे से अंतिम) गृहस्थ विद्वान के रूप मे प्रसिद्ध थे। कही किसी भी धार्मिक महोत्सव या सामाजिक समारोह मे आयोजक लोग उन्हे आमंत्रित करने मे अपनी शोभा और गौरव मानते थे।

प्रवचनकार एव प्रवक्ता मे जो गुण होते है, वे सब पडितजी मे पाये जाते थे। विषय प्रतिपादन की शैली और भाषा आकर्षक एव सरल थी। श्रोताओ को अभिभूत कर लेने की उन में अद्भुत क्षमता थी। श्रीमंत सेठ हुकुमचदजी ने पंडितजी की दशलक्षणपर्व मे इसी वक्तृत्व शक्तिपर मुग्ध हो कर उन्हे कारंजा से हमेशा के लिये अपने यहा शास्त्रसभा के विद्वान् के रूप मे इन्द्रभवन बुला लिया था। इस सभा मे पाच दिग्गज विद्वान् उपस्थित रहा करते थे। सर सेठ साहब शास्त्रचर्चा मे बडी रुचि लेते थे।

इन्दौर में आते ही दोपहर का समय फुर्सत का होने से पंडितजी सर हुकमचंद दि जैन संस्कृत महाविद्यालय मे दो घटे उच्च धर्मग्रन्थोका अध्यापन कराया करते थे। यह सेवा उन्होने दो तीन वर्ष की थी। मै भी महाविद्यालय मे ही अध्यापक था। न्यायालकार प. बंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री प्रधानाध्यापक एवं प. जीवधरजी न्यायतीर्थ अध्यापन कराते थे। पं. बंशीधरजी, प देवकीनंदनजी तथा पं. खूबचदजी तीनो मोरेना के सहपाठी थे।

पंडितजी मधुरभाषी और स्नेह की मूर्ति थे। उनका आशीर्वाद मुझपर होने से प्रतिदिन जँवरीबाग से इन्द्रभवन तक मार्ग मे चलते हुए उनके साथ धर्म चर्चा हुआ करती थी। धर्म चर्चा में पंडितजी अपने प्रवचन संबधी अनुभव बताया करते थे। पडितजीकी समाजप्रियता और विद्वत्ता ईर्ष्या का विषय भी रही है जिसे मानव स्वभाव ही मानना चाहिए।

बुंदेलखंड जैन समाज के तो वे समादरणीय नेता थे, जिनके द्वारा अनेक स्थानों के सामाजिक विवाद हल किये गये। अपने समाज में उनकी निर्भीकता प्रसिद्ध थी। इन्दौर में रहते हुए भी वे कारंजा आश्रम को नही भूले थे।

पंडितजी की सादगी एक घरना है सर सेठ साहब की। सर सेठ हुकमचंद मार्गस्थित धर्मशाला में श्री आचार्य सूर्यसागरजी के सान्निध्य में एक धर्मसभा मे सर सेठ साहब ने प्रवचन हेतु पडितजी को लेने मुझे भेजा था। पडितजी घरपर धोती पहन रहे थे। बीच मे धोतो फटी हुई देखकर पंडितानी ने कहा, " बडी सभा मे फटी धोती पहनकर जाना ठीक नही।" पडितजी ने सहज भाव से कहा, " श्रोतागण फटी धोती नही देखते, वे तो मेरा व्याख्यान सुनेंगे। वे मुझे पहचानते हैं।" सच ही था पडितजीका कथन। गाधीजी को पहचानने के बाद उनके वस्त्रो को किसने देखा ? उन्हीं वस्त्रो मे वे भारत के प्रतिनिधि के रूप मे इग्लैड के बादशहा से गोलमेज कान्फ्रेस के समय मिले थे।

जीवन मे अवतरित जैनधर्म की अहिंसा और करुणा के पंडितजी के एक पुत्र को मेडिकल अध्ययन मे आशीर्वाद प्राप्त नही होने दिया था, क्योंकि इस शिक्षण में मेढक आदि जीवो की हिंसा अनिवार्य है। परतु पुत्रों ने स्वयमेव साधन जुटा लिये। सभी पुत्र उनके बाद उच्च शिक्षा पाकर उच्च पदो पर कार्य करते हुए उनके धवल यश का प्रसार करते रहे। इन्दौर मे ज्येष्ठ पुत्र प्रो. सुमतिचद्रजी नायक का अकस्मात् स्वर्गवास हो गया था। गतवर्ष सनावद मे डॉ. त्रिलोकचदजी नायक के समीप पडितजी की धर्मपत्नी का भी स्वर्गवास हो गया।

किंग एडवर्ड हास्पिटल इन्दौर मे दूसरी बार पडितजी बीमार अवस्था में प्राइवेट कमरे मे रहे थे। वे उनके जीवन के अतिम दिन थे। पूरे परिवार ने उनकी खूब सेवा की थी। मै इसके पहले उनसे अनेक बार मिला था। एक दिन उनके मुखसे 'चंद्रप्रभचरित्र' का एक श्लोकाश सुना था– " ससारवृत्त परिजानतोजपि, नाद्यापि याति विरति किमु मानस मे।" संसार के सभी हालात भली भाति जानते हुए आज भी मेरा मन विरक्त नही हो पा रहा है। बीमारी मे अशक्त हो जाने से उन्हे कुछ चिंतित रहना पडा, पर जैनधर्म के अध्यात्म ने उन्हे शांति और सहनशीलता प्रदान की। उनके स्वर्गवास होनेपर तीसरे दिन शोकसभा मे बाहर दूर दूर से समाज के अनेक प्रमुख महानुभाव उपस्थित हुए थे। वह शोकसतप्त वातावरण का दिवस और वे पूर्व दिन मुझे सदा स्मरण रहेंगे।

अलौकिक प्रतिभा के धनी

श्री. पं. प्रकाशचंद्रजी हितैषी शास्त्री
दिल्ली

श्रीयुत प. देवकीनदनजी शास्त्री इस युग के महान प्रभावशाली प्रवक्ता, लेखक, टीकाकार और समाजसेवी थे। मैंने उनका धाराप्रवाह ६ घटे तक आकर्षक प्रवचन सुना है। उनके प्रवचन इतने ठोस और प्रभावशाली होते थे, जिन्हे सुनकर जनता गदगद हो जाती थी। लोग झूम उठते थे।

एक स्थान पर पू. पडितजी के प्रवचन के बाद स्वागत करते हुए एक सज्जन बोल उठे– प जी का भयकर व्याख्यान सुनकर जनता तृप्त हो गई। प. जी ने उसी समय व्यग्य करते हुए कहा–मेरे भयकर व्याख्यान को सुनकर कुछ लोग तो भयभीत होकर मैदान छोड़ कर भाग भी गये होंगे। प. जी का व्यग्य सुनकर उन सज्जन को अपनी भूल का पता चला तो वे भयकर शब्द के प्रयोग पर उनसे क्षमा याचना करने लगे।

इसी प्रकार इन्दौर मे श्रीमत सेठ हुकमचदजी का दान मे एक मुश्त लम्बी रकम देने के उपलक्ष मे स्वागत समारोह मनाया जा रहा था। सभी लोगों ने सेठ सा. के दान की बहुत प्रशंसा की। उन को अनेक उपमाए दे डाली। पू प. जी ने अपने प्रवचन में कहा–आप लोगों ने सेठ सा की प्रशसा के पुल बाध दिये, किन्तु मैं तो कहता हू कि सेठ हुकमचदजी तो कजूसों मे सर्वश्रेष्ठ है। उन्हे कौन पुरुष दानी कह सकता है? लोगो मे खुस फुस होने लगी तो प. जी ने कहा– भाई घबडाने की बात नही है। ये दान नही दे रहे है। ये तो अपने बैंक मे जमा कर रहे है और उसके बदले में इन्हे पुण्य की पास बुक मिलेगी। उससे आगे जाकर मय व्याज के अपना पैसा निकाल लेगे। प जी की इस व्यग्योक्ति पर जनता की तालियों से मण्डप गडगडा उठा।

उनके प्रवचनों मे अनोखी चिन्तन सामग्री मिलती थी। एक स्थान मे प्रवचन करते हुए– अतिथिसंविभाग व्रत की अनोखी किन्तु समझ मे आनेवाली व्याख्या करते हुए कहा– अतिथि अर्थात देश धर्म और समाज पर सकट आने की कोई तिथि निश्चित नही हैं, अतएव ऐसे अवसरों पर इनकी रक्षा करने के लिए संविभाग अर्थात् अपनी संपत्ति का कुछ भाग बचाकर अवश्य रखना चाहिए। ऐसी उनकी अनेक व्याख्याये अनूठी और रुचिकर होती थीं।

उनकी पंचाध्यायी और सागरधर्मामृत की टीकाएं भी उनकी गंभीर ज्ञान गरिमा का गुणगान कर रही है। वे गुरु गोपालदासजी के अनन्यतम प्रतिभाशाली शिष्यों मे से थे। उनकी चिन्तनशक्ति अपूर्व और असाधारण

थी। उक्त प. जी और प. तुलसीरामजी बडौत जैन समाज के प्रभावशाली प्रवक्ता माने जाते थे। ये जहां पर भी जिस सभा सोसाइटी मे पहुँच जाते, तो वहां समा बांध देते थे। समाज घंटों टकटकी लगाकर सुनती रहती थी।

पू प जितने समाज के चमकते सितारे थे, उनकी शिष्य मण्डली मे पं. फूलचन्दजी सिद्धान्त शास्त्री, पं जगन्मोहनलालजी शास्त्री आदि विद्वान् भी उनके गौरव के अनुरूप उच्चकोटि के विद्वान हैं। जिन्होने समाज को भरपूर ज्ञान का भण्डार समर्पित किया है।

आपको गुरु गोपालदासजी के शिष्य होने का सौभाग्य प्राप्त था; इसलिए आपकी भी बौद्धिक प्रतिभा अपने गुरु के अनुरूप थी। ऐसी प्रतिभाएँ क्वचित् कदाचित् ही भूपर अवतरित होती हैं।

पं. देवकीनन्दनजी : गूंजते हुये मधुर स्वर के प्रभावी प्रवक्ता

श्री महताबसिंहजी जैन,
बी. ए. एलएल. बी.
जौहरी, दिल्ली

बहुत पुरानी बात हो गई–समय कोई ५५–६० वर्ष का होगा– मैं उस समय St Stephens Mission College तथा Law College में अध्ययन करता था। मेरे पिताजी स्व. प मदनसिंहजी बडे मंदिर मे शास्त्र प्रवचन करते थे जो अन्तिम समय तक ५० वर्ष तक करते रहे। वे हर दशलक्षण पर्व पर बडे २ विद्वानो को प्रतिवर्ष बुलाते थे। दोनों स्कूलोंका सचालन तथा मंदिर के शास्त्र भण्डार का रक्षण तथा उसकी वृद्धि करना आदि भी वे ही करते थे। प्रवचन के लिये पूज्य ब्र. शीतलप्रसादजी, पं माणिकचदजी प प्यारेलालजी, प श्रीलालजी प खूबचदजी, प. मक्खनलालजी, पं. राजेंद्रकुमारजी, प अजितकुमारजी, और हमारे चरित्रनायक प. देवकीनदनजी आदि को बुलाया करते थे। सबसे बडा धार्मिक वत्सलता का वातावरण होता था। और श्रोतागण भी समाजके गणमान्य व्यक्ति रहते थे। उस समय मदिरो मे बिजली न होने के कारण गर्मी मे पसीनो से परेशान होते हुये भी रायबहादुर नदकिशोर, सुपरिटेंडिंग इंजिनियर केवल दश धर्मोंपर विद्वानों के प्रवचन सुनने के लिये छुट्टियाँ लेकर आते थे। प देवकीनदनजी प्रवचन के लिये तीन चार बार देहली पधारे थे। मेरा सौभाग्य था कि उनको मेरे से अगाढ वात्सल्य था। उस समय मैं छात्र था और उनका काम छात्रो को सही मार्ग पर लगाने का था।

पडितजी का व्यक्तित्व प्रतिभाशाली था। उन को अनेक उपाधियो के अलावा व्याख्यानवाचस्पति की उपाधि थी। समाजकी ओरसे भिन्न भिन्न स्थानो से समय समय पर उपाधियों से उन्हे विभूषित किया गया था। उन को सुस्वर प्रकृति का उदय था। स्वर बडा मधुर और गूजता हुआ था, जो आज भी कानो मे मालूम होता है। गूजता हुआ प्रवचन मधुर, स्पष्ट, हृदयग्राही, सामान्य श्रोताओं के समझ मे आनेवाला, कथाओ व दृष्टान्तो से भरपूर होता था। आगमानुसार हर आगम के श्लोक बताना उनके महान अध्ययन का द्योतक था। वह गणधरस्वरूप थे। उन के बारे मे कहांतक लिखा जावे ? सूर्य को दीपक दिखाने की तरह मैं उनके बारे मे ज्यादा क्या लिखू ? उनके जैसी महान आत्मा बडी दुर्लभतासे दिखाई देते है। ते गुरु मेरे मन बसो।

पं. देवकीनंदनजी : एक चतुरस्र व्यक्तित्व

निवेदक : श्री पं. हजारीलालजी रांवका, छिंदवाडा
लेखक : श्री मूलचंदजी बडजाते, वर्धा

सन १९२७ की बात है। उस वक्त हम तथा पण्डितजी भी सिवनी रहने के लिए आ गए थे। एक दिन हमारे काकाजी श्री सोनपालजी रावका ने जो कि श्री कुवरसेनजी के फर्म मे नौकरी कर रहे थे, पडितजी से कहा कि आपका पब्लिक मे व्याख्यान होना चाहिए। श्री कुँवरसेनजी ने जो उस समय जाने माने वक्ता थे, कहा कि अभी प देवकीनंदन इस लायक नही कि वह आम पब्लिक मे व्याख्यान दे सके। पडितजी ने कहा कि हम बोल कर ही बतावेगे। सभा का आयोजन हुआ। सभा मे सिवनी के उस समय के जाने माने लोग, जैसे श्री मेहताजी जो बाद मे सी पी अँड बेरार के मिनिस्टर रहे, उपस्थित थे। सभा के अध्यक्ष श्री चैनसुखदासजी छाबडा थे। पडितजी का वह पहला ही व्याख्यान इतना प्रभावशाली रहा कि जैन व जैनेतर सब ने पडितजी की मुक्तकठ से प्रशसा की।

उस समय अग्रेजो का राज था। जब भी कोई व्यक्ति आम जनता के सामने व्याख्यान देने को आता, सी आई. डी. उनके पीछे लग जाती थी। इस प्रकार के व्याख्यान देनेवाले क्रातिकारी समझे जाते थे। बरुआ सागर मे जब पडितजी थे तब एक गव्हर्मेंट का सी. आई डी तो इतना पीछे पडा था कि उसने मूलचंदजी, सराफ के यहा नौकरी की ताकि पडितजी के कार्यकलापो पर निगरानी रख सके। कुछ ही दिन मे वह पडितजी का दोस्त बन गया और उसने शासन को रिपोर्ट भेज दी की यह आदमी धर्मात्मा है, विद्वान् है किन्तु इनका राजनीति से कुछ सबध नही है। तब से सरकारी निगरानी से छुट्टी मिल गयी।

पण्डितजी के वक्तृत्व की महिमा दिल्ली के संस्मरण की याद दिलाती है। उस समय दिल्ली के आर्यसमाजी श्री पं. रामचंद्रजी शर्मा का बहुत बोलबाला था। जाति के सुनार, उर्दू, अंग्रेजी, हिंदी के प्रकाड विद्वान् जिनके व्याख्यान के सामने दूसरो के व्याख्यान फीके पड जाते थे। वहाँ जैनियो को निमंत्रण मिला कि आर्य समाजी शास्त्रार्थ करना चाहते है। जैन समाज घबरा गई; तब पडितजीने कहा कि घबराने की जरूरत नहीं है। आमंत्रण स्वीकार करेगे। लेकिन पंडितजीने शर्त रखी कि अगर शास्त्रार्थ होगा तो एक मध्यस्थ की जरूरत रहेगी और वह अधिकार जैनियो का रहेगा। प्रेसिडेट हम चुनेंगे। यह बात आर्यसमाजियोने मंजूर नही की। तब पडितजी ने उनके सामने दूसरा पर्याय रखा। यदि मध्यस्थ व्यक्ति आर्यसमाजी रखना होवे तो उसको चुनने का

अधिकार जैनियो का होगा और जैनी मध्यस्थ रखना होवे तो उसका अधिकार आर्यसमाजियों का होगा। आर्य समाजियों ने झट पहिली शर्त मान ली। पडितजी तो यहां चाहते थे। उनकी सूझ बूझ काम कर गयी वह ऐसी। उन्होंने अध्यक्षता प रामचद्रजी शर्मा को करनी दी। कार्यक्रम शुरू हुआ। आर्यसमाजी व्याख्याता जो बोलने जाते आते थे वे इस स्तर के नहीं थे, इस कारण पं, रामचद्रजी शर्मा को बडी बेचैनी होती थी। शर्माजी कभी व्याख्याता का पीछे से कुर्ता खेचते, तो कभी लाल पीले होते, तो कभी वक्ता को "क्या बेवकूफ सरीखे बोलते हो?" आदि कह कर गुस्सा प्रदर्शित करते। तब पंडित देवकीनन्दनजी उठकर धीरे से हाथ जोडकर कहते, "महाराज, आप तो अध्यक्ष है, आपको मध्यस्थ की भूमिका निभानी है।" तब शर्माजी को मौन धारण करना पडता। उस सभा मे पडितजी का धाराप्रवाह, ओजस्वी व्याख्यान सुनकर जनता मंत्रमुग्ध हुई व जैनियो की जीत हुई। बाद मे पं. शर्माजी ने लोगो से कहा कि, "भाई! यह पंडित बहुत ही चतुर है, इस मे कोई शक नहीं।"

जबलपुर की बात है। वहा सेठ सिघई गरीबदासजी बडे धर्मात्मा नेता थे। एक दिन वे पंडित देवकीनंदनजी से कहने लगे, "पडितो का रवैया ठीक नही है। वे हम लोगो पर छीटा कसी करते है। हमारे ही टुकडो पर पलते हैं और हमारी ही थाली मे छेद करते है।" पंडितजी ने हाथ जोड कर कहा, "सेठजी, आपने बिलकुल सच्ची बात कही है। आपने हमे टुकडे ही खिलाये हैं। अगर आप हलवा पुडी खिलाते तो हम आपके खिलाफ कभी बात नही करते।"

प. माणिकचदजी न्यायाचार्य सहारनपुर के थे। उस समय न्याय के विद्वान् जो इने गिने जैसे वर्णीजी, महेद्र कुमारजी आदि थे; उन मे से पं. माणिकचदजी थे। वे व्याख्यान के लिए खंडवा गये थे। आम जनता के सामने उनका व्याख्यान हो रहा था। उन्होंने परमत खडन करना जब शुरू किया तब जनता भडक उठी। उसी सभा मे प. देवकीनंदनजी उपस्थित थे। वे सामने आये और उन्हे बिठा कर अपना व्याख्यान उन्होंने शुरू किया। पूरी सभा उनका व्याख्यान मंत्रमुग्ध होकर सुनती रही व सारी पब्लिक पानी पानी हो गई, झगडा शात हो गया। यह था आकर्षण पडितजी के व्याख्यान मे।

सन १९२० के आसपास की ही बात है। प गोपालदासजी बरैय्या, प. बंसीधरजी न्यायाचार्य, पं. ठाकुर प्रसादजी वर्णी, पं. देवकीनदनजी सिवनी आये थे। पहले प गोपालदासजी का प्रवचन होता था, बाद मे प. देवकीनदनजी का। प. देवकीनदनजी के श्लोक इतने मधुर वाणी मे होते थे कि हम अपनी १७-१८ वर्ष की उमर मे उनके वक्तृत्वसे आकर्षित हुए। बादमे तो पडितजी का आगमन सिवनी मे परवार सभा, खडेलवाल सभा, शास्त्री सभा तथा पर्यूषण पर्व मे होना ही रहता था। हमारे काकाजी सोनपालजी रावका का उनका बहुत प्रेम था। अतः हमारे ऊपर छोटी उमरसे ही उनका वात्सल्यभाव बना रहा। वही प्रेम अंत तक रहा। हम सन १९३५ मे कारजा मे उन्ही के यहां एक माह रहे और इसी कारण उनके परिवार का मेरा प्रेम संबध बना रहा।

एक समय की बात है पडितजी परवार सभा के प्रेसिडेट बनकर जबलपुर गये थे। वहाँ गजरथ भी निकलने वाला था। लेकिन उस गजरथ प्रथा का कुछ नवयुवको द्वारा विरोध भी हो रहा था। अतः दो पार्टिया बन गई थी। पंडितजी के सभापतित्व मे सुबह के भोजन के बाद सभा प्रारंभ हुई। दोनो पार्टियो के वक्ताओ के व्याख्यान शुरु हुये। पंडितजी पानी पीने के बहाने से बाहर आये व बहुत देर तक अदर गये ही नही। तब कुछ लोग बाहर आये व उन्होंने पंडितजी को कहा, "अदर तो जोरोसे छीटाकसी हो रही है, झगडा होने की नौबत है। और आप यहां आकर बैठ गये।" शाम हो रही थी। पंडितजी ने उन लोगो से कहा, "अरे भाई, मै जानता हूं बनियो का झगडा कब तक चलता है? जब तक रोटी है तब तक। अभी भूख लगने दो सब झगडा शांत हो जावेगा।" जैसे ही पंडितजी मंच पर पहुंचे और आवाज लगाई, "देखो भाई, आज इस विषय का निर्णय

करनाही चाहिये, चाहे रात्रिके नव वजे लेकिन निर्णय लेकरही उठेंगे।" तब कुछ लोगों की आवाज आयी, "पंडितजी, निर्णय तो आप को ही लेना है, और आप ही प्रेसिडेंट है। समय बहुत हो गया। आपही निर्णय देवे।" पंडितजी बोले, "देखो भाई, हम तो पंडित आदमी है। हम क्या बोलेंगे यह आप भी जानते हैं। हम धर्म के खिलाफ नही जावेगे। गजरथ जो हो रहा है वह आगम संमत है।" इस प्रकार सारे समुदाय को अपने आकर्षक व्याख्यान से शात करके कार्यक्रम पूरा हुआ।

पडितजी पंच पंचायतियो के उलझन भरे मामलों को निपटाने में सिद्धहस्थ थे।

महान विद्वान समाजनेता

श्री. पं. सुमेरुचंद्रजी दिवाकर
न्यायतीर्थ बी ए. एल्एल्. बी.
सिवनी

स्वनामधन्य वाणीभूषण पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री जैन समाज के प्राचीन महान् विद्वानो मे थे। इस युग मे सम्यग्ज्ञान द्वारा आगम के विषय मे फैले हुये अज्ञान के निवारण मे दिगम्बर जैन संस्कृत विद्यालय मुरैना के संस्थापक स्व. पं गोपालदासजी बरैया का प्रमुख स्थान है। उन के समीप अध्ययन करनेवाले पू प प्रवर वशीधरजी न्यायालकार पू. खूबचन्दजी शास्त्री पू. प. मक्खनलालजी वादीभ केसरी तथा व्याख्यानवाचस्पति प देवकीनन्दनजी आदि का समाज मे गौरवपूर्वक स्मरण किया जाता है।

मुरैना के विशिष्ट विद्वानो मे पं. देवकीनन्दनजी का स्थान था। मैने १९२१ के राष्ट्रीय स्वतत्रता संग्राम के अवसर पर महात्मा गाधी के आदेशानुसार सरकारी हायस्कूल की पढाई छोड दी थी। उस समय मै राष्ट्रीय आन्दोलन की सेवा मे निमग्न था। मेरे पिता श्री पूज्य सिघई कुवरसेनजी महान् शास्त्रज्ञ अखिल भारतीय स्तर के प्रभावशाली नेता थे। मेरे जीवन मे कही राष्ट्रभक्ति के अतिरेक वश धर्मशून्यता का प्रवेश न हो जाये, इस बात को गम्भीरता से सोचते हुए उन्होने मुरैना को, जो उस समय जैन सिद्धात के अध्ययन का श्रेष्ठ विद्यामन्दिर था, वहा प देवकीनन्दनजी के समीप अध्ययन हेतु भेज दिया। पू प. जी पिताजी के अत्यन्त विश्वास पात्र थे। प जी पिताजी को सदा "बापाजी" कहते थे। उन्होने मुरैना मे पवित्र प्रिय धरोहर के रूप मे मुझे रक्खा। मेरी सर्व प्रकार की व्यवस्था मेरी रुचि और मनोवृत्ति के अनुरूप वे करते थे।

उस समय मुरैना मे विद्यमान विद्वान्मण्डल द्वारा मुझे जो ज्ञानामृत पान करने को मिला उससे पवित्र जिनागम के प्रति मेरी प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हुई। प. देवकीनन्दनजी पर गुरु गोपालदासजी का विशेष विश्वास था। वे उन्हे धर्मप्रचार के लिए बाहर जाते समय साथ मे रक्खा करते थे। गुरुजी की परिचर्या करने मे प. जी अत्यन्त प्रवीण थे। गुरुजी के निकट व्यक्तिगत सम्पर्कने उनकी प्रसुप्त शक्तियो को विकसित किया। गुरुजी के समान ही प. जी के भाषण मे जादू जैसा असर देखा जाता था। इसी लिये अनेक बार गुरुजी अपने बदले मे धर्मोपदेश हेतु उन्हे ही बाहर भेजा करते थे। मैने दो वर्ष मुरैना मे अध्ययन किया। उस के बाद पं. देवकीनन्दनजी कारंजा महावीर ब्रह्मचर्याश्रम के प्रधानाचार्य के रूप मे चले गये। पडितजी के स्नेह, सौजन्य और पाडित्य से आकर्षित होकर मै कुछ समय के लिए साढूमल निवासी भाई पं. किशोरीलाल के साथ अध्ययन हेतु कारंजा पहुचा। वहा हमने पचाध्यायी, राजवार्तिक तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड का विशेष परिश्रमपूर्वक भक्ति सहित अध्ययन किया।

उस समय कारंजा गुरूकुल का काम ब्र. देवचन्दजी जिन्हें सब 'काका' कहते थे, देखा करते थे। आज वे मुनि समन्तभद्र महाराजजी के रूप में कुम्भोज बाहुबलीमें आत्मसाधना रत है। उन्हे क्षुल्लक दीक्षा आचार्य शातिसागर जी महाराज (दक्षिण) ने ब्यावर में दी थी। उनका नाम समन्तभद्र रखखा गया था। जिस संस्था का काम पं देवकीनन्दनजी ने शुरू किया था वह संस्था श्री समन्तभद्र महाराज की बुद्धिमत्ता, कार्यकुशलता आदि गुणो के कारण अनेक गुरुकुलों के निर्माण मे निमित्त बनी।

पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री होने के साथ लोक व्यवहार और चतुरता में आचार्य थे। सामाजिक गुत्थियों को सुलझाने में अपूर्व थे। इस सम्बन्ध में उनका पिताजी के साथ अनुभवो का तथा विचारो का आदान प्रदान होता रहा। जिस का समाज हित में काफी उपयोग हुआ।

हमारे परिवार के सभी व्यक्ति पं जी को अपने परिवार का व्यक्ति ही मानते थे; तथा उसी प्रकार उनकी भी ममता हम सब को प्राप्त थी। उन का गोत्र नायक था। उन्होंने समाज के नायक का कार्य बडी कुशलता से किया। उनका सार्वजनिक जीवन भी अपूर्व था। एकबार प. जी के साथ मै चिरगांव झांसी राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त से यह अनुरोध करने गया था कि जैसे उन्होंने बुद्ध के विषय मे यशोधरा महाकाव्य बनाया उसी प्रकार भगवान महावीर के विषय मे भी उनकी रचना प्रकाशित होना चाहिये। पडितजो और गुप्तजी के मधुर सम्बन्ध वहा मुझे देखने को मिले। वे प. जी का बडा आदर करते थे। कारण विशेष से गुप्तजी हमारी मनोकामना पूर्ण न कर सके।

पं देवकीनन्दनजी के मधुर भाषण को समाज के सभी वर्ग के लोग पसन्द करते थे। उन का चिन्तन बडा मार्मिक था। मुझे उनकी एक बात याद आती है। मै कारंजा में था। उस समय वहा वयोवृद्ध भट्टारक वीरसेन स्वामी थे। वे अध्यात्मशास्त्र के मार्मिक विद्वान् थे। मैं उनके पास गया। मैने उन्हे प्रणाम नही किया क्यो कि जिस परम्परा से मै सम्बन्धित था उस मे वस्त्रादिधारी भट्टारको के प्रति श्रद्धा एव आदर का भाव नही था। उन्होंने पं. जी से मेरे बारे मे पूछां-"यह कौन है"? पं. जीने कहा-"यह मेरा छोटा भाई है। अभी देश से यहाँ आया है।" प. जी के इस उत्तर ने उन्हे शीतलरूप बना दिया। फिर भट्टारकजी से काफी समय तक मैने अपने अध्ययन के अनुरूप चर्चा की, जिसका उन्होने यथोचित् उत्तर दिया।

कुछ समय के बाद मैने कहा- महाराज मैने आप के वृद्ध शरीर को बहुत कष्ट दिया। उन्होने मुझसे पूछा- "कोई व्यक्ति मरता है तो उसे क्या दवा देते है? मैने कहा-मुझे नहीं मालूम। उन्होने पुनः पूछा हेमगर्भ का नाम सुना है? मैने कहा-हां महाराज फिर उन्होने कहा-हमने अपने शिष्यो से यह कह दिया है कि जब हमारा परलोक प्रयाण होना प्रतीत हो तो हमें कोई औषधि न देकर आत्मा के विषय मे कोई प्रश्न पूछना उस समय भी हम आत्मा के विषय में उत्तर देते देते देह का त्याग करेंगे।

पू. पं जी मे लोकज्ञता का गुण विलक्षण था। वे दूसरे व्यक्ति की मनोगत बात को सहजही जान लिया करते थे। इसलिये वे मायावी धूर्तों के चक्कर मे नही आते थे। उन में अनेक गुणो का समुदाय था। महान शास्त्रज्ञ तो वे थे ही, इसके सिवाय समाज के झगडो का सर्वप्रिय निर्णय देने में वे अत्यन्त प्रवीण थे। वे महान् समाजनेता थे। संस्थाओं के संचालक थे। उन्होने अपने जीवन मे जो समाज का उपकार किया वह वचनातीत है। मै उनकी कृपाके लिये अत्यंत अवनत हूँ। और उनको पुनः पुनः प्रणाम करता हूं।

एक आदर्श विद्वान

श्री. पं. सत्यंधर कुमारजी सेठी
उज्जैन

परमश्रद्धेय व्याख्यान वाचस्पति माननीय पडित देवकीनदनजी सिद्धात शास्त्री का स्वर्गवास वर्षो पहिले हो गया है लेकिन उनके व्यक्तित्त्व, नि.स्वार्थ सेवा और त्यागमय जीवन से समाज आज भी प्रभावित है। जो उन महान विद्वान् के जीवन की स्मृतियो से भावी पीढियाँ जीवन निर्माण की शिक्षाएँ ले सके इसलिए आवश्यक समझा गया है कि माननीय पडितजी की स्मृति मे देवकीनदन स्मृति ग्रन्थ प्रकाशित किया जाय। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में एक ऐसे अतर्मुखी महान संत समतभद्र महाराज की प्रेरणा है, इस से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि श्रद्धेय पंडितजी का व्यक्तित्त्व बहुत ऊँचा था; जिससे महान संत भी प्रभावित थे।

श्रद्धेय पडितजी के प्रत्यक्ष दर्शन इन्दौर मे मुझे कईबार हुए है। और उनके शास्त्र प्रवचन मे भी जानेका मुझे सौभाग्य मिला है। जैन सम्राट सर सेठ साहब श्रद्धेय पडितजी से काफी प्रभावित थे और नित्य उनके शास्त्र प्रवचन में उपस्थित होते थे। सेठ साहब स्वयं शास्त्रज्ञ थे बडी २ शंकाएँ प्रवचन के समय सेठ साहब द्वारा उठाई जाती थी। शकाओ के समाधान के समय पडितजी के चेहरे पर वह प्रकाशपुंज देखने को मिलता था, जिस से स्वभावत सरलतया शकाओका समाधान हो जाता था।

श्रद्धेय पडितजी के आत्मा पर कभी भी धन का प्रभाव नही था। वे एक ऐसे व्यक्तित्त्व के धनी थे, जिस व्यक्तित्त्व में छिपा हुआ था अद्भुत वैराग्य। विचार में स्वतंत्र थे। तार्किक बुद्धि थी। विलक्षण शक्ति के धनी थे। ज्ञान और चारित्रही उनका जीवन था। वीतरागी मे अटूट श्रद्धा थी। उनके समय में समाज मे अनेक सामाजिक और धार्मिक आंदोलन बराबर प्रचलित थे। लेकिन श्रद्धेय पंडितजी ने उन विवादो से अपने आपको काफी बचाया। एकही लक्ष्य था चिंतन और मनन।

ऐसे महान् विद्वान के चरणों में मै भी श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ और अपने आपको धन्य मानता हूँ।

समन्वयात्मक दृष्टिकोण के उपस्थापक

श्री पं. बालचंदजी शास्त्री
हैद्राबाद

स्व. पं. देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री एक ख्यातिप्राप्त, लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् रहे हैं। वे सिद्धान्त के मर्मज्ञ होने के साथ कुशल व्याख्याता भी रहे हैं। उनकी वाणी में मधुरता भी थी। उनकी इस कला पर मुग्ध होकर उन्हें **व्याख्यान-वाचस्पति** जैसी महत्त्वपूर्ण मानद उपाधि से सम्मानित भी किया गया।

सुप्रसिद्ध षट्खण्डागम जैसे सिद्धान्तग्रन्थ के सम्पादन व संशोधन कार्य में उनका प्रारम्भ (ई. सन् १९३९) से स्वर्गस्थ हो जाने तक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा पंचाध्यायी जैसे दुरूह ग्रन्थों का सरल व सुबोध अनुवाद भी किया गया है। यह सब विद्वत्तापूर्ण कार्य उनका अगाध पाण्डित्य का परिचायक है।

स्व. पं. गोपालदासजी बरैया के द्वारा संस्थापित 'गो. दि. जैन सिद्धान्त विद्यालय, मोरेना' में वे अनेक वर्षों तक सुचारुरूप से अध्यापन कार्य करते रहे हैं। मोरेना विद्यालय सिद्धान्त के अध्ययन के लिये एक आदर्श विद्यालय रहा है। स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस आदि अन्य कितने ही महाविद्यालयों में उच्च कोटि के न्याय, व्याकरण और साहित्य आदि जैसे विषयों में निष्णात होकर छात्र उच्च कोटिका सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये उस विद्यालय में वर्ष दो वर्ष के लिये अवश्य पहुँचते थे। कारणवश स्व. न्यायाचार्य प. माणिकचन्द्रजी जैसे ख्यातिप्राप्त विद्वान् को उक्त विद्यालय को छोड़कर स्व. जम्बूप्रसादजी रईस द्वारा स्थापित 'जम्बू महाविद्यालय, सहारनपुर' में चले जाना पडा।

स्व. पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री 'महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा' में पहुँचे। इस ब्रह्मचर्याश्रम की भी उन्होंने अपूर्व सेवा की है। उनकी गम्भीर विद्वता व मधुर वाणी का समाज भर में सर्वत्र प्रभाव अच्छा रहा है। इससे उक्त ब्रह्मचर्याश्रम को उनका महत्त्वपूर्ण योगदान प्राप्त रहा। उसका सहज स्मरण रहने से ही 'पं. देवकीनन्दनजी गौरव ग्रन्थ समिति, कारंजा' के द्वारा उनकी पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के उद्देश से प्रस्तुत गौरव ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना बनायी गई, जो अतिशय श्लाघनीय है।

पण्डितजी में एक विशेष उल्लेखनीय गुण यह भी रहा है कि यदि कहीं किसी संस्था व प्रतिष्ठा आदि के कार्यक्रम में किसी प्रकार के विरोध का वातावरण बना है तो उसके निवारणार्थ उन का विशेष स्मरण किया जाता

था। वे भी वहां तत्परता से पहुँचते थे और दोनों ओर के विरोध का अध्ययन करके उस के निवारणार्थ अपने समन्वयात्मक दृष्टिकोण को, जो उभय पक्षको मान्य होता था, प्र तुत करते थे। यह उनमे समयानुरूप एक विशिष्ट प्रतिभा रही है, जिसके बल पर वे दोनो पक्षो को आकृष्ट कर लेते थे। इससे विरोध का वातावरण हटकर शान्त वातावरण बन जाता था।

मुझे यह स्मरण है कि आजसे लगभग ४५–५० वर्ष पूर्व खुरई निवासी स्व श्री. गनपतलालजी गुरहाने देवगढ क्षेत्रपर गजरथ चलाने की योजना बनायी थी। उसे सफल बनाने का वे प्रयत्न कर रहे थे। उसका पता लगनेपर कुछ सुधारप्रिय महानुभाव उसका विरोध करने के लिये उद्यत हो रहे थे। उन विरोधियोंका दृष्टिकोण यह रहा है कि जहा अनेक जिनालय विद्यमान हैं, जिनमे कुछ खण्डहर बन रहे हैं व जिनकी ऐतिहासिकता समाप्त-प्राय है एवं मूर्तियो की दुरवस्था भी है, वहां नये जिनालय व प्रतिष्ठा के कार्यक्रम को स्थगित रखा जाय। इस प्रकारसे जो द्रव्य बचता है, उसका सदुपयोग उन जीर्ण शीर्ण जिनालयो के सरक्षण मे किया जाय तथा उनकी ऐतिहासिक प्राचीनता को सुरक्षित रखा जाय।

इस विरोधकी कल्पना कर गुरहाजी को घबड़ाहट हुई। उसे शान्त करने के लिये उन्होने पं. देवकीनन्दनजी से प्रार्थना की कि वे आकर अपनी मध्यस्थता से उस विरोध के वातावरणको टालने का प्रयत्न करे। तदनुसार पण्डितजी ने वहाँ पहुंचकर दोनो पक्षो की विचारधारा को सुना और तदनुसार अपनी सदा सावधान तत्पर प्रतिभा के बलपर ऐसे समन्वयात्मक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया जो उभय पक्ष को मान्य हुआ। इस प्रकारसे निर्विरोध उल्लास पूर्ण वातावरण मे प्रस्तावित गजरथ का कार्यक्रम उत्साहपूर्वक सम्पन्न हुआ।

यह भी स्मरणीय है कि उस सम्भावित विरोध के परिहारार्थ इन्दौर से सर सेठ हुकमचन्दजी को भी विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था। वे भी वहाँ पहुँच गये थे। उनकी अध्यक्षता मे महासभा का अधिवेशन भी संपन्न हुआ था। सर सेठ सा. अतिशय प्रभावशाली व्यक्ति रहे है, जिनका प्रभाव तात्कालिक राज्यो पर भी निर्बाध रहा है। वे ऐसे धार्मिक कार्यक्रमो के सम्पन्न कराने में सदा प्रयत्नशील रहे हैं।

कारंजा मे रहते हुए एक बार पण्डितजी बीमार पड़ गये थे। तब वे स्वास्थ्य सुधार के लिये अमरावती पहुँचे थे। वहां ख्यातिप्राप्त स्व सिंघई पन्नालालजी ने अपने घरपर रख कर उनका उपचार कराया था। सिंघईजी एक विशिष्ट धार्मिक व्यक्ति रहे है। वे सामाजिक व धार्मिक कार्यों मे अपना पूरा योगदान करते रहे है। उस समय अमरावती मे रहता हुआ मैं षट्खण्डागम का कार्य करता रहा हू।

स्वस्थ हो जाने पर फिर पं. देवकीनन्दनजी सर सेठ हुकमचन्दजी के आमंत्रण पर इन्दौर चले गये व उनका वही स्वर्गवास हो गया। पण्डितजी मे अनेक लोकोत्तर महान् गुण रहे है, जिनके आश्रय से उनका प्रभाव श्रीमान और धीमान् दोनो पर रहा है।

ऐसे महापुरुष की स्मृति मे जो यह 'गौरव ग्रन्थ' प्रकाशित किया जा रहा है उसके लिये कारंजा ब्रह्मचर्याश्रम का आभार मानना चाहिये। मै इसके लिये कारंजा की दि जैन समाज, ब्रह्मचर्याश्रम और 'गौरव ग्रन्थ समिति' को अनेकानेक धन्यवाद देता हू तथा महान्तम व्यक्तित्व के धनी उन स्वर्गीय पण्डितजी के आत्मा के प्रति विनयावनत होकर अपनी सादर श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

पं. देवकीनन्दनजी : एक स्पष्टवादी लौहपुरुष

श्री. पं. नेमीचंदजी पाटणी
मत्री, पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट
जयपुर

व्याख्यान वाचस्पति प. देवकीनदनजी एक दिव्य पुरुष थे, जिनकी समाज के प्रति, जिनवाणी के प्रति, विद्वत्–समाज के प्रति प्रचुर सेवाये उपलब्ध है। उनके व्यक्तित्व को इस स्मृति ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा ऐतिहासिक बनाने का प्रयास बहुत स्तुत्य है।

स्व. पडितजी साहब के साथ मेरा विशेष लम्बे काल तक संबंध नही रहा, कारण कि मेरी उस समय की उम्र के हिसाब से वे मुझसे वय मे भी एवं ज्ञान मे भी अत्यन्त समृद्ध थे, लेकिन विद्वत्समाज मे उनकी ख्याति के कारण मै उनसे बहुत प्रभावित था। इस ही बीच सोनगढ के प्रवचन–मडप के उद्‌घाटन के अवसर पर सरसेठ हुकमचदजी साहब पधारे। उनके साथ श्री पडितजी साहब भी सोनगढ पधारे ऐसा ज्ञात होते ही मेरा हृदय अत्यन्त प्रफुल्लित हो उठा। मैने उनसे परिचय करने का प्रयास किया तो उन्होने मुझे भी जिनवाणी का सेवक जानकर परस्पर अपरिचित होते हुए भी अत्यन्त आत्मीयता का व्यवहार किया मानो बहुत पुराने परिचित हो। वे जितने दिन सोनगढ रहे– ज्यादा काल मुझे साथ रहनेका अवसर मिला। हम आपस मे चर्चा करते तो चर्चा के समय मैने उन मे सबसे विशेष गुण पाया कि वे अत्यन्त सरलता के साथ रहते हुए भी किसी भी विषय को गहराई से समझने की एवं गंभीरता के साथ समझाने का पूर्ण प्रयास करते थे अर्थात किसी भी विषय को पकडकर हठग्राहकता धारण करने की उनकी आदत ही नहीं थी। हमेशा प्रसन्न रहने की एवं दूसरो को भी प्रसन्न रखने की उनमे एक कला थी। स्पष्टवादिता उनका एक प्रमुख गुण था। सामने कोई भी व्यक्ति हो, लेकिन जो बात स्वयं को ठीक नही लगती, तो वे कतई स्वीकार नही करते, हँसते–२ स्पष्ट रूप से अपनी असहमति व्यक्त कर देते थे।

इसी समय का प्रसंग कि उन दिनो मे पंचाध्यायी ग्रन्थ की टीका की द्वितीयावृत्ति का विकल्प था। उस संबध में कुछ दिनो उनका मंथन चलता रहता था। ग्रन्थ मे आये नय के प्रकरण का अभिप्राय पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के सामने प्रस्तुत किया। साथ चर्चा भी होती रही। उन्होने श्री स्वामीजी को प्रसन्नता से निवेदन किया कि ग्रन्थो के मर्म को तो आपने निश्चितही समझा है। और यह आशय प्रगट किया कि जो मैने यह पचाध्यायी की टीका तैयार की है तथा कर रहा हूं उसका आद्योपान्त आपके समक्ष भी वाचन हो जाय तो अच्छा होगा ताकि ग्रन्थकार का भाव यथावस्थित, यथास्थान स्पष्ट हो सके और जिनवाणी के भाव स्पष्ट

करने में कोई विपर्यास न हो। उनके हृदय की सरलता देखकर पूज्य स्वामीजी ने कहा– पडितजी साहब ! आपको सर सेठ साहब के साथ ही वापिस जाना है, अत इतने थोडे समय मे यह कार्य कैसे पूर्ण हो सकेगा; क्योकि मै मेरे दैनिक कार्यो मे से ज्यादा समय निकाल नही सकूगा। इसी समय श्री रामजी भाई से समय प्राप्त हुआ और कार्यक्रम निश्चित हुआ। मेरे ही निवास स्थल पर यह कार्य प्रारंभ किया गया। रोजाना सुबह दोपहर–रात्री का समय मिलाकर लगभग ३–४ घटे यह कार्यक्रम चलता था। उस मे स्व. श्री रामजी भाई के साथ–२ पंडित श्री हिम्मतलाल जेठालाल शेठ एव अन्य भी कई विद्वान् सम्मिलित होते थे। उस समय पडितजी साहब के हृदय की सरलता देखकर आश्चर्य होता था कि समाज के ऐसे बडे प्रतिष्ठाप्राप्त विद्वान् कितने निश्छल और सरल स्वभावी है। मै पडितजी साहब के इन गुणो से बहुत ही प्रभावित हुआ और देखा कि इतने दिन तक चलने वाले वाचन मे भी विचारो का अच्छा आदान प्रदान हुआ। एक बार भी कोई अवसर ऐसा नहीं आया जहां पडितजी साहब ने किसी प्रकारका आग्रह किया हो। "बुद्धेः फलमनाग्रहः" । इस वाक्य का साक्षात्कार हुआ। जहा तक मुझे याद है, इन बैठको मे ग्रन्थ की पूरी टीका का वाचन तो नही हो सका, लेकिन सभी अस्पष्ट स्थल स्पष्ट हो गये। अन्तत पूज्य स्वामीजी का अत्यन्त आभार मानते हुए एवं धन्यवाद देते हुए, श्री रामजी भाई को धन्यवाद देते हुए पुन. शीघ्र आने की हार्दिक भावना व्यक्त करते हुए पडितजी साहब सोनगढ से बिदा हुए। पूज्य स्वामीजी भी उन के सरल हृदय से इतने प्रभावित हुए कि कुछ समय बाद पंडितजी साहब को स्वय दो माह सोनगढ ठहरने के लिए पधारने का सम्मान के साथ आग्रहपूर्ण निमत्रण भेजा। प्रतिकूल स्वास्थ्य के कारण पडितजी साहब सोनगढ पुनः पधार नही सके।

सोनगढ के प्रवास–काल में ही मुझे पंडितजी साहब के साथ अत्यन्त निकटतापूर्वक एव आत्मीयतापूर्वक रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय से पंडितजी के व्यक्तित्व की छाप ने मेरे हृदय मे स्थान बना लिया। वे हँसी मजाक के साथ सदा प्रसन्न रहने वाले एवं सहवासी को भी प्रसन्न रखने वाले, सीधे-सादे रहन सहनवाले, स्पष्टवादी, जिनवाणी के मर्मज्ञ, गभीर विचारक, जैनधर्म के प्रति अकाटय श्रद्धावान, रुढिवत् मान्यताओ से अछूत, स्वतंत्र विचारक, बिना कोई दबाव मे आये अपने विषय को सत्य व स्पष्ट बोलनेवाले लौहपुरुष थे। यद्यपि आज वे हमारे बीच नही है, लेकिन उनका समर्थ व्यक्तित्व आज भी मेरी आखो के सामने मौजूद है। उनकी आत्मा पूर्णगति को प्राप्त करे इसी भावना के साथ उनको हार्दिक श्रद्धांजली अर्पित करता हू।

वे अद्भुत प्रज्ञा के धनी थे ।

श्री. पं. डॉ. दरबारीलालजी कोठिया
न्यायाचार्य
बीना

स्व पडित देवकीनंदनजी सिद्धान्तशास्त्री व्याख्यानवाचस्पति जैन समाज के एक अद्भूत प्राज्ञ थे। व्याख्यानकला में उन जैसा निपुणविद्वान् हमें आज तक दिखाई नही दिया। वे मोरेना सिद्धान्त-विद्यालय के सुयोग्य स्नातक और '**गुरुणांगुरुः**' स्व पं गोपालदासजी बरैया सिद्धान्त-महोदधि के शिष्यो मे परमप्रिय अन्यतम शिष्य थे। वे मोरेना में कई वर्ष तक सिद्धान्ताध्यापक भी रहे। उसके बाद महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा (अकोला) महाराष्ट्र में अधिष्ठाता होकर रहे और वहाँ जीवन का दीर्घकाल व्यतीत किया। वस्तुतः इस संस्था से उनका अभिन्न सम्बन्ध हो गया था। संस्था के संस्थापक परमपूज्य मुनिश्री १०८ समन्तभद्र महाराज (बाहुबली-कुम्भोज-कोल्हापुर) और स्थानीय धर्मस्नेही बन्धुओ ने उन्हे अपने स्नेह-पाश मे बाध लिया था। पडितजी ने इस सस्था की असाधारण सेवा की है।

हमें प्रसन्नता है कि संस्था और संस्था के अधिकारियो ने पण्डितजी की स्मृति में एक "**स्मृतिग्रन्थ**" प्रकाशित करने का निर्णय लिया है। उनका यह निर्णय निश्चिय ही श्लाघ्य एवं स्तुत्य है 'यद्यपि प. जी को स्वर्गस्थ हुए बहुत वर्ष हो गए, फिर भी कृतज्ञता स्वरूप उनकी सेवाओ का मूल्यांकन सब ओर से सराहा जावेगा।

हम इस प्रसंग पर पंडितजी से सम्बन्धित कुछ संस्मरण यहाँ दे रहे हैं, जो वर्तमान एवं भावी पीढी के लिए महत्वपूर्ण एवं उपयोगी सिद्ध होंगे।

सन १९३७ की बात है। मैं श्री अतिशय क्षेत्र पपौरा (म. प्र) मे स्थित वीर-विद्यालय में धर्म एवं न्याय का अध्यापक नियुक्त हुआ था। वार्षिक रथयात्रा में रथ के सारथी की बोली अन्य लोगों के साथ मैं भी बोलता गया। इस बोली में मैंने ३५ बोल दिया। मेरा उत्साह एवं धर्मोल्लास था। पंडितजी भी इस वार्षिक रथ यात्रा में पधारे थे। मेरी ओर इंगित कर पं. जी बोले-'कोठीयाजी, इन सेठ लोगो को बोली बोलने दो, अपन तो पडित लोग हैं।' पंडितजी जानते थे कि मुझे ३० रु. मासिक वेतन मिलता है। मैंने पंडितजी की बात मान ली। यद्यपि मेरे धर्मोल्लास में कमी नही आयी। मैंने अनुभव किया कि पण्डितजी का अन्य पण्डितो के प्रति कितना सहज स्नेह है।

दूसरा सन्दर्भ है सन १९३८ का। वारचौन (ललितपुर, उ. प्र.) मे पंचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा हो रही थी। वहाँ परवार सभा का अधिवेशन भी आयोजित था। पण्डितजी उसके स्वयं अध्यक्ष थे। महासचिव थे श्रीमंत सेठ वृद्धिचन्द्रजी सिवनी। एक आवाज आई कि अधिवेशन मे परवार लोग ही बोलेंगे। दूसरे महानुभाव ने इसका समर्थन भी कर दिया। मैंने अध्यक्ष की अनुमति लेकर कहा कि 'इस पचकल्याणिक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा मे अन्य लोग भी सम्मिलित है, फिर कैसे कहा जा रहा है कि इस अधिवेशन मे परवार लोग ही बोलेंगे।" पडितजी बोले कि 'मैं कोठियाजी से कहूगा कि उन्हे इसमे जातियता की गध कैसे आयी।" मैंने कहा–'अध्यक्षजी अमुक, अमुक ने ऐसा उल्लेख करके कहा है जब कि महासचीव ने घोषणा की है कि इस पचकल्याणक जिनबिम्ब प्रतिष्ठा मे सभी जैन जातियो के लोग आये हुए है, वे भी अपने विचार प्रगट कर सकते है। इसी से महासचीव ने अन्य जैन जातियों के प्रमुखो की शुभकामनाओ का वाचन किया है, अन्यथा उनके वाचन की भी जरूरत नही थी। पण्डितजीने हमारी बात को तुरन्त मान लिया। यह था उनका स्वयूथ्यान् प्रति सद्भाव ..।" वास्तव में वे समयज्ञ थे और थे अनाग्रही।

सन १९४८ मे जबलपुर मे अ भा. दि. जैन विद्वत्–परिपद की कार्यकारिणी की बैठक थी। हम भी सरसावा (सहारनपुर) से बैठक मे पहुचे थे। पहुंचतेही पण्डितजी बोले–देखो, यह सहारनपुर की ठण्ड आगयी।' शीतकाल का समय था और हम शीतकाल के बहुत कपडे पहने थे। सहारनपुर में जबलपुर से ज्यादा ठण्ड पडती है। पण्डितजी का यह विनोद था, जिसने सबको हसा दिया था। पण्डितजी बडे विनोदप्रिय थे। उदास और ऋण को अपनी वाणी से प्रसन्न कर देते थे। वह उनका अद्‌भुत गुण था।

इसी अवसर पर गुरुजी के अजमेर शास्त्रार्थ की एक घटना पण्डितजी ने हम सबको सुनाई। बोले– अजमेर मे आर्यसमाजियो की ओर से सृष्टिकर्तृत्व पर स्वामी दर्शनानन्दजी के साथ गुरुजी का शास्त्रार्थ था। आर्यसमाजियो ने हठ किया कि शास्त्रार्थ सस्कृत भाषा मे होगा। जैन समाज को यह मानना पडा। वे जैन समाज की कमजोरी जानते थे कि जैन लोग सस्कृत मे धारा–प्रवाह नही बोल सकेगे और उनकी पराजय हो जायगी। दर्शनानन्दजी ने सस्कृत मे पूर्वपक्ष उपस्थित किया। गुरुजी को उसका उत्तर भी सस्कृत मे देना था, किन्तु गुरुजी ने सस्कृत मे सम्बोधन कर के '**द्रव्यसग्रह**' (प्राकृत) की दो गाथाएँ–' जीवमजीव दव्व' (गा. १) जीवोउवओगमओ (गा २) बोली। इस पर आर्य समाजी जनता बोली–हमे समझ मे नही आया, क्या बोला। गुरुजी ने तत्काल उन से पूछा कि 'पहले जो बोला गया वह समझ मे आया ?' सब ने हाथ उठा कर कहा–नहीं, नहीं। हिन्दी मे बोला जाये।, बाद मे गुरुजी की चतुराई से हिन्दी मे शास्त्रार्थ हुआ, जिस मे गुरुजी की विजय हुई। और स्वामी दर्शनानन्दजी की पराजय हुई। पण्डितजी ने बतलाया कि वे गुरुजी के पीछे लठ्ठ लेकर अगरक्षक के रूप मे चला करते थे। गुरुजी को समाज के भीतर और समाज के बाहर दोनो जगह जान का खतरा रहता था। दस्साओं का पक्ष लेने से समाज उनके विरुद्ध हो गयी थी और बाहर के लोग भी अजेय वक्ता होने से उनके जानलेवा थे। इस से पण्डितजी सदा उनके साथ ही रहते थे, यद्यपि गुरुजी निर्भीक एवं सिद्धान्तवेत्ता थे।

पूज्य वर्णीजी [मुनिश्री गणेशकीर्ति] महाराज ने अपनी 'मेरी जीवन–गाथा' मे पण्डितजी के सम्बन्ध मे उल्लेख किया है कि जब बरुआसागर (ललितपुर) मे वे गये और कुछ दिन वहा रहे तो उनके पास पण्डितजी के पिताजी उन्हे लेकर पहुचे और कहा, "वर्णीजी इस बालक को बनारस ले जाये। वहा कुछ पढ लिख जायेगा, यहाँ तो यह दिन भर उधम (उपद्रव) करता रहता है। लोग इसकी शिकायते लेकर आते है। हम कहाँ तक उन्हे शान्त करे।" वर्णीजी जब पण्डितजी (बालक) को ले जाने लगे तो वहा के प्रतिष्ठित सेठ मूलचन्दजी बोले–" वर्णीजी, इस उपद्रवी बालक को कहा ले जा रहे हो ? यह आप की नाक मे दम (परेशान) कर देगा।" वर्णीजी बोले–'भईया, यह जब पढकर विद्वान् बन जावेगा तब आप लोग ही इसे '**पण्डितजी पण्डितजी**' कहकर थक जायेगे। यह प्रतिभाशाली बालक बडा विद्वान बनेगा। वर्णीजी की भविष्यवाणी सही निकली। वास्तव में

जो बालक उत्पाती होता है, वह आगे चलकर उचित एवं अनुकूल साधन मिलने पर बडा सन्त, बडा विद्वान् और बडा नेता बन जाता है। प. जवाहरलाल नेहरु बाल्यावस्था में बडे नटखटी थे किन्तु भविष्य मे वही हमारे राष्ट्र के प्रथम प्रधानमत्री एव प्रथम प्रशासक राष्ट्रनेता बने।

नि सन्देह प. जी बडी सी बडी सभाओ को नियन्त्रित कर लेते थे और उनके व्याख्यानों को जनता रुचिपूर्वक सुनती थी। सैंकडो स्थानो की पचायतो मे दशो वर्षो से चली आयी फूट को उन्हों ने दूर किया तथा समाज मे एकता स्थापित की। इस तरह प. जी मे हम देखते हैं कि अद्भुत् प्रज्ञा थी। उन्हे हमारे श्रद्धा-सुमन समर्पित है।

प. देवकीनंदनजी : एक प्रभावी वक्ता

श्री. पं. वंशीधरजी शास्त्री
व्याकरणाचार्य, बीना

श्रद्धेय पं देवकीनंदनजी वर्तमान विद्वत्परपरा मे प्रथम पीढी के विद्वान थे। वे श्री गुरु गोपालदासजी बरैया, मुरैना के पट्टशिष्यों में से एक थे। पडितजी ने समाज मे काफी प्रतिष्ठा अर्जित की थी। उन की भाषण शैली इतनी प्रभावी थी कि समाज ने उन्हे 'व्याख्यान वाचस्पति' उपाधि दी थी। अपने भाषण मे वे प्रतिपाद्य विषय को प्रभावपूर्ण ढग से प्रस्तुत करते थे। धर्म ग्रन्थो का अच्छा अध्ययन उनका था। वही कारण है कि उन्हों ने पचाध्यायी आदि ग्रन्थो की हिंदी टीकाएँ इस ढग से की है कि समाज में उनका रुचिपूर्वक स्वाध्याय किया जाता है।

प्रातःस्मरणीय पूज्य प. गणेश प्रसादजी वर्णी ग्रथमाला के पडितजी सस्थापक सदस्य थे। आप की विद्वत्ता से प्रभावित होकर पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक समंतभद्रजी महाराज ने उन्हे आदरपूर्वक श्री दिगंबर जैन गुरुकुल, कारजा मे ससम्मान बुलाया था। तथा वे कई वर्षोंतक वहा कार्यरत रहे। इस के पश्चात् उन्हे श्री सर सेठ हुकमचंदजीने अपने पास रखा और वे उनके पास भी कई वर्षोंतक रहे और उन्हे आध्यात्मिक उपदेश देते रहे। जब से मैं उनके सम्पर्क मे आया तब से कई प्रसगोपर उनके साथ रहा और उनके प्रति आस्थावान् रहा। आज मैं उनके प्रति श्रद्धावनत हू।

पं. देवकीनंदनजी : एक संस्मरण

स्वामी सत्यभक्त
सत्याश्रम, वर्धा

मैं १७-१८ वर्ष का था। मोरेना विद्यालय मे अंतिम वर्ष मे पढता था। प. माणिकचंदजी न्यायाचार्य मुझे पढाते थे। देवकीनदनजी उस समय विद्यालय में अध्यापक थे। किन्तु उन्होने मुझे पढाया नही। वे मुझे छोटे भाई के समान मानते थे। मै बुदेलखंडी होने से प्रांतीयता कारण हो सकता है। मै परवार था और वे भी परवार थे यह भी कारण हो सकता है। पंडितजी मुझ से बड़े जरूर थे। किन्तु कितने साल से बडे थे यह मै नही जानता। ५-६ साल से बड़े हो सकते है, ८-१० साल से भी। आज मेरी आयु ८७ साल की है, वे आज होते तो ९५-९६ आयु के रहते।

प. देवकीनंदनजी व्याख्यान अच्छा देते थे। उनकी शैली अच्छी थी। वे अध्यापक थे, व्याख्यान वाचस्पति थे, सिद्धान्त शास्त्री थे। वे विद्वान् तो थे ही लेकिन वे समाज की समस्याओ को अधिक जानते थे। समाजसम्पर्क मे उनकी विशेष रुचि थी। कुछ सुधारक होने पर भी समाज के साथ ही चलते थे।

मोरेना की एक बात मुझे अच्छी याद है। कुछ लोगो में आदत होती है कि वे बडे लोगो की निंदा एक दूसरे से करते हैं और दोनो को आपस मे लडाने मे आनंद लेते है। ऐसा ही मोरेना मे हुआ। किन्तु पडितजीने बहुत समझदारी से काम लिया। किसी ने पं. माणिकचंदजी से पडित देवकीनंदनजी की निंदा की और पं. देवकीनदनजी से पं. माणिकचंदजी की निंदा की। पंडितजी बहुत चतुर थे। वे प माणिकचंदजी सेबोले, "मुझे आज आप से झगडना है, जरा कमरे में चलो तो बताऊ" पडितजी उन्हें एक कमरे में ले गये और उन से बोले, पडितजी, आज मुझे आप से झगडना है, लडना हैं। दोनो शिकायत करते रहे, समर्थन चलता रहा, समाधान होता रहा। ४-५ घंटे के बाद दोपहर १ बजे दोनो हसते हुए कमरे के बाहर आये। दोनो का भ्रम, गोहड, मनोमालिन्य दूर हो गया। यह वृत्ति समाज के लिये अनुकरणीय है। यह जीवन का सबसे बडा तरीका है, रहस्य है कि जब दो व्यक्तिओ मे इधर उधर के व्यक्ति के कारण मनोमालिन्य निर्माण होता है तब वे दोनो आपस मे उसे निपटाये। तीसरे की वहाँ जरूरत नही है।

नागपुर में परवार सभा का अधिवेशन था। पडितजी आये थे। मै भी गया था। पं. सुमेरचंदजी भी थे। पं. सुमेरचंदजी मेरे से सिवनी में (१९२०) पढते थे। सुमेरचंदजी से पडितजी का बहुत प्यार था। पंडितजी ने हम दोनो को कारंजा चलने का आग्रह किया। हम दोनो उनके साथ कारंजा गये। तीन चार दिन तक मै वहाँ

रहा। गोम्मटसार का मेरा अभ्यास अच्छा था। वहा रोज गोम्मटसार पर चर्चा चलती थी। चर्चा मे ब्र. देवचंदजी, प्रद्युम्नसावजी, जबुसावजी और हम तीनों सहभाग लेते थे। असहयोग आदोलन का वह जमाना था।

मोरेना मे पं बंशीधरजी ज्ञानी थे, विद्वान थे। किन्तु वे कम बोलते थे। पं. देवकीनंदनजी ज्ञानी तो थे ही किन्तु वे अधिक मिलनसार, समाजशील एव प्रभावी वक्ता थे। वे घटा घटा बोला करते थे। पडितजी को सभा जीतना बहुत आसान था। पुराने छात्रो से मोरेना की सुनी हुई बात याद आती है। पं. गोपालदासजी का देहान्त हुआ था। वातावरण उदास था। किन्तु छात्रगण नित्य दिनचर्या मे व्यस्त थे। अपने हंसी खेल मे मग्न थे। रात की सभा मे पडितजी का व्याख्यान हुआ। व्याख्यान का प्रभाव इतना गहरा पडा कि सभी छात्र रोने लगे।

प. देवकीनदनजी चिंतक थे, विचारो मे सुधारक थे। मेरे विचारो से वे परिचित थे किन्तु मेरे विचारों पर वे चर्चा, आलोचना नही करते थे। मेरी तारीफ जरूर करते थे; किन्तु मेरे विचारो की नही। वे बडे चतुराई से काम लेते थे। वे प्रच्छन्न सुधारक रहे, किन्तु उन्होने कभी भी मेरे विचारों की प्रशसा भी नही की, निंदा भी नही की। वे परवार समाज के उस जमाने के सबसे बडे विद्वान थे। वे परवार सभा के अध्यक्ष भी रहे थे। हर अधिवेशन मे वे आते थे। परवार समाज उन्हे मानता था।

उस जमाने मे पं. गोपालदासजी बरैया एव ब्र गणेश प्रसादजी वर्णी को सब मानते थे। प माणिकचदजी, प देवकीनदजी, पं. खूबचंदजी, प मक्खनलालजी, प उमराव सिहजी और प. वशीधरजी प. गोपालदासजी के प्रमुख शिष्य थे।

प देवकीनंदनजी कारजा से इंदौर जाने के बाद प्रवास मे मेरी उन से मुलाखत हुई थी। वह जगह कैसी है यह मैने उन को अपने अनुभव के आधार पर पहलेही बतलाया था।

दादागुरुवर देवकीनन्दन—वन्दन

प्रो. खुशालचंदजी गोरावाला
एम. ए.

जिनवाणीसरिता

वीर निर्वाण की छठी शती के पहिले तक जिनवाणी की श्रुत–परम्परा की धारा ही मान तथापि अविछिन्न थी। इसके बाद काल (अपिसर्पिणी) के प्रभाव से क्षयोपम क्षीण होने लगा था। फलतः प्रात.स्मरणीय आचार्यवरो (गुणधर, धरसेन, पुष्पदन्त–भूतवलि महाराजो) ने उन्हे गुरुओं से प्राप्त ग्रन्थों को गाथा सूत्र रूप में लिपिबद्ध करा दिया था। अर्थात् तीर्थनायक वीरप्रभु से प्राप्त जिस 'आगम' को गणधरों ने शब्दों में गूंथ कर 'ग्रन्थ' रूप दिया था और इनके शिष्यों तथा प्रशिष्यों ने 'वाचना' दे लेकर वी. नि की पांचवी शती तक श्रुतरूप मे चलाया था उसे उक्त चारों आचार्यवरो ने 'शास्त्र' रूप दे दिया था। तथा "आगमचक्खू साहू" की भूमिका को तैयार करने के लिए गृहस्थ के षट्–आवश्यको मे 'स्वाध्याय' की साधना गुरुओ के बिना भी संभव हो सकी थी। जिसके लिए हम आम्नायाचार्य कुन्दकुन्दस्वामी से लेकर उन सब आचार्यो, भट्टारकों तथा गृहस्थ विद्वानो के आभारी है, जिन्हों ने प्रधान सिद्धान्तग्रन्थों का अध्यापन कर के वृत्तिया तथा भाष्य एवं देश कालोपयोगी स्फुट ग्रन्थो का निर्माण १३ वी शती तक किया था। इसका ही यह सुपरिणाम था कि स्वयभू स्वाध्यायी आचार्यकल्प पं. टोडरमल्लादि स्वाध्यायी विद्वानो ने प्राकृत–संस्कृत के ज्ञान के विरल हो जाने के कारण दुर्गम–जिनवाणी ज्ञान को तामिल, कन्नड, राजस्थानी, आदि प्राकृत भाषा मे लिख कर सुगम किया था। इस परम्परा के पूज्य श्री १०५ गणेशवर्णी महाराज और गुरु गोपालदासजी का उद्‌भव तब हुआ जब भारत सांस्कृतिक-जागरण के द्वार पर आ चुका था। तथा गुरुकुलवास का स्थान परीक्षोत्तीर्णता ने ले लिया था।

आधुनिक विद्वत्परम्परा

जहा गुरुवर गणेशवर्णी ने प्रथम छात्र तथा संस्थापक रूप से काशी में स्याद्वाद महाविद्यालय द्वारा शासन–मान्य परीक्षोत्तीर्ण विद्वानो को समाज और देश को दिया, वही गुरु गोपालदासजी ने श्रीमान जैनजागरण के अग्रदूत को प्रेरित करके माणिकचन्दजी ने परीक्षालय की स्थापना करके जैन वाङ्मय (धर्म–न्याय–व्याकरण–साहित्य) के परीक्षोत्तीर्ण विद्वान् तथा साधारण शिक्षितों की परम्परा लायी थी। जैन जागरण के इन दोनों श्रीमान् अग्रदूतो की कृपा से ही हमें स्व. पं. माणिकचन्द्रजी (चावली) पं. देवकीनन्दनजी, पं. खूबचन्द्रजी,

पं. मक्खनलालजी एवं पं. बंशीधरजी महरोनी ऐसी विभूतियों का नेतृत्व मिला था। जिनके अनुज सहाध्यायियों बंशीधरजी-सोलापुर, वाणीभूषण तुलसीरामजी, गुरु गोविन्दरायजी, दाक्षिणात्य अस्थान पडितो, जीवन्धरजी, आदि। तथा शिष्यो (स्व प. अजितकुमारजी, चैनसुखदासजी, दाक्षिणात्य शान्तिराज ए. बी., कुमारैयादि, दयाचंद्रजी, शार्दूलपण्डित राजेन्द्रकुमारजी, कैलाशचन्द्रजी, घनश्यामदासजी, हीरालालजी साढूमल तथा श्री फूलचन्द्रजी, जगमोहनलालजी आदि) से शिक्षित विद्वानो द्वारा जैन समाज मे जिनवाणी की अलख अब तक प्रकाशित है। युगपुरुष दोनो महागुरुओ के प्रथम पाचो शिष्यो ने गुरुजी के परम स्नेह के कारण नाममात्र का पुरस्कार पा कर प्रारम्भ में सिद्धान्त विद्यालय मुरैना को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। किन्तु गुरुजी की मृत्यु के बाद विविध अंचलो के धर्मज्ञानप्रेमी श्रीमानो के सादर निमंत्रणो को स्वीकार कर के क्रमशः सहारनपुर, कारंजा और इन्दोर विद्यालयो की प्रतिष्ठा को बढाया था।

प्रेरक वाचस्पति

स्व सेठ लक्ष्मीचन्द्र बमराना का शिक्षाप्रेम लोकोत्तर था। इन्हो ने अपनी पूरी सम्पत्ति के ७/८ भाग की शिक्षा निधि स्थापित की थी। और स्व. पं. घनश्यामदासजी (महरोनी) को प्राचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर के 'महावीर दि. जैन पाठशाला' साढूमल की स्थापना की थी। इस मे यदि गुरुवर गणेशवर्णीजी की प्रेरणा थी तो स्व पं देवकीनन्दनजी की सूत्रधारता भी पूर्ण थी। वे कारंजा गुरुकुल, अचलीय समाजो का नेतृत्व तथा अपने पठन-पाठन के समान साढूमल पाठशाला के संचालन-विकास तथा सत्ता को अपना आवश्यक-कार्य मानते रहे। इस उदार वृत्ति का ही यह सुपरिणाम था कि सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी के देहावसान के बाद से बद पडी इस पाठशाला का पुन. सचालन वे (पं. देवकीनन्दनजी) स्व. प. हीरालालजी को प्राचार्य बनवा कर १९२५-२६ मे करा सके थे।

प्रथम दर्शन

अपने वार्षिक प्रवास मे वे साढूमल पाठशाला की प्रगति को जानने के लिए १९२६ मे साढूमल पधारे थे। और सयोगात् मै भी वहा गया था। तथा वाणीभूषणजी के शास्त्रप्रवचन को सुनने के लिए उमडी ग्रामीण जनता को मंदिर की ओर जाते देख कर उस के साथ हो लिया था। और संभवतः शास्त्र के बाद पहिले दिन स्व सेठ चन्द्रभानजी द्वारा कहे गये भजन "सन्त निरन्तर चिन्तित ऐसे आतम रूप अबाधित ज्ञानी" को लेकर हमारे धर्म गुरुओं के गुरु का भाषण अत्यत सरल, सुगम और मधुर हुआ। अगले दिन पाठशाला चला गया। पडित हीरालालजी छहढाला की आखिरी ढाल मे "जिन परम पैनी सुबिध छैनी डार अन्तर भेदिया। रागादि अर वर्णादि से निज भाव को न्यारा किया।" समझा रहे थे। शाम को सायकालीन भोजन के पहिले इसे गुन-गुनाने लगा। बडे जीजा ने पूछा, "तुम्हे छहढाला याद है। नही आज पाठशाला मे सुनी थी ये पंक्तिया।" अगले दिन मेरे पिता-काका से कहा इसे धर्म भी पढाइये। मेरी अल्पवय के कारण पितर मुझे मिशन के हाईस्कूल मे भेजने को हिचकिचा रहे थे। पुण्यश्लोक प. देवकीनन्दनजी के एक प्रवचन ने मेरी जीवनसरिता की धारा बदल ही नही दी, अपितु शिक्षा की त्रिवेणी बना दी।

सादा जीवन उच्च विचार

प्रकृत्या सरल तथा जुझारू इस बुंदेले ने अपने आपको सहज मे ही मराठा समाज मे मिला कर दैहिक परिष्कार और आर्थिक पुरस्कार की मृगमरीचिका से विरत कर लिया था। तत्कालीन क्रान्तिकारी क्षुल्लक समन्तभद्रजी के बहुमान, गुणग्राही एव धर्मानुरागी महाराष्ट्रीय श्रीमानो के समादर तथा धर्म-समाज-सेवा के लिए बुद्धपरिकर शिष्यो की लोकोत्तर भक्ति पर मुग्ध हो कर वे यह भूल ही गये थे कि भावी गृहस्थी के दायित्वों

के लिए धर्म और काम के समान अर्थ का आनुपातिक अर्जन आवश्यक है। वे अपने जीवन और परिकर से परम संतुष्ट थे। सदा प्रसन्न रहते थे। विनोद की फुलझरिया बिखेरते रहते थे।

सफल समाज नेता

पडितजी के लिए धर्म सेवा और समाज का उत्थान ही स्वकार्य या कौटुम्बिक दायित्व थे। उनका चिन्तन तथा भाषण ऐसा था कि उन के समकालीन स्थितिपालक तथा सुधारक उन्हे मानते ही नही थे; अपितु विवादग्रस्त विषयो मे उन से परामर्श भी करते थे। तथा सहज ही स्थितिपालको को अपनी प्रवाह–पतित मान्यता को विवेक से समझने को विवश करते थे तथा सुधारको को 'जोश मे होश' खोने से विरत कर देते थे। इस प्रकार की मध्यस्थता थी उनकी। गुरुगोपाल के दो शिष्यो युक्त अपनी स्वाध्याय–मंडली मे वाणीभूषणजी को लेने के लिए सर सेठ हुकमचन्दजी विरह–व्याकुल से हो गये थे।

शिष्यदिच्छेत् पराजयम्

गुरु गोपालदासजी के सर्वोत्तम शिष्य स्व. पंडितजी थे तो उन्हे आधुनिक जैन–पडित पीढी के सर्वोत्कृष्ट विद्वानो का गुरुत्व भी प्राप्त था। वे यदि स्व. प. राजेन्द्रकुमारजी को सफलशास्त्री को समाजशास्त्री तथा प्रथम श्रीमान जन नेता मानते थे तो पं. कैलाशचन्द्रजी सफल प्राचार्य, मधुर वक्ता तथा अद्भुत लेखक भी मानते। इसी प्रकार प. जगन्मोहनलालजी को व्रती अन्तर्मुख विद्वान् मानने के साथ इन्हें अपने अचल का परम मान्य नेता भी मानते थे। सिद्धान्तशास्त्री पं. फूलचन्दजी के प्राकृत तथा करणानुयोग–पाडित्य की सराहना करते वे नही अघाते थे। तथा गांधीजी के समान अपने शिष्यो के सेवाक्षेत्रो मे उन से परामर्श करने मे अपने गुरु व की सफलता मानते थे। सर सेठ के प्रस्ताव की द्विविधा मे भी उन्हो ने अपने शिष्यो (पं राजेंद्र–कैलाशजी) से पूछा था। शार्दूलपडित ने कहा था, "पडितजी आप हमारे गुरु है।" तब उन्होने अपने विनोदी स्वभाव के अनुसार "कैलासपुर राजेन्द्र के मूत्र का सम्पादन करो" किन्तु वे चुप रहे। सयोगात् मै भी था अतः गुरुणा-गुरुने मेरी तरफ मुडकर बडे स्नेह से कहा 'तुम संकोच न करो। क्यों कि राजेन्द्र तुम्हे भी बाया हाथ मानता है। बोलो' मैने कहा। "पडितजी हमारे बाबा गुरु है। क्या कहू ? भाईसाब का ख्याल है कि आज सेठ सा हमारे आने पर खडे होते है। और कल उनके गुरु को यह करना पडेगा।" वे मुस्कराये, "राजेन्द्र ! बोलो, स्वयमुपनत और सभावित याचित या प्रेरित मे कौन सा ग्राह्य है। इन्दौर मे सहज हा बच्चो की अच्छी शिक्षा हो सकेगी कि नही ?" सब चुप हो गये।

सिद्धान्तग्रन्थ मुद्रणमल

गुरु गोपालदासजी को लेखक शिष्यत्रयी में भी पंडितजी सर्वोपरि थे। तथा अपने शिष्यों को प्रेरित करते थे। तथा मन्दिर निर्माताओ और मूर्ति प्रतिष्ठापको को अपना धन जिनवाणी–मुद्रण में लगाने की प्रेरणा भी देते थे। कारंजादि प्राकृतग्रन्थ–प्रकाशन के वे स्रोत थे। इस कृति का परम उत्कर्ष स्व. सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी को गजरथादि की वीतकाल प्रभावना से विरत करके सिद्धान्तग्रन्थो के मुद्रण द्वारा श्रीमन्त सेठ बनाना था। यह उनकी सूझबूझ का ही चमत्कार था कि पहलीबार प्राच्य और पाश्चात्य विद्या वेत्ताओ से मिल कर यह महत्तम बौद्धिक कार्य उठाया था।

परम मनस्वी

"विधिरेव तान्कुरुते, यान्नरः नैव चिन्तयति" के अनुसार उन की जीवन संध्या में एक सहाध्यायी के मरण के कारण वही हुआ जिसका सकेत 'शार्दूलपंडित ने किया था। कारण दादागुरु का आत्मप्रत्यय तथा मनस्वी

शास्त्रज्ञता एवं समाज का उज्ज्वल भविष्य था। वे 'हा मे हा' नही कर सकते थे। कह देते थे "तत्त्वं ते वच्मि" फलत: उपेक्षा के दौर से उन्हे गुजरना पडा। किन्तु उन्हों ने अपनी असुविधाओं का स्वागत किया और 'प्यासा कुआ पर आये' के प्राकृतिक सुख को अपना कर, उपेक्षको को उनकी (गुरुजी की) गहराई और ऊंचाई का महत्व करा दिया। पंडितराज जगन्नाथ के आदर्श पर दृढ रहे–

त्व चेन्नीरुजनानुरोधतवशादस्मासु मन्दादर.
का नो मानद? मानहानिरियतास्यात्कि त्वमेरु: प्रभु:।

गुजा पुज परिग्रह परिचयाद्धिल्लीजनैसज्झिन।
मुक्तदाम न धाम धारयति किं कण्ठे कुरंगीदृशाम ॥

अन्य गुणानुरक्त लोगो को जब वाचस्पति की इस स्थिति का पता लगा तो उन्हों ने अपने अंचल मे उनके सपरिवार ससम्मान रहने की स्वय व्यवस्था कर के लाने के लिए शिष्ट मण्डल को इन्दौर भेजा। इस प्रभाव को देख कर जहा उपेक्षक चक्र ने अपनी भूल को अनुभव किया, तथा भूल का परिहार चक्र भी चलाया, वही दादागुरुवर दोनो से अछूते रहे। उनकी मनस्विता अपने चरम–उत्कर्ष पर थी उन्हो ने माननेवालो और पश्चाताप–पीडितो को साधुवाद दिया। क्यो कि वे इसे निजार्जित की सविपाक निर्जरा मानते थे। वे अतिमानव थे। वे सर्वदा सर्वथा लोकोत्तर मनीषी–मनस्वी थे। पुण्य स्मृति मे सादर वंदन।

गुरुदेव की अमिट स्मृति रेखाएँ

स. सि. धन्यकुमार जैन
कटनी.

हमारे कुलगुरु

गुरुवर्य व्याख्यान वाचस्पति पं. देवकीनंदनजी सिद्धांत शास्त्री से हमारे परिवारका संबंध बहुत समय से रहा। वे हमारे कुलगुरु सदृश थे। मोरेना जैन सिद्धान्त महाविद्यालय में वे अध्यापन कार्य करते थे। यह सन् १९१२ की बात है। उस समय हमारे यहा से पूज्य पंडित जगन्मोहनलालजी सि. शास्त्री वहा पढने गये थे। उनके वे शिक्षागुरु थे। गुरु और शिष्य का प्रेम तथा गुरुभक्ति जिस प्रकार जीवनभर रही उस के उदाहरण विरले ही दृष्टिगोचर होते हैं।

गुरुकुल विस्तार में योगदान और कटनी के लिए मार्गदर्शन

कुछ वर्षों के बाद पूज्यपाद आचार्य श्री १०८ समन्तभद्रजी महाराज की प्रेरणा से वे श्री महावीर ब्रम्हचर्याश्रम कारंजा गुरुकुल को चले आये और हमारी भारतीय संस्कृति की प्रतीक गुरुकुल प्रणाली को उन्होंने विकसित कर जो स्वरूप प्रदान किया उसका श्रेय बहुत कुछ इन्हे ही जाता है। फलस्वरूप आज महाराष्ट्र मे अनेक गुरुकुल और विद्यालय सफलता पूर्वक चल रहे हैं और धर्म-समाज के क्षेत्र मे अपना विशेष स्थान ग्रहण किये हुए हैं।

पंडितजी जहा भी रहे उन से बराबर सम्पर्क बना रहा और समय समय पर उनसे हमारे परिवार को और दि. जैन शिक्षा संस्था को मार्गदर्शन प्राप्त होता रहा।

वे केवल शिक्षाशास्त्री ही नही थे किन्तु समाजशास्त्री भी थे। समाज के मनोविज्ञान को भली भांति समझते थे और समय समय पर मार्गदर्शन कर समाज को दिशाबोध भी देते थे।

इस समय एक घटना विशेष का उल्लेख करना अप्रासंगिक नही होगा। कटनी नगर में धार्मिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक गतिविधियो मे हमारे परिवार की प्रमुख भूमिका एवं योगदान रहता था। यहाँ जैन शिक्षासंस्था का सुचारु रूप से पू पं. जगन्मोहनलालजी के कुशल नेतृत्व मे संचालन हो रहा था। यहाँ से कुछ स्वार्थ निहित तत्वों को अदेखासा भाव होने के कारण यह सब अच्छा नही लग रहा था। उन्होंने कुछ कल्पित आरोपों के आधार पर

समाज मे विरोध का वातावरण पैदा कर अशान्ति के बीज बो दिये। फलत चल रही शिक्षा संस्था के कार्य मे गत्यवरोध पैदा करने हेतु मुकदमबाजी शुरु कर दी। यह सन ३५-३६ की घटना है। कुछ समय मुकदमबाजी मे बीत जाने पर कुछ मध्यस्थ समाज चितकोने आर्बीट्रेशन अर्थात् पचायत द्वारा मामले को सुलझाने की पेशकश की। अन्ततोगत्वा दोनो पक्ष इस समस्या को सुलझाने को सहमत हो गये। पचायत को मामला सोप दिया गया। इसके प्रमुख निर्णायक पंच श्री. प. देवकीनन्दनजी चुने गये। साथ मे --- श्री सिंघई कुंअरसेनजी --- और --- श्री कन्छेदीलालजी ॲडव्होकेट जबलपुर उनके सहयोगी पच बने। इस विवादग्रस्त प्रकरण को इतनी कुशलता से सुलझाया कि सस्था के विवाद सब निरस्त हो गये। इस निर्णय को तीनों पंचोने सर्व सम्मति से सुलझाकर एक प्रकार का कीर्तिमान प्रस्थापित किया। इस महत्वपूर्ण कार्य का श्रेय पडितजी को ही जाता है। इस में कोई आत्युक्ति नही है। उल्लेखनीय बात है कि विरोध पक्ष का कोई आरोप सही साबित नही हुआ और जैन शिक्षा संस्था को नवजीवन दान मिला।

हमारे बडे पिता स्वर्गीय श्री कन्हैयालालजी का सन १९३९ मे स्वर्गवास हुआ था। उनकी अनुपस्थिति का अनुचित लाभ लेने की कुछ विरोधी तत्वों ने पुन. चेष्टा की। जैन शिक्षासंस्था के विरुद्ध फिर सिर उठाया और उस पर आक्रमण किया। मैं पूर्ण वयस्क भी नहीं हुआ था। सारे परिवार का, व्यापार सचालन एव सस्था संचालन का भार मेरे दुर्बल कंधोपर आ पडा था।

ऐसे विषम कठिन समय मे विरोधी भाईयो ने जैन शिक्षा सस्था के सचालन मे मुझपर दोष मढकर मेरे गृह-निवास पर सत्याग्रह के नाम पर स्वयसेवक बिठाये तथा एक व्यक्ति को सस्थालय मे आमरण अनशन पर बैठा दिया। इस घटना से नगर व समाज मे वातावरण क्षुब्ध हो गया। ऐसे कठिन समय मे पूज्य पडितजी साहिब ने कारंजा से पधार कर जिस कुशलनीति से इस आन्दोलन का शमनकर निराकरण किया-वह मेरे जीवन की अविस्मरणीय घटना है।

समय समय पर उनका सदैव हमे मार्गदर्शन मिलता रहा। कारजा से वे इन्दौर भी चले गये। किन्तु हमारे परिवार पर उनका सदैव वरदहस्त रहा। जीवन के अतिम क्षण तक उन से सम्बन्ध बना रहा तथा उनके दिशा दर्शन से हमारा परिवार कभी वचित नही रहा।

परवार सभा का सफल सिवनी अधिवेशन

सन १९३८ में वे अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन परवार सभा के सभापति चुने गए थे। अधिवेशन सिवनी मे आयोजित था। बडी संख्या मे समाज के प्रतिष्ठित लोग वहाँ एकत्र हुए थे। समाज सुधार की हवा बह रही थी। कुछ उग्र समाज सुधारको ने वहा विरोधी प्रस्तावो को लाने का प्रयत्न किया किन्तु उन्हो ने धर्म विरुद्ध प्रस्तावों को बडी कुशलता से अपने तर्क और प्रमाणो से निरस्त कर समाज को सही दिशा अपनाने का ही निर्णय लेकर सभा के मूलसिद्धात की रक्षा की। उन मे एक प्रकार का ऐसा विशेष वाक्चातुर्य गुण था जिस से विरोधी भी उनके समक्ष विधेय पक्ष को स्वीकार कर नत मस्तक हो जाता था। और निर्णय सर्व सम्मति से सभा में स्वीकृत हो जाता था। सिवनी का अधिवेशन बहुत सफलता से संपन्न हुआ था। उन के नेतृत्व मे समाज मे काफी जागृति और नवचेतना पैदा हुई। समाज कल्याण के अनेक कार्य हुए।

पूज्य पंडितजी का असाधारण बहुमुखी व्यक्तित्व था। वे हमारे जैन समाज के नेता तो थे ही किन्तु बुन्देलखण्ड की अपूर्व निधी थे। अपना सम्पूर्ण जीवन समाज, धर्म एवं शिक्षा जगत को उन्हो ने समर्पित कर दिया था।

पुण्यस्मरण

उन की अपूरणीय क्षति आज भी समाज को खलती है। एक प्रकार से ऐसे असाधारण सेवाभावी व्यक्तित्व के अभाव की शून्यता की पूर्ति एक प्रश्न चिन्ह् के रूप में आज भी विद्यमान है।

इतने दीर्घकाल के बाद उनकी स्मृति में ग्रंथ प्रकाशन का कार्य अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। यह महत् कार्य जैन संसार मे उत्साह और प्रेरणा का स्रोत सिद्ध होगा। उन्हे शत् शत् प्रणाम।

पं. देवकीनंदनजी सिद्धांतशास्त्री : एक अप्रतिम व्यक्तित्व

प्रो. महामहोपाध्याय डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन
उज्जैन

जिस बुन्देलखंड प्रात मे पडित प्रवर देवकीनन्दनजी सिद्धातशास्त्री जैसे मनीषीयो ने जन्म लिया उसे जैन पडितो की खान कहना अत्यंत उपयुक्त है।

पडितजी का अप्रतिम व्यक्तित्व

प. देवकीनन्दनजी का अध्ययन मोरेना (मध्यप्रदेश) की "जैन सिद्धान्त विद्यालय" मे हुआ। विद्यालय की स्थापना वीर नि. सवत् २४३६ मे हुई। उन्हे डिप्टी चम्पतराय जी की ओर से सात रुपया शिष्यवृत्ति मिलती थी। वे वादीभकेसरी जैनसिद्धात मर्मज्ञ, गुरु गोपालदासजी बरैया के अन्यतम शिष्य थे।

प जी का शिष्य-परिवार भी अत्यत मेधावी है। सिद्धांतशास्त्री प फुलचंद्रजी, पं जगन्मोहनलालजी तथा प कैलाशचंद्रजी उनके शिष्य रहे है।

परिवार से परिचय

मैने प. जी के दर्शन अवश्य किए है, इदौर के इद्र-भवन मे श्रीमान् सर सेठ हुकुमचद्रजी की शास्त्र सभा मे उनके दर्शन किये। पडितजी का परिवार उस समय इन्द्रभवन के पीछे वाली क्वार्टर्स मे रहता था। मेरे पिताश्री स्व. ब्र. छोटेलालजी भी उस समय इन्द्रभवन की साधुकुटी मे निवास करते थे। मेरे पिताजी एव पं देवकीनंदनजी मे अत्यत धर्मानुराग था।

पं जी की धर्मपत्नी अत्यत साधुमना एवं धर्मशीला थी। डॉ प्रकाश नायक, जिनका लगभग एक-डेढ वर्ष पूर्व भिलाई मे लगभग ५० वर्ष की अवस्था मे स्वर्गवास हो गया। घर पर उन से प्राय भेट और पारिवारिक चर्चा होती रहती थी। वे भी अब इस संसार मे नही है।

पडित जी के जैनधर्म के अगाध-पाण्डित्य एव ओजस्वी वक्तृत्व कला से प्रभावित होकर आचार्य समन्तभद्रजी महाराज (जिनका अभी ता १८ अगस्ट को स्वर्गवास हुआ। महाराष्ट्र प्रांत में जैन शिक्षा के प्रचार-प्रसार में संलग्न रहे) पडित देवकीनदनजी को "महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारजा" मे जैन धर्म के अध्यापन

हेतु लाए थे। पं. जी ने कारंजा में अपने २३ वर्ष के निवास काल में अपने अप्रतिम वैदुष्य एवं असाधारण वाक्शक्ति से महाराष्ट्र के जैन समाज को केवल चमत्कृत ही नहीं किया अपितु वहां जैन धर्म एवं संस्कृति का ऐसा अजस्र स्रोत प्रवाहित किया कि आज भी वहां का जैन समाज पं. जी को महाराष्ट्र में जैन धर्म के प्रसारक के रूप मे श्रद्धा-भक्ति के साथ स्मरण करता है।

अखिल भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद द्वारा १९६७ में प्रकाशित "गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ" (पृ. १०३) मे महाराष्ट्र प्रात के मा. ज. चवरे कारंजा, मा. ज. भिसीकर (बाहुबली), धन्यकुमार गंगासा भोरे (कारजा), डॉ. पद्मनाभ जैनी डी. लिट् (अमेरिका), आदि पन्द्रह विद्वान् एवं श्रेष्ठी जनो के नाम से "हम सब उन की प्रजा है", शीर्षक एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ है, जो पं. जी के प्रति कृतज्ञता एवं बहुमान को प्रकट करता है।

"दक्षिण (मराठी प्रांत मे) जैन धर्म का जो स्रोत प्रवाहित हुआ है उसका मूल उद्गम् विशेषतः स्व पू. व्याख्यानवाचस्पति महामना गुरुवर्य पंडित देवकीनंदनजी सिद्धात शास्त्री को है। आप स्व. गुरु गोपालदासजी के अन्यतम शिष्यो मे से कृपापात्र शिष्य रहे है। जिसका स्वयं पं. देवकीनदनजी को स्वाभिमान और विशेष गौरव था। समाज की जो व्यापक और वैशिष्टचपूर्ण सेवा बन पाई उसे वे गुरु गोपालदासजी की सचेतन विरासत मानते थे।

कुछ भी हो, पं जी की ज्ञानधारा, व्याख्यान का प्रवाह और समीचीन मार्गदर्शकता, परम-परोपकारिता आदि मे संस्थाएँ-सस्थाका अध्यापक वृन्द, छात्रवृन्द सभी विशेष ऋणी है।

१. श्री बाहुबली विद्यापीठ बाहुबली, श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम एलोरा (औरंगाबाद) आदि विद्यमान संस्थाओं मे कार्य करनेवाले कार्यकर्ता लोग आपकी शिष्य परंपरा मे से ही है।

प्रसन्नता की बात है कि कारंजा (महाराष्ट्र) जैन समाज ने भूले-बिसरे एक महामानव के प्रति अपनी कृतज्ञता की पुण्य भावना से उनके शताब्दी वर्ष मे एक स्मृति ग्रंथ निकालने का निश्चय किया है। हम इस प्रशस्त-भावना की सहायता करते हुए श्रद्धेय गुरुवर्य स्व पडित देवकीनदनजी के प्रति अपनी श्रद्धांजली समर्पित करते हैं। साथ ही हम कारंजा की जैन समाज से साग्रह निवेदन करते है कि वह पं. जी की स्मृति को स्थायित्व प्रदान करने की दृष्टि से, पच्चीस लाख की निधी से महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारजा के अन्तर्गत उनके नाम पर सुविधा संपन्न "जैन शोध सस्थान" की स्थापना करे।

पंडितजी की व्यवहारकुशलता और पांडित्य

श्रीमंत सेठ ऋषभ कुमारजी जैन, खुरई.

अतीत को अदृश्य बनाकर काल चक्र निरन्तर गति से आगे गतिमान होता रहता है। वर्तमान की घटनाएं अतीत का रूप धारण कर भविष्य मे इतिहास का सर्जन करती है। यह एक भौतिक जगत का सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसके अन्तर्गत मानव समाज अपने पूर्वजो के उत्थान और पतन की घटनाओ से अपने सर्वांगीण विकास की ओर अग्रसर होता है। स्व. श्री. पं. देवकीनंदनजी के जीवन की घटनाए भी आज हमारे समक्ष इतिहास का रूप लेकर हमे धार्मिक और सार्वजनिक क्षेत्र मे विकास के लिये प्रगतिशील बनाने में सहायक होती हैं।

पूज्य पण्डितजी का जन्म सन १८९५ में बरुवासागर (झासी) उत्तर प्रदेश मे हुआ था। उनकी शिक्षा दीक्षा मोरेना (म. प्र) स्थित श्री. गोपालदास दि. जैन सिद्धान्त विद्यालय में स्व. पूज्य गुरु प. गोपालदासजी बरैया के सान्निध्य में हुई थी।

गुरु गोपालदासजी बरैया के प्रमुख शिष्यों में से ही एक हमारे चरित नायक श्री. पं. देवकीनन्दजी शास्त्री थे, जिन्होने विद्याध्यन के बाद महाराष्ट्र प्रान्त मे कारजा के महावीर ब्रह्मचर्याश्रम को समुन्नत किया, जिसके जरिये दक्षिण प्रान्त मे जैन धर्म शिक्षण की जागृति हुई।

पं. देवकीनन्दजी का श्रेष्ठ व्यक्तित्व, उनकी व्यवहार कुशलता और ओजस्वी भाषण शैली से समाज के सामने प्रकाश में आया। और वे व्याख्यान वाचस्पति उपाधि से सम्मानित हुए। उनकी विद्वत्ता की गंभीरता उनके द्वारा की गई सागारधर्मामृत और पचाध्यायी जैसे महान ग्रन्थो की टीकाओ से विदित होती है।

बुन्देलखंड प्रान्त के गरीब जैन बालकों की शिक्षा-दीक्षा के प्रति उनका ध्यान आकर्षित था। खुरई गुरुकुल की स्थापना के माध्यम से वे इस कार्य में पूर्ण सफल हुए, जिसका संक्षिप्त परिचय मै यहां दे रहा हूं।

पूज्य पंडितजी से प्रथम साक्षात्कार

सन १९३९ मे श्रवणबेलगोला में भगवान बाहुबली के महामस्तकाभिषेकोत्सव मे सम्मिलित होकर जब हम अपनी स्व. पूज्य मातेश्वरी सोनाबाईजी के साथ वापिस हुए तो कारंजा के प्रसिद्ध जैन गुरुकुल और वहां के

जिनमंदिर में बिराजमान रत्न निर्मित जिनेन्द्र भगवान की मूर्तियों की दर्शनोत्कंठा से कारंजा पहुंचे। वहां पूज्य पंडित देवकीनन्दनजी से सर्वप्रथम साक्षात्कार हुआ। वहां की गुरुकुल प्रणाली से संचालित शिक्षा संस्था की व्यवस्था से बहुत ही प्रसन्नता और संतुष्टि हुई। पूज्य पंडितजी की व्यवहार कुशलता और पाण्डित्य से हम अत्यधिक प्रभावित हुए। वार्तालाप के दौरान पूज्य पंडितजी ने हमें बुन्देलखंड प्रान्त के बालकों के हितार्थ कारंजा जैसी आदर्श संस्था संचालन के लिये परामर्श देकर प्रेरित किया। उन के परामर्श पर विशेष ध्यान देकर उस समय उन्हे इतना ही आश्वासन दिया कि एक बार आप पर्यूषण पर्व में खुरई पधारें तब वहा इस विषय में पूर्ण विचार विमर्श कर स्थानीय समाज के सहयोग से आपकी इस पवित्र भावना को क्रियान्वित किया जा सकेगा। इतना ही उत्तर देकर उन की उक्त लोकोपकारी पुनीत-भावना की अनुशंसा अपने हृदय में करते हुए खुरई वापिस आये।

खुरई में पूज्य पंडितजी का समागम

सन १९४१ में ११ दिसम्बर को पाणीग्रहण संस्कार के आग्रहपूर्ण आमंत्रण पर वे भोपाल बरात में पधारे और वहां से खुरई भी आये थे। उस समय हमारे पिताजी का स्वास्थ्य ठीक नही होने से संस्था का प्रारम्भ करके संचालन करने की बात अपना साकार रूप नही ले सकी और बात टल गई।

दूसरी बार सन १९४३ मे जब मै जबलपुर में अध्ययन करता था, उस समय पिताजी का स्वास्थ्य एकदम गिर गया और वे दिवगत हो गये। उसके पश्चात् सन १९४३ के पर्यूषण पर्व में पूज्य पंडितजी का खुरई पधारना हुआ। पर्यूषण पर्व मे पंडितजी के प्रवचनों से खुरई जैन समाज बहुत प्रभावित हुआ। और त्याग धर्म के दिन खुरई मे एक आदर्श शिक्षा सस्था (गुरुकुल प्रणाली के समकक्ष) की स्थापना के लिये उन के त्यागधर्म के उपदेश और प्रेरणा से जैन–समाज से लगभग ४० हजार रुपये चन्दा हो गया; जिसकी मुख्य भूमिका मे सर्व श्री. स्व. स. सि. गणपतलालजी गुरहा. स्व. मानकचंदजी मुल्ला, स्व. धर्मचन्दजी मुल्ला, स्व श्री. नन्हूलालजी मोदी, स्व. श्री छगनमलजी सेठी, श्री. धन्नालालजी सेठी, श्री धन्नालालजी सराफ, श्री हजारीलालजी बजाज आदि का शुभ नाम अविस्मरणीय रहेगा। ये सभी महानुभाव मेरे पास आये और मुझ से उक्त आदर्श शिक्षा सस्था की स्थापना हेतु तीन एकड भूमि मे एक विशाल विद्यालय–भवन, भोजन–शाला, शिक्षक निवास, पृथक जिनमदिर और जल व्यूम निर्माण कराकर संस्था के लिये प्रदान करने की प्रेरणा की।

संस्था का उद्घाटन और पंडितजी का खुरई निवास का निर्णय

मैने पूज्य पंडितजी की प्रेरणा और स्थानीय समाज के आग्रह से अपनी पूज्य मातेश्वरी श्री सोनाबाईजी से परामर्श कर खुरई नगर मे एक गुरुकुल शिक्षा–संस्था की स्थापना एवं संचालन हेतु अपनी ३ एकड भूमि तथा उक्त भव्य–भवन निर्माण कराकर समर्पित करने का वचन दे दिया।

पूज्य पंडितजी ने स्वयं एक वर्ष खुरई में रहकर और कारंजा गुरुकुल से योग्य अनुभवी शिक्षक बुलाकर संस्था का संचालन करने का वचन दिया। इस प्रकार अन्ततोगत्वा खुरई जैन समाज के सम्पूर्ण सहयोग से सन १९४४ की अक्षय तृतिया के दिन खुरई नगर में श्री पार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम जैन गुरुकुल के नाम से संस्था का उद्घाटन पूज्य श्री १०५ स्व. गणेश प्रसादजी वर्णी के कर कमलो द्वारा कराया गया। इस समारोह में पूज्य पं. देवकीनन्दनजी के अतिरिक्त श्री पं. बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर, श्री पं. जगमोहनलालजी शास्त्री कटनी, श्री पं. दयाचंदजी सिद्धान्त शास्त्री सागर आदि विद्वानों की उपस्थिति उल्लेखनीय थी।

जब तक मेरे द्वारा संकल्पित भूमि में संस्था की इमारतें तैयार नही हुई तब तक संस्था हमारे ही एक नगर के बाहर स्थित श्रीमन्त उद्यान मे और बाद में नगर के मध्य स्थित निजी विशाल-भवन में चालू रही। इसके उपरान्त नगर के बाहर रेल्वे स्टेशन के समीप हमारे द्वारा प्रदत्त तीन एकड़ भूमि मे भवनों का निर्माण हो गया तब संस्था का कार्य वहा अब तक चालू है।

अपने वचन के अनुसार पूज्य पंडितजी १ वर्ष तक खुरई मे रहे और कारंजा से श्री पं. अभयकुमारजी तथा श्री पं. शुभचन्द्रजी न्यायतीर्थ को बुलाकर सस्था का प्रारंभ कक्षा ५ वी और ६ वी मे छात्रो को प्रवेश देकर किया और इस प्रकार शिक्षण के कार्य का विधिवत श्रीगणेश हुआ।

पूज्य पं. जी ने मुझे समाज-सेवा करने की प्रेरणा दी। सन १९४६ मे परवार सभा का अधिवेशन कुरवाई नगर में करवाया और उसका अध्यक्ष मुझे बनाया गया। उस समय समाज मे दस्सा पूजा अधिकार की बड़ी समस्या थी। कुरवाई परवार सभा के इसी अधिवेशन मे यह समस्या पं. जी ने अपने चातुर्य और बुद्धि से निपटा दी और ऐतिहासिक प्रस्ताव सर्व सम्मति से पारित करा दिया। तब से सब ही जगह दस्साओ को पूजा के अधिकार मिल गये।

उन्होंने सस्था संचालन की सुविधा के लिये कुछ हिदायतें और आदेश भी दिये जिनका पालन बराबर किया गया।

(१) पहिले २ वर्ष तक संस्था की राशि आठ आना स. माहवारी ब्याज पर हमारे यहा और तीर्थभक्त स. सि. गनपतलाल भैयालालजी गुरहा खुरई के यहा रखने की स्वीकृति दी। बाद मे कारंजाश्रम की प्रणाली के अनुसार समाज के किसी व्यक्ति के यहा रकम न रखने का सुझाव दिया।

(२) खुरई गुरुकुल की व्यवस्था और संचालन प्रणाली को कारंजा आश्रम के अन्तर्गत ही रखने की उन्होने शर्त रखी, इस मे स्थानीय समाज का किसी प्रकार का हस्तक्षेप न होना चाहिये।

(३) आजीवन सदस्यता हेतु जो दातार १००० रु किश्तों मे भी संस्था को प्रदान करे वह भी सदस्य हो सकेगा।

खुरई मे उनका स्वास्थ्य एकाएक खराब हो जाने से तथा इन्दौर मे सर सेठ हुकमचदजी का विशेष अनुरोध होने से वे इन्दौर चले गये और सन १९५० तक वे वही रहे।

सन १९५० मे ही मृत्यु के ६ माह पूर्व उनका स्वास्थ्य अत्यधिक खराब हो गया। मै उन के पास इन्दौर गया और उन्हे खुरई लाकर उनकी चिकित्सा का पूर्ण आश्वासन दिया किन्तु वे इतने कमजोर हो गये थे कि चलने फिरने की भी शक्ति उन मे नही रह गयी थी। अतएव उन्होने कुछ स्वस्थ हो जाने पर खुरई जाने की बात टाल दी। इन्दौर मे उन्हें दुख हुआ। स्वास्थ्य मे सुधार नही हो सका और सन् १९५० मे ही इन्दौर में उनका देहावसान हो गया। हमें उनकी मृत्यु के दुखद समाचार सुनकर हार्दिक दुख हुआ और खुरई समाज भी अत्यन्त दुखी हुई।

पं. जी के स्वर्गवास के उपरात उन के परिवार की आर्थिक स्थिति बड़ी ही नाजुक थी। केवल ज्येष्ठ पुत्र सुमतिचंद्र ही अपनी पढाई पूर्ण कर पाये थे। बाकी ५ पुत्र और ३ पुत्रियां अध्ययन कर रही थी। उनकी तेरवीं के अवसर पर इंदौर मे बुदेलखंड के परवार समाज के प्रमुख लोग एकत्रित हुऐ थे, जिन में मै, श्रीमंत सेठ लक्ष्मीचंदजी विदिशा, स. सि धन्यकुमारजी कटनी, स. सि. भैयालालजी गुरहा, श्रीमंत सेठ बिरधीचंदजी सिवनी तथा और भी गणमान्य मुखिया लोग थे। सबने ही उनके बच्चों की पढाई की आर्थिक व्यवस्था बनाने में सहर्ष योगदान दिया। जिस से उनके सब ही पुत्र पढ़ लिखकर डाक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर बन गये।

समाज की चिरंतन प्रेरणा

श्री. शेठ डालचंद जैन, सागर
संसद सदस्य

प्रति,

श्रीमान् मानद् मंत्री,
स्व. पू. श्री. पं. देवकीनन्दनजी
स्मृति ग्रंथ प्रकाशन समिति,
कारंजा, जिला अकोला.

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक ७–७–१८८७ का प्राप्त हुआ। प्रकाशन समिति आपके निर्देशन मे श्री पं. देवकीनन्दनजी की स्मृति मे ग्रंथ प्रकाशित कर रही है, यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई। समिति का यह कार्य प्रशंसनीय है। स्मृति ग्रंथ समाज को बहुत उपयोगी एवं ज्ञानवर्धक होगा, ऐसा मुझे विश्वास है। समाज को इससे प्रेरणा मिलेगी। **पूज्य पंडित जी के जीवन की आदर्श परम्पराएं हम सबको अनुकरणीय एवं अभिनन्दनीय है।**

आप के इस पुनीत कार्य की सफलता की कामना करता हूँ।

सधन्यवाद,

भवदीय
डालचन्द जैन

गुरु और गुरुभक्ति को प्रणाम

श्री अमरचंदजी जैन
M. A, B. Com सतना

सन १९४२ मे भारत के इतिहास ने करवटे लेना शुरु किया। उस समय मै मैट्रिक कक्षा का विद्यार्थी था। माहौल मे ऐसी सरगर्मी थी कि लगता था कि इस पार या उस पार। बहुत उत्पात एवं कोशिशें करने पर भी जेल का रास्ता नही पा सका इसके बावजूद भी कि पू. पिताजी ने अनुमति दे दी थी। बहुत खेद के साथ आखिर परीक्षा मे बैठना पडा और न मालूम कैसे पास भी हो गया।

सन १९४३ मे एक दिन पू. पिता प. जगन्मोहनलालजी शास्त्री ने डाक गाडी मे मुझे बैठा कर एक पत्र पूज्य चाचा प. कैलाशचन्दजी शास्त्री बनारस को लिख कर दिया-अमर चद के आगे पढने का प्रबध बनारस मे कर देवें। चाचाजी ने हिन्दु युनिव्हर्सिटी मे प्रथम वर्ष कामर्स मे मुझे और भाई सुपार्श्वकुमार (प. कैलाशचदजी के सुपुत्र) को दाखिला दिला दिया।

देश मे राष्ट्रीय वातावरण गर्म था। इसी १९४३-१९४७ के समय मै हिन्दू युनिव्हर्सिटी का छात्र था। वह समय था जब भारत गुलामी की जंजीरें तोड स्वतत्रता के लिए छटपटा रहा था। स्व. पू. महामना मालवीय जी उन दिनों जीवित थे तथा युनिव्हर्सिटी परिकर में निवास करते थे तथा सर एस. राधाकृष्णन हमारे वाइस चॉन्सलर थे। युनिव्हर्सिटी पार्लियामेन्ट की ओर से सेवाग्राम (वर्धा) मे गाधी आश्रम की ट्रेनिंग का भी सौभाग्य मिला। आचार्य विनोबा भावे, काका कालेलकर आदि महापुरुषों का सानिध्य भी प्राप्त हुआ। राष्ट्रीय भावनाओ मे रंगे हम विद्यार्थियो को कभी गाधी आदर्श थे कभी सुभाष।

सन् १९४५ मे पू. पिताजी ने मेरे विवाह का प्रस्ताव रखा, घर-परिवार की स्थिति समझायी। मुझे मात्र पढ़ना इष्ट था तथा विवाह के लिए कतई तैयार न था। पिताश्री की बात कैसे टाली जा सके इस संकट के निवारण के लिए मेरे कदम परमपूज्य वर्णी बाबा की ओर ग्वारीघाट (जबलपूर) की ओर बढ़ गये। बाबाजी से अपना निवेदन प्रगट किया। उन्होने मेरी बात समझी और एक पत्र पिताजी के नाम लिख दिया। अब मै निश्चित हो बनारस अध्ययन के लिये चला गया। पिताजी ने दो वर्ष बाबाजी के आदेशानुसार विवाह की चर्चा नही की। पू. वर्णी जी का हम लोगो पर सहज पारिवारिक स्नेह रहा है। मेरे स्व. पूज्य पितामह ब्र. गोकुलचन्दजी से पू. वर्णीजी ने दीक्षा ली थी इस प्रगाढ़ता के बंधन एव वदन की मर्यादा हम सब जानते थे।

सन् १९४७ मे पूज्य स्व. गुरुवर्य पं. देवकीनंदनजी गुरुकुल के संबंध में खुरई आये तथा पिताजी को विचार विमर्श को बुलाया। किस तरह कैसे श्रीमंत शेठ ऋषभकुमारजी खुरई की बहिन का रिस्ता मेरी तरफ कर देने की बात उन्होंने तथा पू. बाईजी ने तय की और पिताजी को सुना दी। गुरुआज्ञा हमारी परम्परा में हमेशा सिरोधार्य रही है। पिताजी ने सहमती प्रगट कर दी। दो साल विवाह टालने की अवधि पू. वर्णीजी के आदेशानुसार समाप्त हो चुकी थी। पिताजी ने यह गुरुआज्ञा कई माध्यमों से मेरे पास पहुंचायी।

स्व. पूज्य. मालवीयजी के आदर्श-गांधी विचारधारा का प्रभाव-हिन्दू युनिव्हर्सिटी का राष्ट्रीय पवित्र वातावरण कुल मिलाकर इस ऐतहासिक काल में हमारी जीवनपद्धती एवं जीवन दर्शन में बहुत मोड़ दिया था। मैं नहीं चाहता था कि इतने बडे सम्पन्न परिवार मे हमारी स्थिति के परिवार का रिस्ता हो। तरह तरह के तर्क तथा विचारो का आदान प्रदान करने के बाद मैंने पिताजी को सकेत दिया। यदि मेरा विवाह करना अनिवार्य हो तो साधारण आर्थिक स्थिति वाले परिवार की कन्या देख कर रिस्ता कर देवे।

गुरु वचन का संकट टाल देना पिताजी के वश का नहीं था। छुट्टियां खत्म हो रही थी। मुझे बनारस वापस जाना था।

सुबह छोटे भाई ने पिताजी का लिखा एक पत्र दिया। अनेक बातो के अंत मे उन्होने स्पष्ट किया कि गुरुजी को मै वचन दे आया हू। उनकी आज्ञा पालन करना मेरा धर्म है। उसे फेर नही सकता। यदि तुम्हे किसी प्रकार यह सबध इष्ट नही है तो तुम स्वयं खुरई जाकर कन्या देखकर इन्कार कर दोगे तो मुझे खेद न होगा और मै गुरुजी को दिये वचनो का निराकरण इस तरह कर लूगा।

इस गुरु-भक्ति एव सकट की स्थिति से मेरा हृदय पिघल गया-मै खुरई गया-स्वीकृति दी-और जिस कन्या का चुनाव गुरुजी ने मेरे लिए किया था वह जीवन संगिनी मेरे परिवार के अनुरूप सारी परम्परा एवं मर्यादा का निर्वाह करते हुए दु.ख सुख मे ४० वर्ष से साथ दे रही है। गुरु प्रसादरूप जीवन में जो साथी मिला, उससे सुख-समृद्धि-संयम-एव शांति संतोष के साथ जीवन के इस सध्याकाल मे उनका आदरपूर्वक पुण्य स्मरण करता हूं।

ऐसे गुरु तथा गुरुभक्ति को मेरे शत्‌शत् प्रणाम !

पं. देवकीनंदनजी : धर्म व समाज के स्तम्भ

ॲड्. श्री ललितकुमारजी सोगानी
अजमेर

पंडितजी सा की विद्वत्ता का उदय उस समय हुआ था, जिस समय समाज को अच्छे विद्वानो की अत्यन्त आवश्यकता थी। गुरु गोपालदासजी बरैया के आप प्रिय शिष्यों मे से श्रेष्ठतम थे। यद्यपि मुझे उनके दर्शनो का सौभाग्य नही मिला, फिर भी मेरे पूज्य पिताजी गुलाबचंदजी सोगानी से उनकी गुण गरिमा सुना करता था।

गुरु गोपालदासजी बरैया तथा आर्य समाज के विशेष सन्यासी स्वामी दर्शनानदजी से पचायत गोधो के बडे धडे की नसिया अजमेर मे शास्त्रार्थ हुआ था। उस समय पं. देवकीनदनजी शास्त्री ने उन्हे शास्त्रार्थ मे बड़ा सहयोग दिया था।

ब्यावर मे आचार्य शान्ति सागरजी महाराज के चातुर्मास के समय पडितजी सा. आये थे। उस समय उनके भाषण तथा विचारो से समाज का बहुत लाभ मिला।

पडितजी का समस्त जीवन अध्ययन व अध्यापन मे बीता। वे सफल टीकाकार भी थे। उन्होने पंचाध्यायी की सुन्दर टीका भी की है। समाज के "जैन सिद्धान्त" मासिक पत्रिका का विद्वत्तापूर्ण सपादन भी वर्षों तक किया।

यह सर्व विदित है कि उनके भाषण सामान्य व्यक्ति से लेकर विद्वानो तक के लिये रुचिकर होते थे। वे समाज व धर्म के स्तम्भ थे। उनकी सेवाएँ समाज को अपूर्व रूप से मिलती रही है, जिस के लिये समाज उनका ऋणी रहेगा।

हम सभी उनके प्रति श्रद्धा से नत मस्तक है।

न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति

श्री नरेंद्र प्रकाशजी जैन

संपादक, जैन गजट

कक्षा ८ मे पढते समय मैने कालिज मे आयोजित होनेवाली वाद-विवाद-प्रतियोगिताओ में भाग लेना शुरु कर दिया था और उन दिनो अच्छे भाषणो के लिए कुछ पुरस्कार भी मुझे मिले थे, यह बात सन् १९४८-५० को है। मेरे पिताजी (स्व प रामस्वरूपजी शास्त्री) मुझे पं देवकीनदनजी-सरिखा वक्ता बनने का आशीर्वाद दिया करते थे। उन्ही से मुझे ज्ञात हुआ था कि पण्डितजी अपने समय के सर्वश्रेष्ठवक्ताओ मे से एक थे। सारी सभा उन्हे मत्रमुग्ध होकर सुनती थी। समाज ने उन्हे 'व्याख्यान-वाचस्पति' की मानद उपाधि से सम्मानित किया था। उस समय उनके वारे में बस इतना ही जानता था। उन के दर्शनो का सौभाग्य तो कभी मिला ही नही। मेरे होश सँभाल ने से पूर्व ही वह दिवगत हो चुके थे।

बाद मे भी उनके बारे मे जानने के ज्यादा अवसर नही मिले। आरा के माननीय डॉ. राजारामजी के एक लेख से इतना अवश्य ज्ञात हुआ कि 'सागारधर्मामृत' का एक अच्छा हिन्दी भाष्य उन्हो ने ही लिखा था। तथा 'षट्खण्डागम' के सम्पादन-संशोधन-प्रकाशन में भी उन्हो ने यथेष्ट सहायता की थी। सरस्वती की कृपा से तलस्पर्शी पाण्डित्य तो उन्हे प्राप्त था ही, व्यक्तित्व भी उनका सौम्य और आकर्षक था। अपने उच्च चरित्र के कारण सभा और समाज में उन्हे सदा प्रचुर सम्मान मिलता था। उनका पूरा जीवन जैन साहित्य, संस्कृति एवं समाज की सेवा में बीता था।

श्रद्धेय वर्णीजी की आत्मकथा मे पढा था कि एक बार जब वह बरुआसागर मे थे, तो एक दिन उनके मन मे अनायास यह कल्पना आई कि आज स्व. प. देवकीनदनजी के घर आहार होना चाहिए। यह एक संयोग ही था कि उस दिन स्व. पण्डितजी की धर्मपत्नी से आहार मिल भी गया। अपनी इस मनोरथ-सिद्धि पर वर्णीजी ने बड़ा सन्तोष व्यक्त किया है। इस से यह व्यक्त होता है कि स्व. पंडितजी के प्रति उन के मन में कितना गहरा और प्रशस्त लगाव था।

नि:सन्देह स्व. पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री अपने समय के एक प्रभावशाली विद्वान् और अद्वितीय वक्ता थे। मुझे भी एक वक्ता के रूप मे जो थोड़ी-बहुत सफलता मिली है, उस के पीछे उनके यशस्वी नाम का अप्रत्यक्ष प्रभाव तो है ही, 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' के सुभाषित वचन के अनुसार मै उन के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ उन्हें अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

धर्म एवं समाज शास्त्र के अद्वितीय पंडित

श्री सेठ सुमेरचंदजी जैन
जबलपुर

व्यापक योगदान

व्याख्यान वाचस्पति पंडित देवकीनंदनजी शास्त्री न केवल सिद्धांत शास्त्र के पंडित थे बल्कि समाज शास्त्र के भी ज्ञाता थे। जिन परिवारो या जिन नगरो मे वर्षो से फूट चली आ रही थी उन मे पंडितजी ने अपने प्रयासो से शांति स्थापित कराकर समाज को संगठित किया था। कितने ही स्थानो पर गजरथ विरोधी आंदोलनो को उन्हो ने सरलता एवं अपनी सूझबूझ से समाप्त किया था। गुरुणांगुरु पूज्य गोपालदासजी बरैया के प्रमुख शिष्यो मे पंडितजी की गिनती थी। जबलपुर मे पूज्य गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा जब वर्णी गुरुकुल की स्थापना का अवसर आया तो पंडितजी ने ही उस की स्थापना मे अपना अमूल्य योगदान दिया। कारंजा मे रहकर आपने न केवल वहा के महावीर ब्रह्मचर्याश्रम को समुन्नत किया बल्कि आचार्य समन्तभद्रजी के पदानुगामी होकर कुम्भोज बाहुबलि, स्तवनिधि तथा खुरई आदि अनेको स्थानो मे गुरुकुलो की स्थापना कराकर उन्हे विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आप की वाणी की सहजता, सरलता तथा मिठास के कारण पंडितजी के विरोधी भी उन के सामने नतमस्तक हो जाते थे।

षट्खण्डागम जैसे महत्वपूर्ण ग्रंथ के प्रकाशन मे आनेवाली कठिनाइयो तथा उत्पन्न विवादो को आपने अपनी बुद्धिमत्ता से दूर किया। इस कारण यदि इस उच्च कोटि के ग्रंथ प्रकाशन का आपको पुरोधा कहा जाय तो अतिशयोक्ति ना होगी। सागार-धर्मामृत तथा पंच्याध्यायी आदि ग्रंथो की हिन्दी टीका कर उन्हे जनसाधारण के पठन पाठन हेतु उपयोगी बनाया यह आप की सरस्वति साधना का सूचक है

आदरणीय पंडितजी के जबलपुर प्रवास के अवसर पर हमारे परिवार को उन के स्वागत तथा आतिथ्य का अनेको बार सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे मेरे अग्रज स्व. हरिश्चंद्रजी के मित्रो एवं स्नेहियो मे थे। इस कारण से मुझे भी पं. जी के निकट आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मेरे उन से तथा परिवारजनो से आज भी व्यक्तिगत संबंध बने हुए हैं।

आदरणीय पंडितजी की स्मृति को अविस्मरणीय बनाए रखने हेतु अभिनंदन ग्रंथ का प्रकाशन हो रहा है। इस अवसर पर मै पूज्य पंडितजी को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके चरणों मे अपने श्रद्धासुमन अर्पित करता हूं।

विलक्षण प्रतिभा के धनी

श्री वैद्यराज पं. सुंदरलालजी जैन
इटारसी (म. प्र.)

विद्वद्वर्य पं देवकीनंदनजी सिद्धातशास्त्री न केवल समाज की अपितु सम्पूर्ण देश की एक महान् विभूति थे। पडित प्रवर का समग्र व्यक्तित्व विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न था। वे समाज के लिए सर्वतो भावेन समर्पित थे, उनका व्यक्तित्व समाज के लिए आदर्श रूप रहा है। उन्हो ने समर्पित भाव से समाज की जो निष्काम सेवा की है उसे विस्मृत नही किया जा सकता। उन के द्वारा की गई समाज सेवा के ठोस परिणाम हमें प्राप्त हुए हैं, जिस से समाज को एक नई दिशा प्राप्त हुई है और समाज मे नवीन चेतना का सचार एव पुनर्जागरण हुआ है।

पुण्यश्लोक पूज्य पडित जी का प्रखर व्यक्तित्व एक ओर जहां पाण्डित्य से परिपूर्ण था, वहां दूसरी ओर व्याख्यान-प्रवचन आदि मे उन की प्रभावकता अद्वितीय एवं विलक्षण थी। धर्म के मर्म को सरल एव सहज भाषा मे प्रवचन के माध्यम से जन सामान्य के अतस्तल मे उतार देना आप के व्याख्यान की मौलिक विशेषता थी। धर्म के गूढ विषयो को हृदयंगम करने मे आप जिस तरह सक्षम थे। उसके रहस्य को सुबोध बनाकर धर्म प्रेमी समाज को समझाने मे भी आप उतने ही सफल थे। यह आप के व्याख्यान शैली की विशेषता थी कि धर्म और दर्शन जैसे रूक्ष विषयो को भी आप ने सरस बनाकर जन सामान्य के लिए ग्राह्य बनाया। इस से समाज मे धर्म के प्रति जिज्ञासा जागृत हुई और उस ओर उन की अभिरुचि भी बढी। आप की प्रवचन पटुता के कारण ही आप सदैव समाज के लिए एक आकर्षण बिन्दु थे। आप सदैव समाज को प्रबुद्ध एवं जागरूक देखना चाहते थे, ताकि समाज में से अन्धविश्वास एव रूढिवादी परम्परा सदा सर्वदा के लिए नष्ट हो जावे।

आप के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के सम्मुख समाज सदैव नतमस्तक रहा है। समाज एवं देश को ऐसे महान् व्यक्तित्व पर सदैव गर्व रहा है। मै अत्यंत कृतज्ञता भाव पूर्वक आप के अविस्मरणीय व्यक्तित्व को नमन करता हूँ और आप के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूँ।

धर्मशील जीवनयापन के प्रेरणास्थान

अॅड्. श्री अमोलकचंदजी जैन
बी. अे., अेल्अेल्. बी.
खंडवा

आदरणीय व्याख्यान वाचस्पति स्व पं. देवकीनंदन जी से मेरे संबंध कई वर्षो तक रहे। कारंजा महावीर ब्रह्मचर्याश्रम मे जब वे थे तब से ही मेरा अच्छा परिचय था। इन्दौर जाने के बाद तो सबध अत्यधिक बढे। श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम के तो आप प्राण थे। धर्म का खूब अध्ययन था और प्रखर विद्वान् थे। आप ने पचाध्यायी और सागारधर्मामृत आदि ग्रथो के अनुवाद भी लिखे।

आप के धर्म ज्ञान से सारी समाज प्रभावित थी। आदरणीय अनेक पद विभूषित सर सेठ सा. हुकमचदजी साहब तो अनन्य भक्त थे। आदरणीय सेठ साहब से मेरी कई बार आपकी विद्वत्ता के बारे मे चर्चा हुई थी।

खंडवा समाज के निमंत्रण एवं विशेष निवेदन पर आप दो बार पर्यूषण पर्व पर खंडवा पधारे थे। दोनो बार आप के प्रवचनो से समाज को खूब धर्म लाभ मिला और समाज खूब प्रभावित एव लाभान्वित हुई थी।

समाज को अच्छी तरह अनुभव है कि आप के शिक्षण एवं प्रभाव से कई छात्रो का जीवन और आचरण धर्मानुकूल रहा है। कई अग्रेजी पढे स्नातकों ने धर्माचरण पूर्वक समाज सेवा मे जीवन समर्पण किया है।

ऐसे विद्वान् की क्षति समाज की बहुत बडी क्षति है, जिसकी पूर्ति आज तक भी नही हो पाई है।

पंडितजी का सामाजिक साहसी निर्णय

श्री माणकचंदजी जैन
मंडी बामोरा

पूज्य श्री पडितजी का पुण्य स्मरण होते ही उन की अनेक स्मृतियां आज भी मानस पटल पर सजीव हो उठती है। पूज्य पंडितजी और मेरे सपर्क मूत्र रहे। उन के काका के एक लघु भ्राता श्री अयोध्याप्रसादजी के पुत्र कन्हैयालालजी जो मंडी बामोरा मे हमारे यहा कार्य करते थे। बामोरा प्रवास में पूज्य पडितजी का सान्निध्य बहुत समय तक मुझे प्राप्त होता रहा। धार्मिक एवं सामाजिक रुचि होने के कारण मैं प्राय: पडितजी को अपने घर पर ही ठहराता था। उन के वह चचेरे भ्राता त्यागी एव एकाकी ही रहते थे। स्मृतियां तो छोटी मोटी अनेक हैं। करीब ५० वर्ष पूर्व उन घटनाओं को हो चुके है। एक छोटी सी स्मृति। जबलपुर मे परवार सभा का अधिवेशन हो रहा था। सन् १९३७-१९३८ की बात है। गजरथ विरोधी वातावरण तीव्रता से उभर रहा था। पक्ष विपक्ष की स्थिति बडी विस्फोटक थी। तब सभी ने सर्व सम्मति से पडित जी को उस सभा का अध्यक्ष चुनकर समाज के उस आक्रोश को शात किया। कारण उस समय समाज के सभी पंडितों एवं श्रीमानों पर पडित जी का काफी प्रभाव था। एक घटना उन की इस विचार धारा का प्रतीक है कि वे सामाजिक निर्णय लेने मे सदैव साहस का परिचय देते थे। जबलपुर मे एक कपडे बेचने की फेरी लगाने वाले जैन युवक धर्मचन्द्र का संपर्क एक अग्रेज युवती से हो गया। दोनो ने प्रोफेसर डाक्टर श्री हीरालाल जी की अध्यक्षता में टाऊन हाल मे सनातन जैन सभा के अधिवेशन मे आपस में वरमाला डालकर शादी कर ली। युवती का पिता उच्च पद पर था। लडकी ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। लेकिन जब वह दोनो मंदिर मे देव दर्शन को आये तो समाज ने इसका घोर विरोध किया। लेकिन वह पूज्य श्री पडित जी का ही साहस था कि उन्होंने श्री मंदिर के द्वार खुलवाकर उन्हे मंदिर में प्रवेश कराया और मच पर उन्हें आशीर्वाद भी दिया।

यह घटना हमारे व पूज्य पंडित श्री देवकीनंदन जी के साथ की है। हमारे यहां के जैन मंदिर में पूजन कर रहा था। पहली पूजा देव शास्त्र गुरु की प्रारभ की व उस में मैंने अछत चढाने के बाद रकावी में पुष्प लेकर पुष्प का पद प्रारंभ किया। उसी समय पूज्य पंडित जी के श्री मुख से—

"जे विनय वंत सुभव्य उर अंबुज प्रकाशन भानु हैं,
जे एक मुख तें चार बांचे त्रिजग मांहि प्रधान हैं।"

यह उच्चारण निकला। मैंने पूज्य श्री से कहा कि पूजा की किताब में तो ऐसा पाठ है, त्रिजग 'मांहि प्रधान है' तब पूज्य श्री ने समझाया कि भैया समोशरण में बारह सभा मे चारो दिशाओ मे भव्य जीव बैठते हैं ओ, सभी तरफ बैठने वाले ऐसा अनुभव करते है कि प्रभू की वाणी हमारे लिये ही हो रही है, इस विशेषता से हम यह उच्चारण करते है। जो उस समोशरण की गरिमा को तरोताजा कर देते हैं।

बुंदेलखंड की एक महान विभूति

श्री प्रा. नंदलालजी जैन
रीवा

बृहत्तर बुंदेलखंड वीर–बहादुरों की भूमि तो रही ही है, यह अनेक विश्रुत विद्वानों की पुण्यस्थली भी रही है। जैन जगत के लिये झांसी, सागर एव जबलपुर जिले इस हेतु प्रसिद्ध हैं। भूतकाल की बात जाने दीजिये, आज के जैन जगत के अधिकाश लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् इसी भूमि के लाल हैं। स्वनामधन्य विद्वान सिद्धान्ताचार्य पडित देवकीनदनजी शास्त्री भी इसी भूमि के झांसी जिले के गौरव हैं। उन के सुयोग्य पुत्रों ने, उन्ही के समान अनेक जीविका क्षेत्रो मे भी नाम अर्जित किया है।

पं. देवकीनंदनजी के कार्यक्षेत्र कारंजा तथा खुरई के गुरुकुल पद्धति पर चल रहे विद्यालय रहेहैं। पंडितजी सस्था संचालन, अध्यापन, समाजसेवा, साहित्यसेवा तथा धार्मिक जागृति के कार्य करते थे। उन की 'व्याख्यानवाचस्पति' की उपाधि उन की प्रभावशील मनमोहक व्याख्यान क्षमता को प्रकट करती है। उन की 'साहित्यसूरि' की उपाधि उन की साहित्य के विविध क्षेत्रो की मर्मज्ञता को प्रकट करती है। उन के शिष्यों में आज भी फूलचंद्रजी शास्त्री, जगन्मोहनलालजी शास्त्री विद्यमान है।

पंडित देवकीनंदनजी उस समय उत्पन्न हुए थे जब भारत स्वतंत्र नही हुआ था। जैनों में भी, अन्य समाजों के समान, परंपरावाद का बाहुल्य था। धार्मिक साहित्य भी अपनी भाषा में उपलब्ध नहीं था। इस से सामान्य जन को स्वाध्याय कर समझने मे परेशानी हो जाती थी। श्रावकों के लिये श्रावकधर्म का ज्ञान करानेवाला प्रामाणिक साहित्य नही था। इस कर्म को पूरा करने के लिये पंडितजी ने पंडित आशाधर कृत (१९३० ई.) सागार धर्मामृत की भाषा टीका की। उन्हो ने पंचाध्यायी की भी भाषा टीका की थी। इस भाषा टीका की विशेषता यह है कि संस्कृत के श्लोकों का अन्वय करते हुए अर्थ दिया गया है। इस से असंस्कृतज्ञ व्यक्ति को भी संस्कृत का और उस के शब्दो का ज्ञान करने में सरलता होती है। संस्कृत अर्थ के भावार्थ के रूप में पंडितजी ने ग्रन्थकार एव सिद्धान्त की गूढता को सरल भाषा में स्पष्ट किया है।

पं. देवकीनंदनजी की सागारधर्मामृत की टीका सर्वजनोपयोगी है। इस से सिद्धान्त और ग्रन्थकार के मत का ही विशेष खुलासा किया गया है। इस से व्यक्ति को पढने पर आनंद आता है। अनुगमन करने के लिये मन उत्साहित होता है। इस टीका को सुसंपादित कर पुन: प्रकाशित करने की आवश्यकता है।

आज पंडितजी जैसे व्याख्यानकर्ताओं एवं साहित्य सृष्टाओं की कमी अखरनेवाली है। पंडितजी के समान प्रेरणास्त्रोतो का अभाव मन को खलता है। यह सचमुच ही अचरजकारी बात है कि पंडितजी के समय में जो पंडित परंपरा विकासमान थी और जिस के चारो ओर धर्म व समाज की धुरी घूमती थी, वह आज विलुप्त प्राय हो रही है।

इस परंपरा को जीवित रखने के लिये कुछ संस्थाएँ अब आगे आ रही हैं, ऐसा प्रतीत होता है। मुझे भय है कि यह नयी पौध पंडित परंपरा को वह गरिमा दिलाएगी जो देवकीनंदनजी को और उन के शिष्यो को प्राप्त थी।

इन शब्दो के साथ पंडितजी को हमारी श्रद्धाजलि।

स्व. पू. पंडितजी के चरणो में सादर वंदना : स. सि. जिनेंद्रकुमारजी गुरहा, खुरई

स्व पू व्याख्यानवाचस्पती प. देवकीनदनजी का विचक्षण व्यक्तित्व और पूज्य पितामह स्व. स. सिं गणपतलालजी गुरहा के सबध आत्मीयता के रहे हैं। विशेषतः देवगढ में सन १९३९ में पू. पितामह द्वारा सपन्न गजरथ प्रतिष्ठा-महोत्सव की सफलता में पू. पडितजी के महत्त्वपूर्ण योगदान के विषय में पू स्व. पिताजी बहुत कुछ बार बार सुनाते रहे। जिसमे मै पू प. जी के महान उपकारो की स्मृति में सहज ही आदर और आनद का अनुभव करता आ रहा। देवगढ गजरथ के विरोध मे समाज के कुछ विद्वानो द्वारा तीव्र विरोध का आयोजन इसलिए हो रहा था कि, समाज के नये पीढी को लौकिक शिक्षाके साथही साथ पारमार्थिक धर्मशिक्षा देनेवाली शिक्षण सस्थाकी स्थापना हो जिसमे अच्छे सस्कारो से समाजका उत्थान हो जो गजरथसे बेहतर होगी। उसी समय पू. पितामहने उन्हे आश्वस्त किया था कि **"यह भी होगा।"** फलस्वरूप खुरईमेंही सन १९४३ मे स्व पू. प जीका पर्यूषणपर्व में शुभागमन हुआ। जनता काफी प्रभावित हुई। पू. पितामह कारजा सस्था देखने नगे पाव बीस हजार रुपया लेकर प पू १०८ आचार्य श्री समतभद्रजीके पास पहुचे। गुरुकुल सस्था की स्थापना का निर्णय हो गया। प. पू १०५ गणेशप्रसादजीके कर कमलो द्वारा श्री पार्श्वनाथ दि जैन गुरुकुल की स्थापना हुई। समाजने सद्भावोसे उदारतापूर्वक सहाय्यता पहुंचायी। श्रीमत सेठ ऋषभकुमारजी द्वारा नगरसमीपका ४ एकर खेत प्राप्त हुआ तथा मदिर विद्यालय भोजनालय आदि बनवाकर मिले। पू स्व. पिताजीने एक विशाल छात्रालय निर्माण किया। मानस्तभ निर्माण मे भी दान पहुचाया। और अन्यान्य दातारोद्वारा भी दान पहुंचा है और पहुंच रहा है। स्व. पू पडित देवकीनदनजी का प्रभावशाली व्यक्तित्व सस्था के आजके रूप बननेमे नीवके रूपमे रहा है। वे सस्थाके आजीवन अधिष्ठाता रहे।

स्व. पू. पडितजी बुदेलखड के ही नही समाजभर के गौरव रूप रहे। परवार सभा के तो अध्यक्ष और सरक्षक रहे। जगह जगह के रथोत्सव, जयन्ति उत्सव, पर्वके धर्मोपदेश तथा प्रतिष्ठा महोत्सव आदि मे आपका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। बनारस, सादूमल, सागर, जबलपूर, रामटेक, ललितपूर, कटनी आदि जगहकी संस्थाओके विकासवृद्धि में आपका नेतृत्व और परिश्रम विशेषतया कारण बने है। आपके अनेकानेक जो उपकार हुए उसे भुलाया नही जा सकता। पू. प. जी का सारा परिवारगण सुशिक्षित सुसंस्कृत और समाज मान्य रूपमे देखकर प्रसन्नता होती है। पू. पंडितजी की परमपावन स्मृति मे हमारे परिवारगण की ओरसे सादर वंदना है।

बुंदेलखंड की दिव्यमूर्ति

श्री. राजेंद्रकुमारजी जैन
एम्. ए. एल्. एल्. बी.
विदिशा

आदरणीय पंडितजी के विशाल व्यक्तित्व का स्मरण तब से आता है, जब छोटी सी उम्र में अपने पू. पिताजी स्व. श्रीमंत दानवीर सेठ लक्ष्मीचन्द्रजी के साथ इन्दौर गया और उनके इन्द्रभवन के पीछे निवास में रहा। उनके साथ स्वर्गीय राय बहादुर सर सेठ सा हुकमचन्द्रजी के पास गये आज वह स्मरण उन दोनों व्यक्तित्वों के डील डौल, अपने अपने क्षेत्र में दोनो की बेजोड प्रतिभा और दोनो का सुमधुर सामंजस्य जो आजीवन रहा, संस्मरणीय हैं। उनकी स्वाभाविक सहजता और उनका सही परामर्श अपने पू पिताजी को धवला प्रकाशन मे सदैव रहा, जिसकी चर्चा उन के अलावा श्रद्धेय डॉ हीरालालजी, डॉ उपाध्येजी और बैरिस्टर जमनाप्रसादजी से सुनता रहा। आज जैसा तात्विक विवाद था वैसा ही उनके समय मे 'सजद' शब्द का विवाद जोरो पर था और पंडितजी का प्रकाशन को सदैव मार्गदर्शन रहा।

सभी बुंदेलखंड के व्यक्तित्व विशेष श्रेष्ठी जब इन्दौर उनके स्वर्गवास पर तेरहवी में गये, तब वहाँ से लौटकर सभी विदिशा रुके और उस मे इस बुंदेलखंड के व्यक्तित्व के अभाव पर, व्यवस्था पर विचार कर मार्ग बनाय गया। छोटा था पर वह सभी की विचारणा आज भी याद करा रही है कि सभी श्रेष्ठियो में उनका कितना सम्मान और मान था।

उन के बाद उनके पुत्रगण उन के पुण्य और अपनी प्रतिभा से आज संपन्नता को प्राप्त हुये और उन से रिश्तेदारी के संबंध भी जुडे। अब तो परिवार से मिलना होता रहता है। और उनका स्मरण उन की गरिमा उन की विशालता सस्मरणीय लगती है।

उन के प्रति हमारी हार्दिक श्रद्धांजलि। वे तत्त्व अभ्यासी थे। वे सद्गति मे हो यही कामना है।

विनम्र श्रद्धांजलि

पं. मोतीलालजी जैन
एम्. ए. साहित्याचार्य
सागर (म. प्र)

जो गुरुणां गुरु स्याद्वादविद्या वारिधि, वादिगजकेसरी, न्यायवाचस्पति स्व. परमपूज्य श्री पं. गोपालदासजी बरैया के वरद शिष्य थे, जिन्हो ने वर्तमान के आचार्य कल्प पडित टोडरमल कहलाने वाले सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचंदजी जैसे प्रखर विद्वान् समाज को दिये। उन श्रीमान स्व. प. देवकीनंदनजी को अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करते हुए अपार हर्ष का अनुभव करता हू।

श्रद्धेय पंडितजी का वात्सल्य भाव

श्री ज्ञानचंद्र जैन
एम्. ए. एल्. एल्. बी.
संपादक, तारण बन्धु, भोपाल.

सिवनी के सुप्रसिद्ध दिगंबर जैन मदिर में पर्यूषण पर्व के अवसर पर पंडितजी प्रवचन देने के लिये आमंत्रित किये गये थे। आप के प्रवचन विद्वत्तापूर्ण, मार्मिक तथा प्रभावशाली होते थे। वे सरस्वती पुत्र थे। उन की वाणी ओजपूर्ण तथा आकर्षक होती थी। श्रोता मंत्रमुग्ध होकर उनके प्रवचनों का श्रवण करते थे। सिवनी मे तारण तरण दिगंबर जैन समाज के भी कुछ घर है; तथा उनका एक चैत्यालय है। पडितजी से प्रार्थना की गई कि वे इस चैत्यालय मे भी पधार कर एक प्रवचन दे। उन्हो ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। चैत्यालयजी मे एक उद्‌बोधक प्रवचन दिया तथा समाज के सगठन पर बहुत प्रेरणादायी भाषण दिया। वास्तव में उन का हृदय विशाल था। उन के वात्सल्य भाव की समाज द्वारा बहुत सराहना की गई। उनकी यशःकाया आज भी जीवित है। उस महान् आत्मा के प्रति मेरी विनयांजलि !

ज्ञानगंगा के भगीरथ

वैद्य श्री बाबूलालजी जैन,
खुरई

सरल स्वभावी, विद्यानुरागी, निर्भीक वक्ता, कर्मठ समाजसेवी आदि गुणो के सागर थे स्वर्गीय पं. देवकीनन्दजी शास्त्री ।

एक बार श्रीमंत सेठ ऋषभ कुमारजी दक्षिण की तीर्थयात्रा को गये । वहा उन्हो ने पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री के प्रवचन सुने । पंडितजी उस समय कारंजा मे निवास करते थे । आकर्षक वक्तृत्व शैली के धनी पडितजी को पर्युषण पर्व पर खुरई पधारने का निमंत्रण दिया गया, जिसे उन्हो ने सहर्ष स्वीकार किया । पडितजी बुन्देलखंड की ही विभूति थे । अतः उनके मन मे भावना थी कि जिस प्रकार दक्षिण मे पूज्य समन्तभद्रजी महाराज आधुनिक गुरुकुलो की स्थापना कर समाजोद्धार का कार्य कर दक्षिण भारत को उपकृत कर रहे हैं, उसी प्रकार के गुरुकुल की स्थापना बुन्देलखड मे भी हो, अतः पर्युषण में खुरई पधारकर खुरई समाज के मन मे गुरुकुल स्थापना की भावना को जागृत किया । उनके प्रवचनो ने खुरई जन समाज के बच्चे बच्चे मे दिल खोलकर दान देने की भावना जागृत कर दी और फिर क्या था अक्षय तृतीया सन १९४४ को खुरई मे भी श्रीपार्श्वनाथ ब्रह्मचर्याश्रम जैन गुरुकुल का शुभारम्भ हो गया । आज उक्त गुरुकुल मुनि १०८ समन्तभद्रजी महाराज, श्री पं. माणिकचन्दजी चवरे एवं. प. जगन्मोहनलालजी शास्त्री के निर्देशन मे प्रगति पथ पर अग्रसर है । इस प्रगति के लिये भी प्रेरणादायक एवं नीव की ईंट के रूप में पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री थे ।

न्यायाचार्य गणेश प्रसादजी वर्णी ने जिस प्रकार समाज के उद्धार के लिये कार्य किया था, उसी प्रकार पं. देवकीनंदनजी शास्त्री ने भी अपने रचनात्मक कार्यों के द्वारा समाज का उद्धार किया है । ऐसे व्यक्तित्व के प्रति अटूट श्रद्धा के साथ नमन है ।

श्रीमान पंडितजी गुरुकुल खुरई में एक वर्ष तक रहे । वे सामाजिक समस्याओ का निराकरण करने में चतुर थे । उन्हो ने गुरुकुल को स्थायित्व प्रदान करने के लिये श्रीमंत सेठ ऋषभ कुमारजी, सवाई सिघई, भैयालालजी गुरहा, धन्ना लाल प्रेमचदजी सराफ, एव धन्नालाल अनंदीलालजी सेठी रूपी चार पाये तो बनाये ही, बागडोर कारंजा से जोडी ताकि स्थानीय हस्तक्षेप न हो और संस्था प्रगति करती रहे ।

पंडितजी प्रवचन में कहा करते थे "संतान को कितनाही वैभव छोड जाओ आकुलतावश दुखी रहेगी और यदि ज्ञान धर्म के संस्कार छोडोगे तो सतोष से सुखी रहेगी."

पंचाध्यायी एव सागारधर्मामृत के हिन्दी टीकाकार, जैन सिद्धान्त के मर्मज्ञ, प्रभावक वक्ता, समाज सुधारक पंडित देवकीनन्दन सदा अविस्मरणीय रहेंगे—

अस्त होने पर भी जो अस्त नही होता है।
ध्वस्त होने पर भी जो ध्वस्त नहीं होता है।
आत्मस्वभाव नित्योत्पाद व्ययात्मक होता है।
उक्त ध्रुव सत्य के उपदेष्टा पं. देवकीनन्दन शास्त्री को कोटि कोटि नमन।

हे ज्ञानपुंज सरल समाजरत्न !
श्रद्धांजलि अर्पित करता जन-जन।
ज्ञानगंगा के भगीरथ देवकीनन्दन
स्वीकारो मेरा शत शत नमन।

खुरई गुरुकुल के प्रेरणास्रोत

श्री धन्नालालजी सराफ
अध्यक्ष, पा ब्र आश्रम जैन गुरुकुल,
खुरई (म. प्र.)

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारजा जैन समाज के लब्धप्रतिष्ठ, प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धांतशास्त्री स्व. पं. देवकीनंदनजी शास्त्री की धार्मिक-सामाजिक सेवाओ के उपलक्ष्य मे उन के मरणोपरान्त अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का साहस हो रहा है, जब कि यह कार्य उन के जीवन काल मे ही सम्पन्न होना चाहिए था।

पण्डितजी के पांडित्य से और उन के भोले भाले सरल स्वभाव से समस्त समाज भली-भांति परिचित है। यावज्जीवन वे समाज की सेवा मे संलग्न रहे। समाज मे, परिवार में, कुटुम्ब में जहा कही भी वैमनस्यता की भावना देखी, उसे उन्हो ने बडी कुशलता से, सरलता से दूर किया और फूट की खाई को पाटने का काम किया।

प्रात: स्मरणीय पण्डिताचार्य गोपालदास जी बरैया द्वारा संचालित जैन सिद्धात विद्यालय मुरैना में उन्हों ने उच्चकोटि की धार्मिक शिक्षा प्राप्त की थी। श्रद्धेय प बशीधर जी न्यायालकार भी इन के सहाध्यायी थे। अध्ययन समाप्त कर ये दोनो विद्वान् इसी विद्यालय मे अध्यापन का कार्य करने लगे। इन के पढाये विद्वानो में पं. कैलाशचंद जी शास्त्री, पं. फूलचंदजी शास्त्री और प जगन्मोहनलाल शास्त्री प्रमुख हैं। जो आज भी मौजूद हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में संलग्न है।

प. देवकीनन्दनजी शास्त्री जैन शासन के अनन्य उपासक थे, वे सात्विक जीवन की साक्षात् मूर्ति थे, समाज सेवी थे, वे सभी कार्यों मे सक्रिय सहयोग एवं मार्गदर्शन देते थे। जीवन पर्यन्त शिक्षा संस्थाओं से जुडे रह कर उनके उत्थान में हर तरह से हाथ बटाते रहते थे और उन्नति के शिखर पर पहुचाये बिना वे चैन नही लेते थे।

खुरई में श्री पार्श्वनाथ जैन गुरुकुल की स्थापना मे प देवकीनन्दनजी शास्त्री का प्रमुख हाथ रहा, उन्हो ने ही इस पौधे को रोपा था जो आज विशाल वट वृक्ष का रूप धारण किये हुए निरन्तर आगे बढ रहा है। इस गुरुकुल की स्थापना का सारा श्रेय यदि पंडित जी को ही दिया जावे सो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। यह सस्था ४२ वर्षो से समाज की सेवा कर रही है। इस संस्था से शिक्षा प्राप्त सैकडो विद्यार्थी आज देश के कोने-कोने मे उच्च पदो पर आसीन हैं। एवं अनेक व्यवसाय क्षेत्र मे उन्नति कर रहे हैं।

श्रद्धेय पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री आज हमारे बीच नहीं हैं किन्तु उन के द्वारा संस्थापित शिक्षा संस्थाएँ जो समाज के समक्ष हैं–सभी का आव्हान करती हैं कि सभी जन अपने मतभेदों को भुलाकर अपनी भावी पीढी के बच्चों के कोमल हृदयो में माँ जिनवाणी के प्रचार–प्रसार में अपनी चंचल लक्ष्मी का उपयोग करें, तभी पं. देवकीनंदन जी के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धांजलि होगी ।

हम तो केवल योगवाही है !

श्री. डॉ. मोतीलालजी जैन
ए एम्. एस्. पी. एच् यू.
लक्ष्मी मेडिकल हॉल खुरई (सागर)

खुरई गुरुकुल के निमित्त से पू. स्व. पंडितजी को निकट से देखने को मिला यह मेरा भाग्य रहा। विद्वत्ता सातिशय थी। वृत्ति करुणा कोमल थी। हृदय समाज सेवा के भावो से आपूरित था। खुरई गुरुकुल के सस्थापक सदस्यो मे आप प्रमुख थे। सस्था के सदस्यो मे अटूट मतैक्य बना रहे इस लिए आप की प्रबुद्ध समन्वय दृष्टि से बहुत बडा काम हुआ। सस्था के भवन बन गये और सस्था का ध्रौव्यफड अच्छा हो सस्था के सभी कार्यकर्ताओ मे तथा समाज भर मे सामंजस्य बना रहे इसलिए आप ने जो अथक परिश्रम उठाये उसे भूलना अशक्य है। श्रीमान धनी सेठियो से दान द्रव्य सहज भाव से कैसे निकाला जाता इस मे आप अत्यंत सिद्ध हस्त निपुण आचार्य थे।

उस समय में चिकित्साशास्त्र का छात्र था। किशोर अवस्था थी। स्वभाव मे स्पष्टवादिता होने से निडर होकर दो बाते पं जी से पूछ लेता था। और पं. जी से प्रेम से ठीक उत्तर मिल जाता था। हम डॉक्टर लोग तो क्लोरोफॉर्म सुघाकर या इन्जेक्शन द्वारा बधिरता लाकर ऑपरेशन करते है। परन्तु पू. प. जी उचित प्रशसा के द्वारा और मीठी जबान द्वारा दातारो को जागृत कर के लोभ का सवरण करा के लाखो का काम करवाते है। इसी से गुरुकुल संस्था की जड वटवृक्षो की तरह दृढमूल बनी रही। वे कहा करते थे 'धनी लोगों का द्रव्यदान और कार्यकर्ताओ के श्रमदान का सुमेल सस्था के लिए वास्तव मे योग है। हम तो मात्र योगवाही है।' कितना यह भव्यभाव था। धन्य है आप की !

मेरा परम सौभाग्य रहा खुरई गुरुकुल के प्रारभ मे मुझे हायजीन फिजि. ऑनररी तौरपर पढा ने को मिला और सस्था का चिकित्सक भी रहा। आगे चलकर वर्षो कार्यकारिणी मण्डल का सदस्य रहकर सेवा का मौका मिलता रहा।

समाज का यह अग्रिम कर्तव्य होगा कि स्व. पू पण्डितजी की परमपावन पुण्य स्मृति मे सस्था के उत्कर्ष के लिए दिल खोल कर वह दान देता रहे और परस्पर मे प्रेमभाव रखकर अटूट एका कायम बनाएँ रहे, जिस से हमारी संस्था बुदेलखण्ड की एक कार्यक्षम अग्रणी बनी रहेगी। पू पण्डितजी के उदात्त धीर गंभीर विचारो के प्रति तथा अनेकानेक मान्य धनिको द्वारा और समाजमान्य विद्वानों द्वारा सम्मानित असाधारण व्यक्तित्व के प्रति मेरी हार्दिक श्रद्धान्जलि समर्पित करता हू।

सादा जीवन उन्नत विचार के स्रोत

श्री लक्ष्मीचंदजी 'सरोज'
एम. ए.
जावरा

१. स्वनामधन्य गुरुणा गुरु पंडित प्रवर गोपालदासजी बरैया के उल्लेखनीय शिष्यों में से एक पंडित श्री देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री भी थे।

२. सावला दुहरा शरीर, स्वय मे सुखी, बन्द गले का जोधपुरी कोट, धोती धारी महाराष्ट्रियों जैसा छोटा साफा बाँधनेवाले पडितजी एक ही थे। वे व्यक्तित्व से कम पर कृतित्व से अधिक विद्वान थे।

३. सरसेठ हुकमचन्द्रजी की विद्वन्मण्डली मे उन का भी नाम जुडा था।

४. जब मै सर सेठ सरुपचन्द हुकमचन्द दिगम्बर जैन महाविद्यालय का विद्यार्थी था तब पडित श्री बंशीधरजी न्यायालंकार के समीप मै ने देखा था पडित श्री देवकीनन्दनजी को दीतवारा। के विशाल पाण्डाल में उन के एक से अधिक धार्मिक प्रवचन सुनकर मुझे लगा कि वे धार्मिक नीरस विषय को सरस उदाहरण देकर सरल बना ने मे सक्षम थे।

५. महापुरुष की चर्चा करते हुए, बडे आदमी के सन्दर्भ में उन्हो ने दहीबडा की कहानी अतीव मनोरंजक भाषा शैली मे सुनाई थी। इसे मै ने कुछ बरसो पहले 'जैनदर्शन' मे लिखा भी था।

६. 'जैन समाज में विद्वानो का विशेष सम्मान नही' विचार कर उन्हों ने किसी भी पुत्र को धार्मिक विद्वान नहीं बनाया। विद्वान तो अभी भी समाज में काफी है पर उन जैसे नही। अपने समय में पं. जी ने सीमित साधनों में जो कुछ भी धर्म और समाज के हित में किया, वह वस्तुतः अनुकरणीय है।

७. सादा जीवन उन्नत विचार के स्रोत पं. जी की पुण्यस्मृति मे सहर्ष सहस्र श्रद्धा-सुमन अंजलियां।

श्रद्धा के सुमन

श्री हजारीलालजी जैन
अध्यक्ष–अ. भा. दि. जैन बघेरवाल संघ

पूज्य पं. देवकीनंदनजी प्रकाण्ड पंडित, चारो अनुयोगो के धुरन्धर ज्ञाता, प्रेरणादायक धार्मिक एवं सामाजिक कार्यकर्ता थे। वे प. गोपालदासजी बरैया के समान गुरुणा गुरु थे। आज समाज मे वास्तव में जैन साहित्य, संस्कृति और वाङ्मय के मूर्धन्य ज्ञाता विद्वान जैसे प. फूलचंदजी सा. सिद्धात शास्त्री, बनारस, प. श्री कैलाशचन्दजी सा. सिद्धांत शास्त्री, बनारस, प. जगन्मोहनलालजी सा. शास्त्री, कटनी, उन की ही देन है और अनेको अन्य विद्वानो के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। पचाध्यायी की टीका की द्वितीयावृत्ति अपने जीवन काल मे प्रकाशित नही कर सके तो उन के ही शिष्य पं. फूलचदजी सा. शास्त्री ने उसे प्रकाशित कर के जैन वाङ्मय मे श्री वृद्धि की है। वैसे ही स्व. प. आशाधरजी के सागार धर्मामृत का अनुवाद हिन्दी मे कर के जैन जगत का कल्याण किया है! यदि मैं यह कह सकू कि प्राचीन सम्कृत साहित्य के अनमोल ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद एव टीका करने का विशेष श्रेय किसी विद्वान को दिया जा सकता है तो वे ही इस के पात्र है।

जब मै श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रम कारंजा अपने साथियों के साथ बहुत पहले गया था तो मुझे बताया गया था कि स्व. पं. जी देवकीनंदनजी इस आश्रम के प्रेरणादायक मार्गदर्शक सदस्यो में एक थे। स्व. प. जी ने इस ब्रह्मचर्याश्रम की आजीवन सेवा की और इस के विकास मे पूर्ण योगदान किया है। मुझे यह भी बताया गया था कि उस समय की ऐसी कोई पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, विधान कार्यक्रम, भाषण, प्रवचन सभा नही रही जहाँ से निमंत्रण मिलने पर पूज्य प. जी ने वहाँ पहुंच कर समुचित योगदान नही किया हो! संक्षेप में कह सकता हूं कि वे सर्वांग प्रतिभा सम्पन्न थे।

वे सरल स्वभावी, विनम्र, चरित्र और विद्वता के धनी व्यक्ति थे। जो भी उनके सम्पर्क में आता था, उन से प्रभावित होकर सच्चा मार्ग अपना लेता था। यह उनकी प्रेरणा, योगदान का प्रभाव है कि महाराष्ट्र में कारंजा, कुम्भोज बाहुबली, एलोरा आदि गुरुकुलो की पावन परम्परा चल रही है, जिनमें से तात्याजी (ब्रह्मचारी माणिकचंदजी सा. चवरे), पं. नरेन्द्रकुमारजी भीसीकर, पं. धन्यकुमारजी भोरे, पं. माणिकचंदजी सा. भीसीकर जैसे अनेक रत्न निकल कर जैन धर्म और समाज की निरन्तर सेवा मे जुटे हुए हैं।

(आ)

उन के साक्षात शिष्यों के संस्मरण

(हिन्दी तथा मराठी)

अविस्मरणीय स्मृतियाँ

श्री पं. माणिकचंद्रजी चवरे
न्यायतीर्थ, कारंजा

१. धर्मपिता पण्डितजी की असीम कृपा

-है तो आप बीती- प्राय: १९२७ की घटना है। मेरी आश्रमीय शिक्षा पूरी होने को थी। पिताजी की वकालात अकोला मे थी। रहना अकोला था। हमारे लिए भावी व्यवसाय के विषय मे उन्होने काफी सोचा था। अकोला में बिजलीघर खोलने का निणय कर लिया था। पूरी योजना भी बना ली थी। प्लॅन-एस्टिमेट के पूरे कागजात तैयार कर के कारजा आये और पूज्य पडितजी को कहा-"अब माणिकचंद को दे दो। पढाई तो हो ही गई है ?"

पडितजी-क्या करोगे वकीलसाब माणिकचंद को ले जाकर ?

पिताजी-हमने अकोला मे पॉवर हाऊस खोलने का निर्णय कर लिया है। सब योजना तैयार कर ली है। केवल कुर्सी पर बैठना मात्र है।

पं. जी-(तत्काल) यदि बंदर ही मरवाना हो तो और किसी को ढूढ लो। माणिकचंद के हाथों से बंदर क्यों मरवाते हो ?

इस विषय को लेकर पिताजी और धर्मपिता पू पंडितजी में काफी चर्चा हुई। अन्त में पिताजी ने विनोद भरे शब्दो मे पं. जीसे कहा-"तो मै क्या समझू, आप को देना नही यही समझूं ?

पं. जी-वैसा समझ लीजिए। मेरा परम भाग्य रहा हजारों पापों से धर्मपिता पंडितजी ने सहज ही में मुझे बचाया और जीवन भर के लिए अलिखित रूप मे संस्था का एक प्रशस्त कार्यक्षेत्र प्रकारान्तर से निश्चित कर दिया। जिस से जीवन भर में निर्बाध ज्ञानसाधना के लिए अत्यंत अनुकुल वातावरण का लाभ हो पाया। यत्किंचित समाज सेवा भी सहज में होती रही, जिस की स्वप्न में भी कल्पना नहीं थी।

पिताजी ने भी संकल्पित योजना के कागजात कई हजार रुपयों मे बेच दिये और मुझे सदा के लिये नि:शल्य कर दिया। भावी जीवनी के विषय में भी पिताजी और पं. जी में काफी चर्चा हुई। कौन पिता अपने

पुत्र का ब्याह नहीं चाहता ? पिताजी किसी प्रकार के दबाव या जबरदस्ती के अनुकूल कभी नहीं रहे। वृत्ति-प्रवृत्ति विचारपूर्वक स्वेच्छा से सहज होना उन्हे पसंद था, प्रिय था । इसीलिए पं. जी के संकेतानुसारही विश्वास के साथ तारीख २-१-२९ के मृत्यु पत्र में (Will Deed) आश्चर्यजनक पंक्तियाँ लिख दी जिस, की मुझे कल्पना भी नहीं थी । " Manik's marriage should not be performed without his consent and at the time when he consents" इन पंक्तियो के पृष्ठबल से ही आश्रम में रहना मेरे लिए आसान हो गया। पिताजी का तो स्वर्गवास हो गया पर धर्मपिता पू पं जी की छत्र छाया बराबर बनी रही जो जीवनी के लिये अत्यंत सुखद रही ।

२. धर्मपिता पंडितजी के करुणा कोमल मातृहृदय साक्षात्कार

हम तेरह लोग शिखरजी की यात्रा से लौटे । अकोला घर पहुचते पहुंचते सभी जबरदस्त बुखार से बेहोश से हो गये । निकटवर्ती दोनो बंगलो मे हॉस्पीटलही बन गया । बुखार क्या । बगाल से कालाबुखार [यमराज] ले आये । सारा परिवार परिचर्या मे खूब व्यस्त था । हमारे बेहोशी के कारण चितामग्न था । बीमारी के समाचार पाते ही गुरुवर्य पं. जी भी पहुचे । सब व्यवस्था पं. जी के मार्गदर्शन के अनुसार चलती रही । योगायोग की बात थी इसी बीमारी में ३-३ दिन के अतराल से क्रमश: तीन व्यक्तियो का स्वर्गवास हुआ । "मौसी मैनाबाई 'बहेन' ललता और मा बीना" । तीनो की मृत्यु घटना मुझसे छिपाई गयी । इस की जानकारी यदि मुझे मिलती तो उसका परिणाम हार्टफेल होकर मृत्यु मे होगा इस का भय सब को था । इस लिये चतुराई से अकोला से कारजा आश्रम मे स्थानातर करवाया । व्यवहार स्वयं का और सारे घर भर का ऐसा सावधानी से करवाया कि जैसे कुछ हुआ ही नहीं । यहां तक सावधानी रखी गई कि माता का शव तीस हाथ दूरी पर होते हुये भी रोना धोना तो किसी को करने ही नही दिया । प्रत्युत मीठी मीठी बातो के साथ मुझे स्वय अनार के दाने खिलाते गये । विकल्प न हो इसलिये मेरे आग्रहवश खाने को बाध्य करने के कारण खाते भी गये और कॉफी पिलाते रहे । सारी सेवा माता के हृदय से होती रही । स्वास्थ्य मे थोडा सुधार होते ही कारजा आश्रम मे ले आये । जिस आसीम सावधानी से माता आदि की मृत्यु की घटना पूरी डेढ माहतक छिपाई गयी वह सारा इतिहास चमत्कार पूर्ण रहा । अध्यापक-विद्यार्थी-नगरवासी रोज मिलते रहे सब को कडी सूचना थी और स्वय का पूरा पहरा था । जब स्वास्थ्य में काफी सुधार होता गया और पू. महाराजजी सोलापुर की ओर से लौटे तब धीरज बंधवाकर डेढ माहतक पू. पं. जी द्वारा शुद्ध गोवत्स भाव से जो नाटक खेला गया वह सारा किस्सा उन्हों ने सुनवाया । पिताजी के स्वर्गवास के पश्चात् धर्मपिता के रूप में पू. पं. जी ने पूरी रिश्तेदारी निभायी । साथ ही साथ माता के अनन्तर धर्म माता के रूप में अन्त तक अपने करुणा कोमल वात्सल्य भावो की अविरत वर्षा करते ही रहे । इस घटना को पचपन वर्ष के बाद भी विस्मृत करना मेरे लिये अशक्य है । आज भी आचार्य वादीभसिंह का वाक्य बराबर याद आता है।

"गर्भाधान क्रिया मात्र न्यूनौहि पितरौ गुरुः ।
सच्चे गुरु केवल गर्भाधान क्रिया मात्रसे रहित
साक्षात् माता पिता दोनो के रूप मे होते हैं ।

भाग्य की चरम सीमा से प्राप्त उस वात्सल्य का जब भी स्मरण हो आता है तो हृदय भर आता है और आनंद के दो आँसू आखो में आ ही जाते ।

पं. जी का यही मातृ पितृ हृदय और सहज वात्सल्य भाव संस्था में अन्यान्य छात्रों को बीमारी के समय तथा और भी समय देखने को मिलता रहा । क्या वर्गबंधु स्व. ब्र. हीरालालजी भीसीकर के समय और क्या स्व. शांतिकुमार रूईवाले तथा अन्यान्य छात्रों के साथ बीमारी में जो आत्मीय भावों से आपूर्ण व्यवहार रहा उसका

शब्दांकन से शब्दशक्ति से अतीत ही है। संक्षेप में यही कह सकते पं. जी ने संस्था को अपना 'कुल' माना और संस्थावासी पं जी को 'गुरु' मानते रहे ऐसा गुरुकुल का रूप व्यापक आत्मीय भावों से व्याप्त रहा।

३. समयोचित सुझाव

श्री सिद्धक्षेत्र मांगी तुगी में पूज्य आचार्य श्री शांतिसागरजी महाराज का वास्तव्य था। प्रतिष्ठा भी थी। प्रतिष्ठाचार्य कारंजा के ही प. महाजनजी तथा पं. श्यामलालजी थे। संस्था के छात्र भी उपस्थित थे। पं. वर्ग में विद्यावारिधी पं. खूबचन्दजी, पं. देवकीनन्दनजी तथा पं. राजेन्द्रकुमारजी आदि भी थे। [सम्भवत: सन ५४ की घटना होगी] आचार्यश्रीने ब्र. देवचंदजी की दीक्षा के लिये पुनः प्रेरणा की। वापिस लौटने के बाद ब्र. जीने मनोगत प्रगट किया। प. खूबचन्दजी तथा प. देवकीनन्दनजी से रात्रो में काफी चर्चा हुई। दीक्षा के लिये दोनो अनुकूल नहीं थे। पं. जी ने अपना मनोगत एक ऐतिहासिक घटना की आधार से प्रभावक रूप से प्रस्तुत किया। वह घटना इस प्रकार है।

मुस्लीम सल्तनत के समय आगरा के किले में शाही जनाने के लिये अलग ही स्नानघर था। जमना का पानी स्नान घर के टंकी मे आपही आप गरम होकर आता था और सारा जनाना उस पानी से नहाना धोना करता था। जब भारत में ब्रिटिश शासन आया तो संशोधकों को कुतूहल हुआ कि यह क्या चमत्कार है। महीनों सशोधन हुआ परंतु निर्णय नही हो पाया। अन्त में पूरी टंकी को अखंड रूप से अलग कर के लन्दन ले जाने के लिए खुदाई हुई। सावधानी रखने पर भी टंकी के टुकडे–टुकडे हो गये, परिश्रम से टंकी तो जुड गई परन्तु पानी कभी गरम हुआ ही नहीं।

ब्र जी के अलग होने से संस्था के बने–बनाये कार्य में बिगाड की सम्भावना थी। सामाजिक कार्य बडे परिश्रम से खडे होते है। उस की सुरक्षा का खयाल करते हुये पं. जी ने प्रभावक रूप से एक प्रकार से स्थितिकरण ही किया। इसलिए १९३४ तक ब्र. जी का योगदान संस्था को मिल पाया।

४. पं. जी प्रस्ताव खा गये ?

इंदौर मे प्रांतिक (संभवत:) मालवा प्रांतिक सभा का अधिवेशन रा. ब. भय्यासाहिब हीरालालजी के सभापतित्व मे था। आमसभा चालू थी। अकस्मात् प्रस्ताव आया, जिस की पूर्व में कतई कल्पना नहीं थी। भय्यसाहिब नही चाहते थे कि वह प्रस्ताव सभा के सामने आवे। समाज के शांति में और संतुलन में वह सरासरी बाधक था। एक प्रकार से वह भय्या सा. को चॅलेंज ही था। साथ में पं. जी बैठे थे। पं. जी को वह बताया गया। पं. जी प्रस्तावक की मायाचारी और धांदली को तत्काल ताड गये। वे भी नहीं चाहते थे कि प्रस्ताव सभा के सामने आवे या उस पर बहस होवे। चलती गाडी को बिगाडने का ही प्रकार था। स्पष्टतया इन्कार भी करने के लिए स्थान और समय अनुकूल नहीं था। और कोई चारा भी नही था। समय की सूझ थी। पं. जी संकेतपूर्वक बोले 'भय्यासाहिब ? प्रस्ताव तो आनाही चाहिए पर इसकी भाषा किसी अच्छे वकील द्वारा बनवाना जरूरी है। किसी को मेरे साथ दीजिए और मोटर दीजीए। प्रस्तावक पं जी के सुझाव पर सहमत हो गया। पं. जो वहाँ से गये सो सभा पूरी होने तक आये ही नही। प्रस्तावक यह देखते हुए हाथ मलते ही रहा। अंत मे बोला "पं. जी प्रस्ताव खा गये"

घटना को देखकर 'संसृती व्यवहारस्तु नहि माया विवर्जित:'
यह आ. वादीभसिंह के वाक्य का स्मरण हो ही जाता है।

५. सरहद्द गांधी और पंडितजी

देहल्ली से लौटते समय योगायोग से पं. जी का उसी डब्बे में रिझर्वेशन हुआ था, जिस में सरहद्द गांधी गफारखान भी थे। स्टेशन पर पहुंचाने के लिए भीड थी। ये पण्डित हैं यह जान कर रात्रि में बहुत समय तक

चर्चा होती ही रही। जैन धर्म, पुण्य पाप, हिंसा अहिंसा आदि विषयों की जानकारी खान साहिब के लिए नयी बात थी। प्रात काल गाडी मे से ही मंदिरमाला सोनागिरी क्षेत्र के मदिरो के शिखर दिखायी दिये। एक प्रकार से वह शिखर परिषद का ही दृश्य था। पुनः मूर्ति–मूर्तिपूजा आदि को लेकर चर्चा छिड गयी। जैनदर्शन को आदर्शवाद को, पूज्य पूजक, पूजा पूजाफल आदि विषय को प. जी ने खूबी के साथ रक्खा। जैनी पूजा में लेने देने का कोई मतलब नही। जैनी पूजा यह गुणपूजा होती है। आत्मा को ही परमात्मा होना है यह खान सा. के लिए बिलकुल ही नयी बात थी। सुनकर वे खुश हुए। उसी खुशी मे उन्होने शेर सुनाया।

आदम ! खुदा मत कहो। आदम है। खुदा है नही।
लेकिन खुदा के नूर से आदम जुदा है नही।

६. जो भी हो सहज हो, प्रामाणिकता से हो; और मर्यादा में हो

मुक्तागिरिजी में मानस्तभ की प्रतिष्ठा थी। प जी का व्याख्यान हुआ। दान की सहज महिमा गायी। दान में महिलाओ द्वारा थाली मे आभूषण भी आये। एक रत्नजडित नथ भी आयी। सारी संकलित दान वस्तु जब पं. जी ने देखी, उस में उस नथ को देखकर वे आश्चर्यचकित हो गये। वह स्वय प्रतिष्ठाकारक श्रीमान् सेठ नथ्थूसाहजी की पत्नी द्वारा ही डाली गयी थी। जिस के मूल्य को स्वयं माँजी को भी कल्पना नही थी। होगी लाख पचास हजार की। यह भावना प्रधान हृदय की ज्यादती थी। जो हुआ उस की कल्पना स्वय सेठ सा. को भी नही थी। प. जी ने तत्काल उसे सेठ सा. को पहुचा दी। भावुकता में मर्यादा को लाघ कर कोई घटना प जी को स्वीकार न थी। प्रामाणिकता से जो भी कम ज्यादह बन जाना उस मे सदा सतोषी रहना यह अन्तश्चर प्राण था प. जी का।

७. दो प्रहर को प्रामाणिक मित्र और रात्रि में आज्ञाधारक सहयोगी

सन १९३४ की घटना है। कारजा सस्था के लिये कोल्हापुर सागली की ओर डेप्युटेशन घूम रहा था। महाराजजी के साथ प. जी भी थे। न्यायमूर्ति रावसाहब मोहनलालजी दोशी भी थे। क्षु समन्तभद्रजी महाराज का आतरिक मूक भाव दक्षिण प्रात मे बाहुबली जैसे क्षेत्र पर सस्था को शाखा खोलने का था। इसी भाव से स्थान का निरीक्षण भी करना था। 'कारजा से इतनी दूर नयी सस्था को खोलने का विकल्प प. जी को अनुकूल नही होगा', इसकी महाराज को पूर्ण कल्पना थी। इसलिये क्षेत्र के दर्शनार्थ चलने के लिये अनेकवार प्रेरणा कर ने पर भी पं. जी इन्कार ही करते रहे। यदि इस प्रान्त मे सस्था खुलती है तो कारजा को प्राप्त होनेवाले क्षुल्लकजी के योगदान मे नियम से विभाजन होना स्पष्ट था। इसी आशंका से दिन भर इन्कार ही करते रहे। न्यायमूर्ति दोशी जी को आश्चर्य हुआ कि ऐसे विरोधक व्यक्ति को महाराजजी ने साथ कैसे लाया ! परन्तु रात्री के प्रवचन मे मुख्यतया "इस प्रान्त मे गुरुकुल खोलने के लिये प्रेरणा करनी है" ऐसा क्षु. जी का सकेत होते ही पं जी ने प्रवचन में गुरुकुल के लिये अत्यंत प्रभावक रूप मे प्रेरणा की। न्यायमूर्ति को इस परिवर्तित दृष्टि का अत्यधिक कुतूहल हुआ। उन्होने प. जी से पूछा– 'प जी ! यह क्या चमत्कार है ? दिनभर विरोध ही विरोध किया और प्रवचन मे प्रेरणा कर दी !" प. जी बोले– दिन मे महाराजजी मित्र के नाते सलाह पूछते थे सो मित्र के नाते दिल की बात कहता रहा और इन्कार भी करता रहा। परन्तु जब आज्ञा ही हुई कि गुरुकुल खोलना ही है तो आज्ञाधारक सहयोगी के नाते प्रामाणिकता से आज्ञा को पालना की (इस घटना को स्वयम् न्यायमूर्तिजी ने भक्ति भाव से ३–४ बार कहा)

८. विलक्षण जिज्ञासा और विचक्षण पूर्ति

ललितपुर मे पू. आचार्य महाराज विराजमान थे। पं. जी भी योगायोग से पहुंचे। परिचय तो पूरा अच्छा था ही। दर्शन के अनन्तर प जी बोले–

" महाराजजी एक जिज्ञासा है, पूछू ! "
आचार्य श्री– पूछिये ना पंडितजी !

पं. जी– महाराजजी ! हमारे मूलगुण आठ हैं, जिनकी हमें जानकारी है। आप के मूलगुण अठ्ठाईस हैं उसकी जानकारी आपको भी है। हमारे उत्तरगुण बारह हैं, उसकी जानकारी हमे है, पर महाराज ! आप के उत्तर गुण चौरासी लाख है उसका चिन्तन और हिसाब आप के द्वारा कब और कैसे लगाया जाता है !

इसपर महाराजजी खूब हंसे और बोले– " पंडितजी, आप हमारी परीक्षा कर रहे हो ! !
पं. जी– नही महाराज ! यह तो मेरी वर्षों की जिज्ञासा है !

आचार्य श्री– इसका उत्तर दोपहर को सामायिक के बाद देंगे। दोपहर को पुनः पंडितजी पहुंचे। उत्तर क्या एक तरह से अमृतवर्षा ही थी।

आचार्य श्री– प. जी " आत्मा जब आत्मस्वरूप मे एकाग्रता को प्राप्त होता है उस समय ८४ लाख क्या चौरासी करोड भी उत्तर गुण होते तो पूरा सच्चा हिसाब आप ही आप बैठ जाता है, उस के लिए कागज–कलम या स्याही की कोई जरूरत नही रहती ! "

इस घटना को सुनाते हुये पंडितजी बोले, " मेरा दिल भर गया। अत्यंत प्रसन्नता हुई। अनुभव की बात कुछ और ही होती है इसका साक्षात्कार हुआ।

९. पण्डितजी का समझाने का एक तरीका

पू आचार्य श्री १०८ शांतिसागरजी कवळाणा (जि. नासिक) में विराजमान थे। दर्शन के लिए पंडितजी सपत्नीक पहुंचे। वहींपर उत्तर भारत के एक परिचित सज्जन भी पहुचे। चर्चा वार्ता में उन्होंने पं. जी से शिकायत की – वे बोले पं जी ! ये ऐसे कैसे मुनी और आचार्य ? इन के साथ तो गाडी और चक्की भी चलती है ! घुमाव के साथ कुछ बातें होनेपर पं. जी बोले, बाबूजी ! मुझे महा. को आहार देना है। योग है आप भी खडे हो जाईये। फिर कब मौका आवेगा !

सज्जन– यह शूद्रजल त्याग हम से कैसे बनेगा !
पं. जी– बन जावेगा, क्यो नही ? चलो– महाराजजी से नियम दिलवा देते।
सज्जन– प. जी हमें घूमने पडता। बम्बई, देहली, कलकत्ता, मद्रास जाने पडता, बिना चाय चलता नहीं
पं. जी– चल जावेगा ? क्यो नही ?
सज्जन– प. जी पंचम काल है और आदत से लाचार हूं !

पं. जी– (गरम आवाज में) बाबूजी ? तो आप के लिए पंचमकाल है और क्या इन साधुओं के लिए चौथा काल है ? फिर भी किसकी गाडी ? किसका चौका चक्की और किसकी चर्या ?

सज्जन– (अपने कान पकड के) माफ करना पं. जी ? सोचने में बहुत गलती हुई !

१०. दो रत्ती हलदी अमृतोपम सिद्ध हुई।

स्वयं मुझे प्रवास और यातायात में प्रायः जुखाम-सर्दी और खांसी का प्रकोप हो ही जाता था। कई दवाईयों का वर्षों उपचार किया गया परंतु बीमारी निर्मूल नहीं हुई। बहुत ही परेशान था। योगायोग की बात है। एक दिन सहज ही पंडितजी ने हिंदु रामायण की कथा कहते हुए दूध में हलदी सेवन करने की प्रेरणा की। तब से यदाकदा हलदी का सेवन करते रहने से मैं उस बीमारी से सदा के लिए मुक्त हो गया। वह दो रत्ती हलदी मेरे लिए अमृतोपम सिद्ध हुई। जो कथा कही वह इस प्रकार कही–

हनुमानजी प्रभु रामचंद्रजी के संकेत के अनुसार लंका पहुंचे। और अशोक बन में सीता माता के दर्शन कर पाये। उस समय सीता माता भय ग्रस्त होने से हलदी जैसी पीली पीली हो गयी थी। फिर भी हनुमानजी को उस समय उस अवस्था में जो आनंद हुआ और प्रसन्नता हुई उसका वर्णन करते हुए लिखा गया "प्रमेहे हरिद्रा यथा" अर्थात् प्रमेह से पीडित रोगी को हलदी देखकर जैसा सहज आनंद होता है वैसा हनुमानजी को हुआ। ऐसा वर्णन आया है। हलदी सेवन से मैं अत्यत उपकृत रहा।

११. भेदा गया चक्रव्यूह

१९३३ नवम्बर की ता. ९-१० को व्यावर (राजस्थान) मे शास्त्री परिषद का अधिवेशन था। प. पू. आचार्य शांतिसागरजी (दक्षिण) तथा आ. शांतिसागरजी (छाणी) दोनो श्रमणसंघ का चौमासा भी था। इसी समय भा. दि. जैन महासभा का भी अधिवेशन था। शास्त्री परिषद के सभापति थे सेठ रावजी सखाराम दोशीजी थे। दोशीजी का लिखित व्याख्यान जैनबोधक में बाद में प्रकाशित हुआ है। इसी समय 'अंतर्जातीय विवाह शास्त्रानुकूल नहीं है वह शास्त्रविरुद्ध है' इस प्रकार की मान्यता कुछ विद्वानो द्वारा प्रस्तावित हुई। इस अधिवेशन में शास्त्री परिषद के प्रस्ताव द्वारा उस मान्यताको सर्वानुमति से सिक्का प्राप्त करने की पूर्वनियोजित योजना थी। पू. आचार्य श्री के आज्ञा द्वारा मनवाने का एक प्रकार से चक्रव्यूह ही रचा गया। श्री प. देवकीनंदन जी को कारंजा से बुलाया गया। अंतर्जातीय विवाह शास्त्र के विरुद्ध नही है वह शास्त्र सिद्ध होता हैं ऐसा प जी का वर्षों के अध्ययन से बना हुआ अभिमत था। परतु वे इस के प्रचारक नही रहे। पूर्व में स्व पंडित धन्नालालजी के साथ एक चर्चावार्ता में इसी विषय को लेकर थोडी गरमा गरमी भी हुई और प धन्नालालजी ने देवकीनंदनजी को दबाने के उद्देश्य से आक्षेप किया कि, "देवकीनंदन! तुम आज कल बहुत मुह चला रहे हो!" जिस पर पं. देवकीनंदनजी ने तडाक से उत्तर दिया कि पं. जी! जब किसी की जबरदस्ती से नाक बद कर दी जाती उस समय निसर्ग से मुंह खोलना ही पडता है।"[१]

व्यावर का प्रसंग बहुत जटिल था। श्री पं. मक्खनलालजी आदि विद्वान् अंतर्जातीय विवाह के विरोध में थे। स्व. रावजीभाई को अध्यक्ष बनाकर और पू. आचार्य श्री को इस विषय के निर्णय के लिए घसीटा जा रहा था। पं. जी के सम्मुख 'इतो वापी इतस्तरः।' ऐसा जटिल द्वंद्व खडा था।

ता. ९ को रात्री की सब्जेक्ट कमेटी का आँखो देखा दर्दनाक दृश्य आज भी हृत्पटल पर अंकित है। पं. जी को दबाने की पूरी चेष्टा हो रही थी और विचार परिवर्तन के लिए बाध्य किया जा रहा था। पं. जी ने खडे होकर अपना मन्तव्य पुनः स्पष्ट किया। 'मै अंतर्जातीय विवाह का पक्षधर जरूर हूं। वह शास्त्राधार से अवश्य सिद्ध होता है फिर भी मैं इसका प्रचारक न था, न हूं! आज भी विदर्भ मे गगेरवाल बघेरे आदि कई दि जैन जातियो के घर १००/२०० के करीब है, जिनका, खाना, पीना भाषा चालचलन एक सी है। यदि उन साधर्मी बधुओं का परस्पर मे बिवाह हो जाता है तो सगोत्र विवाह की अपेक्षा वह कई गुना अच्छा होगा और वे जैन जातियां अधिक वर्षों तक जैन रूप में बनी रहेगी" आदि

इस पर भी प्रतिपक्षी एक विद्वान ने अपने जोश भरे वक्तव्य में यहाँ तक कह दिया कि "यदि वे जातियाँ सौ वर्षों बाद मरती हैं तो आज उन्हें कुआँ में ढकेल कर ऊपर से पत्थर डाल देना ठीक होगा। इ. इ"

होश से परे इन वाक्यों को सुनकर पं. जी टेंट छोडकर बाहर की ओर जा ही रहे थे, सो पं. बंशीधरजी (सोलापुर) ने हाथ पकडकर आग्रहपूर्वक अपने पास बिठा लिया।

१. इस घटना का उल्लेख पं. श्री फूलचंदजी की स्मृति में आया ही है।

इसी समय एक भाईने व्यक्तिगत आक्षेप में यह कह दिया कि "आप लोगों को स्कॉलशिप का प्रबंध करके जो पढाया गया, क्या इसीलिए पढाया गया ! " यह व्यक्तिगत आक्षेप था । व्यक्तित्व के ऊपर छींटा कसी थी । जो किसी भी स्वाभिमानी व्यक्तित्व को सह्य नहीं थी । सिंह की मूछ उखाडने की चेष्टा थी । पं. जी का बुदेलखंड क्षत्रियत्व जागृत हुआ और होश और जोशपूर्ण ५ मिनिट का वक्तव्य हुआ । हमारे शिक्षा के लिए माहवारी ७ साल रुपयों के शिष्यवृत्ती का जो प्रबंध हुआ वह पात्र समझकर दान दिया है । सत्पात्र बनकर हमने लिया है । समाज की लाख गुनी सेवा कर के वापीस लौटाया है । पू. गोपालदासजी का शिष्य यह सह नहीं सकता । यदि टुकडे डालने की भावना से वह दान दिया गया हो तो वह दान नही, देनेवाला दाता नही, लेनेवाला पात्र टुकडे खानेवाले से समाजसेवा बन नही सकती । मित्रो, ऐसे जीते जी गोपालदासजी का शिष्य यह सह नहीं सकता, कहकर पं. जी ने टेंट छोडा सो छोडा । संस्था पं. जी को सेवामुक्त करे इस प्रकार की भी चेष्टा की गयी, दबाव लाया गया । पं. जी को भविष्य का अदाजा था । उन्होने पू स्व. कंकुमौसी को पूछ लिया था । क्या इस विषय को लेकर मुझे सेवामुक्त किया जायेगा । मौसीजी ने और सभी ने पूरा आश्वस्त किया था पं. जी विकल्प मुक्त थे । महद आश्चर्य इस बात का होता है कि स्वयं अध्यक्ष महोदयजी ने पं जी को १-१।। वर्ष के अंतराल से सोलापुर बुलाया और शाल श्री फल से सत्कार की योजना की । पं जी ने जैसी पद्धती रही श्री फल मात्र लिया ।

ता. ९-१० को इस विषय को लेकर आमसभा में शास्त्रार्थ हो इस प्रकार का भरसक प्रयास प्रतिपक्षियो ने किया । प. श्री अजितकुमारजी शास्त्री, पं. शोभाचंदजी भारिल आदि विद्वानों ने पं जी को शास्त्रार्थ मे पूरा सहयोग देने की भी तय्यारी कर ली पं. जी ने आत्म विश्वासपूर्ण शब्दों से कहा, "मुझे और शास्त्रों के प्रमाणो की कोई आवश्यकता नही । मेरा सागारधर्मामृत मात्र इस के लिए काफी है" स्वयं पू. आचार्य श्री को सचेत किया "महाराज ! मुझे शास्त्रार्थ के लिए सभा मे खडा मत कीजिए । सभा जीतना मेरे बाँएँ हाथ का खेल है । दो दिन तक पूरा प्रयत्न कर के शास्त्रार्थ टाला ही गया । चर्चा मात्र में वह गर्मी पूरी बह गयी ।

भाग्य वश्यं भवेदेव । होनहार होती ही है । आगे क्या होनेवाला है इस का पं. जी के दृष्टिने पूरा अदाज लगा लिया था । आश्चर्य की घटना है । स्वयं सभापति दोशीजी के विचारशील पुरुषार्थी सुपुत्र श्री अरविंदभाई का अतर्जातीय विवाह हुआ । और शास्त्रार्थ के लिए अगुआ बनाये गये पं. जी के सुपुत्र का विजातीय विवाह सपन्न हुआ । अंतर्जातीय विवाह के लिये समय का पूरा साथ रहा । समय बराबर ईमानदारी से साथ दे ही रहा है । जैनबोधक में इन्ही शब्दोद्वारा प्रकाशन भी हुआ है । पं. जी सिद्धांतशास्त्री तो थे ही पर द्रष्टा समाजशास्त्री भी यह अच्छी तरह सिद्ध हो गया । यह पूरा चक्रव्यूह अभिमन्यू की तरह चतुराई से भेदा गया । पं. जी बालबाल बचकर सकुशल बाहिर आ गये ।

१२. गुण ना हिरानो गुण गाहक हिरानो हं !

गुण उतने दुर्लभ नही होते जितने गुणो कें ग्राहक दुर्लभ होते हैं । इस अर्थ मे पं. जी के मुख से ऊपर का वाक्य कईबार सुना । पं. जी स्वयं गुणसम्पन्न तो थे ही । साथ ही साथ गुणों के अच्छे कद्रदां भी थे । इसी कारण पं जी की लोकप्रियता तथा लोकपूज्यता भी अन्त तक बराबर बनी रही । घटना १९४० की थी ।

प्रकृति स्वास्थ्य के लिये चिकित्सा हेतु अमरावती डॉ. सोमण की ओर कई बार पं. जी के साथ जाना पडा । एक बार मध्य रात्री को दे. भक्त सिंघई पन्नालालजी के घर पहुंचने पर दरबान ने दरवाजा खोला । हम दोनो के लिये सोने का पूरा प्रबन्ध दुकान की देहलान मे हो गया । चद्दर ओढ के मुंह ढक लिया, परन्तु नीद आयी ही नही डेढ घण्टे के बाद चद्दर में से ही दृश्य देख रहा था-

सिंघईजी उठे, उन्हों ने स्वयं अपने ही हाथों से अपनी गद्दी उठायी, उसे नीचे बिछाया, खटिया उठाकर बाजू कर दी और नीचे ही हम लोगों के साथ ही सो गये । ऐसा क्यों किया गया होगा इस का निर्णय सुबह तक

में कर नहीं पाया। मुझे पूरा मालूम था सिंघईजी के घर के छोटे बडे सब ही काम नौकरों के द्वारा करवाये जाने की पद्धति थी। रात्री का आँखो देखा दृश्य पं. जी से कहा। पं. जी ने सिंघईजी से पूछने-पर सिंघईजी बोले -प जी ! जब तक मै नीद में था तब तक बराबर खटिया पर ही था। परन्तु जब मैने देखा, मेरे ही घर आये अतिथी नीचे सो गये हैं, तो मुझे ऊपर सोना ठीक नहींलगा। केवल इसीलिये खटिया अलग की, बिछाना नीचे बिछाकर सो गया। इस में कौनसी बडी बात थी।

-पं जी का सिंघईजी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। अटूट मित्रता भी थी। सिंघईजी की मानवता की श्रेणी ऊँची थी। इसी प्रसंग को लेकर सिंघईजी के विषय मे कई आश्वर्यकारक घटनाएँ पं जीसे सुनने को मिली। जब तक ऋणका बोझा सिर पर था, तब तक वर्षों सिंघईजी ने सिर पर छत्ता नही लिया। चढी धूप और भारी बरसात मे दुप्पटा मात्र से काम लिया और पाँव में जूते तक नही पहने। घर पर आये गरीब अमीर सब को साथ मे लेकर भोजन करने की उन की पद्धती रही। सिंघईजी को इस युग के हरिश्चंद्रही समझना होगा। इसी अवसर पर पं. जी ने क्षत्रचूडामणी का वाक्य सुनाया-

प्रत्यक्षेच परोक्षे च सन्तो हि समवृत्तिकाः। सज्जनों का सारा व्यवहार आगे पीछे एक सरिखा ही होता है।

१३. एक शुभ संकेत

श्री पंडिता ब्रह्म. सुमतिबेन (सोलापुर) और सहपाठी श्री प जमनाबेन तीर्थ परीक्षा के अनंतर कारंजा पहुंचे। सत्कार सभा मे श्री. पं. जी का मौलिक मार्गदर्शन हुआ। आप ने एक महत्वपूर्ण बात कही। 'यदि किसी और के गिराने से गिरना न हो तो किसी के चढाये चढना भी नही। हर एक व्यक्ति को अपना होश स्वय ही सभालना होता है।

१४. संस्था कब और कैसी खडी होती है।

इसी सभा में पं. जी ने "संस्था" शब्द की सारगर्भित अश्रुतपूर्व व्याख्या करते हुए कहा कि, संस्कृत भाषा मे "सम्" यह उपसर्ग जिस किसी भी धातू के पीछे लगाने से उसका अर्थ अच्छा ही होता है। परंतु केवल 'स्था' धातू के प्रारंभ में लगाने से उसका "मरण" होता है। 'संस्था' कहो या 'सस्थान' कहो सुसूत्र सचालन के लिए कार्यकर्ता को अप ने कषायो का, विकारो का, समय तथा परिश्रम का, होम करना ही होता है। तब कही संस्था खडी होती है। इस आशय का विनोद गर्भित वक्तव्य हुआ।

१५. वक्त और लेखक के लिए नई दिशा

विद्यार्थियो को परीक्षा में निबध लिखते समय या सभा मे व्याख्यान देते समय प्रस्तुत विषय को सांगोपाग अभिव्यक्ति करना कठिन होता है। मुद्दे (Points) सूझते नही। क्रमभंग होता है। निबध या व्याख्यान यद्वा तद्वा हो जाता है। इस पर उपाय पूछने पर पं. जीने तत्त्वार्थ सूत्र मे आये 'निर्देश स्वामित्व-साधन आदि षड अनुयोगो के आधार से एक बार सभा मे प्रस्तुत विषय पर बिंदुवार (To the points) व्याख्यान देकर आश्चर्य चकित कर दिया।

भीसीकर, जगो ! पंक्ति लग गई

श्री. पं. ब्र. माणिकचंदजी भीसीकर
न्यायतीर्थ, एम्. ए.
संचालक श्री. बाहुबली विद्यापीठ

दृष्टि सम्पन्न, ज्ञानी व शिष्य के प्रति आस्था रखनेवाले गुरु से सीखने को मिलना यह एक महान् भाग्य योग ही कहना चाहिए । ऐसा दुर्लभ भाग्य प्रारभ से ही हमे प्राप्त हुआ । इसीलिये अध्ययन काल में हमें अनोखा आनद मिला ।

लौकिक विद्या की अपेक्षा धर्माध्ययन का यह भाग्ययोग पाँचवी कक्षा से ही हमे प्राप्त हुआ । उन दिनों की याद से आज भी मन प्रसन्न हो जाता है । पाचवी कक्षा से पढने के लिये और रहने के लिये महावीर ब्रह्मचर्याश्रम मे आया । चारो बड भाई वही पढे थे और पढते भी थे । प्रारभ मे श्रद्धेय श्री. प्रद्युम्नसावजी काका सिद्धात प्रवेशिका पढाते थे । तथा द्रव्यसग्रह, रत्नकरड, तत्वार्थसूत्र, सागारधर्मामृत, गोम्मटसार आदि ग्रंथ कभी प. पूज्य गुरुदेव उस समय के श्री देवचंद काका तो कभी पू गुरुवर्य पडित देवकीनदनजी अथवा तात्याजी माणिकचद्रजी चवरे पढाते थे । मॅट्रिक के बाद कॉलेज में जाने के पहले एक वर्ष संस्था के लिये सेवायोग देने की प्रथा हम लोगो से ही शुरु हुई । सर्वार्थसिद्धि आदि उच्च ग्रंथों के अध्ययन के कारण और न्याय विषय के भी अभ्यास के लिये हमारी कक्षा एक वर्ष विलंब से मॅट्रिक में बैठी । यह प्रेरणा बंधुवर माणिकचंदजी चवरे तात्याजी से मिली । मॅट्रिक होने तक उनके ही सान्निध्य में न्यायप्रथमा व मध्यमा एक साल में ही पूर्ण करने का सुयोग प्राप्त हुआ । उसके बाद न्यायतीर्थ वह र्त सरे वर्ष की उपाधि परीक्षा थी । बधुवर तात्याजी यह परीक्षा उसी समय उत्तीर्ण हुये थे । प. देवकीनदनजी के प्रथम न्यायतीर्थ छात्र थे । उन से प्रेरणा पाकर हम ने भी मॅट्रिक के बाद इसी विषय का अभ्यास करने का निश्चय किया । उसके लिये "प्रमेयकमल मार्तण्ड" और 'अष्ट सहस्री' इन दो ग्रंथो का अध्ययन आवश्यक था । और उत्तर पत्रिका का सस्कृत भाषा में ही लिखना आवश्यक था । इस के साथ ही एक मौखिक परीक्षा भी सस्कृत माध्यम से ही होती थी ।

शुरु से ही संस्कृत हमारा प्रिय विषय होने से उस से हमें भय नही था । प्रश्न था उपरोक्त दो ग्रंथों का हमे ज्ञान होगा या नही और एक साल मे वे पूर्ण होगे या नही ? गुरुवर्य पंडितजी ने उत्साह दिया । प. पू गुरुदेव का तो अनुग्रह था ही । श्रुतपंचमी के शुभ मुहूर्त पर अध्ययन का प्रारम्भ हुआ । हर दिन पंडितजी और तात्याजी यथासंभव समय देते थे । दिन में पढना और रात्रि में गुनना और टिप्पणी लिखकर रखना यह क्रम शुरु हुआ । जैसे जैसे विषय मे रस आने लगा वैसे वैसे विषय में मन अधिक रमने लगा । पं. जी भी मुक्त मन से पढाने में

अधिक रस लेने लगे। कभी एकाध पंक्ति ठीक से नही लगी। या आचार्यों के विवेचन का पूरा स्पष्ट आशय ध्यान मे नही आया तो वह विषय वही छोड देते थे और थोडा समय हमे भी विश्राम लेने के लिये कहते थे।

एक दिन एक पंक्ति ठीक से न लगने के कारण उन्हों ने कहा, 'कल देखेंगे'। और वे घर गये। हम भी रात के दस बजे सो गये। रात के करीब दो ढाई बजे पंडितजीने हमारे कमरे के पास आकर दरवाजा खटखटाया। हम ने दरवाजा खोला। देखा तो सामने पू. पं जी खडे थे। वे अत्यधिक आनंदित थे। अंदर आकर ग्रंथ खोलने के लिये कहा। और ठीक से न लगी पंक्ति का अर्थ विशद करते हुए कहने लगे, 'देखो इस का यह अर्थ है। आचार्य का आशय यह है।' मैंने कहा, प. जी इतनी आधी रात में आने का कष्ट क्यों किया? कल दिन मे आकर कहते। उस पर प्रसन्नता से हँसते हुये पं. जी बोले, "अरे भाई! **पंक्ति लगने का आनंद अधिक था आने का कष्ट अधिक? सोते सोते पंक्ति के अर्थ पर विचार करता रहा। बहुत देर तक तो नींद भी नहीं आई। रात में यकायक नींद खुली और पंक्ति लगी। हृदय में आनंद नहीं समाया। रात में ही कब कह दूं यह भाव उठा। और आकर तुम्हे जगाया। अब जाकर थोडी देर सोता हूं। तुम भी विश्राम करो।**"

यह थी पंडितजी की अध्यापन के प्रति लगन और आस्था, शिष्यों के लिये कष्ट सहन करने की अनुग्रह-पूर्ण बुद्धि। कौन लेता है इतने परिश्रम? ऐसे गुरु के पास अध्ययन करते समय मन मे इतनी प्रसन्नता होती थी कि जिसे शब्दों मे वर्णन नही कर सकते। यह भाग्य मेरे समान कई शिष्यो को प्राप्त हुआ। ऐसा स्नेह और अपनत्व आज दुर्लभ है।

इस अध्ययन काल में उन के साथ अनेक बार प्रवास करने का सुयोग मिला। संपूर्ण मई महिना सर सेठ हुकुमचंदजी के प्रेमपूर्ण आग्रह पर वे इंदौर जाते थे। एक बार वे हमे भी अपने साथ ले गये। वहाँ विद्वानों की सूक्ष्म तत्वचर्चा, ऊहापोह, शंका समाधान सुनकर जिनवाणी का रहस्य अधिकाधिक जान लेने की प्रेरणा हुई। और ऐसा अनुभव होता था कि इस के लिये सारे जीवन के प्रयास भी अधूरे ही रहेंगे। उस समय पंडितजी की विषयान्तर्गत व्युत्पन्नता, ज्ञान की तलस्पर्शिता, अनुभव की व्यापकता का सहज ही अनुभव हुआ। और उन के प्रति आदर भाव शतगुणित हुआ। सर सेठ तो उन के भावस्पर्शी प्रतिपादन शैलीपर निहायत खुश थे।

न्यायतीर्थ की परीक्षा के लिए हम ने इंदौर ही केन्द्र चुना था। उसी समय पं. बंशीधरजी, पं. जीवंधरजी आदि विद्वानों से भी परिचय हुआ। ये सब कारंजा गुरुकुल, प. पू गुरुदेव और और पं देवकीनंदनजी का विशेष आदर करते थे। प्रतिवर्ष पर्यूषण पर्व के लिये पंडितजी को दूर दूर से आमंत्रण आते थे। उस समय उन के प्रवचनों का हमे लाभ नही मिल पाया; फिर भी अन्य काल मे विशेषतः चातुर्मास की प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी के दिन उन के प्रवचन तथा एकैक श्लोक का अर्थ व रहस्यपूर्ण भाष्य सुनने को मिलता था। उस से उन का धर्म तत्वों का गहन चिंतन व उसका जीवन पर होनेवाला सुखद प्रभाव देखकर चित्त अतिशय प्रसन्न होता था। संध्या भ्रमण के समय या घर के सामने के प्रांगण मे बैठके रंग लाती थी। उस समय अपने जीवन के अथवा प्रवास के अनेक मीठे कडुवे अनुभव वे बताते थे। मुख्याध्यापक श्री. गोसावी गुरुजी भी उस में भाग लेते थे। दोनों मुक्त मन से विनोदपूर्ण चर्चा करते थे। उस से जो व्यापक जानकारी और अनुभव मिलता था। उस का अवर्णनीय आनंद किताबी ज्ञानप्राप्ति से कुछ निराला ही था। हम लोग ऐसे प्रसंगो को न सहसा टालते थे, न भूलते थे।

आगे महाविद्यालयीन पढाई के लिये वाराणसी को जाने का अवसर मिला तो अच्छा होगा ऐसा विचार था। कॉलेज की पढाई के साथ ही स्याद्वाद महाविद्यालय मे रहकर उच्च धर्माध्ययन करने की दृष्टि थी। परंतु वह योग नही था। इस सम्बध मे जब पंडितजी से सलाह पूछी तो वे कहने लगे "जिस प्रदेश में आगे काम करना है। उसी प्रदेश मे रहकर उच्च अध्ययन के साथ ही समाज प्रमुखों से परिचय करना अधिक श्रेयस्कर

होगा। और उस का उपयोग भी अधिक होगा। " इसी विचार से अन्त में नागपुर को ही जाकर पढने का निश्चय किया।

इस कालखंड में भी छुट्टियों के दिन कारंजा आश्रम में ही व्यतीत होते थे। इस से प. पू. गुरुदेव श्रद्धेय प्रद्युम्न काका और पं. जी इन ज्ञाननिधियों के सान्निध्य का लाभ मिलता था। इन्हीं दिनों में अमरावती में षट्खंडागम की धवल टीका ग्रथ का सम्पादन-प्रकाशन डॉ. हीरालालजी जैन के नेतृत्व में चल रहा था। पं. फूलचद्रजी सिद्धान्त शास्त्री उस निमित्त से आश्रम में पंडित देवकीनंदनजी से मिलने आते रहते थे। सम्पादन समिति में यह सब विद्वान मंडली थी। उन की ग्रंथ से सम्बन्धित सूक्ष्म चर्चा सुनने का योग भी कभी कभी मिलता था। उस समय इस ग्रन्थराज का अवलोकन-अध्ययन करने की जिज्ञासा हुई।

सोलापुर गुरुकुल कार्यवश आने के बाद गुरुवर्य पं. जी का सान्निध्य कठिन हो गया। और वे इंदौर जाने के बाद तो अशक्य हो गया। सागारधर्मामृत और क्षत्रचूडामणि ये दो ग्रंथ पं. जी के अत्यधिक प्रिय थे। व्याख्यान और प्रवचन के माध्यम से इस के एक एक श्लोक पर घंटा डेढ घंटा रसपूर्ण और सुश्राव्य विवेचन वे करते थे। अध्ययन काल मे उन ग्रथो के जीवनोपयोगी श्लोक तथा उन के आशय की गंभीरता समझ में नहीं आई थी। लेकिन बढती आयु के साथ पंडितजी के मुख से वह सुनकर उस का अविस्मरणीय प्रभाव अन्तःकरण पर पडा। विशेषतः सागारधर्मामृत ग्रंथ के प्रथम व अंतिम अध्याय के कुछ श्लोको पर उन का विवेचन आज भी चालीस वर्षों के बाद भी स्मरण मे आतेही हृदय गद्गद् हो जाता है।

अपने शिष्य के प्रति आस्था रखनेवाले इस महान् विद्वान गुरु के पास अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ और उन के व्यापक अनुभव का लाभ प्राप्त हुआ यह मै अपना बडा भाग्य ही समझता हूं। उन की पावन स्मृति को कृतज्ञता पूर्वक अभिवादन करता हूं।

प्रज्ञापुञ्ज पंडितजी की परमकृपा

श्री पं धन्यकुमारजी मोरे
बी. ए. एल्.एल्. बी.
कारंजा

श्री श्रद्धेय पं. देवकीनंदजी कारंजा आने के बाद १९२४ मे मेरा जन्म हुआ। और जब मैं अमरावती में बी ए का छात्र था तब १९४५-४६ मे पंडितजी कारंजा से इंदौर गए। इस से मुझे प जी का परिचय एव उन का सहवास बचपन मे तथा छात्रावस्था में ही हुआ। और आज भी वह पूरा स्मृतिमे है, उसे भुलाया नही जा सकता।

मेरी प्राथमिक कक्षा से लेकर मॅट्रिक तक की पढाई कारंजा मे ही हुई। और स्व प्रद्युम्नसावजी (नानाजी) के यहा ही मै रहता था। आद प. जी को कारजा लाने मे, उन के मानधन की व्यवस्था करने में, तथा सस्था के (म ब्र. आश्रम) कार्यकलापोसे नानाजी अभिन्नता से जुडे होने के कारण बचपन मे ही उन के दर्शनका योग मेरे भाग्य मे था।

कभी पं. जी घर आते थे, कभी मैं माता तथा नानाजी के साथ अभिषेक पूजा के लिये आश्रम में जाता था तब अवश्य उन के पाँव पडता था। उन के सामने णमोकार मत्र भी पढता था, और चोवीस भगवान के नाम कहता था। कभी कभी उन के प्रवचन भी सुन लेता था।

उस समय की दो यादे आज भी स्मरण मे है। हम माता पिता के साथ सभी भाई बहन चिखलदरा के जलवायु के कारण बीमार हो गये। दस पन्द्रह दिन चिखलदरा ठहरे थे। माता पिता और विजया एवं सरोज ये दो बहिने बहुत बीमार थी। उस समय प जी और गुल्लुसावजी ने इलाज बताये। उस से माँ पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गई। लेकिन छोटी बहन जी नही सकी। गुल्लूसाव वैद्य जन्मजात ऋद्धिप्राप्त वैद्य थे। पं जी को भी अच्छी अनुभव सिद्ध दवाईयाँ मालूम थी। वे उपयोगी सिद्ध हुई। उसी से हम बच गये।

एक समय पं जी अमरावती मे आये थे। वे भी अमरावती मे सि पन्नालालजी के यहां ही ठहरते थे। वहाँ सब परिचितो की बैठक जमी थी। बैठक मे एक परिचित नवयुवक कुछ उद्दड प्रकृति के आये थे, उन्होने कुछ चिढाने की भावना से ही प. जी से विनोद भरे शब्दा से कहा "पं जी समाज का कितना पैसा खर्च कराते हो ! क्या लाभ हुआ ?" जिसपर पं जी शाति से बोले "बेटा ! कितना पैसा खर्च किया होगा। सज्जन बोले किया होगा लाख दो लाख !" घुमाव के साथ प. जी बोले "सुन ? महाराज की पद्धति रही समाज द्वारा प्रदत्त मूलधन तो पूरा पाई पाई सुरक्षित है। केवल आमदनी मात्र का उपयोग होता है। वह लाख भी नही हुआ फिर

भी तेरे कहने से मान लेगे दो लाख उपयोग में लिया । समझ ले एक लाख रुपयों में महाराजजी महाराज बन गये और बंदा पंडित बन गया । क्या यह सौदा महंगा है ? " सुनते ही विकल्प करनेवाले भाई ने स्वयं अपने कान पकडे, प. जी के चरण छुए और क्षमा माँगी और खुले दिल से कहा, " प. जी माफ करना बडी गलती हुई । यह सौदा तो बिलकुल सस्ता है । "

बचपन से ही कथा अथवा पुराण पढने की अपेक्षा तात्विक एवं सिद्धांत विषय पढने की ओर लगाव होने के कारण मैं हिन्दी भाषा की पुस्तके पढता था । धीरे धीरे हिन्दी भाषा समझने लगा । पं. जी ने हमें सागारधर्मामृत, गोमट्टसार, जीवकाड, सर्वार्थसिद्धि, और पंचाध्यायी आदि ग्रथ पढाये । प्रतिष्ठा, संम्मेलन आदि कार्य से पं. जी साल मे ३-४ महिने बाहरगाव ही जाते थे । उस समय तात्याजी और नानाजी पढाते थे । सागारधर्मामृत तो प जी का अति प्रिय ग्रथ था । इस ग्रंथ का सामाजिक आशय पं. जी चतुराई से और कौशल्य से स्पष्ट करते थे । " न्यायोपात्त धनो ", " प्रतिष्ठा यात्रादि ", " जिन धर्म जगद्बंधु ।" आदि श्लोको को अत्यंत तन्मतया से पढाते थे । पढाने के समय वे स्वय को भी भूल जाते थे । सागारधर्मामृत पर पं. जी के प्रवचनो को सुनकर श्रोतृ-समुदाय मंत्रमुग्ध होता था । हमे भी प्रवचनो को सुनकर समय का भान ही नही रहता था ।

पं. जी की पढाने की शैली विलक्षण आकर्षक थी । ४०-४५ मिनटो में पहले १०-१५ मिनटो में ही विषय को समझाते थे । और बाद मे कथा- कहानियो के माध्यम से उसे अधिक स्पष्ट करते थे । पढाते समय मूल विषय का रहस्य तो समझाते ही थे और साथ-साथ कथाओ के माध्यम से मानवी मनोव्यापार का सूक्ष्म विश्लेषण भी प्रगट होता था । सच तो यह था कि पडितजी का पाठ एक बौद्धिक मीठी दावत ही होती थी ।

पू प. जी एक बार बाहरगाव गये थे । सागारधर्मामृत के श्लोक याद न करने के कारण नानाजी ने मुझे दंड दिया । जिस से मैने उस कक्षा में जाना ही छोड दिया था । पं. जी आने के बाद भी मै एक दो दिन कक्षा में नही गया । जब प. जी ने मुझे देखा तो मेरी पीठपर हाथ रखकर, " चलो बेटा ! " कहते हुए वे मुझे घर की ओर ले गये । कक्षा छूटने के बाद पडितजी इसी तरह अनेक छात्रों को वात्सल्य भाव से कान पकडकर घर तक ले जाते थे और स्नेह से समझाते थे । पं. जी ने मुझ से पूछा, " बेटा, तू धर्म की कक्षा में दिखता नही । " मैने उन से सारी हकीकत बता दी । पं. जी कहने लगे " बेटा, तेरे नानाजी तेरी भलाई के लिए ही तो कहते हैं । तुझे विद्वान् बनाने के लिए ही तो उपदेश और शिक्षा देते हैं । क्या तू केवल उनकी जायजाद ही लेगा ? उन का धर्मज्ञान नही लेगा ? बोल, अब कक्षा मे आयेगा ? परीक्षा देगा या नही ? सागारधर्मामृत पूरा कंठस्थ करेगा या नही ? " पडितजी की यह स्नेहसिक्त वाणी सुनकर मै इतना प्रभावित हुआ कि मैंने अल्प समय में ही सागारधर्मामृत के सारे अध्याय कंठस्थ कर के पं जी और नानाजी को सुना दिये । जिसे सुनकर वे प्रसन्न हुए और मुझे शाबाशकी दी । मुझे भी धन्यताका अनुभव हुआ और वादीभसिंह सूरी की उक्ति याद आई ।

" मुखदानं हि मुख्याना लघूना अभिषेचनम् । "

हम लोग १९४१ मे मॅट्रिक परीक्षा मे बैठे । निकाल अभूतपूर्व था । सात मे से तीन प्रथम श्रेणी मे, दो द्वितीय श्रेणी मे, और एक तृतीय श्रेणी मे । मेरा तो मध्यप्रदेश बोर्ड में ८ वा नंबर आया । कारंजा के इतिहास में ऐसा परीक्षा फल पहली बार ही लगा । मेरा और मेरे सहपाठियो का धूमधाम से अभिनदन किया गया । उसी समय प जी ने मुझ से कहा, " बेटा ! और थोडा अधिक परिश्रम करता तो तुम्हारा क्या पहिला नबर नही आता ? " अभिनंदन के साथ साथ कर्तव्य का ज्ञान करानेवाली यह स्नेहपूर्ण प्रेरक चेतावनी भी पं. जी ने दी । अपनी गलतियोका ज्ञान करा के आगे बढने का उत्साह देनेवाली गुरुकी ममता अद्भुत थी ।

मॅट्रिक के बाद पूज्य महाराजजी ने मुझे सेवा के लिए गजपंथ जानेकी आज्ञा दी । मै भी जाने को तैयार था । लेकिन मेरे नानाजी ने मुझे जाने नही दिया । उसी समय प. जी ने मुझे समझाया । मैने उनका कहना

मानकर गजपंथ जानेका विचार छोड दिया। उस समय पं. जी ने सेवा और सेवक के संबंध मे जो विचार व्यक्त किये, वे आज भी उतने ही उपयुक्त हैं, जितने उस समय थे। उन विचारों से ज्ञात होता है कि, पंडितजी को मनुष्य-स्वभाव की कितनी सूक्ष्म परख थी। और वर्तमान के द्वारा भविष्य का ठीक ठीक अंदाज लेने की उनकी कितनी उद्भट क्षमता थी तथा आश्रम के उज्ज्वल भविष्य की कितनी गहरी चिंता थी।

उस वर्ष पं. जी और नानाजी की तलस्पर्शी शिक्षा से तथा मार्गदर्शन से ही मै प्रवचनसार एव पंचाध्यायी का अध्ययन पूरा कर पाया। और जैन तत्वज्ञान का हार्द समझ पाया। यह उन दोनो महानुभावो का मुझपर बडा उपकार है। उन से पाया ज्ञानरूपी पाथेय जो आजतक बराबर बल देता रहा और प्राप्त मार्गदर्शन से भविष्य का पथ प्रशस्त हो रहा है। किसी भी विषय का तर्कशुद्ध अभ्यास करनेकी पद्धति एवं जैन तत्वज्ञान को पूर्वाग्रह छोडकर यथार्थ रूप मे हृदयंगम करने की आतरिक प्रेरणा यह महत्वपूर्ण देन पू. प. जी से मुझे मिली। यह उनका मुझपर महान् अनुग्रह ही है। जिसे मै अपने जीवन के अंतिम क्षणतक भूल नही सकता।

मध्यप्रदेश तीर्थों की वंदना करते हुए जब हम इंदौर पहुँचे तो वहाँ भाई सुमतिचंद्रजी द्वारा हमारी बहुत ही उत्तम व्यवस्था करवाई। हम लोग पडितजी से ऐसे मिले जैसे आत्मीय लोग एक दूसरे से मिलते हो। उस समय सहज भाव से पं. जी से पूछा, "पडितजी, यहाँ सब ठीक तो है ?" उन्होने कहा, "सब ठीक तो है, लेकिन इदौर कारजा नही है। गुणो का मूल्याकन और आदर महाराजश्री ही करना जानते है" यही अभिप्राय आदरणीय स्व. गोसावी गुरुजी ने भी सस्था तथा गुरुदेव के विषय मे व्यक्त किया था।

प्रज्ञापुंज पंडितजी ने अनेक सामाजिक सघर्ष मिटाये। पुराने और नये, सनातनी और सुधारक इन के बीच मे वे सेतुबध के रूप में हमेशा स्थिर एवं सावधान रहे।

सन १९५० मे पं. जी के स्वर्गवास का समाचार ही सुनने को मिला। वह दुखदायक समाचार सुनकर सर्वांग बधिर हुआ। ज्ञानामृत पिलानेवाले गुरुवर्य का स्नेहपूर्ण, ममता की थाप पीठपर मारनेवाला वह कोमल हस्तस्पर्श अब कभी भी मिलनेवाला नही। आज भी स्मरण होतेही लगता है कि वह स्पर्श से स्नेह से पीठ को ही थपथपा रहा है, ऐसे परम उपकारी महान् आत्मा को कृतज्ञता से मै शत शत बार सविनय वदना करता हूँ।

गुरुवर पंडित देवकीनंदनजी : एक संस्मरण

श्री डॉ. पद्मनाथ जैनी
एम् ए, पीएच. डी.
कॅलिफोर्निया

कारंजा स्थित आश्रम के विद्यार्थी जीवन में अनेक विद्वान महापुरुषो के सहवास का लाभ मिला। उन में श्रद्धेय काकाजी श्री पद्मनसावजी एवं श्रद्धेय पडितजी देवकीनंदनजी, इन दो स्वर्गीय व्यक्तियों की प्रतिमा सदैव आँखो के सामने रहती है।

आश्रम मे दी जानेवाली धार्मिक शिक्षा में आप दोनो का महत्वपूर्ण योगदान था। सावजीकाका से हमें कर्मठता, धर्माभिमान व कर्मसिद्धांत की शिक्षा मिली। काकाजी का व्यक्तिमत्व सूर्य के समान दीप्तिमान एवं तेजस्वी था, जबकि पडितजी का व्यक्तित्व चंद्रमा सरिखा सौम्य एवं उत्साहप्रद था। पंडितजी से हमने लोकव्यवहार वाक्पटुता सीखी, साथ ही पडितजीने हमे न्याय संबंधी कठिन ग्रथ भी पढाये। उन मे से अधिकांश भाग तो मै भूल गया हूँ, किंतु आपने उस वक्त जो कहानियाँ हमें सुनाई, वे आज भी मुझे याद है।

गुरुवर्य श्री पडितजी गोपालदासजी बरैय्या के प्रति आपकी भक्ति व गुरु का शिष्य के प्रति वात्सल्य भावो की कहानियाँ आप हमारे हृदय पर अंकित करते विद्यार्थियो पर भी आप का अपार प्रेम था एवं आप उदार मन से अनमोल अनुभव बडे उत्साह से हमें बताते। उस वक्त आप के चेहरे की आभा देख आप के प्रेम की सहज अनुभूति होती थी। गुरुकुल में हमें मुक्तहृदय से प्रेम एवं अनुभव पूर्ण ज्ञान मिला, इसी से जीवनी बनती है ऐसा कहना अनुचित नही होगा।

पंडितजी का परिवार बडा था, आर्थिक स्थिति भी सामान्य थी। इस संबंध में आप के जीवन की तुलना गुरुवर्य गोपालदासजी के जीवन से ही करना उचित होगा। ऐसी परिस्थिति मे विद्वान् पुरुषो को पग पग पर निराशा का और बैराग्य का अनुभव होता है। इस नियम को पूज्य पंडितजी भी अपवाद नहीं थे। इस सच्चाई का आभास मुझे उन के सानिध्य में कई बार हुआ। ऐसी ही एक घटना का स्मरण है :-

साधारणतः १९४२ के ठंड के दिन थे, विद्यालयीन शिक्षा समाप्त कर मैं एक वर्ष की सेवा के लिए कारंजा आश्रम मे था। गोम्मटसार, पंचाध्यायी व परीक्षामुख ऐसे ग्रंथ हम पंडीतजी के पास पढते थे, किंतु सब से

अधिक आकर्षण मुझे पंडितप्रवर बनारसीदासजी के हिंदी नाटक समयसार का था । इस ग्रंथ का अध्ययन उस वक्त रात मे परमपूज्य गुरुदेव के सहवास मे होता था । रात मे सामायिक के पश्चात् उनके छोटे से कमरे में चुने हुए लोगो के साथ चर्चा होती थी । श्री पद्मनकाकाजी, तात्याजी, बहन गजाबेन एवं विशिष्ट प्रसंग में पंडितजी भी उपस्थित रहते थे । पूजनीय गुरुदेव के कमरे मे दीया एवं अगरबत्ती लगाने का काम मेरा होने की वजह से मुझे भी चर्चा में उपस्थित रहने का सहज मे अधिकार मिल गया था । हिंदी समयसार नाटक के प्रासबद्ध सवैया व चौपाई पढकर आध्यात्मिक एव गूढ अर्थोपर मार्मिक चर्चा होती थी । क्षुल्लक अवस्था में होने से पूजनीय महाराज भी चर्चा मे सहभागी होते थे । "**नाटक सुनत हिय फाटक खुलत हैं**" । ऐसे कवि के वचन, उन मे चरित्रसंपन्न व्यक्तियो की जीवन कहानियाँ, इन काव्य-व्यंगो मे पंडितजी के मधुर प्रवचन-वाणी से हमें सिर्फ जैन संतो के ही नही अपितु भारतीय सतो के आध्यात्मिक जीवन का भी दर्शन होता था । कभी कबीर, कभी तुलसीदास, कभी गुरुनानक ऐसे विभिन्न सतो से वे हमे जैन धर्म की ओर लाते थे, फिर भगवान कुदकुद और कवि अमृतचद्र इनके वचनो का मर्म हमे समझाते । जिस रात का यह स्मरण है, उस रात समयसार नाटक के मोक्षद्वार इस भाग के ज्ञानी जीव के 'राम रसिकता' पर पंडितजी का प्रवचन चालू था एवं निम्न सवैया के एक-एक शब्द पर रसपूर्ण विवेचन करने में वे तन्मयता को प्राप्त थे ।

"धीर के धरैया भव नीर के तरैय्या भव भीर के हरैय्या वर वीर ज्यो उमहे है ।
मारके मरैय्या सुविचार के करैय्या सुख ढार के ढरैय्या गुण लोसो लहलहे हैं ।
रूप के रूझैय्या सब नय के समझैय्या सबही के लघु भैय्या सब के कुबोल सहे हैं ।
वाम के वमैय्या दुखदाम के दमैय्या ऐसे राम के रमैय्या नरज्ञानी जीव कहे हैं ।

चर्चा के अन्य विषयो का मुझे स्मरण नही किंतु तीसरी लाईन के "सबही के लघु भैय्या सब के कुबोल सहे है ।" इस पर पडितजी का विवेचन आज भी मेरे मस्तिष्क पर अकित है । पडितजी ने अपने एव गुरुवर्य गोपालदासजी के जीवन के विविध प्रसग बताकर गृहस्थाश्रम के ज्ञानी जीवो के अध्यात्म रसिकता के एव ससार मे समय समय पर होनेवाली आपत्तियों की परपरा का वर्णन इस शैली से किया जैसे प्रत्यक्ष पडितप्रवर बनारसीदासजी ही बोल रहे हो ऐसा लगता था । चर्चा मध्य रात तक चली । बाद मे पडितजी घर जाने के लिये उठे हम सभी उन के प्रवचन से प्रभावित थे एव दिल मे उन की धारावाही प्रवचन शैली की चर्चा करते उनके साथ कमरे से बाहर आये । मै लालटेन लेकर पंडितजी के साथ उन्हे घर तक पहुचाने गया, पडीतजी अपने ही विचारो मे खोये हुये थे । जिस प्रकार कवि को काव्य की मादकता टालते नही आती उसी प्रकार जन्मजात वक्ता को भी अपने धारावाही प्रवाह का मोह टालते नही आता । पडितजी भी स्वय अपनी ही प्रतिभा से मुग्ध हुये जान पडते थे । घर तक मैंने उन्हे पहुँचाया एवं बडे भक्तिभाव से मैने उन से इजाजत ली। पीछे मुडते ही मैंने सहज भाव से कहा "पडितजी, आज तो आपने कमाल किया, " वैराग्य को आपने मूर्तिमान कर दिया । पंडितजी ने प्रेम से मेरे कधे पर अपना हाथ रखा एव आवेशपूर्ण स्वर मे कहा "अरे बेटा ! ऐसा नहीं कहना, हम तो इसी गर्व में डूब जायेंगे कि हम कितना बढिया व्याख्यान देते हैं । हो सकता है कोई हमारा व्याख्यान सुन कर तर भी जाएं, मगर हमे सच्चा वैराग्य कहाँ । "

श्रद्धेय पंडितजी के विशुद्ध वचनो पर अलग से चर्चा करने की आवश्यकता नही । ज्ञान वस्तु क्या ? आध्यात्मिकता क्या ? व इनका साथ कैसा व किसे होता है यह जानने के लिये जब श्री नाटक समयसार खोलता हूँ तब पूज्य पडितजी का स्मरण प्रथम होता है एव उपरोक्त महाकाव्य प्रिय गीत के समान बार-बार याद आता है ।

पंडितजी का समाज को योगदान

श्री जयचंदजी लोहाडे

एम्. ए एल् एल्. बी.

हैद्राबाद

मैं कारंजा आश्रम में आने के बाद हमारे नांदगाव में प्रतिष्ठा महोत्सव होनेवाला था। मेरे आग्रह से गाववालो ने पूज्य पंडितजी को प्रतिष्ठा के लिये आमंत्रित किया था। पू. पं. जी ने वह स्वीकार किया और उन के मार्गदर्शन मे प्रतिष्ठा महोत्सव सानंद संपन्न हुआ।

इसी अंतराल मे मेरी प. जी से मुलाकात हुई। मेरे गांव मे आने से, मेरी सब बातो से खान–पान आदि से वे परिचित थे ही। उन्हो ने एक दिन पूछा "कैसे हो भैय्या ? मैंने कहा "तबियत ठीक नही रहती है।" उन्होने पूछा, "क्या तकलीफ हैं।" मैने कहा–"पेट में कुछ गडबड लगती है।" पडितजी समझ गये कि यह खाने पीने की शिकायत है। सामने से ही श्री गुरुजी आ रहे थे। पडित जी ने उन से कहा कि "इनकी तबियत खराब रहनी है और इन को मैं दवाई देना चाहता हूं। आप इन को रोज एक मुठ्ठीभर मुनक्का दीजिये। और मुझे वह खाकर पानी पीने के लिये कहा। इस से मेरी एक शिकायत तो दूर हुई, लेकिन फिर भी पूरा समाधान नहीं था। दो चार दिन के बाद पू पं. जीने फिर से पूछा–और मैंने फिर शिकायत की कि अभी पेट में विचित्र अनुभव हो रहा है। पू. पं. जी फिर समझ गये। पास मे वैद्य श्री. गुल्लुसेठजी खडे थे। उन से कहा–इन को रोज सुबह और शाम एक चम्मच च्यवनप्राश खिलाकर एक गिलास दूध दिया जाय। पं. जी के आदेशानुसार व्यवस्था हुई और मेरी शिकायत दूर हुई। मीठी मुलायम मुनक्काने काम पूरा किया।

पूज्य पं. जी हमारी शिकायत का मतलब समझकर यह उपाय योजना न करते तो मै शायद ही गुरुकुल में रहता। ऐसा लगता है कि मेरी शिक्षा पं. जी की वजह से ही आश्रम में पूरी हो पायी।

पू. पंडितजी से ग्रथों का अध्ययन तो करने का अवसर मुझे प्राप्त नही हो सका। उस समय मैं बहुत छोटा भी था परन्तु पू. पं. जी की जीवन चर्या से जीवन समाजोपयोगी कैसे बनता है और विचार धारा से प्रत्येक विषय में व्यापक दृष्टिकोण से कैसा सोचा जा सकता है इसके प्रात्यक्षिक पाठों का लाभ अवश्य हुआ जो अन्यत्र अशक्य था।

पू. पं. जी की पुण्यस्मृति में मेरी नम्र वन्दना है।

मेरे विद्यागुरु

डॉ. मूलचंदजी जैन
शास्त्री, साहित्यरत्न, एम्. ए., पीएच् डी.
सनावद

स्वनामधन्य श्रद्धेय व्याख्यान वाचस्पति आदि अनेक पदवियो से विभूषित प देवकीनन्दनजी सिद्धान्त शास्त्री का स्मृतिग्रंथ कारंजा से निकल रहा है। आखिर कारंजावासियो ने उन के उपकारो को विस्मृत तो नही किया।

व्यक्तित्व–धोती, कुर्ता और सिर पर फेटा यह उनका परिवेश था। उन के नेत्रों से उन की विद्वत्ता स्पष्ट झलकती थी। वे बहुश्रुत विद्वान थे। गुरुणा गुरु पं. गोपालदासजी बरैया के अन्यतम शिष्य थे। जैसे गुरु थे वैसे ही उन के चेले। उनदिनो आर्य समाजियो से धार्मिक सामाजिक विषयो पर वाद–विवाद होते रहते थे। गुरुजी को स्वयं वाद–विवाद करने पडे परन्तु वे सदैव विजयी रहे। अपनी विद्वत्ता की छाप जम जानेपर तो वे कभी कभी आर्य समाजियो से पं. देवकीनन्दन जी को पहले विवाद कर लेने का सकेत दे देते थे। उन के द्वारा शिक्षा पाये सभी विद्वान् किसी भी व्यक्ति से टक्कर लेने मे समर्थ थे। उन्ही की शिष्य परंपरा मे मैं भी शिक्षित होने का सौभाग्य प्राप्त कर सका। इन्दौर के सर स्व. हुकुमचन्द दि. जैन संस्कृत महाविद्यालय में पं. बंशीधरजी सा. पं. देवकीनन्दनजी सा. एवं पं. नाथूलालजी सा. के सान्निध्य मे कुछ वर्ष विद्याध्ययन का सुअवसर प्राप्त हुआ। **पं. देवकीनन्दनजी की व्याख्यान कला से समस्त दि. जैन समाज प्रभावित थी। इन्दौर में पर्यूषण पर्व के पुण्यावसर पर रात्रि की शास्त्र सभा में पं. देवकीनन्दनजी के सिवाय अन्य किसी विद्वान् को समाज ने पसंद ही नहीं किया।** व्याख्यान देने की उनकी अद्भुत क्षमता का लाभ मैंने भी आंशिक रूप मे उठाया। वे महाविद्यालय इन्दौर में अध्यापक के पद पर कुछ काल के लिये आसीन हुए थे। और हम चार पांच विद्यार्थी उन दिनो शास्त्री तृतीय खंड मे पढते थे। हमने पंडितजी से निवेदन किया कि गुरुजी प्रमेय कमल मार्तंड जैसे ग्रंथ तो हम स्वयं रट लेगे और पास हो जायेंगे परन्तु यदि बोलने की कला से अनभिज्ञ रहे तो हम सामाजिक क्षेत्र मे कभी भी सफल न हो सकेंगे। अतः कृपा कर हमें बोलने की कला सिखा दीजिये, हम आप के चिरऋणी रहेंगे। तब उन्होने हमे क्षत्र चूडामणि, सम्यक्त्वकौमुदी महापुराण, उत्तर पुराण आदि ग्रंथों के पठन पाठन की सलाह दी। क्षत्र चूडामणि के अनेक पद्य कंठस्थ करने व उन की व्याख्या करने का परामर्श। दिया स्वयं पडितजी ने अनेकों बातें एक कापी मे नोट कराईं, फलतः बोलने का हमारा साहस बढा। उन्हों ने प्रथम बार मुझे पर्यूषण पर्व मे सोनकच्छ भेज दिया। वहाँ मै पर्याप्त सफल हुआ। श्रद्धेय पडितजी के पास प्रशसा के पत्र आये। तब प्रसन्न होकर पंडितजी ने मेरी पीठ

ठोक दी और आशीर्वाद दे दिया । तब से मैं समाज के निमंत्रण पर बाहर जाने लगा । यद्यपि आधुनिकता के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण मैं योग्य विद्वान् तो न बन सका पर विद्यार्थी सदाकाल बना रहा । आज भी विद्यार्थी हूं । भविष्य में बना रहूं यही भावना है ।

यद्यपि एकलव्य की भाँति मैंने भी अपने घर पर अपने गुरुजी का चित्र लगा रखा है । तथापि एकलव्य जैसी तन्यमता मुझे प्राप्त न हो सकी । विद्यार्थी जीवन में मैं उनके साथ रहता, उनके घर भी जाया करता था । उन के संपूर्ण परिवार का मैं स्नेह भाजन बना । डॉ. त्रिलोकचंदजी नायक मेरे सहपाठी रहे । वे डॉक्टर बने और मे पंडित । दो अत्यन्त भिन्न पटरियों पर चल ने वाले हम दोनो में अग्रज-अनुज जैसा स्नेह आज तक अक्षुण्ण बना है । आज कल मैं लखनउ में जैनगजट के प्रकाशन का कार्य देख रहा हूं । और डॉ. टी. सी. नायक सनावद में अपना चिकित्सा सम्बन्धी व्यवसाय कर रहे हैं तथापि हम दोनों अभिन्न ही रहेंगे । समयानुसार उन में धार्मिक रुचि जागृत रही है । क्यों न हो अपने पूज्य पिता के संस्कार तो उन मे बीजरूप में हैं ही ।

पूज्य पंडितजी के पाडित्य की कहातक प्रशंसा करूं । वे एकबार सर हुकुमचंद बोडिंग में चलने वाले अखाड़े मे पहेलवानो की कुश्तियां देखने के लिये सर सेठ सा. के साथ आये । लोगों ने उनसे कुश्ती कला पर भाषण देने का विशेष आग्रह किया तब वे धारा प्रवाह कुश्ती कला पर इतना प्रभावक बोले कि लोग दांतों तले उंगली दबाने लगे । ऐसे थे बहुमुखी प्रतिमा के धनी पं. देवकीनन्दनजी शास्त्री ! कारंजा का गुरुकुल और पंडितजी दोनों एकाकार हो गये थे । वहाँ के आश्रम को उन दिनों जिन्होंने देखा होगा, उन्हें चतुर्थकाल जैसी व्यवस्था का अनुभव हुआ होगा । विगत वर्ष मैं डॉ नायक सा. के साथ कुभोज बाहुबली गया था । वहा परम पूज्य समन्तभद्र महाराज के दर्शन कर मन प्रसन्न हुआ । महाराज की आहारचर्या को हम दोनो ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणो से देखा पर दोनों ही दृष्टियाँ महाराज श्री मे साकार हो उठी थी । उस दिन महाराज श्री का आहार देख कर ऊनोदर व्रत का महत्व समक्ष मे आ गया । धन्य है ऐसे निर्ग्रंथ साधु ! इन्हे देखकर हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि पूर्व काल सरिखे साधु (भाव लिंगीसंत) आज भी इस भारत वसुंधरा पर विद्यमान हैं और ऐसे निर्ग्रंथ साधुओं के दर्शन प्राप्त हैं । धन्य है भव्य जीव जो इन के शुभ दर्शन कर पुण्य लाभ प्राप्त करते हैं और अधन्य हैं वे अभव्य जीव जो त्यागियोंकी निन्दाकर दुर्गति के पात्र बनने की चेष्टा करते हैं । इस विषय में महापंडित आशाधरजी के ये वाक्य सदैव याद किये जायेंगे—

काले कली चले चित्ते, देहे चान्नादि कीटके ।
एतच्चित्रं यदद्यापि, जिनरूप धराः नराः ॥

इस प्रसंग ने पूज्य पंडितजी की सहधर्मिणी के सम्बन्ध में दो शब्द लिखे बिना लेख को अधूरा ही मानता हूं, अत. संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है--

पूज्य पंडितानीजी—का व्यक्तित्व महान् था । जो भी उन से बात करता वे उस पर अपनी छाप डाल देती थी । स्पष्ट एवं निर्भीक बोलने की उनकी आदत थी । अब वे संसार में नही है । देहत्याग के पूर्व उन के मन में कषायो के साथ देह को भी कृश करने का संकल्प चल रहा था । उन के गिरते हुए स्वास्थ्य को देखते हुए मैं प्रतिदिन उनके पास जाता । उन्हें वैराग्य भावना, मेरी भावना, द्वादश अनुप्रेक्षा, देवदर्शन स्तुति, भक्तामर महाकाव्य, सकल ज्ञेय की स्तुति आदि सुनाता और उनसे चर्चा किया करता था । मैंने पाया कि वे त्याग की और उन्मुख थी । अंतिम समय में तो उन्होंने औषधि लेने से इन्कार कर दिया था । अंतिम क्षणों में णमोकार मंत्र उच्चारण, श्रवण, मनन, चिंतन पूर्वक उन्हों ने देहत्याग किया । पंच परमेष्ठी के स्मरणपूर्वक जिनका मरण होता है उसे मैं सल्लेखना पूर्वक मरण ही मानता हूं । वे जीव धन्य हैं, जिन्हें अंत समय तक सावधानी बनी रहे व परिवारजन उन के वैराग्यमय विचारों में सहयोगी बने । स्वस्थ दशा में वे प्रतिदिन पूजन करतीं,

स्वाध्याय एवं तत्वचर्चा करती रहती थी । मुझे उन से तत्वचर्चा करने मे आनंद मिलता था। इस प्रकार उन्हो ने अपने जीवन का बहुभाग धर्मकार्य मे व्यतीत किया। अंतिम समय उन का अपने पुत्रो को (उन मे एक मैं भी था) आदेश था कि मरण के पश्चात मरण भोज न किया जाय, विविध सस्थाओ को यथाशक्ति दान दिया जाय। उन के सभी पुत्र शासकीय या व्यक्तिगत रूप से समाज सेवा में संलग्न है। सभी ऊँचे ऊँचे पदोंपर है, सम्पन्न हैं। उन्हो ने, २८ हजार रुपये कारंजा व कुंभोज बाहुबली गुरुकुलो को, १० हजार शिशु मदिर को, १ हजार जिनवाणी के प्रचार हेतु, १ हजार सूर्य सागर पाठशाला टीकम गढ को, दो हजार रुपये सनावद के दि जैन मदिर को इस प्रकार कुल ४२ हजार रुपयो की राशि अपनी पूज्य मातुश्री की इच्छाओ का आदर करते हुए प्रदान की। धन्य हैं गुरुजी, गुर्वाणीजी एव उन के समस्त परिवारजन !

पू. गुरुवर्य पं. देवकीनंदनजी सचेल योगी

श्रीकुमार एस्. ऐतवडे
रिटायर्ड शिक्षणाधिकारी म राज्य

विद्वद्रत्न व्याख्यान वाचस्पति पूज्य गुरुवर पं देवकीनंदनजी को पहली बार मैं ने बाहुबली [कुम्भोज] के गुरुकुल में देखा। जब कि मैं वहाँ ७ वी कक्षा में पढता था। छात्रों के प्रति खास कर छोटे बच्चो के प्रति आपका अपार प्यार था। छोटे बच्चों को प्रोत्साहित कर उन मे आत्मविश्वास पैदा करने की आप मे स्वाभाविक लगन थी। ऊँचापूरा गठिला बदन, मीठी वाणी, प्रसन्न वृत्ति और वात्सल्य पूर्ण स्वभाव से आपका हर किसी पर प्रभाव जम जाता था। कई साल पूर्व आपका स्वर्गवास होने पर भी आप के संबंध की तरल स्मृतिरेखाएं आज भी जैसी की वैसी बनी हुई है।

सन १९३७ या १९३८ की बात होगी। उस समय बाहुबली में श्वेताम्बर आम्नाय के एक बडे विद्वान आचार्य श्री रामचद्र सूरिजी पधारे थे। पंडितजी और आचार्यश्री में शाति से सवाल जवाब हुये। पंडितजी आसन लगाये हुये थे। हर प्रश्न का जवाब शाति के साथ देते थे। हम छोटे होने से तत्त्व समझ तो नही पाते थे पर लगता था कि जटिल समस्याओं का हल विवेकपूर्ण तन्मयतासे ही हो रहा है।

सन १९४१-४२ में मैं कारंजा गुरुकुल मे १० वी कक्षा में पढता था। उस समय पं. जी का और मेरा संबंध और भी दृढ हुआ। वे हमें गोम्मटसार (जीवकाण्ड) पढाते थे। कठिन विषय को कुछ चद शब्दो में आसानी से समझाने की आप की शैली प्रभावशाली थी। प्रति प्रश्न पर आप कभी नाराज नहीं होते थे, शाति से समझाते थे।

आप कारंजा गुरुकुल के उपाधिष्ठाता भी थे। बुंदेलखंड और उत्तर प्रदेश में धार्मिक उत्सवों पर आप के भाषण होते रहे। जनता आप पर असीम प्रसन्न होती थी। संघर्ष और विवाद तो अपनी बुद्धि की चतुरता और वाक्पटुता से थोडे समय मे ही खतम कर देते थे। आप के घर पर तो ऐसे संघर्षवालों का तांता लगा रहता था। वे संघर्षवाले लोग गभीर बनकर आते थे और हसते हुए वापस लौटते हुए मैं ने देखे। पंडितजी मानो अंधियारे मे उजियारा थे।

मै आपका एक प्रिय शिष्य होने के नाते आपने मुझे उज्जैन के माधव कॉलेज में पढने के लिए भेजा। और पं दयाचन्दजी शास्त्री से मेरे निवास का प्रबन्ध दिगंबर जैन बोर्डिंग हाऊस में किया गया। मै वहां चार साल तक रहा और यह सब स्व. पंडितजी के कृपाप्रसादसे ही हुआ। वहा ग्रॅज्युएट होने के बाद पंडितजी ने मुझे

खुरई (मध्य प्रदेश) के गुरुकुल का संचालन करने के लिए प. पूज्य १०८ श्री समंतभद्र महाराजजी के अनुज्ञा से भेजा। आगे चलकर खुरई गुरुकुल का संचलन करना है ऐसी मेरी भी दृष्टि रही इस लिए मै पंडितजी की अनुज्ञा से हरसाल छुट्टी में वहा जाकर वहां के साधारण स्थिति का अभ्यास करता रहा। उस समय मैं पडितजी के साथ श्रीमंत सेठ ऋषभकुमारजी जैन रईस और सिंघई गरहाजी के घर पर भी गुरुकुल के बारे मे कुछ सोच विचार करने के लिए जाता रहा। सेठ लोग पंडितजी का बडा सन्मान और आदर करते थे। पंडितजी के संकेतानुसार दान भी देते थे। कटनी के आद श्री पं. जगन्मोहनलालजी शास्त्रीजी की लगन इस संस्था में विशेष थी। इस संस्था के उपाधिष्ठाता भी थे। इन्दौर से जब कभी पडितजी खुरई आते तो पं जगन्मोहनलालजी शास्त्रीजी भी वहा उपस्थित होते थे। मै खुरई गुरुकुल मे दो साल सेवायोग दे पाया। यह सब पंडितजी की कृपा से हो पाया।

एक पर्यूषण पर्व में पंडितजी के व्याख्यान इन्दौर मे हुए। काचमहल के पास बडा भारी पेडॉल लगा हुआ था। पंडितजी का व्याख्यान सुनने के लिए बडी भारी भीड जम जाती थी। श्रोताओं मे जैनियों के साथ ही साथ अजैन श्रोता भी थे। पंडितजी के भाषण क्या थे। मानो ज्ञान और अनुभव की गगा बह रही है। आप के भाषण से श्रोता जीवन की सही दृष्टि पा लेते थे।

समाज और संस्थाओ के लिए आपने अपना सर्वस्व लुटा दिया। मरते समय पंडितजी का खुद का न मकान था न खुदकी १ इंच भी जमीन।

फूल मुरझा गया पर उसकी सौरभ आज तक बनी है। और भविष्य मे भी बनी रहेगी। मेरी दृष्टि में तो वे एक सचेल महान योगी थे। कमलपत्र की तरह सासारिक मोह से कैसे अछूत रहना चाहिए यही आपने समाज को मरते मरते सिखाया। पूरा जैन दर्शन चरित्र मे परिणत हुआ। और जीवन धन्य हो उठा।

ऐसे महान् सचेल योगी के दैवी आत्मा को भक्ति पूर्वक शतश. प्रणाम।

पू. गुरुवर पं. जी की प्रतिभा का बटुआ

लेखक–ब्र. माणिकचंद्र चवरे
कारंजा

हिंदी संस्करण–श्री. सुरेंद्रजी जैन
प्राचार्य राजस्थान महाविद्यालय, वासम

प्रास्ताविक दो शब्द

स्व. पू गुरुवर पं. देवकीनदनजी के अनुभवों का भण्डार अगाध था, व्यापक था, ठोस था। अनुभवो के आदान प्रदान की पद्धति भी लोक-विलक्षण थी। हजारो हाथ ऊँचाई पर आकाशमार्ग से विहार करनेवाली मेघमाला से अपने पत्तोद्वारा वृक्ष पानी खीच लेता है और अपनी मूलियोद्वारा पाताल से खींच लेता है; उसी प्रकार पं. जी अनुभवो का सचय किया करते थे। जन सामान्य को जिन छोटी छोटी घटनाओ में शून्य का आभास होता था, ऐसी घटनाओ से, दृश्यो से, संभाषणो से, वादविवादों से और क्या कहे 'उत्पाती' बच्चों के उत्पातो से मनन द्वारा वे अपने अनुभवो की निधि भर लेते थे। वे स्वयं कहते थे, "भय्या! हम तो जंगल के झाड हैं! आस्मान के पानी से और पाताल के पानीसे जोते रहेगे?" यह देवदुर्लभ अनुभवो का सचय केवल संचित ही नही रहता था, वे खुले दिल से अपनी रसवती वाणी द्वारा दिन रात उदारतापूर्वक लोगो को पहुंचाते

"पानी बाढा नाव में घरमें बाढा दाम।
दोनों हाथ उलीचिए यही स्याना काम।"

इस नीति के अनुसार थे। पं. जी की प्रतिभा का वह एक श्वासोच्छ्वास था। यह दान बहुमुखी होता था।

संध्या के समय, भोजन के उपरान्त अपने गृहांगण मे खटियापर बैठे बैठे मुख्याध्यापक श्री. गोसावीजी या सुपरिटेंडेंट श्री. काले जी को 'आवो गरुजी! बैठो' कहते हुए अपने बटुवे मे से पान-सुपारी की लेन देन होती थी। और "देखो गुरुजी! बात ऐसी है," ऐसा कह कर नित्य नया वचन प्रवाह शुरु होता था। हमें भी उसका लाभ होता था। बटुवे मे यथास्थान सभी चीजें होती हैं, उसी तरह प. जी के उन्मुक्त प्रतिभा-विलास में सूक्ष्म निरीक्षण के कोमल पान, ऊचे विनोद का स्वच्छ चूना, मौलिक सुभाषितो का सुगंधी कत्था, हिंदी दोहा और उर्दू शेर शायरी का तमाल चूर्ण, नीति कथाओ की सुपारी तथा समय सूचक उद्गारो की लौंग और जीवनसत्त्व की जिनतान की मीठी गोली सब कुछ मिल जाता था।

तीस वर्ष पूर्व मराठी के लोकप्रिय मासिक-पत्रिका मे कुछ लेखोद्वारा उन पानसुपारी लौंग का चित्रण करने का प्रयास किया गया जो परमपूज्य समतभद्रजी महाराज जी को तथा अन्यान्य मित्रो को रुचिकर प्रतीत हुआ। जब स्व. प. जी के स्मृति ग्रंथ प्रकाशन का निश्चय हुआ। तो उनका हिंदी रूपातर करके प्रकाशित करने की आज्ञा हुई। प. जी की रसवती वाणी का शब्दाकन अशक्य है फिर भी हमारे अकारण धर्म बंधु विद्वद्वर श्रीमान सुरेन्द्रजी जैन, प्राचार्य श्री राजस्थान महाविद्यालय, वासम ने प्रसन्नता से अपनी रसपूर्ण भाषा मे उनका हिंदी अनुवाद किया जो प्रस्तुत है। इस मे जो अच्छाई है, वह पू. गुरुवर पं. जी की है, लालित्य साहित्य है, वह भाई सुरेन्द्रजी का है और जो कमी और त्रुटियां हैं वह मेरी हैं। भंडार तो अनगिनत है यहां पर नमूना मात्र थोडा प्रस्तुत है—

पंडितजी का बटुआ

(सुपारी १ ली)

जैन पुराणों की राजनीति की सरस कथा...

(जो राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त के आग्रह पर पं. देवकीनंदनजी द्वारा कही गयी)

झांसी कानपुर लाईन पर चिरगांव है। वहां भारत-भारती के रचयिता राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त रहते थे। चिरगांवमें ही पडितजी के दामाद रहते थे। पंडितजी एव गोविंददासजी के गुप्तजी के साथ अत्यंत घरेलू संबंध थे। पं. देवकीनदनजी पपौराजी के उत्सव समाप्ति के बाद टीकमगढ पहुँचे। टीकमगढ के राजा ने पंडित देवकीनंदजी का शाल श्रीफल देकर भव्य सत्कार किया। किन्तु पंडितजी ने शाल वापिस करते हुए केवल श्रीफल स्वीकार किया। इस त्याग की अमिट छाप से महाराजा अभिभूत हो गये। वहां से पं. जी चिरगाव आये। मैथिलीशरणजी से उन का सम्पर्क आया। दो रसिक आत्माएँ मिली। प्रगाढ अनुभवों का आदान प्रदान हुआ। राष्ट्रकवि ने उन्हे कुछ कविताएँ सुनाई। तथा प. जी से कहा कि "जैन पुराणोमे से कोई राजनीति की कथा सुनाइए।" पं. जी- "जैन पुराणो मे धर्म-नीति, समाजनीति, राजनीति आदिपर अनगिनत कथाएँ भरी पडी हैं। इनमे से एक राजा उपश्रेणिक की कथा सुनिए।"



भगवान महावीर के समकालीन राजा श्रेणिक उर्फ बिम्बिसार गद्दीपर बैठने के पूर्व राजगृह नगर मे उपश्रेणिक का शासन था। राजा प्रजा दोनों सुखी थे। किंतु चंद्रपुरी का राजा सोमशर्मा उपश्रेणिक का उत्कर्ष सहन न कर सका। और उसने उपश्रेणिक पर आक्रमण कर दिया। किंतु हार गया। और भेट स्वरूप उत्तमोत्तम वस्तुएँ, वस्त्र, अलंकार, रत्न, हाथी, घोडे आदि उपश्रेणिक को अर्पण किये। परंतु पराभव की अंतर्ज्वाला से अभिभूत सोमशर्मा ने एक दुष्ट स्वभाव का घोडा भी भेंट दिया। इस के पीछे भावना यही थी कि राजा उपश्रेणिक का अनिष्ट हो जाय। घोडा देखने मे सुदर था। राजा ने उस पर सवारी की। और घोडे ने राजा को घनघोर

जंगल में ले जाकर एक घाटी मे पटक दिया। राजा को काफी गुप्त मार लगी और राजा बेहोश हो गया। उस अरण्य का अनभिषिक्त राजा यमदंड के कान पर राजा के कराहने की करुण आवाज आयी। उसने राजा को पहचान लिया। तथा उन्हे अपने निवास पर लाकर खूब सेवा की। और उपश्रेणिक कुछ स्वस्थ हो गये।

इस बीच में राजा की सेवा का भार यमदंड की युवा कन्या तिलकवती पर था। उसने मनोभाव से राजा की सेवा की। सेवा से राजा बहुत प्रभावित हुआ। तिलकवती सौन्दर्यवती एवं मधुर स्वभावी थी। राजा ने यमदंड से तिलकवती का हाथ माँगा। यमदंड के मन मे विकल्प पैदा हुआ। और हिम्मतसे बोला, "महाराज! मेरी पुत्री आप के अंत:पुर में दासी बनने के लिये पैदा नहीं हुअी है। यदि आप तिलकवती के पुत्र को राज्य का उत्तराधिकारी बना सकते हो, तो मै विचार कर सकता हूँ।" राजा विकारो के चक्कर मे तो था ही। उस ने तुरंत वचन भी दे दिया। राजारानी राजधानी वापिस लौटे। चिंतातुर प्रजा राजा के आगमन से आनंदित हो गयी। कालांतर में राजा उपश्रेणिक वृद्ध हो गये। अब आगे राज्यका उत्तराधिकारी कौन? यह चिंता राजा को सताने लगी। किंतु राजा तिलकवती से वचनबद्ध थे। यह बात किसी को नही बतायी थी। तिलकवती का पुत्र चिलाती अत्यंत सामान्य था। जब कि कुमार श्रेणिक अनेक बातों मे सर्वश्रेष्ठ साबित हुअे थे। और लोगो का विश्वास था कि श्रेणिक ही राज्य के उत्तराधिकारी होंगे।

एक दिन राजा ने मंत्रि-परिषद में प्रश्न पूछा कि युवराज किसे बनाया जाय? सबने एक स्वर से कुमार श्रेणिक का नाम लिया। किन्तु राजा के चित मे तिलकवती को दिये गये वचन की समस्या जीवित थी। राजा स्वयं चिलाती को युवराज बनाकर वचनमुक्त होना चाहते थे। अपने वचनपूर्ति के लिए वे राज्य को पतन की खाई में ढकेल रहे थे। मंत्रियो ने डर के कारण राजा के निर्णय के विरुद्ध अपना कोई स्पष्ट अभिमत नही दिया। चतुराई से मंत्रियो ने कहा कि इस का निर्णय किसी विद्वान ज्योतिषी से कराना चाहिए। राजा को यह युक्ति पसद आयी। राजा के मन के विरुद्ध न जाकर मंत्रीगण ने अपने आप को बचा लिया। ठीक यही विचार ज्योतिषी के भी मन में आया कि राजगद्दी पर अकुलीन रक्त का व्यक्ति न बैठे। ज्योतिषी ने कहा कि सभी राजकुमारो की पाच प्रकार से परीक्षा ली जाय। उस मे जो विजयी होगा उसे राजगद्दी दी जाय।

१. प्रथम परीक्षा थी, स्वयं अपने सिरपर शक्कर से भरे हुए सुवर्णपात्र को रखकर नाचते खेलते राजमहल में वापिस आना।
२. मिट्टी के नये घडे को ओस बिन्दुओसे भरकर लाना।
३. सभा मंडप मे आग लगने पर राजकीय महत्त्वकी वस्तुएँ अपने साथ लाना।
४. सीलबंद पिटारे की सील न तोडते हुए लड्डू खाना और बन्द मुह के घडे से पानी पीना।
५. पाँचसो शिकारी कुत्तो के बीच बैठ कर पेटभर भोजन करना।

श्रेणिक ने अपनी बुद्धिमत्ता और चतुराई से पांचो परीक्षाओं मे सफलता प्राप्त की। प्रथम परीक्षा में राजघराने का और पदका सम्मान रखते हुए सेवक वर्ग से कार्य करवा लेना आवश्यक था। श्रेणीक ने सुवर्ण कुम्भ स्वय न ले जाकर नौकर के सिरपर रखवा कर सिंहद्वार पर पहुँचा दिया। और हँसते खेलते राजमहल पहुँचे। जब कि दूसरे राजकुमारो ने सुवर्णकुभ खुद के सिरपर उठाकर पहुँचाये।

२. ओस बिन्दुओ से मिट्टी का नया घडा भरना एकदम मूर्खतापूर्ण बात समझी गयी। और इस व्यर्थ की मूर्खता में न पडते हुए सभी राजकुमार वैसे ही लौट आये। किन्तु श्रेणिक ने अपनी धोती घास पर बिछा दी और ओस बिन्दुओ से भीगी हुयी धोती घडे में निचोड निचोड कर घडा ओस बिन्दुओ से भर कर पिता के समक्ष रख दिया।

३. सभामडप में आग लगने की सूचना मिलते ही सभी राजकुमार भाग खडे हुए। किन्तु श्रेणिक जान की पर्वाह न करते हुए छत्र, सिंहासन और राजचिन्ह लेकर बाहर आये।



४. सभी राजकुमारो ने सीलबन्द पिटारे तोडकर लड्डू खाये। और घडे का मुंह खोलकर पानी भी पी लिया। किन्तु श्रेणिक ने पिटारे को जोर रे हिलाया। हिलाने से लड्डुओं का चूर्ण नीचे थाली में पडा और श्रेणिक ने वही लड्डू का चुरमा खाया। तथा घडे से धीरे धीरे चूता हुआ पानी भी पी लिया और अपनी प्यास बुझाई।

५. इसी प्रकार ५ वी परीक्षा मे सभी राजकुमारों को शिकारी कुत्तो के बीच मे भोजन करना अत्यंत कठिन, अशक्यप्राय लगा। उन्हो ने अपनी हार स्वीकार की। जब श्रेणिक की बारी आयी तो उन्हों ने पिताजी से कहा, मै युवराज होने के नाते अपने इष्ट मित्रोसहित ही भोजन करूंगा और इस प्रकार अपने सौ मित्रों के साथ वे भोजन करने बैठे। उन्हो ने एकपर एक थालियां जमा की। तथा चार पाँच थालियों के मध्य में रखकर चारों ओर मित्र परिवार के साथ युवराज श्रेणिक भोजन करने बैठे। प्रस्ताव के अनुसार उनपर शिकारी कुत्ते छोडे गये। जैसे ही कुत्ते उन के पास आते वैसे ही वे भोजन सामग्री की एक एक थाली एक एक दिशा मे कुत्तो की ओर फेंकते जाते थे। इस प्रकार श्रेणिक ने यथेच्छ भोजन भी किया और कुत्तो को भी खिलाया। पांचो परीक्षाओ मे भी अपनी योग्यता सिद्ध कर दी। महाराज उपश्रेणिक अत्यंत गभीर हो गये। श्रेष्ठत्व और राज गद्दी की पात्रता सिद्ध करनेवाले श्रेणिक को प्रशंसा करना तो दूर वे अत्यंत चिंतित हो गये। गद्दी पर तो श्रेणिक ही बैठने योग्य सिद्ध हुए।

विकारों से ग्रस्त मन अंधकार में डूब जाता है। और मोह के वशीभूत होकर इष्ट अनिष्ट का भेद भी नहीं समझ पाता।

प्रत्येक राज्य में सभी वर्गों के लोग होते हैं। स्वार्थी, हीन मनोवृत्तिवाले, कुत्तो के समान भोंककर शांति भंग करनेवाले विघ्नसंतोषी और उपद्रव करनेवाले ऐसे लोगों को दो चार टुकडे खिलाकर ही सज्जन लोगों को अपना कार्य साधना शक्य होता है। आज तो आमतौर पर 'सुविधा शुल्क' पहुंचा कर ही उद्देशपूर्ति हो सकती है।

राष्ट्रकवि पंडितजी की इस राजनैतिक रसपूर्ण-तथ्यपूर्ण कथा का मूल्यांकन करके मन में अत्यंत आनंदित गदगद हो गये। और उसी समय राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त ने भ. महावीर के दिव्य जीवनपर एक कविता रचकर पंडितजी को सादर समर्पित की। और दूसरे दिन राष्ट्रकवि स्वयं पंडितजी की बिदाई हेतु स्टेशनपर पधारे। यह था पंडितजी की समयज्ञ प्रतिभा का एक नमूना।

---

१. इस कथा के संदर्भ का एक भीत्तीचित्र जलगाव (जामोद) के ऐतिहासिक प्राचीन दिगंबर जैनमंदिर के दिवाल पर आज भी अंकित है।

पं. देवकीनन्दनजी का बटुआ

सुपारी २ री

साधू का घोडा

जिसे राजा ने प्रदान किया किन्तु डाकू ने अपहरण कर लिया।

अविस्मरणीय ऐतिहासिक प्रसंग

अनेक वर्षो पूर्व प्रतापगढ पर निर्मित भव्य अश्वारूढ शिवाजी महाराज की प्रतिमा का अनावरण पं. जवाहरलाल जी नेहरू ने किया। प्रतापगढ की ऊँचाई, आधारशिला की ऊँचाई और उसपर पुतले की ऊँचाई। इस भव्य प्रसंग को देखनेवाले कभी भूल नही सकते।

इसी प्रकार अनेक वर्षो पूर्व स्व. पं. देवकीनन्दन जी ने भी ऊँचा घोडा खडा किया। जिसकी स्वच्छ वैचारिक पृष्ठभूमि और आधारशिला काफी ऊँची है।

पंडितजी का नाटयपूर्ण निवेदन

उस समय बाहुबली कुंभोज आश्रम का जन्म नही हुआ था। सन १९३३ की घटना है। कारजा आश्रम का प्रतिनिधि मण्डल डेप्युटेशन के रूप मे कोल्हापूर मे था। स्व. दानवीर भूपाल अप्पा जिरगे के कारण कोल्हापूर का वात्सल्य और बढ गया था। उन्हे अपने प्यारे एकीभाव स्तोत्र का रहस्य पं. जी. के मुख से सुनना था। आध्यात्मिक शैली से प्रत्येक श्लोक का अंतर्गर्भ अर्थ स्पष्ट किया गया। तीन दिन बहुत ही प्रसन्नता से रहे। दानवीर अण्णाजी ने सत्कार भी किया। धन्यता का अनुभव भी किया।

पू. गुरुदेव के मन मे नए विचार कोंध रहे थे। किन्तु पं. जी नए विचारों के अनुरूप होंगे या नही यह शंका थी। परंतु कार्यसिद्धि हेतु उन की अनुकूलता की जरूरत थी। प्रथम ही गुरुदेव ने न्यायमूर्ति रावसाहेब मोहनलाल होचंद दोशी, स्व कीर्तनकार जिनगौडा पाटील, वालचंद नानचंद शाह आदि को अपने विचारो के अनुकूल बना लिया था। एकदिन गुरुदेव ने पं. जी से बाहुबली पहाड पर चलने का आग्रह किया।

सभी लोग पहाडपर जाने वाले थे किन्तु पं. जी गुरुदेव के मन की बात भाँप गए की नई संस्था इस प्रान्त मे खोलनी है। उडती चिडिया के पर पहचाननेवाले विलक्षण प्रतिभा के धनी पं. जी को न्यायमूर्ती रावसाहेब व पाटील दोनों ही समझा रहे थे, ताकि प्रत्यक्ष बातपर निषेधात्मक प्रतिक्रिया न हो। पं. जी का विकल्प था शायद कारजा आश्रम उपेक्षित भी हो सकता है। अतः बडी खूबी से पैर दर्द का बहाना कर के उन्हों ने कहा, "आप लोग जाकर आ जाये। मै यही आराम करता हूँ।" किन्तु बात टली नही। उन्हे जाना ही पडा।

केवल पत्थर पर पत्थर रखकर भवन नही बनते । उस मे चूना सीमेन्ट का गीला मसाला भी भरना पडता है । केवल शुष्क विचारो के बलपर कार्य सिद्धि नहीं होती । जीवन भी शुष्क और नीरस विचारों से नहीं चलता । भावनाओं की सहजता, सुखदुखो की अनुभूति ही जीवन होता है ।

बाहुबली आश्रम स्थापना के प्रथम विरोधी

रास्ते मे श्री जिनगौंडा पाटील और दोशी रावसाहेब ने महाराज का मन्तव्य प. जी को समझाने की कोशिश की किन्तु प्रयास व्यर्थ रहा । गुरुदेव सस्था स्थापना के लिये प्रयत्नशील है और उन्हीं के अभिन्न मित्र पं. जी. उसका विरोध कर रहे है । यह बात सभी को आश्चर्य में डालने वाली थी । ऐसा कडा विरोधक क्यों साथ लाया ही गया ? ऐसे विचार भी उन के मन मे आये ।

गुरुदेव के सच्चे सहयोगी

सध्या को गुरुदेव ने पं. जी को सकेत किया की आज रात्रि को शास्त्र सभा में गुरुकुल स्थापना के लिए प्रेरणा करनी है । हमेशा की तरह रात्रिमे प. जी का प्रवचन हुआ । उस में पूर्व सकेत के अनुसार ज्ञान का महत्व विशद कर इस प्रान्त मे ज्ञानदान हेतु गुरुकुल के लिए प्रभावी प्रेरणा कर दी । संस्था उपयोगी कैसे होगी इसपर सारगर्भित भाषण सुनकर सभी स्तब्ध रह गए । सभी ने एक साथ निर्णय लिया की संस्था खोलनी ही चाहिए । न्यायमूर्ति रावसाहेब दोशी तो इतने आत्मविभोर हो गए कि उन्हो ने प जी की पीठ ठोकी और धन्यता व्यक्त की । उन्हो ने प. जी से कहा "दिनभर तो आपने विरोध किया और रात्रि मे अब यह समर्थन ।" प. जी बोले, "दिन में व्यक्त किया गया मत मेरा निजी विचार था । और फिर मै आप लोगों के हृदय की गहराई भी देख रहा था । अब गुरुदेव का सकेत हुआ सो ईमानदारी से प्रेरणा प्रगट कर दी ।" पाटील ने पूछा, "फिर आपने विरोध क्यों किया ?" इसपर प. जी ने कहा, "यदि सत्य बोलता हूँ तो लडाई होने की सम्भावना है ।" पाटील बोले, "मन मे कोई विकल्प न रखते हुए आप तो सत्यही बतावे ।" पडित जी बोले, "इस प्रान्त मे घूमते हुए सात दिन हो गए । लोगों की भावनाएँ देखो, वृत्ति देखो । महाराज को बता दिया है कि **यहाँपर विरोध होगा । लोग साथ अवश्य देंगे किन्तु विरोध सहना होगा ।**" महाराज के साथ चलनेवाला पुण्य और पुण्यभाव झील के समान अथाह है । उनकी भावनाएँ आकाश की तरह व्यापक ऊँची है, स्वच्छ हैं । और जब महाराज ने दृढनिश्चय कर ही लिया है तो कार्यसिद्धि अवश्य होगी ।"

विरोध का सही कारण

आगे प. जी ने कहा, "यदि हम लोग जिन्दा रहे तो आप को बता दूगा की इस धर्मदत्त का अक्षर अक्षर सत्य हो गया । पाटील साहब क्षत्रियत्व आप को प्रिय है । मै भी क्षत्रियता का पुजारी हू ।! सौ दण्डी और एक बुदेलखण्डी, बराबर होते है । आप ने छत्रपति शिवाजी महाराज की भूमिपर जन्म लिया है, तो मैंने महाराज छत्रसाल की भूमिपर जन्म लिया है । आप के क्षात्रधर्मपर और महाराज के पुण्य प्रभाव पर मेरा पूरा भरोसा है ।" पाटील की दाढी को हाथ लगाते हुए (भावना में आने पर उन की हमेशा की आदत थी) कहा, "**आप की कुल्हाडियों पर मुझे रत्तीभर भरोसा नहीं हैं । वे कहाँपर चलेंगी, कब और कैसी चलेंगी यह कोई नहीं कह सकता** " घूमते हुए प. जी ने दक्षिण की क्रूर वीर गाथा सुनी थी । सकुचित मनोवृत्ति से छोटी छोटी बातो के लिए कुल्हाडियो से गला उतारती दक्षिण की पद्धति को सुनकर ही प. जी ने पाटील सा. से यह सकेत किया था । "**कहो पाटील यह सच हैं या झूठ ?**" आगे सुनने की हिम्मत हो तो और कहूं ? महाराज के सम्पर्क मे आने के बाद हम लोग तो उन की दूर दृष्टि पहिचान सके । हम ने बुद्धिमानी से डालडाल चलने की कोशिश की, तब देखा महाराज सावधानी से पुरुषार्थ से पत्ते पत्ते पर चलते थे । वे जीतते गये । हमने हार स्वीकार की, कार्य बन पाया । पर दक्षिण का किस्सा कुछ और होगा ।"

धोके का इशारा

"पाटील ! आप लिख लेवे कि जब कार्य खडा होगा, चलने लगेगा तब कुछ लोग इस का प्रत्यक्ष में हिम्मत न होने से परोक्ष रूप में विरोध करेंगे । लोकभय से कुल्हाडी न चलावे किन्तु कोई न कोई बहाना विरोध करने का जरूर ढूंढेंगे । अर्थात बिना सिर पैर के व्यर्थ के झगडे पैदा करेंगे । जातीयवाद का भूत खडा होगा । एकता खण्डित करने के प्रयास होंगे । स्वार्थ साधने हेतु अकल्पित परेशानियां खडी करेंगे । मेरी अन्तरात्मा की आवाज तो यही कहती है कि जिस सदाचार और शील को ध्यान मे रख कर महाराज ने अपना अमूल्य जीवन अर्पण कर दिया, उस गौरवशाली परम्परा को हमें अपनी संकुचित एव पापबुद्धि से मिथ्या धारणाओ, निराधार शंकाओ और विकल्पो के जाल मे फँस कर आक्षेपो का मायाजाल निश्चित रूप मे समाज के सिरपर थोपा जाय । मैं नही चाहता कि ऐसा हो ।" पं. जी बोले, "किन्तु जो सत्य है वह तो कहना ही है ।" इसपर पाटील ने कहा, "पं. जी आप व्यर्थ की चिंता न करे । महाराज का कोई बाल भी बाका नही कर सकता । और यदि ऐसा हुआ तो हमारी कुल्हाडिया भी चुपचाप नहीं रहेगी । पहले शहीद हम होगे । आप चिन्ता न करे।"

पं जी ने कहा, "मैं तो पहिले से यही कह रहा हू कि आप के क्षत्रियत्व पर मुझे भरोसा है । लेकिन आप की कुल्हाडियों पर नही । यह समाज है । इसकी नजर मे निरपेक्ष सेवाओ का कोई मूल्य नही । यह कब क्या कहेगी और क्या करेगी इस का कोई ठिकाना नही । स्वार्थ का नग्न नृत्य हम ने देखा है । अनेक सामाजिक झगडे निपटाये हैं । हम समाज की नस नस को जानते है । ये मागते है पूत, इन्हे चाहिये सपूत, और हो जाता है भूत ।" पाटील बोले, "लेकिन पं. जी ऐसा क्यो होता है ? क्या यह प्रान्त की मिट्टी का, हवा का या पानी का गुण है ?" इसे अस्वीकार कर पं. जी ने कहा, "**यह सब होता है कषाय और अज्ञान के कारण ही । इनको निकाल दो तो शांतिसागर है,** अन्यथा संघर्ष सागर ।"

भूतों की औषधी और मंत्र

इस पर पाटील बोले, "प जी इन भूतो की कोई दवा या मंत्र तो होगा ही ।" पं. जी ने बताया, "इन की औषधि महाराज बहुत अच्छी तरह जानते है । **शांति उसका नाम है** । यही मंत्र का काम करती है । **गम खाना और सब कुछ सह जाना** । यही उस का अर्थ है ।"

परस्पर विचारों में प्रामाणिक मत-भेद ।

एक बात में प. जी और महाराज के विचार बिल्कुल प्रतिकूल थे । दक्षिण की भूमि को प. जी ऊसर-भूमि मानते थे । उनका आग्रह रहा कि महाराज जैसे अलौकिक विभूतियो का उत्तराखण्ड मे जाकर कार्य करना ज्यादा ठीक था । दक्षिण मे जो मेहनत हुई है और जो कार्य बन पाया उससे उस का अधिक प्रभाव और फल-निष्पत्ति उत्तर में उपलब्ध हो सकती थी । उन की शक्ति और गुणो का सही उपयोग वही उत्तर मे हो सकता था । कई बार प जी ने यह बात की किन्तु महाराज मौन ही रहे । निष्ठा से दक्षिण की सेवा होती रही । इस बात को ध्यान मे रखकर मैंने एक बार प. जी से पूछा, "जैसे आप के कहने से महाराज को दक्षिण का मोह है, वैसे ही आप को भी तो उत्तर का मोह है !"

इसपर पं. जी ने प्रतिप्रश्न उठाया कि "**कितने साधु दक्षिण से उत्तर में गए और वापिस आये ?**" इस उत्तर से मै अवाक रह गया । प्रतिप्रश्न में सौफीसदी सचाई थी । और पं. जी की अनुभवोंपर आधारित व्यापक दृष्टि समक्ष मे आई थी । महाराज मुनि दीक्षा लेकर जीवन के रहस्यो को समझना चाहते थे और उन्हीं पर अमल चाहते थे । यही कारण रहा कि अनेक आचार्यों कि जन्म भूमि एव तपोभूमि का आश्रय उन्हो ने ठीक समझा । सहज समाजऋण से मुक्त होने की भावना से, धर्मप्रचारार्थ स्वयं सुयोग्य निमित्त बन कर दक्षिण की जो सेवा बन पायी वह एक योगा-योग ही कहा जा सकता ।

फिर भी पं. जी कहते थे, "**ऐसा लगता हूं कि मैं महाराज को अपनी पीठ पर बिठाकर सारे उत्तर-भारत की यात्रा कराऊँ, खूब समाज सेवा कराते कराते राणा प्रताप का 'चेतक' बन जाऊं।** पर समझ नहीं पाता कि इस के लिए महाराज इतना क्यों हिचकिचाते है।"

क्षत्रियत्व के सत्य एवं असत्य दो रूप-दो छोर

पं. जी के विचारो में तीक्ष्णता थी, तो सूक्ष्म अनुभवों की समृद्धि थी। अत: कहीं टीका करने की गुंजाइश ही नही थी। इसी लिए उन्हो ने पाटील से भी स्पष्ट कहा, "मै खून खराबी में विश्वास नहीं रखता। ऐसा कोई विवाद नही, जिस का शाति से हल नही निकल सके। यदि राष्ट्रो के बीच के संघर्ष व विवाद सुसवाद से मिट सकते है, तो व्यक्तिगत स्वार्थ हेतु कुल्हाडियाँ चलाना कहा तक सार्थक होगा। सोंठ से खांसी जाती हो तो गला काटने की क्या आवश्यकता? आचार्य महाराज की तपोभूमि में यह कैसा उन्माद है। जीवन मूल्य हीन! किन्तु सब का कारण है कषाय और अज्ञान। अज्ञान और कषायो के इस व्यामोह में समाज की हानि ही हुई। किसी ने कुछ नही कमाया। खोया जरूर। बैर से कहीं बैर मिटता है? सच्ची क्षत्रियता तो कषायो के जीतने मे है।" ऐसे ऊंचे बिचारो का घोडा प. जी ने उस समय खडा किया।

स्वयंसेवकों की बिदाई

उपरोक्त प्रसंगोपरान्त पं. जी कारंजा पधारे। महाराज ने लोगो को और अधिक स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो इसलिए वही रुकना ठीक समझा। आते आते प जी महाराज से निवेदन कर ही आए थे कि यदि आप को योग्य वातावरण लगे तो सस्था खोलिए। इतने मे ही महाराजसा. के तार द्वारा चितामणी को तुरन्त बिदा करने के समाचार मिले। नए प्रान्त मे सस्था खोलना एक साहस था। नजरो में निश्चित आर्थिक स्रोत कुछ भी नहीं था। कारजा मे तो कार्यव्यवस्था स्वय देवचंदजी करते रहे और अर्थप्रदाय सावजी लोग कर देते थे। लेकिन यहां कौन थे? "महाराज का उत्तर था कार्य हम करेंगे। पैसा आप ही आप आवेगा।"

First deserve and then demand वाली नीति अपनायी गयी। सेवार्थ आश्रम के स्वयसेवक सेवा के लिए जाय ऐसा यह पहला ही प्रसग था। एक भव्य सभा का आयोजन हुआ। सभी ने सद्भाव का पाथेय साथ मे दिया। और अन्त में प. जी ने उन का यथोचित सत्कार करने के बाद सभा को सम्बोधित करते हुए निम्न मनोवैज्ञानिक कथा कही।

साधू का घोडा

"किसी जंगल में एक साधू अपनी छोटी सी कुटिया मे रहकर धर्मसाधना किया करता था। उस की यह साधना अनवरत अनेक वर्षो से अत्यन्त निस्पृह भाव से चालू थी। आगतुको को आशीर्वाद देता। आशीर्वाद के प्रति लोग कृतज्ञता व्यक्त करते। श्रद्धा से भर जाते थे।

धीरे धीरे साधु की कीर्ति राजा के कानोतक पहुँची। राजा मिलने आया। उपदेश सुना। अत्यन्त प्रसन्नता व्यक्त की। जिस श्वेत, खानदानी घोडे पर बैठकर वे आये थे, वह श्रेष्ठतम घोडा साधु महाराज के इनकार करते रहने पर भी अत्यन्त आग्रह पूर्वक भेंट स्वरूप छोड पैदल ही वापिस आए थे। यह समाचार चारों ओर फैल गया और साधु की कीर्ति भी। घोडा एक जगह बाधकर नही रखा जाता। अत साधु उसे रोज नियमित रूप से शाम सुबह घुमाने ले जाने लगे। अनेक माहों तक यह उनका दैनिकक्रम हो गया था।

एक दिन घोडे पर भीमा डाकू की नजर पडी। वह मोहित हो गया। तुरन्त उस ने साधु से घोडे की मांग की। कहा, कि "आप को इस की जरूरत नही। जरूरत मुझे है। अत: मुझे दे देवें।" साधु ने उसे समझाया, की घोडा राजा ने दिया है उपहार स्वरूप! मैं इसे कैसे दे सकता हूँ?" डाकू ने कहा, "राजाने गुरुभक्ति

स्वरूप आपको भेट दी है। मेरी नजर में वह भर गया है। मन को भा गया है। आप प्रसाद समझकर दे दे तो ठीक, (ऊँची आवाज मे) अन्यथा मैं अपने ढग से लूगा।" डाकू ने साधु को धमकी दी और चला गया। दिन बीत ने लगे, साधु अब इस नई चिन्ता से ग्रस्त हो गया, तो दूसरी तरफ उस घोडे से मोह भी हो गया था। अब साधु अधिक सतर्क रहने लगा। घुडसाल मे ताला लगाकर चाबी साथ रखता रहा। राजकृपा से साधु की झोपडी की जगह अब एक मठ (आश्रम) स्थापित हो गया। घोडा भी वही रहता था। साधु और अन्य लोगों की सेवाएँ उसे मिलती रही। सब का प्रिय पात्र था। किन्तु सवारी सिर्फ साधु ही करते। किसी को हाथ नही लगाने देते। फिर भी सतर्क रहते। इधर डाकू उस घोडे को उडाने की योजना बना रहा था।

एक सायंकाल साधु भ्रमण के लिए निकला। वापस आते समय देखा कि एक अपाहिज एवं बीमार व्यक्ति कंबल ओढे सडक के बीच पडा है। और दर्द से कराह रहा है। साधु तुरन्त घोडे पर से उतरा और उस रुग्ण-अपाहिज से पूछ ताछ करने लगा। रुग्ण व्यक्ति ने कहा, "वह नजदीक गाव में रहता है। पिछले महिनों में बीमार रहा। दवा लाने देहात जा रहा था, लेकिन रास्ते मे चक्कर आ जाने से गिर पडा। अब मर भी जाऊं तो चिन्ता नही, क्योंकि आपके दर्शन से मेरा जीवन धन्य हो गया।"

साधु सो साधु

साधू ने उसे घोडे पर बैठकर दवा लेने चलने को कहा, तो डाकू बोला, "मैं मरते मरते अपना बोझ इस पर कैसे डालू। दोनों का बोझ! जँचता नही। किसी तरह चला जाऊंगा।" लेकिन साधु उस की मीठी भाषा से आश्वस्त हो गया, प्रसन्न हो गया और कहने लगा, "तू अकेला ही जा। घोडा लेता जा।" और उसे उठाकर साधू ने घोडे पर बैठा दिया। जैसे ही डाकू घोडे पर बैठा और लगाम सम्हाली वह तनकर अकडकर सीधा हो गया। साधु आश्चर्य चकित रह गया। तब डाकू बोला, "मैं वही भीमा डाकू हूँ। और मैने अपने ढंग से घोडा प्राप्त कर लिया है।" बडे उपहासपूर्वक, अभिमानपूर्वक बोला।



साधू का सावधानी का इशारा

साधु अत्यन्त शांतिपूर्वक बोला, "भीमा ! घोडा तुम्हें दे दिया। तुम इसे ले जाओ। किन्तु मेरी एक बात अवश्य सुनते जाओ।" डाकू ने बात पूछी, तो साधु बोला, "बीमार बनकर धोके से तुमने घोडा छीन लिया यह बात कभी भी किसी से मत कहना। बस इतना ही।" डाकू हंसने लगा। फिर बोला, "क्यों ? मुझे किसी का डर पडा है जो नही बोलूं।" साधु ने कहा, "बात ऐसी नही है, बात यह है कि लोग पहले ही दीन दुखियों पर भरोसा नही करते। लेकिन दीन दुखी बनकर तूने फँसाकर घोडा लिया यह जब लोग जानेंगे तो कोई भी गरीबों की मदद जरूरत पडने पर भी नही करेंगे। मानव का मानव पर से विश्वास उठ जायगा!" यह सुनकर डाकू चलता बना।

डाकू का हृदयपरिवर्तन

डाकू इच्छित वस्तु पाने की खुशी मे मस्त था। अत्यन्त प्रसन्नता के साथ वह रात्रि में आराम करने लगा। धीरे धीरे चिन्तन के तार झनझनाए। विचारों ने पल्टा खाया और वह क्रूरमना डाकू अशात हो गया। नींद हराम हो गयी। अज्ञान का अंधकार हटने लगा। अपनी हीन कृति से लज्जावश हो व्यथित हृदय से उठ बैठा। घोडा खोला और चुपचाप साधु के आश्रम में वापिस घोडा बाध आया। वह जीत कर भी हार गया था। साधु हार कर भी जीत गया था। यह हार की जीत थी।

कार्यकर्ता को संकेत

इसी प्रकार सच्चे कार्यकर्ता को भी हार का आभास होता है, लेकिन अन्त में जीत सेवा की, सत्यकी और प्रेम की ही होती है। संस्था मे कार्यरत सेवाभावी लोगों के लिए इस स्वार्थपरता से ऊपर उठकर सेवा और प्रेम से अपने मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है। सस्थाएँ चूना ईंट, पत्थरोसे नही पहचानी जाती। उनकी पहचान उन आत्माओ से होती है। जो उन में कार्य करते है। अतः कार्यकर्ता निष्ठावान, विश्वासपात्र ही होना चाहिए। तालियो के बीच चितामणी को बिदाई दी गई। किन्तु पं. जी द्वारा खडा किया गया घोडा आज भी अनेक वर्षोपरान्त स्मृति में महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पंडितजीका बटुआ

सुपारी ३ री

बडी पक रही है।

लगभग चौवन साल पूर्व की घटना है। उस समय प. पू. गुरुदेव समंतभद्रजी महाराज ने बाहुबली कुंभोज में गुरुकुल की स्थापना का संकल्प कर लिया था। हमेशा की तरह उन्हों ने साधक बाधक कारणों का परिपूर्ण विचार किया। इस संकल्प पूर्ति के लिये उन्हों ने श्री. चिंतामणि उपाध्ये व श्री. बालचंद खेमचंद इन दो स्नातकों का मन तैयार किया। और सेवायोग का वचन प्राप्त कर लिया था। प्रांत अत्यंत अपरिचित था। क्षेत्र बिलकुल नया था। जान पहचान न कुछ के बराबर थी। और पूंजी का कोई ठिकाना नहीं था। इसपर भी यह नया साहसी संकल्प केवल त्याग और तपस्या के भरोसे, समाजहित की भावनासे था।

पू. गुरुदेव सर्वप्रथम अकेले ही वहां पहुँचे। इस के बाद उपरोक्त दोनो कार्यकर्ताओं को भी वहाँ पहुचने का आदेश मिला। आश्रम में प्रचलित पद्धति के अनुसार गांव के प्रमुख मंडली के सामने बिदाई समारोह सम्पन्न हो रहा था। आशीर्वाद देने के लिए और मार्गदर्शन करने के लिए पं. जी. खड़े हुए। उन्हों ने कहा, "फलों से झाडकी पहचान होती है। ठीक उसी प्रकार बाहर जानेवाले संस्था के विद्यार्थी लोगो के व्यक्तित्व से चाल चलन से और कर्तृत्व से ही संस्था पहचानी जाती है।" तथा उपदेशात्मक ढंगसे उन्हे संबोधित किया। एक चतुर माता बच्चे को बाहर भेजने के पहले उस के साथ भोजनभी रख देती है। ठीक वैसेही पं जी. ने दोनों कार्यकर्ताओंके लिए अनुभवो के आधारपर सेवाभाव और प्रामाणिकता की महिमा और प्रभावकता को स्पष्ट करते हुए आपबीती घटनाको नि:सकोच सम्मुख रक्खा। वह घटित घटना इस प्रकार की रही। "जिस समय हम मोरेना के विद्यालय म पढते थे। स्व. गुरुगोपालदासजी के प्रयत्नो से विद्यालय प्रगतिपथ पर था। सस्था नयी थी। अनेक अडचनें थी। किन्तु सस्था के कार्यो के प्रति अपनत्व की भावना एवं ज्ञान प्राप्ति की लालसा से प्रेरित होकर छोटी मोटी बाधाओं को हम आनद से सहन कर लेते थे। हमेशा उन की यह प्रेरणा रहती थी कि "**ठोस ज्ञान प्राप्त करो और समाज की प्रामाणिकता से खूब सेवा करो।**" विद्यालय मे गोम्मटसार का अध्ययन शुरु था।

कुछ दिनों के लिये रसोइया छुट्टीपर चला गया था। इसलिये भोजन हम लोग खुद बनाते थे। भोजन बनाने में "अपना हाथ जगन्नाथ" इस उक्ति के अनुसार मौज मजे मे कार्य चलता रहा। एक दिन विद्यार्थियो के मन मे आया कि आलू की सब्जी बनायी जाय। जबकि विद्यालय का अलिखित नियम बरसो से चला आ रहा था। कंदमूल का उपयोग कभी भी नही होता था। अतः कभी भी किसी के द्वारा आलू लाया नही गया और खाया भी नही गया। किन्तु उस दिन के नियम भावनाओंका उबाल और लालची जीभ की स्वाद-लोलुपता के नीचे दब गया। कमजोर मन पतनकी ओर ले ही जाता है। बाल मन मे भय और आशंकाओं का उठना, स्वाभाविक था। विकारो की पकडभी मजबूत होती गयी। अंत मे निर्णय हो गया। देखा जायेगा। ऐसा सोचकर दूसरे दिन योजनाबद्ध ढंगसे अत्यंत दक्षतापूर्वक आलू की सब्जी बनानेका आयोजन निश्चित हुआ। कामो का विभाजन सावधानी से हुआ। कपडे में छुपाकर बाजार से आलू लाये गये। भोजनशाला मे गुरुजी रोजाना आते भी नही थे और आयेंगे भी नही यह मानकर आलू काटनेका काम एकात कमरे में किया गया। किसी को भी पता न लगे ऐसी पूरी सावधानी थी। सभी के अंत करण पर जिस विभूति का इतना प्रभाव था, उसी विभूति को हम लोग फँसा रहे थे। धोका दे रहे थे। फिर भी आलू की सब्जी खानी ही थी।

भोजन तैयार होने लगा। एक चूले पर चावल, दूसरे चूले पर दाल तथा तीसरे चूले पर हमारी खास सब्जी पक रही थी। रोटियाँ बन कर तैयार हो रही थी। इतने मे गुरुजी यकायक भोजनशाला मे पहुँचे। सब विद्यार्थी घबरा गये। क्योकि उन का आगमन उस दिन अचानक था। पडितजी ने आते ही वात्सल्यभावसे पूछा, "किसी को कोई तकलीफ तो नहीं। क्या रोटी, दाल, चावल सब बन गया?" किन्तु इस प्रश्न के बाद वे क्या पूछेंगे, इस की कल्पना मात्रसे हम लोग कांप उठे। बचना मुश्किल था। उन्हो ने पूछ लिया, "इधर क्या पक रहा है? उधर क्या पक रहा है?" और सहज भाव से पूछा, "भैया, आज तरकारी काहे की बनाई?" वैसे सभी गज ढके हुये थे। इसलिये चोरी पकडी जाने का डर कुछ कम था। किन्तु अपराधी मन अपराध करने के बाद भी सहज मे छूटने की तरकीबें भी ढूढ लेता है। अतः हम ने उत्तर दिया, "**गुरुजी! आज सब्जी नहीं लायी। बडी रखी थी, सो बडी पक रही है।**" ऐसा ठोस उत्तर दे दिया। इस पर "अच्छा?" कहकर गुरुजी चले गये। गुरुजी के गहन ज्ञान में यह बात शायद नही आयी होगी! अब हम लोग बच गये। ऐसे झूठे समाधान से मन हमारा भयमुक्त था। मन की परेशानी दूर हो गयी थी। और सभी ने समाधानपूर्वक अच्छी तरह भोजन किया। आलू बनाम बडी चाव से खा गये।

इस घटना को आठ पंद्रह दिन हो गये होगें। किया गया पाप या अपराध पच गया, यह मानकर हम लोग चितामुक्त थे। हमेशा की तरह गोमट्टसारका अध्ययन शुरु था। अध्ययन के साथ अनेक मौलिक विषयों पर

भी गुरुजी का उद्‌बोधन चालू था। वे लोग **जो समाज सेवा का व्रत लेकर कार्यक्षेत्र में उतरते हैं, उन में ईमानदारी होनी चाहिए। विचारों में सत्यता, भावा में भी सच्चाई और व्यवहार में भी पूरी ईमानदारी होनी चाहिए।**" यह था सामाजिक जीवनका गुरुजीका-सूत्र वाक्य। जीवन की इस व्याख्या को करनेवाले गुरुजी वास्तव में अधिकारी महापुरुष थे। वाणी गंगा की तरह प्रवाहित हो रही थी। इतने में बड़े ही सहज भावसे उन्हों ने कहा, "**सच्चे समाज सेवी को आलू को बडो नहीं कहना चाहिये।**" इतना मात्र कहकर उन्हो ने अपना भाव स्पष्ट किया और गोम्मटसार का विषय चालू किया। इतनी बडी बात कितनी सहजता से कही गयी। यह देखकर हम सब अभिभूत हो गये। ठीक वैसा ही हुआ जैसे चतुर माता बच्चे के पैर में गडा हुआ काटा निकालने के लिए बच्चे को झाडपर लगे हुए आम को तरफ या डाली के उपर बैठे कौव्वे की ओर देखने को कहती है। बच्चा आम या कौव्वा देखकर खुश होता है और माँ आराम से कांटा खीच लेती है। बच्चा निःशल्य हो जाता है। इसी प्रकार अपराध बोध का जो काटा हम लोगों के मन में चुभ गया था, उस शल्य को गुरुजी ने सहज भाव से निकाल दिया। भविष्य मे पैदा होनेवाले संभाव्य विकारों के प्रति हमारे बालमन पर जो अंकुश उस समय लगा, उस से उन के व्यक्तित्व की ऊँचाई मन की विशालता, सहज सदाचार प्रवणता, दूसरो के दोष ढांककर कल्याण करने की निर्मल भावना का दुर्लभ दर्शन हुआ। गुरुजी चाहते तो दंड देकर प्रायश्चित्त करवाते, किन्तु सिर्फ एक वाक्य ने सभी के जीवन की दिशा ही बदल दी। आज समाज यदि हमारे शब्दो को थोडी बहुत मान्यता देती है, तो उसका सारा श्रेय गुरुजी के आदर्श को है। उन मधुर क्षणो की यादों से आज भी मन को असीम शांति मिलती है। और निश्चल भावसे समाज की सेवा करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। एव उन जैसे पूज्य गुरुवर्य से शिक्षा प्राप्ति को प्रसन्नता का तथा गौरव का अपूर्व आनद मिलता है।

पंडितजी का बटुआ

सुपारी ४ थी

जिस नक्षत्र में सरसेठ हुकुमचंदजी पैदा हुये।

(निडर का नगाडा)

प्रस्तावना–

[पू. स्व. पं. देवकीनन्दनजी के बटुअे में लौंग सुपारी का आस्वादन लेने वालों के मन में सहज ही उनके बटुए का पान खानेकी इच्छा होना एकदम स्वाभाविक है। प्रस्तुत है उन के बटुए में से पान का बीडा, जिस में सूक्ष्मनिरीक्षण के कोमल पान हैं, ऊँचे विनोद का स्वच्छ चूना है, मौलिक सुभाषितों का सुगंधी कत्था है, तो हिंदी दोहों का तमालचूर्ण भी है और साथ में नीतिकथाओ की सुपारी और समयसूचक उद्गारों की तेज लौंग भी है।]

सन १९४७ की घटना है। पंडितजी के साथ संध्या में तुकोगंज में घूम रहे थे। समाज की आर्थिक परिस्थिति का नग्न चित्रण पं. जी की प्रवाही भाषा में मिला। विद्वान रसिक गण उस का उपभोग करे यही अपेक्षा।

पृथ्वीतलपर प्रसूत मानव जीवन का आकाश के नक्षत्रों से क्या संबंध है, इस की यह चर्चा नहीं है। या किसी धनसम्पन्न ऐश्वर्यशाली की यह कोई कहानी नहीं है। स्तुति भी नही है। समाज की मनस्थिति और आर्थिक दशा व्यवस्थित रहे इसी भावना की यह सहज अभिव्यक्ति है। समाज की रोगग्रस्त स्थिति का यहाँ सूक्ष्म

आविष्कार है और अनुभव के आधार पर समाजहित के लिए तिल तिल टूटनेवाला पं. जी का अन्तःकरण उस में ओतप्रोत है। समाज जिस महारोग से ग्रस्त है, उस का अचूक निदान और उपचार भी बताया है।

जीवंधर चरित्र में एक प्रसंग आया है, जीवधर के पिता राजा सत्यन्धर अत्यन्त विषय वासनाओ से ग्रसित थे। मंत्री काष्टांगार इस परिस्थिति का फायदा उठाकर राजगद्दी हडपना चाहता था। किन्तु निर्भीक मंत्री धर्मदत्त इस षडयन्त्र का पर्दाफाश कर देता है। धर्मदत्त इस बात को जानते थे कि काष्टागार के विरुद्ध कुछ भी कहना मृत्यु को निमन्त्रण देना है। "चाहे नौकरी चली जाय पर सत्यका प्रतिपादन होना ही चाहिए। इसी निडरता का परिचय समय समय पर पं. जी के सहज उद्गारो से होता है। सच्ची किन्तु कडवी बात कहते समय उनका आदर्श धर्मदत्त था! बिल्कुल भयरहित सत्यपर आधारित था। वे स्वय कहते थे।

"**अब धर्मदत्त बोल रहा है**"।
"**मानो न मानो यह मर्जी तुम्हारी,**
हम तो समझाएँगे ही, समझाएँगे॥"

महारोगी प्रवृत्ति रोग को छुपाने की होती है। समाजधारणा भी इस से अलग नही है। किन्तु समाजहित में जागृत पं. जी समाज कल्याण के ध्येय से प्रेरित रहे। यहां तक कि कटु एव कठोर बोलकर भी अपने अन्तस्थ अंतःकरण की बात बडे अनूठे ढग से कहते ही रहे। उन की वाणी का प्रवाह चालू हो गया।

वैभवशाली सर सेठ हुकुमचंदजी

"सती अहिल्याबाई के पश्चात सर सेठ हुकुमचदजी का नाम इंदौर के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा। वे केवल अपने वैभव के लिए विख्यात नहीं थे। उन की ख्याति का मूल कारण था उन की सही निर्णय लेने की क्षमता, व्यावसायिक प्रतिभा, एवं साहस। इस के सिवाय हृदय की विशालता, दानवृत्ति एव शील सम्पन्नता आदि अलौकिक गुण थे। इसी कारण उन्हे असामान्य गौरव प्राप्त था।

उन की पैतृक सम्पत्ति सामान्य थी, किन्तु स्वकष्ट से उन्हो ने स्वत विशाल सम्पत्ति का अर्जन किया। उन की सम्पत्ति का मूल्यांकन इस बात से हो जाता है कि प्रथम महायुद्ध मे ब्रिटिश सरकार को एक करोड रुपयो का युद्ध-कर्ज उन्हो ने दिया था। इस के अतिरिक्त उन के द्वारा प्रदत्त एक करोड रुपयों की दानराशी उन के वैभव का ज्वलन्त प्रमाण है।

सेठजी का अर्थ पुरुषार्थ

अनेको प्रकार के व्यवसाय उन्हो ने किए। कपडे का तथा कपडा बनाने की मीलें खोलीं, साहूकारी का व्यवसाय किया। सट्टे के व्यवसाय में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के सौदे उन्हो ने किये जिस मे कई सौदों मे करोडों रुपया बम्बई के बाजार से उन्होंने इंदौर लाकर इस नगरी को इन्द्रपुरी की शोभा प्रदान की। लक्ष्मी जैसे सहचरी होकर उन की अनुगामिनी हो गयी। यह था उनका विशाल वैभवशाली पुरुषार्थ।

मोर नाचता है इसलिये

उन के वैभव की कडियों में रंगमहल, शीशमहल, कॉचमंदिर, इन्द्रभवन आदि उन की भव्यता और वैभव के प्रतीक है। सट्टे के व्यवहार में प्राप्त अतुल धनराशी देखकर अनेक व्यापारियो के आकर्षण का केंद्र बम्बई हो गया। वे भी सट्टे के व्यापार मे लग गये। धीरे धीरे इन्दौर उस समय सट्टा व्यापार का एक महत्वपूर्ण नया केन्द्र ही बन गया। करोडों रुपयों का व्यापार इंदौर मे होने लगा और कई लोगो ने प्रति हुकुमचंद बनने के स्वप्न भी देखे। किन्तु मोर नाचता है इसलिये मोरनो भी नाचे तो कैसा रहेगा? जब कि मोरनो के नाचने मे बिलकुल सुंदरता नही होती। यही हाल इन व्यापरियों का भी हुआ। जो अद्भुत साहस और व्यावसायिक प्रतिष्ठा सर सेठ में थी

वह अन्यत्र कहाँ ? धीरे धीरे अनेक व्यापारी झूठी नकल में दिवालिया होने लगे । सर्प की एक जाति, जिस में सर्प अपनी दृष्टि के आकर्षण से जैसे शिकार को खीचता है ठीक वैसे ही इस महाभयानक महारोग की चपेट में अनेको व्यापारी प्रतिष्ठान धराशायी हो गये । किसी समय का ऐश्वर्यशाली जैन समाज इस घातक रोग की चपेट में आकर क्षीण होने लगा । कहते हैं पहले बुद्धि भ्रष्ट होती है, फिर व्यक्ति तथा वैभव भ्रष्ट होने लगता है । अभी अभी सुना कि बिहार के एक बडे उद्योगपति ने यह सोचकर कि छोटे छोटे दांव क्या लगाना अपना पूरा शक्कर का कारखाना ही क्लब मे दांव पर लगा दिया और हार गया । सैकडों परिवारों की रोजी रोटी चलाने वाला यह उद्यमी क्षणमात्र मे अविवेक के कारण एक सामान्य नौकर की भाँति जीवन जीने को बाध्य हुआ ।

दूसरा हुकुमचंद बनने की धुन में अनेको सुखी परिवार अधानुकरण की दौड में गिर पडे । अनेक नामी प्रतिष्ठान धूल धूसरित हो गए । पूरे समाज मे लगी यह भयकर व्याधि समाज को ले डूबी । पिछले पौन सौ साल का आर्थिक इतिहास समाज का देखे तो पता चलेगा कि यह समृद्धिशाली वैभव सम्पन्न समाज एकदम रसातल को पहुच गया । आर्थिक परिवर्तन की इस विधापर चाहे तो कोई विद्वान शोधकार्य कर किसी विद्यापीठ से आचार्य की पदवी से विभूषित हो सकता है । अनेक नगरों के गणमान्य प्रतिष्ठान समाप्त हो गए ।

स्त्रियां भी पीछे क्यों ?

घर में वंश को चलानेवाली उत्तम सन्तति का संपोषण करनेवाली महिलाएँ होती हैं । किन्तु घर के प्रमुख को यह दुर्बुद्धि सूझे कि लक्ष्मी का पलायन कैसे हो यह दुर्दैव की परिसीमा ही है । किन्तु स्त्रियो ने भी यह देखा, अनुभव किया कि क्या केवल पुरुष ही सम्पत्ति के इस प्रकार के विनियोग के अधिकारी हैं ? वे क्यों नही ? अपने समान हक के आधार पर स्त्रियों ने भी पीछे रहना ठीक नही समझा । वे भी इर्ष्या से भर गई । कौडियों और पासे के माध्यम से उन्हो ने भी अप्रत्यक्ष ढग से सट्टे का आव्हान किया । और चुपचाप स्वर्ण एव स्वर्ण के आभूषण घरो से गायब होने लेगे । जिस का दुष्परिणाम आज की पीढी भोग रही है ।

लखपति से भिखारी

संतोषपूर्वक कमाई कर के धर्माचरण की ओर ले जानेवाली प्रवृत्ति धीरे धीरे नष्ट होने लगी । एक के दो करने का यह व्यसन कितनी झूठी आशाएँ निर्माण करता है ।

> **"चाही थी पूरी तो आधी भी गयी ।**
> **मांगी थी केक तो रोटी भी गयी ।**
> **हमारी बातें न मानीं अकबर ?**
> **कि पतलून की ताक में लंगोट भी गयी ।।"**

इसी मनोवृत्ति का शिकार पूरा समाज हो गया । बीस के चालीस करने का लोभ दस भी बाकी नहीं छोडता । सट्टे की प्रवृत्ति का यह लोभ विनाश का कारण बना । सुबह के लखपति शाम को भिखारी नजर आने लगे और रातोरात पटिये बदल कर निर्लज्जतापूर्वक दिवालिया होकर बर्बाद हो गये । अज्ञान के अंधकार में भटकते प्राणी इस मोह के कारण धर्माचरणसे दूर हो गए ।

विनाश का मूल

इसी जुए के अन्तर्गत धर्मराज जैसे विवेकी भी संज्ञा शून्य होकर द्रौपदी को दांव पर लगा बैठे, यह केवल उस काल की पौराणिक कल्पना नही है, आज भी मानव मन की यही बुरी हालत नजर आती है । मांस पचता नही इसलिए मदिरा का प्रयोग जरूरी हो गया । मदिरा में उन्मत्त व्यक्ति को फिर मदिराक्षी चाहिये अर्थात व्यसन के दुष्ट चक्र में फंसकर व्यक्ति अपना विवेक खो बैठता है । व्यसन ही विनाश के कारण है, यह बुद्धिभ्रष्ट व्यक्ति समझ ही नहीं सकता ।

एक ऐसे ही गृहस्थी व्यक्ति ने जुए मे अपना सर्वस्व खो दिया और धर्मराज युधिष्ठिर की भाँति अपनी पत्नि को भी दांव पर लगाकर हार गया। और उस पतिव्रता को पाँच दिनोंतक विभिन्न लोगों के यहाँ रहकर पांचाली की भूमिका निभानी पडी। ऐसे हरामखोर नराधम का चेहरा भी बर्फ सी शीतल छातीवाला व्यक्ति देखे तो उसका भी खून खोलने लगता है। दुनिया के बाजार मे इस से ज्यादा और कुछ घटिया घटित हो सकता है, ऐसी कल्पना नहीं कर सकते।

पं जी और दोनो सुपुत्रों के साथ इन्द्रभवन से बाजार की ओर पैदल ही जा रहे थे। रास्ते में जिज्ञासावश पूछे गए उत्तर मे डॉ त्रिलोक बाबू बताते जा रहे थे कि "इस इस सेठ की यह कोठी है, और कैसे कैसे ये लोग अपने भवन किराए पर देने बाध्य हुए।" इसपर पं जी ने कहा, "देखो ! त्रिलोक, अपने को क्या करना है बेटा ? यह सब बडो की बातें हैं।" उसी समय इन्दौर के एक प्रतिष्ठान को पंद्रह लाख रु. का घाटा हुआ था। यह दुर्दशा देखकर त्रिलोकबाबू का रक्त गर्म हो उठा। मुझ से बोले "तात्या ! मुझे तो ऐसा लगता है कि कुछ ही दिनो मे यह सारा का सारा तुकोगंज कही गिरवी न हो जाय। इस सट्टे के प्रताप से कही कोई मील बेच रहा है, तो कोई अपनी दूकान। इसपर पंडित जी ने समझाया कि बात ऐसी है।

भाग्य बिना कहां पाइए, भली वस्तु को भोग।
दाख पके तब कागके होत कण्ठ मुख रोग॥

सत्य बात तो यह है कि इन भले आदमियो ने **सर सेठ हुकुमचंदजी की शान को देखा, मान को देखा, धनदौलत को देखा और अंधे जैसे कूद पडे। पर क्या कहे ये भले आदमी जानते ही नहीं कि जिस नक्षत्र में सर सेठ हुकुमचंदजी पैदा हुए,** उस नक्षत्र **में सिर्फ वे अकेले** ही पैदा हुए। लेकिन कहे कौन ? यह निडर का नगाडा बजावे कौन ?"

पंडितजी की कही बातें तो सत्य थीं। तथ्य से पूरी भरी थीं। लेकिन हमलोगो ने फिर पूछा, प. जी यह निडरका नगाडा क्या है ? इसपर पं. जी ने एक बडी उद्बोधक कथा कही। निडरका नगाडा : किसी राज्य मे हिम्मतराज नामक का एक होशियार युवक था। अपनी चतुरता से राजा की सेवा करने और नौकरी पाने हेतु वह राजा के पास पहुचा। राजा ने उसे विशेष कार्य कौनसा कर सकते हो पूछा। उसने कहा, "जहा कोई गल्ती करता हुआ मिलेगा मै ढोल बजाकर उसे सावधान कर गल्ती करने से रोकूगा।" राजाने उसे नौकरी दे दी। हिम्मतराज राजकीय व्यक्ति होने से लोग डरने लगे। किन्तु धीरे धीरे इस घटना से उस राज मे निडरका नगाडा खूब प्रसिद्ध हो गया।



एक बार अरब देश के घोडे के व्यापारी राजा के दरबार में आये थे। मात्र वर्णन से घोडे का सौदा होने लगा और उसी समय निडर का नगाडा बज उठा। राजा ने पूछा, "क्यों भाई, नगाडा क्यों बजाया ?" हिम्मतराज हिम्मत से बोला, "महाराज ! राज्यकोष का धन खर्च कर के आप बिना देखे सिर्फ वर्णन सुन ने मात्र से घोडो का सौदा कर रहे हैं, बिना वस्तु को प्रत्यक्ष मे देखे आपका यह सौदा है।" कथानक में व्याप्त नगाडे का नाद और अभिभूत अन्तर्नाद पं. जी से सुनकर हम लोग अपनी हँसी नहीं रोक सके।

अंत में ां. जी ने सूत्ररूप मे कहा, "जहर पचाना हर किसी के वश की बात नही। उसी प्रकार सट्टे से प्रसूत धन भी हर कोई नही पचा सका। लक्ष्मी, यौवन, प्रभुत्व इन मे से कोई भी तत्व विकारग्रस्त हो तो अनर्थ ही होता है।

"विवेक एवं तत्वज्ञान की औषधी सन्तोष पूर्वक ली जाय। यही एक मात्र इस का उपाय है।" पं. जी ने समाजशास्त्र का यह अमूल्य सूत्र समाज की अर्थरचना मजबूत हो इसी दृष्टिकोण से दिया।

निडर का नगाडा बजाये कौन ?

सट्टे के दुष्प्रभाव से अभीतक एक एक व्यक्ति डूबता रहा। लेकिन अब तो इंदौर-उज्जैन-बम्बई आदि के लोगो ने मिलकर व्यक्तिगत प्रमण्डल बना लिए है, जिन के माध्यम से वे सट्टे का व्यवहार करते। इस प्रकार सामूहिक रूप से बर्बादी की ओर पूरा समाज चल पडा। सभी एक साथ डूबे, ऐसी प्रवृत्ति पैदा हो गयी। जो कभी समाज के आदर्श थे, समाज शिरोमणी थे वे ...... शिरोमणी बन गये, किन्तु यह कहे कौन ? जब कि आज पू पंडितजी हमारे बीच मे है ही नही। निडर का नगाडा बजाये कौन !

हम सब सरदार देहली जा रहे

सुपारी ५ वीं

यहां मालिक काम करता है और नौकर नाम पाता है।

इसवी सन् १९३० के जेष्ठमास में घटित एक घटना है। कार्यकर्ताओं के आग्रह पर उस्मानाबाद के वकील श्री नेमचंदजी गाधी आश्रम देखने हेतु दस दिनों के लिए पधारे। उन की विदुषी सुपुत्री श्रीमती माणिकबेन भी साथ आई थी। वकील साहब ने कागजपत्रों से लेकर आश्रम की पूरी कार्यप्रणाली देखी। पंडितजी के प्रवचन सुने और धन्यता का अनुभव किया। एक दिन सायंकाल भोजनोपरान्त वकील साहब अपनी कन्या से बाते कर रहे थे। इतने में पं. देवकीनदनजी आए। दोनों ने पंडितजी का स्वागत किया। कूटा हुआ पान उन्हे दिया। तथा कहा, "पंडितजी ! आपका कार्य वास्तव मे बहुत बडा है ! आप बहुत कार्य करते है !" पंडितजी बोले, "यह तारीफ काम की है या पंडितजी की।" वकील साहब बोले, "यह तारीफ नही है, यह तो असलियत है।" पं. जी से रहा नही गया। पं बोले, "आप बुरा न माने तो सही सही बात कह दूं।" "कहिए, बडे शौक से कहिए !" वकील साहब बोले।

पंडितजी, "आप वकील है। वकील, वैद्य और गुरु के सामने झूठ नहीं बोला जाता।" वकील : "आप सच ही कहिए।" पं. जी : "सच तो यह है कि हमारे लिए यहाँ पर कुछ काम ही नहीं है। हम तो केवल दशहरा दिवाली पर सजाये जाते है और जोते जाते हैं।"

पं. जी का विनोदपूर्ण–अर्थपूर्ण भाव श्रीमती माणिकबाई नही समझ पायी। अतः पूछ बैठी, "दिवाली, दशहरा और सजाया जाना, जोता जाना यह सब क्या है ?"

पं. जी : "बेटी ! बात ऐसी है कि आप लोगों का आना हमारे लिए दशहरा, दीवाली है। आप को बताया जाता है कि यह काम पंडितजी का है। यह वास्तव में यह कार्य स्वयं ब्रम्हचारीजी का।" (देवचंदजी का)

इस पर वकील साहब ने कहा, "क्या ब्रम्हचारीजी झूठ बोलते है ? अभी अभी तो ब्रम्हचारीजी कह गये कि सब काम पंडितजी करते है।" पंडितजी "मैंने कब कहा कि, ब्रह्मचारीजी झूठ बोलते है ! मै तो यह कह रहा हू कि मैं भी कभी कभी सच बोलता हू।" प जी की इस रहस्यमयी चतुराई से दोनो का बडा मनोरंजन हुआ। फिर भी वकील साहब ने आखिरी सच सुनना चाहा। प जी : "सच तो यह है कि **यहां मालिक काम करता है और नौकर नाम पाता है !** ब्रह्मचारीजी सुबह ४ बजे से रात्री ११ बजे तक लगातार कार्य मे सलग्न रहते हैं। नाना कार्य करते है। उन की कार्यशक्ति, कार्य की पद्धति और प्रामाणिकता से कार्य करने की निष्ठा कुछ और है।" जिसका वर्णन पं जी कोई आधा पौन घंटे तक करते रहे। इतने में साय. सामायिक समाप्त कर ब्रह्मचारी देवचंदजी (महाराज समतभद्रजी) वहा पर आये। उन्हे देख कर वकील साहब ने विनोद से कहा, "ब्रह्मचारीजी ! आप ने झूठ ही कहा कि सारा कार्य प जी का है। पं जी कहते है कि यह कार्य मेरा नही है।" वाक्य पूरा होने के पहले ही प. जी ने अपने मित्र पर होने वाले बौद्धिक प्रहार को अपने ही ऊपर झेल लिया। विषयान्तर करते हुए कहने लगे, "वकील साहब, सच बात ऐसी है कि **हम सब सरदार देहली जा रहे है।**" जब कि वकील साहब के मन मे प. जी के वक्तव्य की सत्यता के बारे मे या ब्रह्मचारीजी की प्रामाणिकता के बारे में कोई सन्देह नही था। मन मे हल्कासा विकल्प भी कभी नहीं आया। दोनो महानुभाव निष्ठापूर्वक सारा सेवा कार्य कर रहे थे। यह प्रत्यक्ष वकील साहब ने देखा था, अनुभव भी किया था। किन्तु पं जी का विनोदपूर्ण सत्य का स्वरूप जानना चाहा। श्रीमती माणिकबाई ने पूछा, "प जी सरदार क्या है ? तथा देहली जाने का प्रयोजन क्या है ?" तब प. जी ने कहा, "किसी राजा के दस बारह सजीले सरदार (योद्धा) बडे बडे घोडों पर आगरा से देहली जा रहे थे। रास्ते में किसी चरवाहे के लडके ने यह भव्य दृश्य देखा और उस के मन में आया और वह भी योद्धाओं के साथ हो गया। पास ही चर रहे एक छोटे से टट्टू को पकड लाया।



" उसकी पीठ पर अपना कम्बल डाला । सिरका फटा साफा खोलकर टट्टू की लगाम बनाली और वह अर्ध नग्न अवस्था मे ही उन के पीछे पीछे चल पडा । रास्ते में लोग सरदारों को देखकर अपनी जिज्ञासा शांत करने पूछ लेते, "कहो सरदारजी ! सवारी किधर को जा रही ?" लेकिन उन सरदारो को जबाब देने को फुरसत कहाँ थी । किन्तु उत्तर आखिरी का नया सरदार (चरवाहेका लडका) बडी शान से सबको देता रहा कि हम सब सरदार देहली जा रहे है ।"

यह सुनकर सभी खूब हँस पडे । फिर माणिकबाई से पूछा, "बेटी, तुम समझ गई होगी । ब्रह्मचारीजी को कहाँ है फुर्सत नाम कहने की ! न इनको मरने की फुरसत है, न इन सावजी लोगो को है ! (जम्बूसावजी तथा प्रद्युम्नसावजी की ओर इशारा करते हुए, फुर्सत है अकेले मुझे । इसलिए मै ने कहा मेरे लिए यहाँ कोई काम नही है । हम केवल दशहरा, दीवाली को जोते जाते है ।" वकील साहब बोले, "वाह ! पं. जी कमाल कर दी आपने, खूब समझाया !"

पं जी . मै लगातार ७-८ वर्षों से कारजा मे हूँ । ब्रह्मचारीजी ने अपनी मालकीयत या सत्ता का कभी प्रदर्शन नही किया । वृथा अभिमान नहीं दिखाया । अनवरत सेवा मे जुटे ब्रह्मचारीजी का यही आदर्श था। सेवा उन की साधना रही । पूजा रही । सेवा ही उन को सच्ची मिल्कियत थी । हर कर्म में धर्म ही रहा । इसी में ब्रह्मचारीजी के सहज स्वभाव के दर्शन होते है । नजदीक से देखनेवाले ही इस भव्यता की महिमा को समझ सके । कार्य करने का श्रेय प्राप्त कर के अहम् की सन्तुष्टि उन्हे स्वप्न मे भी नही थी। सच्चे सेवक की विनम्रता और लगन उन मे रही ।

हजारो पत्र उन्हो ने लिखे, लेकिन कहीं भी " मै " सर्वनाम का प्रयोग नही किया । हजारो बार उपदेश दिए किन्तु " मै " कभी भी ओंठो पर नही आया । प्रसंगोपात्त कितने ही आदेश वे देते है किन्तु "मैं " कभी मुह से नही निकाला । इन सब बातों को सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो उन की लौकिकता मे भी अलौकिकता के सहज पावन दर्शन होते है । अहम् को शून्य करते हुए कार्यों को सम्पन्न करने की विलक्षण तत्परता उन में है ।

जिस दिन यह घटना घटी वह दिन जेष्ठ शुद्ध पौर्णिमा सन् १९३० का था । पू समंतभद्रजी प. जी को सदा अनुभवी ज्ञाता द्रष्टा सहयोगी के रुप में ही देखते रहे । स्वप्न मे भी नौकर या सेवक के रूप में सोचा नही । और प. जी स्वय को प्रामाणिक सेवक के रूप मे ही देखते रहे । परस्पर सहयोगी का संबंध कैसा हो इसका एक आदर्शरूप सुंदरतम दृश्य का दर्शन होता रहा । कारजा मे जो कुछ सस्था के माध्यम से अच्छा बन पाया उस मे इन दोनो देवताओ का (दक्षिण के ब्रह्म. देवचंदजी और उत्तर के पं. देवकीनदजी का) देवदुर्लभ सद्भावपूर्ण सदा सावधान सुमेल स्वीकार करना होगा । कारजा का भाग्ययोग ही कह सकते कि दोनो के द्वारा बेदाग मानवता की सजीव वस्तु अध्ययन के लिए प्राप्त हुई ।

खोटा दाम

सुपारी सहाबी

सन १९३५ जुलाई १७ की घटना है

संध्या का समय था । घर के प्रागण मे खटियापर पडितजी और गुरुजी लोग बैठे थे । इतने मे नगर के एक परिचित भाई आये । वे भी बैठ गये । आये सज्जन को अपनी सुनाने की बडी बुरी आदत थी । समय असमय

में अपने मुंहसे अपने ही गुण गाने की आदत थी । हर वाक्य का प्रारंभ " मैं " " मैं " और " मेरे " इन शब्दों से होता था । मेरा घर, मेरी घरवाली, मेरा धंधा, मेरी संतान, मेरी कमाई, मेरी बुद्धिमत्ता । सुननेवाले परेशान थे । उस दिन भी उन्हों ने अपना रोजाना का गाना शुरु किया । पाच दस मिनट हो गये । श्रोता लोग ऊब गये । अध्यापक श्री. गोसावी गुरुजी सहज भाव से बोले पं. जो इनकी सुनली अब आप कुछ सुनाइये । समय की सूझ पंडितजी की विशेषता थी–पंडितजी बोले —

बडी बडी मूंछे रखनेका राजा छत्रसाल का जमाना निकल गया था, मूछ बिलकुल सफा करने का वर्तमानका उष काल उदय को प्राप्त न था । साधारण तौरपर अगूठे जैसी मूछे और दाढी रखने का जमाना था ।

ग्वालियर स्टेटकी दक्षिण की ओर और हमारे झासी से उत्तर की ओर दतिया नाम की स्टेट थी। स्टेट में कुशलगढ एक छोटीसी जागीर थी । विजयसिंहजी ठाकूर जागीरदार थे । ठाकूरजी के आजा विक्रमसिंहजी ने युद्ध मे जो पराक्रम किया था उसी के बदौलत उन्हे १५ गाव की जागीर इनाम मे मिली थी । जिस की रक्षा–सुरक्षा के साथ ही साथ ठाकुरजी ने अपनी मिल्कियत में और भी अच्छी वृद्धि कर ली थी । नाम भी खूब कमा लिया था । कोई किसी को खास शिकायत नही थी । जागीर के बाहिर भी अच्छा प्रभाव और वजन था ।

घर में परिवार भी भरा पूरा था । पत्नी शीतला अम्मा पति–सेवापरायण सावधान, स्वरूप–सुंदर और दृष्टिसंपन्न थी । छहों तरुण सुपुत्र विवाहित थे, नाती भी थे और पाचो कन्याओं का परिवार भी नैमित्तिक मगल कार्यों के निमित्त से जब कभी आ जाता था तो घर भर जाता था, जिसे देखकर ठाकूरजी और ठकुरानी दोनों को आनद की अनुभूति होना स्वाभाविक था । यह सारा वैभव देखकर किसी को भी ईर्ष्या का होना सहज था ।

और भी एक विशेषता थी । ठाकूरजीकी सात्विक व्यावहारिकता का प्रभाव छोटे बडे परिवार भर के ऊपर अच्छा था । पुत्रपौत्रो का जमघट चालीस वर्षो से एक ही जगह पर ठाकूरजी की दृष्टि मे था । किसी को भी कोई बडा व्यसन भी न था । सभी व्यसन मुक्त थे । हर व्यक्ति अपने सुनियत कारोबार मे सावधान थे । परिवार मे पारस्परिक प्रेम भी अटूट था ।

× × × ×

दतिया स्टेट की अपनी एक विशेषता थी । आम तौर लोगो के स्वभाव मे–चाल चलन में–पोषाख मे और भाषा मे भी अहंकारकी झलक थी । और लोगो की पर्वाह बिलकुल न कुछके बराबर थी । स्टेट का लोकमानस कवि ने एक व्यंगभरे पक्ति मे ही चित्रित किया–

" ऐंट दतिया में, फेंट दतिया में
कांहू सो न बात दतिया में ।"

जागीरदारजी बलशाली थे । प्रवृत्ति मे क्षत्रियता थी । मुखमण्डल प्रभावी था । मूछे भी अच्छी थी । घराने की पारपरिक पद्धति मूंछ को ऊपर की ओर घुमाघुमा रखने की थी । ठाकुरजी यदि उसी तरह से मूछ रखते तो मुंहकी रौनक और अच्छी ही होती । किसी को कोई विकल्प का कारण भी न होता । पर वैभव के साथ साथ आनेवाला अहंकार न होने के कारण और सात्विक विचारो की मात्रा अधिक होने के कारण निसर्ग से ही ठाकुरजी आदत से लाचार थे । एक लोक–विलक्षण आदत थी । जैसे सिक्ख सरदारजी अपनी दाढी के बाल इधर उधर हवा से उडने न पावे इसलिए हाथ ऊपरसे नीचे की ओर घुमाते ही रहते, उसी तरह ठाकूरजी भी अपनी मूछपर ताव देकर ऊपर उठाने के बदले मे वह नीचे की ओर बनी रहे ऐसा ही प्रयास रहता था । प्रभाव के कारण कोई पूछने की हिम्मत न कर सका कि ठाकूरजी ऐसा क्यो करते हैं ? लेकिन मित्र विजयसिंहजी ने एक दशहरे के दिन भेंट के समय हिम्मत के साथ पूछा, "ठाकूरजी ! यदि बुरा न मानो तो पूछ लू ?" " पूछीये ना ? विकल्प का कोई कारण नहीं ?"

बिजयसिंह : ठाकूरजी ! अपने घराने की पद्धती रही । सभी बुजुर्ग मूछको ऊपर की ओर घुमाकर रखते रहे । वर्षों से देख रहा हूँ । आप यह सदा उलटी चाल से नीचे की ओर क्यों घुमाते रहते हो ? यह अच्छा नही लगता । मूछ ऊपर की ओर उठाने में घराने की इज्जत है । क्षत्रियो का यह हक है । बडप्पन भी । आपकी यह चाल बिलकुल उलटी ही दीखती, यत्रके माफिक आपका हाथ सदा ऊपर से नीचे की ओर चलता ही रहता है । अपनी नहीं तो कम से कम घराने की तो शान रखनी ही चाहिए ।

ठाकुरजी : बराबर, बिलकुल बराबर ! घराने की शान और इज्जत रखनी चाहिए ।

बिजयसिंहजी : उमर के पैंसठ साल गुजर गये । पूरा पुरुषार्थ किया । पैसा भी अच्छा कमाया । इज्जत भी कमायी । किसी को रत्तिभर नुकसान नही पहुचाया । किसी गरीब को सताया नही । घर में सदा अन्नदान भी होता रहा । देवता जैसी ठकुरानी ! रत्नो जैसी सन्तान ! सोने की तरह स्वरूप सुंदर पुत्रवधुएँ ! भागदौड करनेवाले और इशारेपर नाचनेवाले ईमानदार नौकर ! आप को क्या कमी पडी है सो यह अपनी उलटी चाल चला रहे हो ! अजी, घोडे के स्वार को अपनी बैठकर माड पक्की रखनी पडती है ।" विजयजी अपनी बडी बडी मूछोपर ताव देकर बोलते रहे ।

ठाकुरजी विजयजी, आप ठीक बोल रहे हो । घराने की इज्जत रखनी ही है । आप बोल रहे हो वह सब सच्चा है । पुरुषार्थ तो पूरा कर पाया, कोई किसी बात की कमी नही की । पर भाईजी, वह समय अभी दूर है । समय आनेपर जरूर मूछ ऊपर की ओर करके ही रहूँगा । एक लिंगजी की दया रहेगी तो वह दिन भी जरूर आवेगा, क्यो नही !

विजयसिंहजी के ख्याल मे एक बात अवश्य आयी कि ठाकुरजी की यह चाल कोई केवल आदतमात्र नहीं है, इस मे कोई रहस्य अवश्य छिपा है ।

× × × ×

दिन बीतते गये, महिनो गये, कई साल बीत गये । काल के प्रवाह मे विजयसिंहजी इस प्रसंग को भूल गये । पच्चीस वर्ष बीत गये । दोनो सिंह वृद्ध हो गये । घर में ही घूमना एक ही बार खाना खाना, नातियों के साथ मजाक करते रहना, भूतकाल की बातें सोचते रहना, यही अब दिनरात का, बुढापे का काम रहा । बीमारी तो कोई न थी । आयु भी ९० साल की हो हो गयी । वैसे स्वस्थ थे । अब दिन थोडे रहे । अब किसी भी वैदराज की दवा या मात्रा इस जीवनी को बढा नही सकती । अब तो इस लोक मे कुछ माह ही रहना शेष है । भीतर से ऐसा पक्का आभास होने पर साथी विजयजी को बुलावा भेजा । विजयजी आये । दोनो की रोज की तरह मीठी मीठी बातें होती रही । वार्तालाप के प्रवाह में–

ठाकुरजी : पच्चीस वर्ष पूर्व आप दसहरे के दिन सध्या को मुझे सुत्रा देने आये थे । आप ने पूछा था कि मैं मूछ को सदा नीचे को ओर ही क्यो करता रहता ? उसे ताव देकर क्यों नही परपरा की तरह ऊपर की ओर करता ? उस दिन मैं ने भी कहा था कि वह दिन अभी नही आया, वह दिन दूर है । विजयजी अब, वह दिन आ गया है । आप की तरह मेरी भी आयु १० साल के ऊपर की हो गयी है । अब मैं साल छह माह से अधिक जीवित नही रह सकता । दैवयोग बलशाली था । पैसा भी कमाया था । इज्जत भी कमायी । नाम भी खूब हुआ । अपने नजर के ही सामने दान धरम भी अच्छा बन गया । बच्चों का ससार देखा । पोते के मुह भी देख पाया । स्वास्थ्य भी अच्छा रहा । इज्जत को किसी भी बच्चे ने या नाती ने धब्बा नही लगाया । घरभर में कोई किसी भी व्यसन के चक्कर में नही पहुचा । कभी किसी बच्चे ने, पोते तक ने मेरी पूरी अदब रक्खी, कभी कोई शब्द निराधार नही गया ।

अब मुझे पूरा भरोसा हो गया कि शेष जीवन मे अंततक कमाई हुई इज्जत में धब्बा देनेवाली कोई घटना नहीं होगी । मेरी ही आँखो के सामने मुझे नीचे की ओर देखने का कोई प्रसंग नहीं आवेगा । अब पूरे आत्म

विश्वास के साथ स्वाभिमान पूर्वक ऊपर की ओर की हुई मूछ को नीचे की ओर करने का कोई विकल्प ही नहीं बचा है। आज आप की ही साक्षी से यह मूछ ऊपरको ओर करता हूं। यह सुनकर विजयसिंहजी अवाक् रहे।

× × × ×

कथा क्या ? समागत सज्जन को जो मैं मैं कर के सुनाने के आदि थे। उनकी आँखें खुल गयी। सज्जन बोले, "पं. जी. और कुछ हो न हो, मुझे तो एक नयी दिव्य दृष्टि मिल गयी। अहंकार और आत्म प्रशसा एक ऐसा खोटा दाम है, जिसकी दूसरी बाजू मे परनिंदा होती है। इसीलिए तत्वज्ञो ने इसे महापापो में गिनाया है। मूर्खों के बाजार मे यह दाम निकाम एकाध बार चल जाय तो चल जाय, परन्तु अपने ही मुह से अपनी प्रशंसा यह बिलकुल खोटा–निकाम दाम है।

क्या यह सौदा महंगा है ?

(लौंग १ ली)

प्रस्तुत है, पंडितजी के बटुवे में से पहली लौंग

बटुआ माने पान सामग्री का परिपूर्ण भंडार। प्रत्येक वस्तु व्यवस्थित रखी हुई होती है। चूना और कथ्थे से रगी हुई सुपारी। मानवी मन के सूक्ष्म निरीक्षण के कोमल पान, विनोद बुद्धी का चूना। मार्मिक सुभाषितो का कथ्था। साथ मे समय सूचक उद्गारो की लौग। अर्थात पूरा बटुवा माने प्रतिभा का रम्य विलास ही था ! लौंग का स्वाद तीखा तो होता ही है। किन्तु उसका आस्वाद लेनेवाले ही जानते है कि उस मे सचेत करनेवाला चैतन्य का कितना रस होता है।

पंडितजी दिल से दिलेर और स्वभाव से करुण एवं कोमल थे। भीतर–बाहिर सहजभाव परिपूर्ण एकरूप सरल थे। स्वभाव की तुच्छता कभी नही दीखी। और न कभी किसी परिस्थिति का अनुचित लाभ उन्हो ने उठाया। चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या भव्य सभा समारभ हो। अनेक टेढे विकट प्रसगो मे भी वे मार्ग निकाल ही लेते थे। एक बार पं जी अमरावती मे अपने मित्र सिं. पन्नालालजी के यहाँ औषधोपचार के लिए आये थे। प धन्यकुमारजी भी साथ थे। एक दिन परिचित सराफ मित्र ने पूछा, "प. जी महाराज, बुरा न मानो तो एक बात पूछू ?" प जी ने कहा, "खुशी से पूछो।"

प्रश्न–पडितजी आप का पेट कितना बडा है ? आज तक कितना पैसा खाया होगा ? कितना खर्च किया ? और कितना खोया ? यह तो रामजी ही जाने ! मित्रो के बीच एकदम ऐसा सीधा सवाल जीवन समर्पित करनेवाले समाज सेवक सेवामहर्षि के लिए एक आव्हान ही था। प्रश्नकर्ता को अदाज न था कि किसी पुरुष सिह की मूछ का बाल निकालना आसान नही होता है। किन्तु प्रश्नकर्ता को इस बात की कोई कल्पना न थी। लेकिन प्रश्न तो पैदा होही चुका था। प जी ने तुरन्त प्रतिप्रश्न किया,

"बेटा ! कितना खर्च किया होगा और खाया होगा ?" सराफ महाशय बोले, "मै क्या जानू, किया होगा, लाख दो लाख खर्च ?" यह बात सही थी कि आश्रम के खर्च के लिये पं जी के माध्यम से पैसा आता था। किन्तु उस पैसे से ज्यादा पं जी की सेवा का मूल्य था। प जी ने कहा, "बेटा ! सच बात तो यह है कि दो लाख रुपया तो हमने खर्च किये हैं। समाज से प्राप्त मूल धन जो पाई पाई सुरक्षित है। हा ध्रुवफंड की आमदनी मात्र संस्था के उपयोग मे आती है, वह दो लाख भी नही, पर तेरे हिसाब से मान लेते है। किन्तु सराफजी आप

प्रतिदिन रत्ती रत्ती सोना तोलते हो सच बताओ। स्वाभिमान पूर्वक पं. जी ने कहा, एक लाख रुपयों में महाराज जी महाराज बन गये और एक लाख रुपयों में बंदा पंडित हो गया !! क्या यह सौदा महगा है या सस्ता है !?"

कहाँ तो सराफजी उस पुरुषसिंह की मूछ का बाल उखाड ने की कुचेष्टा कर रहे थे और कहां उन्हे स्वयं मुह की खानी पडी, लज्जित होना पडा । प्रश्न पूछने के दुस्साहस पर पश्चात्ताप करते हुए सराफजी बोले, "प. जी आप हमें माफ करे, सौदा एकदम सस्ता है। बहुत सस्ता है।" प. जी ने फिर कहा, "बेटा यदि हिम्मत हो और कोई करामात हो तो बना दे एक लाख रुपए में पंडित एवं एक लाख रुपये में महाराजजी।" सराफ जी पश्चात्ताप भाव से बोले, "पंडितजी आप माफ कर दे ! भगवान की सौगंध, गलती हो गई । आपका मूल्य लाखो से क्या करोडो से भी आका नही जा सकता !" और अपना सिर पं जी के चरणो मे रख दिया।

अत्यन्त पारदर्शी नजारो से पं जी हर समस्या को देखते थे और उसका सम्यक् हल भी निकालते थे। सस्था संचालन मे लगनेवाली बडी निधि का संयोजन और उस का विवेक पूर्वक व्यय अत्यन्त सजग सेवाभाव से करते, तो भी समाज की ओर से क्या मिलता ? एक मात्र उपालम्भ, केवल आलोचना ! किन्तु आत्मसंयम का परिचय देनेवाले प जी जैसे मनस्वी व्यक्तित्व ने समाज के उपालम्भो को सह कर भी निष्ठा से जो सेवा की, वह समाज के लिए महान आदर्श ही रही। ऐसी निष्ठापूर्वक समाज सेवा से ही वे धन्य हो गए। और उन्हे पाकर समाज भी गौरवान्वित हुआ।

"दुनिया में केवल देने मात्र लायक चीज"

(लौंग २ री एवं ३ री)

समाज मे आजतक मानपत्र समर्पण समारोहों की एक तरहमे बाढ आ गई है। और उपाधियों की रात दिन सर्वत्र वर्षा हो रही है । दिन प्रतिदिन औपचारिकताएं बढती ही जा रही हैं । उपचारों में वास्तवता का सम्यक् आकलन नही हो पाता । और है इन मानपत्र-समर्पण के पीछे एक कालिमायुक्त विकृत इतिहास ! इसी पृष्ठभूमि पर आधारित प. जी के बटुवे मे से प्रस्तुत है एक लौंग; जिसका सात्विक स्वाद शायद आप को सात्विक आनन्द एव ठोस अनुभूति से भर दे !

पृष्ठभूमि . प. जी की शिष्यपरम्परा मे समाजमान्य पं. जनन्मोहनलालजी शास्त्री एक बार गए । उनके प्रवचनोपरान्त एक सज्जन उनके पास आये और कहा कि प. जी एक मानपत्र तैयार कर दीजिए। पं जी ने अत्यन्त सहज भाव से कागज पेन्सील ली और पूछा कि जिसे देना है उसका सम्पूर्ण ब्योरा दीजिए। अब सज्जन काफी सकुचाये । अत्यन्त सकोचपूर्वक उन्हों ने कहा कि पं. जी मानपत्र तो आप को ही देना है। हमारे यहा जो भी आते हैं, हम उन्ही से मानपत्र लिखवा लेते है। हम तो सिर्फ छपाई का कार्य करते हैं । प. जी को ऐसे लगा जैसे काठ मार गया हो । क्षणमात्र के लिए वे किंकर्तव्य विमूढ हो गए । यह तो बिल्कुल ऐसा हुआ कि हम स्वय ही अपनी आरती उतारे या दान दक्षिणा देने के बाद स्वय अपनी ही परिक्रमा कर ले। औपचारिकता का यह एक नमूनामात्र है।

प्रथम प्रसंग

पर्यूषण पर्व निमित्त सन् १९३१ में पं. देवकीनंदनजी के साथ कानपुर पहुँचे । परिचितों के बीच तो भव्य स्वागत होता था । किन्तु अपरिचित जगह या बडे शहरो के अनुभव कभी कभी बडे उल्टे होते है। या तो

एकदम भव्य स्वागत या फिर पूरी पूरी उपेक्षा । ठीक भी तो है । बड़े शहरों में हर आदमी अपने अपने जीवन व्यापार मे इतना व्यस्त होता है कि कब कौन आया और कौन गया किसे चिन्ता है ! स्टेशन पर लेने हेतु भी कोई नहीं आया देखकर पं. जी बोले, " पर्व का मगलाचरण बडा अच्छा हुआ " जब कि स्टेशन पर किसी का भी नही आना मुझे अच्छा नहीं लगा और पंडितजी कह रहे थे कि 'अच्छा हुआ !' अपनी जिज्ञासा शांत करने मैंने पूछा कि यह अच्छा कैसे ?

" बेटा ! तुम समझे नही । सच तो यह है कि जब यजमान की भूल होती है तो मेहमान की कदर और ज्यादा बढ जाती है, देख लेना ! "

हम लोग जैसे जैसे धर्मशाला पहुँचे । राजवैद्य श्री कन्हैय्यालालजी आदि प्रतिष्ठित लोग मिलने आये औपचारिक बातें पूछने के बाद जाते जाते बोले, " पं जी यह सब कुछ आपका ही है, जो चाहिये फर्माइएगा ! "

लखनवी औपचारिकताएँ और वहाँ की व्यवस्था देखकर मन व्यथित हुआ । पं जी तो शात रहे परन्तु दिनके ११ बजेतक भी चाय दूध के प्रबध के अभाव मे बच्चे एवं पंडितानीजी सभी व्याकुल थे ।

वैद्यराजजी की बात, " सब कुछ आप का ही है " सुनकर प जी ने अत्यन्त संयमपूर्वक अपनी बात विनोदपूर्ण सहज ढंग से कह डाली । " वैद्यराजजी हमें आपका बस कुछ नही चाहिये जगह तो मिल ही गई है, बस बच्चो के चाय के लिए आधा कप दूध चाहिए । "

वैद्यराजजी के ध्यान मे समागतों की आवश्यकताएँ आ गई । नियोजित व्यवस्थापक की अव्यवस्था उन के ध्यान मे आ गई ! स्वय खडे रहकर तत्काल सारी व्यवस्था कर के ही वे प. जी को अभिवादन कर चले गये । सारी व्यवस्था बराबर हो गयी । पर्व आनन्दपूर्वक सम्पन्न हो रहा था । प्रतिदिन भाषण प्रवचन प्रश्नोत्तर आदि होते रहते थे । सामाजिक स्तर के अनुरूप सभी के लिए उन का प्रवचन प्रभावी होता था । एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट भी हुई ।

उस समय कानपुर समाज मे युवकों का एक ऐसा वर्ग था, जिसे समाज के कुछ लोग उद्दण्ड और धर्मद्रोही के रूप मे समझते थे । पर्व मे ऐसे लोगों का प्रवचन सुनने से और मंदिर जाने से क्या लेना देना ! केवल भईया भाई थे । इसी कारण से समाज के बुजुर्ग लोग तिरस्कार पूर्ण नजरो से देखते थे । किन्तु प्रथम दिन ही पं. जी का उत्तम क्षमा धर्म पर प्रवचन हुआ । समाजकी रक्षा के लिए क्षत्रियवृत्ति की उपासना ही सच्चा क्षमा धर्म हो सकता है और वह युवकों द्वारा ही संभव है । ' इस आशयका रोचक पद्धतिसे प्रभावक भाषण हुआ । जिसे सुनकर युवको मे खूब चेतना आ गयी । प्रसन्नता से, उत्साह से युवा वर्ग उछलता हुआ देखा और पीछे बैठनेवाला युवावर्ग दूसरे दिनसे पहले से आकर आगे आगे बैठना भी रहा और ध्यान से उपदेश सुनता भी रहा । विचारो का एक तरह से यह कायाकल्प ही था । दृष्टिदान से दृष्टिपरिवर्तन था । उपेक्षा भाव से भरे ये युवक बाद में प जी से अत्यन्त प्रभावित होकर मिलते भी रहे । चर्चाकाल मे सुख दु खों की अपनी बाते नि:संकोच रूपसे पं. जी को अपना दोस्त समझकर कहते भी रहे । और अध्यात्म की ओर प्रवृत्त भी हुए । समाज के बुजुर्ग भी पं. जी द्वारा सपन्न इस उपलब्धि पर आश्चर्य-चकित थे । युवकों को धर्माचरण की ओर अपनी ओजस्वी वाणी से प्रभावित करते हुए प जी द्वारा अपूर्व चमत्कार ही हुआ ।

प्रसंग दूसरा

पर्यूषण के उपरान्त पं. जी का भव्य सत्कार किया गया । मानपत्र समर्पण समारोह अत्यन्त भव्य एवं प्रभावोत्पादक था । उत्तर मे पं. जी ने व्याख्यान प्रारम्भ किया और कुछ ही क्षणों मे जनता मंत्रमुग्ध हो गई । व्याख्यान मे कहा गया महापुराण में भरत चक्रवर्ती के षट्खण्ड विजय का रसपूर्ण वर्णन है । विजयोपरान्त भरत वृषभाचल पर्वत के पास आते है । जिस उपलब्धि का सामान्य जनपर कोई प्रभाव नही पडता, उसी महान् उपलब्धि

का भरत चक्रवर्ती ने स्वयं अनुभव किया। किन्तु जय पराजय में भी स्थितप्रज्ञ रहनेवाले विवेकी भरत के मन को अभिमान की हल्की सी किरण छू गई। यह समारोह था जब कोई चक्रवर्ती पद पर आसीन होता तो उसे वृषभाचल पर्वतपर जाकर नाम अमर रहे इसलिए किसी शिलाखण्ड पर अपना नाम और परिचय वज्रदंडसे अंकित करना होता है। चक्रवर्ति के जीवन का वह नियोग होता है। सामान्य मनुष्य को विजय की अपेक्षा अपना नाम अंकित करना ज्यादा गौरवप्रद लगता है। अभिमान ग्रस्त मन की ऊंची लहरें वृषभाचल पर्वत की ऊँचाइयाँ छूती है। पर्वत अचेतन था किन्तु चक्रवर्ती तो चैतन्य के पुज थे। एक अचल तो दूसरा धीर गम्भीर था। एक भोग्य तो दूसरा भोक्ता था। एक दृश्य था तो दूसरा द्रष्टा था। दो विरोधी तत्त्वों का टकराव था। अद्भुत था वह दृश्य! चक्रवर्ती पहाड के ऊपर नीचे चारों ओर घूम आये। किन्तु आश्चर्य! पूरे पहाड पर एक भी स्थान ऐसा रिक्त नही मिला, जहा चक्रवर्ती अपना नाम वज्रदण्ड से अंकित करते। सारा गिरीराज असंख्य चक्रवर्तियो के शौर्य और पराक्रम की गाथाओ से भरा खडा था। चक्रवर्ती को एक तीव्र झटका लगा कि "इस पृथ्वी तल पर मैं इस षट्खण्ड को जीतनेवाला प्रथम चक्रवर्ती नही हूँ। मेरे पहिले भी अनगिनत चक्रवर्ती हो चुके है!" बिरुदावली लिखने छोटासा भूखण्ड भी उपलब्ध न होना अभिमानको चूर कर गया। अत में एक प्राचीन लेख को मिटाकर ही उसपर नया टकन करना पडा। नामावली लिखी गई। और चक्रवर्ती का अपना नियोग पूरा हुआ। ससार मे कुछ भी शाश्वत नही है। सब क्षणिक है। यह अनुभव भी तत्ववेदी भरत चक्रवर्ती को हुआ।

तीसरी लौग

"चक्रवर्ती के अलौकिक पराक्रम की तुलना में हम सामान्य जनो का पराक्रम कोई अर्थ नही रखता। किन्तु हम छोटी छोटी सी उपलब्धि होनेपर अभिमान से भर जाते है। और खडे भी हो जाते है मानपत्र स्वीकार करने। अप्रत्यक्ष रूपसे यह हमारे कषायों की ही पूजा है। किन्तु भ्रमवश उसे हम अपना गौरव मानते हैं। आपकी उदारता के लिए मैं आपका हृदयसे आभारी हूँ।"

"मेरी समझ में तो भाइयो! दुनिया मे केवल देने लायक एकमात्र चीज है यह मानपत्र! मैं वर्षोंसे पंचो को परमेष्ठि की जगह मानते आया। मेरा दृढ विश्वास है कि मानपत्र मात्र देने लायक चीज है, कमसे कम मैं इसे लेने की योग्यता नही रखता। यह आप की चीज है, अत्यन्त सन्मानपूर्वक आप की सेवा मे समर्पित है।" इतना कहकर पं. जी ने मानपत्र की मंजूषा टेबल पर रख दी और बैठ गये। सभा अवाक् हो गई थी।

यह नयी दृष्टि थी। निपुण तत्वस्पर्शी व्यवहारदृष्टि की ऊचाई अपूर्व थी। गहराई अद्भुत थी। पं. जी की वाणीका प्रभाव पूरी सभा पर गभीर था। ज्ञानदानी के इस दृष्टि-संपन्न पुरुषार्थ का अत्यन्त निरपेक्ष बुद्धि से उदारतापूर्वक संवहन निःसन्देह अत्यन्त गौरवपूर्ण था।

बिदाई देने स्टेशनपर भीड उमड पडी। फूलमालाओंसे डिब्बा भर गया। लोग विशेषत: युवावर्ग जय जयकार कर रहा था। अनुभवी विद्वान व्यक्ति का सम्मान, आगमन की अपेक्षा बिदाई समारोह पर ज्यादा होता है, यह बात अपने आप मे सिद्ध हो गयी थी। मुझे याद आती रही उस वाक्य की, जिसे पं. जी ने स्टेशनपर आगमन के समय कहा था, "पर्वका मंगलाचरण अच्छा हुआ।"

मराठी आठवणी

पू. गुरुवर पं. देवकीनंदनजी

गुरुकुल संस्थांचा एक मजबूत आधारस्तंभ

श्री. विष्णुकुमार गोविंदसा डोणगांवकर
मानद मंत्री, म. ब्र आश्रम, कारंजा

मी आश्रममध्ये १९२७ ते १९३४ पर्यंत होतो. ८ वर्षे ९ वी १० वी पर्यंत. नंतर २ वर्षे सिद्धांत विद्यालय आणि शेवटी अजमेर बोर्ड मॅट्रिक परीक्षा. या कालखडामध्ये गुरुवर्य प. देवकीनदनजीच्या अनुग्रहाचे भाग्य मला लाभले. खुद्द पडितजींनी आपल्या कारजा आगमनाची कथा आणि व्यथा सांगितली मोरेनाहून कोणीतरी एक पडित आणण्यासाठी श्री. प्रद्युम्न सावजी व श्री जयकुमारजी वकील गेले होते तेथे प. धन्नालालजी, पं. मख्खनलालजी श्री खूबचंदजी याच्यासह चर्चावार्ता झाली. प. धन्नालालजीनी प. देवकीनदनजी ना घेवून जाण्यास सुचविले. त्याना बोलाविण्यात येवून विचारण्यात आले "आपण कारजाला जाण्यास तयार आहात काय ?" तेव्हा 'यदि गुरुजी की अनुज्ञा हो तो ।' असा प्रतिसाद आला. नतर पगार, मानधनाचा प्रश्न निघाला तेव्हा पंडितजींनी जे उत्तर दिले ते त्यांच्या जीवनभर जोपासलेल्या निर्लोभी वृत्तीचे द्योतक होते "मुझे पगार का कोई सवाल नही, आप ही देखे, मेरा निर्वाह ठीक तरहसे चले इतनाही काफी ।" त्यानी असा मानस प्रगट केला की संस्थेमधून पगार घेणे मला पसत नाही. मानधनाची तशी काही व्यवस्था असावी हे उत्तम. कारजाला आल्यानंतर प. पू ब्र. देवचदजी सह जबू सावजी आदि ट्रस्टीशी बराच उहापोह झाला त्यामध्ये पगारी सेवा न करण्याचा पडितजींचा पवित्र मनोदय सर्वांनाच मनोमन पटला आणि रुचला आणि संस्थेतून पगार न देता अन्य व्यवस्था करण्याचा निर्णय घेण्यात आला

स्व. देवकीनंदनजींच्या मानधनाची व्यवस्था—

यासाठी त्याकाळी उपरोक्त दोन ट्रस्टींनी पाच–पाच हजार रुपये प्रत्येकी काढून १०,००० दहा हजार रुपयावर येणाऱ्या उत्पन्नद्वारा पडितजीच्या मानधनाची व्यवस्था केली त्यावेळी सावकारी बरी चालत असे. त्यामुळे दहा हजारावर एक हजाराचे उत्पन्न त्याकाळी सहज शक्य होते. वैयक्तिकदृष्टचा अशी सावकारी व व्याज बट्टा पडितजीना पसंत नव्हता. परतु हे कर्तव्य उपरोक्त दोन विश्वस्त करीत त्यामुळे ते त्यात कधीच गुतलेले नव्हते. संस्थेची सेवा पगारी नोकर म्हणून न करावी या त्याच्या मनाच्या मोठेपणाचे सर्वानीच स्वागत करून त्याचा सन्मान शेवटपर्यंत कायम राखला. संस्थेमध्ये ते ट्रस्टी (विश्वस्त) म्हणून राहिले संस्थेमध्ये आल्यापासून ते इंदोरला जाईपर्यंत त्यानी महाराजाच्या खाद्याला खांदा लावून काम केले व जवळपास २१–२२ वर्ष महाराजाचे व संस्थेच्या व्यवस्थापनात योगदान देऊन मोलाचे मार्गदर्शन केले.

आम्हाला तर पडितजीनी द्रव्यसग्रह, रत्नकरड, तत्वार्थसूत्र वगैरे आठवी पर्यंत शिकविले. कारण त्यावेळी ते व ब्र. देवचंदजी [नतरचे श्री १०८ गुरुदेव समतभद्रजी] दोघेही धार्मिक शिकवीत असत. एकाच्या गैरहजेरीत त्यांचे तास दुसरा घेत असे. शिकविताना पंडितजींचा भर पाठांतरावर किंवा अनुकरणावर नसे प्रतिपाद्य विषयाचा आशय विद्यार्थ्यांना समजावा यावरच त्याचा भर असे गुरुदेव आणि पडितजींच्या शिकविण्याच्या पद्धतीत फरक होता. पडितजी पाठातर, अन्वयार्थ यावर (भर) जोर न देता भावग्राही व भावस्पर्शी ज्ञानावर त्यांचे खास लक्ष असे. आणि महाराज अन्वयार्थ व पाठातरपूर्वक विषयाचा आशय विद्यार्थ्यांना स्पष्ट करीत.

मला या संदर्भात एक घटना चांगली आठवते. आठवीची परीक्षा होती. प्रकृती ठीक नसल्यामुळे परीक्षा टाळावी असे वाटत असताना सुद्धा पंडितजीच्या सांगण्यावरून परीक्षेला बसलो. पाठांतर तर नव्हतेच म्हणून जो भाव समजला तो माझ्याच शब्दात पेपरमध्ये प्रगट केला. पं. जीनी मला उच्चतम मार्कस् दिले आणि जाहीरपणे शाबासकीही दिली; परंतु पाठांतर व स्मरणावर भर देणाऱ्या विद्यार्थ्यांनी याबद्दल गुरुदेवाकडे तक्रार नोंदविली. शेवटी पेपर्स गोसावी गुरुजी सारख्या मध्यस्थाने पुन. तपासून निर्णय द्यावा असे ठरले. परतु गोसावी गुरुजींनीही जे समजले ते आपल्याभाषेत प्रगट केल्यामुळे मलाच वरचा क्रमांक देवून पंडितजीच्या निर्णयाचे पूर्ण प्रामाणिक समर्थनच केले. नंतर प. जीनी आम्हाला सागार-धर्मामृत, गोम्मटसार, पंचाध्यायी व राजवार्तिक शिकविले. त्यावेळीही त्याची तीच पद्धती होती. त्यानी गोम्मटसार, जीवकांड व कर्मकांड याचे आराखडे, नकाशे, कोष्टके तयार करून शिकविले व विद्यार्थ्यांनी पाठांतरापेक्षा असे कोष्टकाच्या माध्यमातून भाव बिनचूक तयार करावेत असाच त्यांचा कटाक्ष असे पंडितजी धार्मिक तासामध्ये १५-२० मिनिटे शिकवून नंतर इतर सामाजिक जीवनविषयक प्रश्नावर बोलत. हे ही अनेकांना आवडत नसे. परंतु हुषार विद्यार्थ्यांना त्यात खूप रस येई

प जी वाणीचे प्रभु होते. त्यानीच विद्यार्थीदशेमध्ये याबाबत सांगितलेली एक घटना पक्की स्मरते. पं. गोपालदासजी बरोबर प. देवकीनंदनजी गेले होते कृष्णजन्माचा पर्व असावा. पंडितमान्य एकाच्या तर्ककर्कश व्याख्यानानंतर गोपालदासजीनी देवकीनंदनजींना बोलण्यास सांगितले. त्यांचे प्रसंगानुरूप व्याख्यानाने जैन-अजैन जनता अत्यंत प्रभावित झाली व "वाचस्पति है!" असे उद्गार काढले त्याची व्याख्याने आम्हासही बौद्धिक मेजवानीच होती. त्याच्या विषय रंगवून श्रोत्यांना मंत्रमुग्ध करण्याच्या शैलीमुळे त्याना नेहमी बाहेर सभा-सम्मेलने या निमित्ताने जावे लागे, त्याप्रमाणे गावातही सण-पर्वाच्या निमित्ताने जावे लागे त्याना बोलविण्याचा प्रस्ताव आला की तो सर्वसंमतीने मंजूर व्हावा अशी परिस्थिती असे आम्हाला तर नक्की आठवते की गावांत पंडितजीचे व्याख्यानासाठी आम्ही आश्रमातून जात असू व ही मेजवानी कधीच चुकवीत नव्हतो

पं. जीच्या शिकविण्याच्या संस्कारामुळे आणि तर्कनिष्ठ, शास्त्रशुद्ध विचारसरणीमुळे आम्हास त्याकाळी व त्यानंतर फारच लाभ झाला व तीच पद्धत जीवनभर सांभाळली या संदर्भात पं. जीच्या या विवेकदृष्टिबाबत प. पूज्य १०८ आचार्य शांतिसागर महाराजानाही केवढा आदर व विश्वास होता याची प्रचीती व गुरुत्रयं पंडितजीच्या महानतेचे दर्शन या बाबत दोन प्रसंग आठवतात अर्थात त्यावेळी पं. जी प्रत्यक्ष आमचे बरोबर नव्हते. प. पूज्य आचार्यश्री त्यावेळी बारामतीला होते. आम्ही देखील प्रसंगवश दर्शनाच्या हेतूने बारामतीला पोहोचलो त्यावेळी आचार्यश्री समवेत ब्र. बोधीचंद्रजीही होते. त्यांचे मत पंडितजी, महाराज व संस्थेबाबत अगोदर फारसे चागले नव्हते पुढे सिद्धान्त विद्यालयामध्ये २ वर्षे आमचे बरोबरच शिकण्यासाठी आचार्यश्रीनी पाठविले व ते राहिले. तेव्हा मात्र त्याच्या विचारसरणीमध्ये पूर्ण परिवर्तन झाले हेही खरे. त्यानी बुद्धयाच मी कारंजा आश्रम व पंडितजीचा विद्यार्थी म्हणून प्रश्न उपस्थित केला विषय निघाला नवीन मंदिर बाधणे व पूजाप्रतिष्ठा करणे याबाबत मला विचारण्यात आले की नवीन मंदिर-प्रतिष्ठा या गोष्टी अनावश्यक आहेत ना ? प्रश्न साधा वाटला तरी त्यावरून माझी व त्यावरून पंडितजी आणि महाराजाची परीक्षा होणार होती मी विचारपूर्वक उत्तर दिले. "या गोष्टी अनावश्यक आहेत असे नाही उलट या गोष्टी धर्माचरण टिकविण्यासाठी योग्यच आहेत त्यात वाईट ते काय ?" नंतर प्रतिप्रश्न-"मग आजकाल सभा समेलनामध्ये प्रतिष्ठाविरोधी सूर का लावण्यात येतो ?"

"पूजा प्रतिष्ठेचा निषेध करण्याचा त्यात उद्देश नसतो. परंतु त्या प्रसंगी जो मानपान, उधळपट्टीपणा, विवेकशून्यता, प्रतिष्ठाकार वा प्रतिष्ठाचार्यांची स्वत.ची प्रतिष्ठा वाढविण्याचा प्रयत्न हा अनुचित असल्यामुळे त्याचा निषेध करण्यात येतो." ही दोन्ही उत्तरे ऐकून आचार्यश्री प्रभावित झाले व प्रसन्नही झाले. "खरा महाराजांचा व देवकीनंदनजीचा शिष्य आहे" असा सहज उद्गार निघाला. नंतर मला शास्त्र वाचण्यासाठी

"मी लायक नाही असे विनविल्यानंतरही" आचार्यश्रींचा आदेश झाला आणि ती आज्ञा मानलीच पाहिजे असे आचार्यश्री म्हणालेत. त्यासाठी बुद्धिपुरस्सर महाराजांच्या पाटाशेजारी पाट मांडण्यात आला आणि शास्त्र आसनावर बसण्यास सांगितले

"महाराज आपला आदेश मी पाळतो पण आपल्या बरोबरीच्या आसनावर बसून मी शास्त्र वाचावे हे अनुचित आहे"

"नाही, शास्त्रगादी आहे वाचा त्यात गैर नाही", बोधीचंद्रजी उत्तरले.

"नाही, हे होणार नाही गुरुचे स्थान वरचे, आम्ही त्यांच्या बरोबरीने कसे बसावे ?"

अर्थात ही मुद्दाम घेण्यात आलेली परीक्षाच होती आणि गुरुवर्य पंडितजींचा आशिर्वाद व स्मृती यांच्या बळावर ह्या प्रसंगी उत्तीर्ण झालो या प्रसंगाने "पंडितजी व महाराजांचा शिष्य" म्हणून मला गौरव वाटला आणि त्यांच्या शिष्याला शोभेल अशा प्रकारे मला वागण्याचे सुचले हीच त्यांची जन्मभर लाभलेली अनमोल देणगी आहे.

असाच दुसरा प्रसंग घडला, तो आचार्यश्री गजपंथ येथे असताना त्यावेळी पू. आचार्यांच्या दर्शनाला पं. मखनलालजी, प. खूबचंदजी आदि बरीच मंडळी होती. गोम्मटसारमधून असाच एक प्रश्न चर्चेत होता. योगायोगाने मी त्यावेळी गजपथास गेलो असताना, त्याही वेळी "ये कारंजा का पं. देवकीनंदनजी का शिष्य है उसे पूछो ?" असे सहजच महाराज म्हणालेत त्याही वेळी पंडितजींचे स्मरण करून मी उत्तर दिले मला नक्की प्रश्न आणि नक्की उत्तर आज आठवत नाही पण त्यावेळीही महाराजांनी पंडितजी आणि त्यांच्या शिष्याची दोघांचीही परीक्षा केलीच एवढे मात्र स्मरते की माझे उत्तर तेथे जमलेल्या विद्वत्समूहाला फारसे रुचले नाही. हे उत्तर चलाखीचे आहे असाच त्यांचा अभिप्राय पडला

पंडितजी सभा–संमेलन प्रतिष्ठाप्रसंगी बऱ्याच वेळा एखाद्या गुरुकुल स्नातकाला घेऊन जात; व आपले व्याख्यान प्रवचनापूर्वी वा ५–१० मिनिटे त्यास प्रवचन करण्यास सांगत त्यांनी आपली शिष्यमंडळी या रीतीने पुढे आणून त्या द्वारा संस्थेचाही प्रचार केला मलाही असाच एकदा पंडितजींसोबत नांदगावला जाण्याचा प्रसंग आला. निमित्त होते पं. धन्नालालजींचा फोटो बसविण्याचे मलाही पंडितजींनी प्रवचन करण्यास सांगितले आणि व्याख्यानाचा विषय आणि आधारही सुचविला. प. आशाधरजींच्या सागार धर्मामृतातील–

"जिनधर्म जगद्बंधुमनुबध्दुमपत्यवत् ।
यतीञ्जनयितुं यस्येत् तथोत्कर्षयितुं गुणैः ।।

या श्लोकाच्या अनुषंगाने प्रवचन करण्यास सांगितले. बालकाचे बोबडे बोल म्हणून समाजजनांनी माझे कौतुक केले, की खरंच रुचले हे मी आज सांगू शकणार नाही. पण वडीलधारी मंडळींनी मला शाबासकी दिली, एवढे मात्र खरे ?

पंडितजी अतिशय व्यवहारचतुर आणि प्रामाणिक व निस्पृह होते. समाजामध्ये पंडितजींबाबत एवढा आदर होता की समाजाने पंडितजींकरीता काहीही केले असते, परंतु पंडितजींनी एक शब्दही कोठे उच्चारला नाही. हात पसरला नाही एवढे ते स्वाभिमानी होते. त्यांनी आपल्या सेवायोगाच्या मानधनाबाबत कुरकुर किंवा नापसंती व्यक्त केली नाही पंडितजींनी आयुष्यात कधीही धनसंग्रह केला नाही आणि या बाबत त्यांना खेद वा खंतही नव्हती. ते बाहेर जात कधीही स्वत.साठी व कुटुंबासाठी काहीही मागत नसत. आणत नसत. प्रवासखर्च मिळे तो घेत असत. संस्थेकरिता मात्र प्रेरणा करीत तेव्हा देखील दाताराच्या संतोषाने जे मिळे ते घेऊन येत. स्वतःसाठी श्रीफळ एवढेच काय ते घेत असत. प्रवासखर्च मिळाल्यानतर संस्थेतून पुन प्रवासखर्चासाठी रक्कम उचलण्याचा अप्रामाणिकपणा त्यांच्या स्वप्नातही कधी आला नाही ते ऋजु प्रकृतीचे व दिलदार स्वभावाचे होते.

प्रसंगी गरजू व अडचणीत आलेला कोणीही विद्यार्थी वगैरे असो त्यास ते स्वयं मदत करीत वा त्याचे काम दुसऱ्याकरवी साधून देत असत.

पंडितजी स्वयं कट्टर तेरापंथी होते. त्यानी कधीही पंचामृताभिषेक वगैरे केला नाही. उभे राहूनच पूजा करीत. परंतु पंचामृताभिषेक करणाऱ्यावर व बैठी पूजा करणाऱ्यावर त्यांनी कधीही द्वेष केला नाही. आपले मत मात्र ते सभ्यतेने माडत. तरी परंतु कडवी टीका करणे त्यांच्या स्वभावात नव्हते. दुसऱ्याचे मनाविषयी आदर व त्यांचा अपमान न व्हावा यासाठी दक्षता सदैव राखत त्यामुळे त्याना समाजात बहुमान होता ते गावात कोणाहीकडे जात, वार्तालाप करीत श्री. मोतीलालसावजी, श्री. ऋषभदाससावजी, श्री. गोपाळसावजी सगळीकडे ते मोकळेपणाने तासनतास बोलत. हा त्याचा स्वभाव समाजातील संघर्ष किंवा आपसातील मतभेद दूर करताना फार उपयोगी पडला. आश्रमसंबंधी श्री मोतीलालसावजी आणि त्यांचे परिवारात जे मनोमालिन्य होते ते दूर करण्यात पंडितजीनी सर्व व्यवहार-कुशलता पणाला लावली १९४४ मध्ये म ब्र आश्रमाच्या रौप्य महोत्सव प्रसंगी इंदोर निवासी श्री. सेठ हिरालालजी अध्यक्ष म्हणून आले होते त्यांनी पंडितजीच्या विचारविनिमयाने हा झगडा मिटविण्यासाठी प्रयत्न करण्याचे ठरविले. श्री. मोतीलालसावजी चवरे संस्थेच्या प्रस्थापनेच्या काळी १९१८ मध्ये ज्यांनी १० हजाराची एकमुस्त दान दिले असे एक उदारचेता गृहस्थ त्यामध्ये संस्था बंद पडली तर ते दान परत करावे असा तोंडी करार होता. संस्था चालू होती पण चालू कारभारामध्ये मोतीलालजी काकांना विकल्प होता म्हणून त्यानी पंडितजीना दहा हजाराचे दान परत मागितले पंडितजीनी त्याच्या कराराची आठवण देवून दुसरा तोडगा निघतो का ते पाहिले परंतु ते आपल्या भूमिकेवर अढळ होते. दान परत देण्याची गरज नाही यावर प्रद्युम्नसावजी पक्के होते. पंडितजीनी महाराज आणि प्रद्युम्नसावजीना पटवून रक्कम परत करण्याचा धाडसी निर्णय घेतला व दहा हजाराचा चेक शेठ हिरालालजी मार्फत पाठविला. तो त्यानी घेतला. त्याच्या उदार दातृत्वावर पंडितजीचा मनोमन विश्वास होताच त्याती दान तात्काळ परत केले. परत केल्यानतर मोतीलाल-सावजी पंडितजीना म्हणाले, " मला समतभद्र महाराजाची भेट घ्यावयाची आहे, परंतु त्यावेळी कोणीही असता कामा नये एवढी माझी अट आहे " ही अट ऐकून सर्वच घाबरून गेले होते. परंतु महाराज–पंडितजी वगैरे त्यालाही तयार झालेत. पुढे पंडितजी हजर राहण्यास त्यांची अनुकूलता झाली. ते पू समंतभद्रमहाराजांकडे गेले. खाली सर्वजण चिंतामग्न उभे होते परतु अर्धाएक तासानंतर सर्वजण हसत खाली आले, तेव्हा कोठे व्यर्थच्या चितेचे आणि विकल्पाचे सावट दूर झाले. पंडितजी हसत म्हणाले, " उन्होने तो दस हजारका ड्राफ्ट वापीस भी दिया है ! और शांतिकुमारके नामसे १००१, और दिया है ।" हे सर्व ऐकून सर्व आनदित झाले, या वेळी गुरुदेव व पंडितजीनी कमालीचे चातुर्य दाखविले. संस्थेतील एक अध्याय अशा प्रकारे चागल्या रूपाने निकालात निघाला. त्या प्रसगी पं. जीनी पार पाडलेली कर्तबगारी व तो महोत्सव संस्थेच्या इतिहासातील एक सोनेरी पान आहे आणि पंडितजीच्या व्यवहारचातुर्याचा तो सुवर्णकळसच म्हणता येईल. इतक्या तोलामोलाचे होते सर्व

पू. पंडितजी प. पूज्य गुरुदेवाच्या संस्थासमूहाचा एक मजबूत आधारस्तभ होते. प. पूज्य गुरुदेवांच्या दोन हातापैकी त्यांचा उजवा हात होते.

जे जे पंडितजीच्या परिचयात आलेत त्यांच्या जीवनात ते सुवर्णक्षण ठरलेत. त्यांनी गुरुकुल स्नातक परिवाराला अविस्मरणीय, अनमोल विवेकपूर्ण दृष्टी आणि चातुर्याची अनमोल देणगी दिली. त्याचे हे ऋण कधीच फिटण्यासारखे नाही. त्याची ही अमोल देणगी माझ्या जीवनातील अक्षय्य चिरंतन ठेवा आहे.

या निमित्ताने त्या महान् आत्म्यास वंदन करताना प्रसन्नतेचे अनुभवन होते.

गुरुवर्य पंडितजी : एक वाचासिद्ध व्यक्तिमत्त्व

डॉ. हेमचंद्र जैन, कारंजा

कारंजा येथील श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमचा मी प्राथमिक शाळेपासून विद्यार्थी होतो ते थेट नववी पास होईपर्यंत. आठवी नववीतले धर्मशिक्षण प. पू. श्रीगुरुदेव समंतभद्र महाराज स्वतः च देत असत.

पुढच्या शिक्षणासाठी मला बाहेर गावी जावे लागले, तथापि १९३१ साली वर्षभर कारंजा आश्रमातच राहून मी खाजगी रीतीने मुंबई युनिव्हर्सिटीच्या मॅट्रिकच्या परीक्षेला बसण्याचे ठरवले. त्यावर्षी मात्र पंडितजीकडून सर्वार्थसिद्धी शिकण्याचा योग आला. पंडितजींची शिकवण्याची पद्धती ही सामान्य शिक्षकापेक्षा अगदीच वेगळी-आगळी होती .इतर शिक्षक परीक्षेचा कोर्स संपवून परीक्षेसाठी विद्यार्थ्यांना कसे तयार करावे हा दृष्टिकोण ठेवीत. पंडितजींच्या हे गावीही नसे तत्त्वाचा गाभा आणि मर्म सांगून ते पुढे जात पण आनुषंगिक असा एखादा प्रसंग, गोष्ट, तत्त्व अत्यंत मनोरंजकतेने समरस होऊन सांगत. त्यावेळी त्यांचे मनुष्यस्वभावाचे सूक्ष्म अवलोकन व इतर अनेक विषयाच्या सखोल ज्ञानाचा सुंदर आविष्कार मन मोहून टाकी केवळ शास्त्रीय विषयापेक्षा तेच अधिक उपयुक्त वाटायचे बहुधा !

ह्या वर्षी बालकपणाच्या तुलनेत थोडीफार बौद्धिक प्रगल्भता वाढली होती, त्यामुळे यत्रतत्र होणाऱ्या पंडितजींच्या व्याख्यानांची वैशिष्टचपूर्ण अभिव्यक्ती रसास्वादनपूर्वक ग्रहण करणे शक्य झाले होते पंडितजींना "व्याख्यान-वाचस्पति" ही जनसमूहाने दिलेली गौरवास्पद पदवी किती सार्थक होती ह्याचा पदोपदी प्रत्यय येई.

यानंतर १९३६ साली मी वैद्यकाची पदवी घेऊन कारंजाला व्यवसाय सुरू केला पंडितजींचा सहवास पुन: लाभला. वेळोवेळी त्यांच्या गाठीभेटी होऊ लागल्या, सुदैवाने त्यांचा फॅमिली डॉक्टर म्हणून त्यांनी मला गौरविले व कारंजात मुक्काम असेपर्यंत त्यांची व कुटुंबियाची त्यांच्या उपस्थितीत व अनुपस्थिततही वैद्यकीय सेवा करण्याचे भाग्य मला लाभले-ते थेट त्यांचा मुक्काम येथून हालेपर्यंत. ते साल १९४४ असावे बहुतेक.

सुखद आश्चर्य हे की माझ्या भर तारुण्यांतही त्यांचा माझ्या वैद्यकीय ज्ञानावर असीम भरंवसा असे. त्यांची उपजत बुद्धीच अत्यंत विशाल, सूक्ष्म, पारगामी असल्याने रोग्या व रोगासबंधी जी थोडी चर्चा होई त्याचे तत्त्व आणि मर्म ते चटकन् ग्रहण तर करीतच पण पाण्यात पडलेला तैलबिंदू जसा क्षणभरातच खूप दूरवर पसरतो त्याप्रमाणे त्यांना ते आकलन होई. जणू काही त्यांनीही कुठेतरी वैद्यकशास्त्राचा सखोल अभ्यास केला असावा असे भासे ! त्याचे मर्म असे की पंडितजी जेव्हा मोरेना सिद्धांत विद्यालयात धर्माध्यापक होते तेव्हा त्यांना तेथील वसतिगृहातील विद्यार्थ्यांच्या आरोग्याकडे पूर्ण लक्ष्य ठेवावे लागे त्या सुश्रुषेत त्यांना आरोग्यविषयक पुष्कळच अनुभव पदरी बांधता आला. एवढेच नव्हे तर त्यांच्या मोरेना येथील विद्यार्थावस्थेत त्यांचे परमपूज्य गुरुपंडित

गोपालदासजी बरैय्या व्याख्यानाचे दौऱ्यावर जात तेव्हा ते हटकून त्यांचे आवडते शिष्य देवकीनंदनला सोबत घेऊन जात. एक तर ह्यांना वैद्यकीय उपचाराचे तारतम्य चांगले असे दुसरा त्यांचा उपयोग म्हणजे देवकीनंदनचे संस्कृतभाषेवरील असामान्य प्रभुत्व वादाचेवेळी उपयोगी पडे व तिसरे म्हणजे त्यांची धष्टपुष्ट, उंच, भरदार देहयष्टी ते जणू काही पंडितजीचे शरीरसंरक्षक आहे असा भास निर्माण करी त्यांची मुद्रा जेवढी भव्य तेवढीच धीरोदात्त आणि आकर्षक होती पंडितजीच्या वैद्यकीय ज्ञानानुभव पायाशुद्ध होता. कोणत्याही रुग्णाचे त्यांचे निदान अचूक असे आणि त्याचबरोबर उपचारांची दिशादेखील. त्यांच्याशी रुग्णाबद्दल चर्चा करताच सूत्रे ओघाने तोंडून ओघळत ते केवळ एकदाच ऐकूनही पंडितजीच्या अंतरंगात वज्रलेप बनत त्यांच्या बौद्धिक सूक्ष्मतेची झेप पाहून मी आश्चर्याने थक्क होई कारजात वास्तव्य असेपर्यंत त्यांचे आरोग्य चांगले होते ते एकदा व्याख्यानाला उभे राहिले म्हणजे तास दोन तास थकत नसत. त्यांचे व्यक्तीमत्व राजबिंडे व भारदस्त होते. केवळ त्यांच्या सदाबहार भाषणकुशलतेमुळे त्यांच्या सभोवतालचा परिचित, अपरिचित जनसमूह त्यांच्या व्यक्तित्वावर जीव ओवाळून टाकी. त्यांची धारदार नासिका, भव्य कपाळ आणि हसरी मुद्रा सर्वांना हवीहवीशी वाटे साक्षात् वाचा-सिद्धी अवतरल्याचे प्रत्ययास येई

पंडितजीचे वक्तृत्व हा एक अभ्यासाचाच विषय ठरावा वक्तृत्वाचे अनेक नमुने पाहिले पण ही वक्तृत्वाची एक आगळीच तऱ्हा होती. त्याचे यथातथ्य वर्णन देखील कठीणच वाटावे एवढे ते अलौकिक शैलीने नटलेले असे

त्यांच्या व्याख्यानाचे वैशिष्ट्य होतेच त्यांचेशी सहज वार्तालाप करताना देखील त्यांचे तोंडून जी वाक्ये बाहेर पडत त्यात शास्त्र, समाज, व्यक्तिविषयक त्यांचा अलौकिक विचारशक्तीचा तो पूर्णसत्य निष्कर्ष असे. त्या एखाद्या वाक्यानेही त्यांच्या सखोल विचारशक्तीने रसिक सहवासी दिपून जाई.

त्यांचा जनसंपर्क अमर्याद होता. समाजातील अनेक प्रमुखपदे भूषवितांना संपर्कात आलेल्या अनेक मानवाचे असख्य नमुने त्यांच्या कधी विचारवंत तर कधी विचित्र व विक्षिप्तवृत्तिसह त्यांना हाताळावे लागत. ते अशा अपूर्व कुशलतेने हाताळीत की समोरची व्यक्ती मग ती कसल्याही सुष्ट दुष्ट हेतूने आलेली असो एकदम शांत व निरुत्तर तर होतच असे, पण पुढच्याच क्षणी त्यांच्या युक्तियुक्त व सद्हेतूप्रेरित उत्तराने त्यांची भक्त बने ह्याचा अर्थ असा नव्हे की कोणाच्या कोणत्याही समस्या सोडवितांना किंवा त्यासंबंधाने मार्गदर्शन करताना केवळ समोरच्या व्यक्तीला खूष करण्याचाच त्यांचा प्रयत्न असे ते आपला कठोर व विपरीत विचारही मांडताना किंवा निर्णय देताना यत्किंचितही कचरत नसत, पण त्यांची सांगण्याची शैलीच अशी काही शांत, मधुर, विवेकसपन्न विनोदगर्भ असे की समोरच्या व्यक्ती आपली बडखोरी क्षमायाचनापूर्वक परत घेत. मनुष्यस्वभावाचे सूक्ष्मज्ञान उपजतच असल्याने कोणाच्याही कौटुंबिक, जाति, धर्म, पंथ, पक्षविषयक कसल्याही जटिल समस्या परंपरांतील माधुर्य न डागळू देता ते सहज सोडवीत. परवारज्ञातीत ते जन्मले. इतर दिगबर जैन जातिपेक्षा ह्यांची संख्या अधिक त्याचप्रमाणे त्यांच्या बौद्धिक, सामाजिक, धार्मिक जाणीवाही सुबुद्ध आणि प्रबुद्ध अर्थात् त्यामुळेच त्यांच्या समस्यादेखील दुरूह पण अशा अनेक अटीतटीच्या प्रसंगी अनेक वेळा परवारसभेच्या अध्यक्षपदावरून पंडितजीनी त्यातुन अलगदपणे मार्ग काढून ही धुरा समर्थपणे सांभाळली. अशा प्रसंगी ते जेव्हा कारंजाहून इष्टस्थळी पोहोचत तेव्हा एखाद्या अव्वलदर्जाच्या राष्ट्रीय पुढाऱ्याप्रमाणे त्यांचे स्वागत स्टेशनवरच होई. जैनेतराना तो मानवसमुद्र पाहून अचंबा वाटे. हे देवदुर्लभ स्वागत क्वचितच कोण्या विद्वान किंवा त्यागयाच्या वाटेस येत असे. वादग्रस्त घटनेवर जेव्हा ते खड्या आवाजात अधिकारवाणीने आणि अत्यंत आत्मविश्वासाने आपले विचार मांडित तेव्हा श्रोते मंत्रमुग्ध होत. त्यांचा जयजयकार करीत आणि आपआपला प्रतिवाद जागच्याजागीच विसरून जात. अटीतटीचा वाद आणि आत्यंतिक आततायीपणापर्यंत पोहोचलेले गणंग मीठ पाण्यात विरघळावे असे विरघळत. पंडितजी त्या सर्व हकीगती त्या कठीण प्रसंगातून आपल्या अपूर्व बुद्धिचातुर्याने यशस्वीरीतीने निभावून आल्यानंतर आम्हाजवळ वर्णन करीत. त्यावेळी त्यांचे बौद्धिक चातुर्य व विचारांची परिपक्वता ऐकतच रहावी असे वाटे.

हे झाले त्यांचे सामाजिक समस्या परिमार्जनासंबंधी. त्यांचे धार्मिक प्रवचन हे देखील असेच अलौकिक शैलीने नटलेले असे.

बहुधा पडितांचे प्रवचन म्हटले की अनेक शास्त्रीय विषय पारिभाषिक शब्दात गुंठित, तसेच असंख्य प्राकृत संस्कृत आचार्यप्रणित उद्धरणाची रेलचेल असलेले व सामान्यांच्या डोक्यावरून अधर घरगळणारे व श्रोत्यांना हैराण करणारे असे असते फारतर श्रोत्यानी पंडिताची फार विद्वान् म्हणून प्रशंसा करावी एवढीच त्या पंडिताची अपेक्षा व आपण काहीतरी धर्मश्रवण केला एवढाच संतोष श्रोत्याचा, बाकी परिणाम शून्य

या उलट पं देवकीनंदनजीचे असे त्याना व्याख्यान प्रवचनासाठी समोर कोणताही ग्रंथ लागत नसे की विषयाचे बंधनही आवश्यक नसे समोरच्या श्रोतृवर्गाचा बौद्धिक दर्जा, अभिरुची, प्रसंग, वातावरण ह्याचा अचूक अंदाज घेऊन ते प्रवचन किंवा व्याख्यान सुरू करीत व क्षणभरातच श्रोत्याची समाधी लागे त्यात कसलाही अवडंबर किंवा शब्दाचा फुलोरा नसे. दैनंदिन व्यवहारातल्या चार गोष्टी घटना, प्रसंग, औचित्य हेरून केलेले त्याचे शरसंधान कधीही विफल होत नसे व्याख्यान संपले की पोटभर पंचपक्वानाच्या जेवणानंतर जशी सुखद तृप्तता भासावी तशी समाधानसंतोषाची वाहवा ! वाहवा ! अशा शब्दाने जो तो आनंदित झालेला दिसे प्रत्येक वेळी मग तो प्रसंग–वेळ कोणतीही असो श्रोते मंत्रमुग्ध करून त्यांना शब्दाच्या पुंगीवर डोलायला लावणारा हा जादूगर त्यासारखा तोच.

पडितजीचे वाचन बेताचेच असले तरी अवलोकन, चिंतन, मनन कमालीचे व्यापक होते कोणत्याही विषयावरची त्याची मते विशेषज्ञाना देखील नवीन, चिंतनीय व निष्कर्षरूप वाटत त्याच्या चिंतनाचे विषय केवळ धर्मतत्वेच नव्हती तर व्यवहारोपयोगी व शास्त्रीय सुद्धा विषय असत सर्ववाग्विलास जणू गद्य–सुभाषितेच

त्याच्या वक्तृत्वाचे एक खास वैशिष्टय असे ते सांगून कुणाला खरेही वाटणार नाहीच. पण ते मी अजमावले. एकदा नव्हे अनेकदा व अनेक ठिकाणी ते असे की–साधारणत. सामान्य वक्ता मग तो कितीही बुद्धिमान किंवा उच्चातिउच्च पदवीधर असला तरी अपेक्षित विषयाची तयारी करतो एक तर तो विषय त्याच्या दैनंदिन व्यवसायाशी निगडित असतो किंवा त्याच्या एखाद्या आवडत्या व्यासंगाचा असतो तथापि व्याख्यानाला जायचे तर त्यासाठी तो काही महिने, काही दिवस, काही तास त्याची तयारी करतो त्यात वर्ण्यविषयाचा कटाळा येऊ नये म्हणून मधूनमधून पेरावयाची सुभाषिते, म्हणी, दृष्टांत, विनोद कुठे करावयाचे ह्याचीही आखणी करतो व मग व्याख्यान देतो एवढेही करून त्याचे व्याख्यान वाखाणले जाईलच ह्याचा त्याला भरंवसा नसतोच, व्याख्यानाचे शेवटी श्रोते काहीही भलीबुरी प्रतिक्रिया व्यक्त न करता खाली पहात पसार होतात आणि वक्ता निराश होतो

दुसरे म्हणजे त्याने सर्व मुद्दे कागदावर लिहून आणलेले असतात. तथापि त्याला मधून मधून व्याख्यान खंडित करून किंवा चोरटया नजरेने कागदाकडे पहावेच लागे पुष्कळदा ते व्याख्यान त्याने अनेक वेळा, अनेक ठिकाणी ह्यापूर्वी दिलेले असते–तरीही त्याची ही दैना सुबुद्ध श्रोत्याच्या नजरेतून सुटत नाही.

जे व्याख्याते एखाद्या विशिष्ट प्रसगी प्रमुख पाहुणे म्हणून बोलावले जातात त्यांची गंमत पहाण्यासारखी असते. म्हणजे त्याच्या व्याख्यानाची इतर व्याख्याते जर त्यापूर्वी बोलत असतील तर तेवढ्या वेळेत हे महोदय तिकडे मुळीच लक्ष न देता आपल्या व्याख्यानाचा मसुदा मनातल्या मनात तयार करतात समजा त्यावेळी दहा मुद्दे त्यांच्या मनात योजलेले असले तर स्टेजवर पोहोचताच त्या दहा मुद्यांपैकी दोन तरी गळालेले असतात. समोरचा जनसागर पहाताच आणखी दोन मुद्दे गायब होतात नंतर व्याख्यानाचे पहिले दोन मुद्दे वर्णन करता करता आणखी दोन परागंदा होतात. अशा रीतीने निम्मे अधिक भांडवल निघून गेल्यानंतरही श्रोते आकर्षित किंवा विषयाकडे केंद्रित होत नाहीत हे पाहून उरलेले दोन पळ काढतात. राहतात कसेबसे दोनच. मग त्यांची कशीबशी

बोळवण करून वक्ता उदासमनाने आपले भाषण संपवितो कोणीतरी आपल्या भाषणाबद्दल चांगले चार शब्द बोलावे अशी केविलवाणी आशा करीत आपल्या जागी जाऊन बसतो. सभा संपल्यावर मित्रांना सांगतो की ह्या प्रसंग काही लांबलचक व्याख्यानाचा किंवा पांडित्यप्रदर्शनाचा खास नव्हता म्हणून मी आटोपते घेतले, वगैरे.

ह्याच्या अगदीच दुसऱ्या टोकाचे तंत्र आमच्या पंडितजींचे

विषय कोणताही असो, प्रसंग कसलाही असो, एक क्षण अगोदर पंडितजीना सूचना मिळाली आणि त्यांनी भाषणाला सुरवात केली की सर्व श्रोते जीवाचे रान करून सर्व लक्ष्य केंद्रित करीत सवलयीने एकानतर एक असे मुद्दे आपल्या तत्त्वगर्भ रागेने पुढे येत. आशय सागून होत नाही तोच दुसरा मुद्दा गंभीर चालीने तरीही हसत खेळत प्रवेश करी तोही तिसऱ्याला वाट देऊन केव्हा परतला हे लक्षात येत नसे. सहजसुलभ हातवारे आणि सहजसुलभ मुद्राभिनय त्यांत कृत्रिमता नाही की अभिनयावेश नाही सहजसुंदर बोलभाषा, दैनंदिन व्यवहारातली उदाहरणे, ओघाने हळूच हजेरी लावून जाणारा विनोद एखाद्या नवनवोन्मेषाने बहरणाऱ्या वेलीला जसे नित्यनवे कोवळे वळणदार अकूर अखड मालिकेन दर्शन देतात त्याप्रमाणे सर्व मुद्दे एकानतर एक पुढे येत अगदी शिकवून तयार केलेल्या सर्कशीतल्या घोड्याप्रमाणे. अगदीच जगावेगळी तरीही प्रतिभासंपन्न अशी देणगीवजा व्याख्यानशैली! अपूर्व, अप्रतिम, अद्वितीय आणि अलौकिक !

पंडितजीच्या व्याख्यानवैशिष्ट्याचे मर्म विचारता ते म्हणाले, **"अरे बाबा, जे चिंतिले, अनुभवले, मनाला पटले तेच अकृत्रिम भाषेत व शैलीत सांगितले म्हणजे ते सहजच श्रोत्यांच्या अंतरंगाचा ठाव घेते. त्यात कृत्रिमता किंवा अस्वाभाविकता आली की ते कंटाळवाणे व निष्प्रभावी होते**" हे शंभर टक्के खरे असल्याचे कोणीही अभ्यासू वक्ता मान्यच करील पंडितजींचे धार्मिकज्ञान अत्यंत परिमार्जित होते ते कोणत्याही एका बाजूला झुकलेले नव्हते ते ज्यांच्या तैनातीत तयार झाले त्या वेळची शिक्षणप्रणाली ही काहीशी एका बाजूला झुकलेली होती पुढे वातावरण बदलत गेले तसतसे पंडितजीनी स्वत ला ढाळून घेतले तथापी ते समन्वयवादीच म्हणवले गेले. आत्यंतिक झुकाव किंवा हट्टाग्रह त्यांच्या वृत्तीत नव्हता. मात्र विषयाची मर्मग्राही प्रज्ञा आणि तिचा सुलभ आविष्कार, अभिव्यक्ती हा त्यांच्या प्ररूपणाचा विशेष असे त्यांच्या व्यावहारिक तत्त्वांचे निरूपण करताना त्यांचेवर सागार-धर्मामृत आणि क्षत्रचूडामणि ह्या दोन ग्रथांच्या प्ररूपणेचा अधिक सस्कार झाल्यासारखे भासे. तथापि पचाध्यायी-सारख्या क्लिष्ट तत्त्वप्रधान ग्रथावरही त्यानी सुलभ भाष्य लिहिले आहे त्यामध्ये ही विचक्षण बुद्धिमत्ता दृष्टिगोचर होते

पंडितजीचे प्रापंचिक जीवन अगदीच साधे किंबहुना ओढगस्तीचेच असे त्यात ध्येयवाद होता. त्याचे गुरु पं गोपालदासजीनी धर्मशिक्षण व धार्मिक व्याख्याने ह्यांचा मोबदला घेतला नाही. केवळ प्रवासखर्च घेत. एवढेच नव्हे तर भेटोदाखलच्या मौल्यवान वस्तूदेखील पत्करत नसत ह्याच भावनेचे प्रतिबिंब त्यांचेवरही होते. त्यांनी जनतेला जी काही प्रेरणा केली ती गुरुकुलसाठी या अपेक्षेने पंडितजीचे अमाप उपकार संस्थेच्या खाती जमा आहेत ओघानेच मध्य व उत्तर भारतात कारंजा गुरुकुलची अमाप प्रसिद्धी हेही वरदान रूपच ठरले.

पंडितजीची राहणी, खानपान अत्यंत साधे व शुद्ध असे. केव्हातरी नस ओढताना ते आढळत इतकेच ! आपण अधिक समृद्ध व संपन्न असावे ह्यासाठी ते कधी झुरले नाहीत की खेदखिन्न आढळले नाहीत. तत्त्वानुभवनात, चिंतनमननात, व्याख्यान प्रवचनात, अध्ययन अध्यापनात ते सर्वदा व्यस्त असत. संक्षेपात असे म्हणता येईल की त्यांचे जीवन काव्यशास्त्रविनोदगर्भ मूर्तिमंत सन्याशाचे प्रतीक होते त्यांच्या सुबुद्ध निकटवर्तीयांना मात्र त्यांच्या ओढगस्तीच्या जीवनाबद्दलची विवंचना त्रस्त करी. तसे पाहिले तर हे युगानुयुगाचे लक्ष्मीसरस्वतीचे वैर खुद्द ब्रह्मदेवही मिटवू शकला नाही. आणि पुढेही मिटेल असे वाटत नाही.

१९४४ साली पंडितजी एकाएकी इंदूरला गेल्याचे समजले. काही वर्षानंतर ते स्वर्गस्थ झाल्याचेही ऐकावे लागले. ते दुःख असह्य होते कारण ते वय त्यांच्या मरणाचे नव्हते. पण नियतीपुढे सर्वांनाच पराभव

पत्करावा लागतो त्यांचे शिष्य म्हणविणारे जे काही आमच्यासारखे सामान्य जीव जे काही थोडीफार वक्तृत्व व लेखन ह्याचे द्वारे धर्मसमाजसेवा करण्याची धडपड करताहेत हे सर्व त्यांच्या ऋणातून अंशमात्र मुक्त होण्यासाठीच. त्यांचे अनंत उपकार स्मरून त्यांच्या पावन स्मृतीला असंख्य प्रणिपात सहजच मनोमन घडतात व त्यांची प्रतिमा अंतः चक्षूसमोरून क्षणभरही हालत नाही.

'झाले बहु, असतील बहु, होतील बहु परंतु या सम हा' असा त्यांचा दर्जेदार दर्जा होता. धन्य ते व्यक्तिमत्व, धन्य त्यांची महासागरासारखी सखोल, प्रशांत, रत्नगर्भा अप्रतिम-प्रतिमा !

पंडित जी के गुणों का मोल किया नहीं जाता ।

जे. पी. मुधोळकर, नागपूर

समुद्र के पानी को नापा नहीं जाता ।
आकाश के तारों को गिना नहीं जाता ।।
सरस्वती के भंडार को तोला नहीं जाता ।
पंडितजी के गुणों का मोल किया नहीं जाता ।।

पूज्य स्व. पं. देवकीनंदनजी नायक यांच्या जीवनाचे वर्णन 'जगाच्या कल्याणा संतांच्या विभूती' व 'परोपकाराय सतां विभूतयः' या मोजक्या शब्दात करता येईल. गुणाग्रणी असूनही त्यांना अहंकाराने कधी ग्रासले नाही किंवा त्यांनी आपल्या सात्त्विक स्वाभिमानाची कधी पायमल्ली होऊ दिली नाही. त्यांच्या पोषाखात दिखाऊपणा नव्हता. 'साधी राहणी व उच्च विचारसरणी' असेच त्यांचे जीवन आदर्शरूप होते.

समाज, धार्मिक संस्था, धार्मिक उत्सव यांच्याकरिता अहर्निश योगदान देण्याची त्यांची सारखी तत्परता असे व त्याकरिता सर्व प्रकारची झीज सोसण्याची त्यांची तयारी असे. प्रत्यक्ष विरोधी माणसाशी सुद्धा ते त्यांच्या प्रतिष्ठेला धक्का न लागू देता विनयाने, सुहास्य वदनाने, मधुरवचनाने कार्य करून घेत असत. पंडितजींचे भाषण आगमानुकूल असे. त्यात जीवंधरचरित्रातील विविध नीतिवाक्यांचा उल्लेख असे. त्यांचे व्याख्यान वा प्रवचन दोन दोन तास ऐकूनही श्रोते कंटाळत नसत, त्यांचा आवाज खडा होता, पटवून देण्याची शैलीही उत्कृष्ट होती. ते गोड शब्दात मुद्दे स्पष्ट करीत असल्यामुळे श्रोते मोठ्या तत्परतेने त्यांचे व्याख्यान ऐकत असत. सभेत श्रोते शंभर असोत वा हजार त्यांचा त्यांना विधिनिषेध नसे. बाबू पार्टी व पंडित पार्टी यांचा तोल सांभाळून ते व्याख्यान देत असत. श्रोत्यांना पंडितजींचे व्याख्यान म्हणजे मोठी पर्वणीच वाटत असे.

व्याख्यान वाचस्पतीसारख्या बहुमानाच्या पदव्या देऊन समाजाने त्यांचे यथोचित स्वागत केले. ते परवार दिगंबर जैन समाजाचे पुढारी होते. त्यांनी परवार सभेचे अध्यक्षपदही दोन तीन वेळा मंडित केले होते. परवार सभेचे अध्यक्ष असताना त्यांनी मोठ्या कौशल्याने विरोधकांचा विरोध मोडून समाजात एकसूत्रता आणली होती. पंडितजींच्या जीवनातही चारित्र्यहननाचे प्रसंग आले पण त्या सर्व प्रसंगांना त्यांनी मोठ्या धैर्याने गाजावाजा न होऊ देता कुशलतापूर्वक तोंड दिले. विरोधकांनी सभा उधळण्याचे प्रयत्न केले. पण पंडितजींचे मृदुमधुर भाषण ऐकून विरोधकांना माघार घ्यावी लागली.

पंडितजींनी मोठा (बडा) मनुष्य कसा बनतो हे एकदा मोठया मार्मिक शब्दात सांगितले होते ते म्हणाले,

" पहले था मर्द, फिर भया नारी ।
बाद बना नपुसक, उस मे डाला नमकमिर्ची ॥
उस को गरम तेल मे डालकर तला ।
सब सहन करता गया तब बना ' बडा ' ॥

प्रथम मूग (पुल्लिगी). मुगाची केली दाळ (स्त्रीलिंगी) मुगाचे पीठ (नपुंसकलिंगी). त्यात मीठ, मिरची टाकून गरम तेलात तळले तेव्हा तो झाला 'बडा.' इतके सर्व प्रसग मोठे होण्यासाठी सोसावे लागतात. अशा रोजच्या व्यावहारिक उदाहरणानी ते फार मोठ्या गोष्टी सहज व विनोदी शैलीने पटवून देत असत.

मंदिरातील प्रवचन संपण्याच्या वेळी एका श्रोत्याने पंडितजीना प्रश्न विचारला, "पंडितजी, कोई आचार्य कहते हैं " कि पंचामृतसे भगवान का अभिषेक " करना चाहिये और कोई आचार्य कहते हैं कि पंचामृतसे भगवान का अभिषेक नही करना चाहिये । इसमे कौनसा मार्ग बराबर है ।?" पडितजींना विस्ताराने सागण्यास वेळ नव्हता म्हणून त्यांनी त्याला खालील दोहा सागून निरुत्तर केले व ते आपल्या कामाकरिता निघून गेले.

"कोई कहे कुछ है नही, और कोई कहे कुछ है ।
है और ना के बीच मे जो कुछ है सो है ॥"

पडितजी समयसूचकता पाळून हजरजबाब देत असत. एकदा एका श्रोत्याला कळाले की पंडितजी तंबाखू खातात. तेव्हा आपण त्याना प्रश्न विचारावा व ते त्याचे काय उत्तर देतात ते पाहावे म्हणून त्याने प्रश्न विचारला.

श्रोता : पडितजी, आप तबाखू खाते हो ऐसा सुना है, यह बात सच है क्या ?

पडितजी : बिलकुल सच बात है । मै झूठ नही बोलता ।

श्रोता : जिसको गधा भी नही सूघता, उसका आप कैसे सेवन करते हो ?

पडितजी : पहले बताओ कि आप तबाखू खाते हो या नही ?

श्रोता : पंडितजी, मैं तो तबाखू नही खाता ।

पंडितजी : बाबूजी, आपका कहना सौ टंच सच्चा है । असल मे जो गधा होगा सो ही तबाखू नही खायेगा । इस पर से आप समझ लीजिये । और आप खुदको परीक्षा कर लीजिये की आप कौन है ?

प्रश्नाचे हे उत्तर ऐकून प्रश्नकर्ता शरमिंदा झाला हा प्रश्न पडितजीचा उत्कर्ष सहन न होणाऱ्यानी मध्यस्थामार्फत मुद्दाम विचारला होता. पंडितजीच्या उत्तराने विरोधी श्रोतेसुद्धा चकित झाले.

स्व. सेठ हिराचंदजी नेमचंदजी दोशी सोलापूरहून पूज्य महाराजांच्या आग्रहास्तव कारंजा येथे महावीर ब्रह्मचर्याश्रमाचे निरीक्षण करण्याकरिता आले आश्रमची व्यवस्था व कार्य पाहून त्याना परम संतोष झाला व त्यानी ग्रथालयाकरिता पाच हजार रुपयाची देणगी दिली. शिवाय धवल, जयधवल, महाधवल हस्तलिखित या ग्रथाच्या प्रती संस्थेला भेट दिल्या. त्यानी पू. देवकुमारजीची मुक्तकठाने स्तुती केली तेव्हा पू. देवकुमारजीनी कार्याचे श्रेय पंडितजींना आहे. मी काहीच केले नाही असे सागितले. आपणाकडे लघुपणा घेतला व पडितजीना सर्व श्रेय व मोठेपणा दिला. तेव्हा पडितजी म्हणाले, " सेठजी, इस संस्था का चौबीस घटे काम तो महाराजजी करते और श्रेय मुझे दे रहे हैं । याने मालक चौबीस घंटे काम करते और श्रेय नौकरों को मिलता है ।" हे ऐकून सेठजीस आश्चर्य वाटले. मालक व सेवक यांच्यात येथे भेदभाव दिसत नसल्याचे पाहून ते चकित झाले.

पंडितजी वकिलाचेही वकील होते. बारामतीहून कारंजाला येत असता गाडीत पंडितजी व पूज्य देवकुमारजी यांची भेट झाली. त्याच डब्यात बारामतीजवळचे एक नामांकित जैन वकील बसले होते. ते हुम्मड समाजाचे होते प्रारंभिक परिचय वगैरे आटोपल्यावर पडितजी सोबत त्यांचा जो संवाद खेळीमेळीच्या वातावरणात झाला तो पडितजीमध्ये असलेल्या वकीली गुणाचा निदर्शक आहे

पंडितजी : वकीलसाहाब, आप तो बहुत धार्मिक दिखते हो । आप को आश्रम को कुछ दान अवश्य देना चाहिये । 'न धर्मों धार्मिकैर्विना ' ऐसा आचार्योंने कहा है । आप आश्रम को कितनी रकम दान दे सकते ?

वकील : पंडितजी, आपही कहो कितना दान लिखू ?

पडितजी : कमसे कम एक हजार तो आप दान मे दीजिये ।

वकील : (आपला मोठेपणा दाखवीत) मैं तो एक हजार के बदले दो हजार देता हू किन्तु मेरी एक शर्त है कि आश्रम देखे बिना मैं दान मजूर नही करता ।

पडितजी : वकील साहाब, आपकी शर्त बिलकुल मंजूर व अरे भाई, बजार मे मिट्टी का घडा खरीदते समय उस को चार बार बजाकर देखते है और फिर खरीदते है । यहा पर तो आप को दो हजार देना है । तो मै भी कहता हूँ, आश्रम देख कर ही आप दान दीजिये ।

वकील : (आपण जिंकलो असे वाटून) मुझे आप का प्रस्ताव मजूर है ।

पडितजी . वकील साहाब, ये कहो कि कितने साल मे आश्रम देखने के लिये आप आयेंगे ।

वकील : पंडितजी, दो-तीन साल तक तो मेरा कारंजा आना संभव नहीं है । कम से कम पाँच साल की मर्यादा यदि आप को मंजूर हो तो कहो ?

पडितजी : आप का कहना मजूर है । लेकिन इन पाँच सालो मे आप का कारंजा आना नहीं हुआ तो स्वीकृत दान पूर्ति आपको करनी होगी ।

पडितजीच्या पुढे वकिली चालत नाही हे पाहून त्याना सर्व मजूर करावे लागले योगायोग असा की वकीलसाहेबाचे पाच वर्षात कारंजास येणे झाले नाही व मजूर केलेली दानाची रक्कम संस्थेला मिळाली हा पडितजीच्या समयसूचकतेचा एक नमूना मात्र आहे ते वकिलांचे वकील होते

पडितजी विद्यार्थ्यांच्या बाबतीत नेहमीच वात्सल्यभाव ठेवीत असत. मुलावर रागावणे त्याना जमतच नसे रागावण्याचा आविर्भाव केला तरी ते शांतिपूर्वीचे वादळ असे. रागावण्याचा शेवट मुलाच्या पाठीवर प्रेमाने हात फिरवूनच होत असे अभ्यास न करणाऱ्या मुलाना ते एकटे गाठून प्रेमाने हिताचा उपदेश करीत असत. पडितजीचे समजावणे नीतिश्लोक व दोहे याच्या माध्यमातून असे

पडितजी कारंजाहून स्व. सेठ हुकुमचदजीच्या आग्रहास्तव त्याना सकाळी व सध्याकाळी शास्त्र वाचून दाखविण्याकरिता इदोरला गेले तेथे मुलाचे शिक्षण व मुलीची विवाहादि कार्ये उत्तम रीतीने पार पडली परतु तेथे त्याना मनःशाती मिळाली नाही एकदा इंदोरहून त्याचे कारंजास येणे झाले असता त्यांच्याशी माझे बोलणे झाले होते. त्यावेळी ते स्पष्टपणे म्हणाले, "जे पी इदौर की क्या बात कहना ? लडको का शिक्षा अच्छी हो रही है । कितु मै कारजा में जितना प्रसन्न, स्वतत्र और मुखी था उतना इदौर मे नही हूँ । सुख का मीटर संतोष है । वह जितना ऊँचा उतना सुख अधिक । इंदौर से अधिक मात्रा मे आनद मैने कारजा मे पाया है । आश्रम से मेरी शोभा थी ।

पडितजींच्या स्नेहवत्सल स्मृतीला विनम्र अभिवादन !

विद्यागुरवे नमः

महामहिमोपाध्याय पं. नरेंद्रकुमारजी भिसीकर
सोलापूर

पं गोपालदासजी बरैया याचे प्रमुख शिष्य पं देवकीनंदनजी नायक हे आमचे विद्यागुरु. त्यांनी आम्हाला प्रमेय कमल मार्तण्ड, अष्टसहस्री सारखे गहन न्यायग्रंथ शिकविले. पंडितजी न्यायाचार्य नव्हते त्यांनी न्यायग्रंथाचे अध्ययन केले नव्हते. तरी पण त्यांनी आमची न्यायशास्त्राची तयारी चांगली करून घेतली होती मी न्यायतीर्थ परीक्षेकरिता इंदोरला गेलो असता आमचे परीक्षक पं. जीवंधरजी शास्त्री, यांनी मला विचारले, "आप ने न्याय शास्त्र अष्टसहस्री का अध्ययन किसके पास किया ?" मी पं देवकीनंदनजीचे नाव सांगितले तेव्हा त्यांना आश्चर्य वाटले अष्टसहस्री सारख्या गहन ग्रथाची तयारी इतकी चांगली करून घेतल्याबद्दल त्यांनी पंडितजीच्या बाबतीत कौतुकास्पद उद्‌गार काढले. पंडितजींची व्युत्पन्नता व प्रतिभाशक्ती अपूर्व होती आणि त्यामुळेच त्यांनी स्वत. अध्ययन करून गहन ग्रथाचे अध्यापन केले

पंडितजींनी आम्हाला सागारधर्मामृत, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धी, राजवार्तिक इत्यादि ग्रंथ शिकविले पण ते स्वत: कधीही पुस्तक हाती घेत नसत. आम्ही वाचन करीत असू व ते त्याचे सहजपणे स्पष्टीकरण करीत असत. गहन विषयसुद्धा आम्हाला समजू शकेल अशा सरळ शब्दात स्पष्ट करण्याचे त्यांचे कौशल्य वाखाणण्याजोगे होते

महावीर ब्रह्मचर्याश्रमात अध्यापकाचे कार्य करीत असता पंडितजींचा सहवास मला अनेक दिवस लाभला. ते आश्रमातून गावात जाताना मला सोबत घेऊन जात असत रस्त्यात ते आपले अनेक अनुभव, लहान सहान चुटके मला सांगत असत. त्यांचा माझ्यावर विशेष लोभ होता. त्यांनी शिकविलेल्या सागार धर्मामृत व पंचाध्यायी या ग्रंथाचा आणि अनेक वेळी त्यांनी सांगितलेल्या अनेकविध अनुभवाचा माझ्या जीवनावर फार मोठा परिणाम झाला. त्यांची तर्कशक्ती, वक्तृत्वशक्ती प्रभावशाली होती. त्यांचा अमर आत्मा त्यांच्या पावन स्मृतिरूपाने अमर राहो हीच पवित्र श्रद्धांजली.

माझे चिरंतन प्रेरणास्थान—पं. देवकीनंदनजी

ॲड्. श्री. शांतिकुमार रामलाल लोहाडे
नाशिक
अध्यक्ष—म. ब्र. आश्रम, कारंजा.

मी **१९३१** साली आश्रमात भरती झालो. १९३७ मध्ये मॅट्रिक पास होईपर्यंत एक गुरुकुल स्नातक होतो. त्यावेळी कारंजा गुरुकुलच्या प्रमुख इतर कार्यकर्त्याप्रमाणे प. स्व. देवकीनंदनजी एक होते. सागारधर्मामृत—गोम्मटसार, जीवकांड, कर्मकांड, सर्वार्थसिद्धि, पंचाध्यायी, अष्टसहस्री आदि ग्रंथ शिकविण्याचे प्रमुख काम तर

त्याचेकडे होतेच परंतु त्या बरोबरच संस्थेच्या अंतर्गत व्यवस्थापनात ते प पू समतभद्र महाराजाचे ते उजवे हात होते.

त्यावेळी गुरुकुलमध्ये असणाऱ्या प्रत्येक स्नातकाशी पू. पंडितजींचा संबंध येत असे. घरातून येणारे दु.खांचे काळे निळे ढग आणि सस्थेच्या शिस्तीशी विसंगत वागल्यामुळे होणाऱ्या शिक्षाचे सावट आदि सर्वच प्रसंगी त्यानी विद्यार्थ्यांना योग्य मार्गदर्शन देऊन त्यांच्या चुका दुरुस्त करवून त्याना धीर आणि दिलासा दिलेला आहे. मला तर आजही त्यांची माझेवर असलेल्या अकृत्रिम वात्सल्याची पुन.पुन्हा गोड आठवण होते व मन आनंदाने आणि अभिमानाने भरून येते. त्यांनी मायेचा हात पाठीवर फिरवून कितीदा तरी हात धरून घरी भोजनाकरिता नेलेले आजही आठवते. त्यानी वेळोवेळी योग्य मार्गदर्शन करून पितृवत् वात्सल्याने साभाळले आहे.

त्यांनी आम्हाला सागारधर्मामृत, गोम्मटसार, सर्वार्थसिद्धि आदि धर्मग्रंथ शिकविले. विषयाची मुख्य कल्पना स्पष्ट करणे हे त्यांचे शिकविण्याचे पद्धतीतील खास वैशिष्ट्य होते. प पू गुरुदेव समंतभद्रजी व पंडितजींनी धर्म व समाज याच्या सेवेचे बाळकडू आम्हाला पाजले. सागारधर्मामृत हा त्याचा आवडीचा ग्रंथ. त्यामध्ये प्रगट झालेला सामाजिक, मानसशास्त्राचा पं. आशाधरजीचा दृष्टिकोण विशद करताना पडितजी त्यामध्ये तन्मयपणाने रगून जात. त्यातील 'प्रतिष्ठायात्रादि', 'जिनधर्मजगद्बंधु' आदि श्लोकावरील त्यांची व्याख्याने आजही कानामध्ये गुजत आहेत असे वाटते.

पुढे मॅट्रिक झाल्यानतर गजपथला कारंजा गुरुकुलची शाखा काढावी असा विचार समोर आला. त्यावेळी पं जी चा रास्त सल्ला होता की सांभाळणारी जबाबदार व्यक्ती हाती आल्याशिवाय नवीन क्षेत्रे (सस्था) उघडू नयेत म्हणून योग्य जबाबदार व्यक्तीचा शोध सुरू झाला पू समतभद्र महाराजानी मला ही जबाबदारी उचलण्याची प्रेरणा केली. त्यावेळी माझ्याविषयीचा काय अभिप्राय होता हे मला स्पष्ट कळाले नाही. परतु कदाचित महाराजाचे सागण्यावरून असेल, त्यांनीही मला ही जबाबदारी घेण्याचा खूप आग्रह केला. अधुकसे स्मरते ते एवढेच की ब्रह्मचारी राहून सेवा करावी या महाराजाच्या आग्रहाशी पंडितजी सहमत नसावेत. असेही स्मरते की स्थान म्हणून गजपथ योग्य असेलही तथापि आजूबाजूची सामाजिक परिस्थिती व स्तर या संबंधी पडितजीचे मनात किंतु होता. परतु सस्था काढण्याचा निर्णय पक्का झाला व त्या दृष्टीने पडितजीचे मार्गदर्शन व सहकार्य लाभले.

त्यावेळी गुरुगोपालदासजीचे विषयी सपूर्ण जैन समाजात बहुमानाची भावना होती खडेलवाल समाज स्वभावत: स्थितिप्रिय असूनही त्यांचाही त्याचेवर आणि त्याच्या मोरेनातून बाहेर पडलेल्या शिष्यवर्गावर विश्वास होता. साहजिकच पं. देवकीनदनजीवर त्याचा भरवंसा होता पडितजीनी कोपरगाव, नादगाव वगैरे ठिकाणच्या समाजप्रमुखाशी चर्चा करून, बैठक घेऊन गजपथ येथें गुरुकुल स्थापन करण्याची आवश्यकता पटवून दिली सर्व सिद्धता केली व गुरुकुलबाबत आस्था व प्रेम निर्माण करण्यासाठी दौरे काढले. त्यात मी आणि श्री. जयचद लोहाडे सोबत होतो. त्यावेळी पंडितजीना सामाजिक मनोविज्ञान किती श्रेष्ठ प्रतीचे होते याचा प्रत्यय आला. त्याची व्याख्यानशैली व पटवून देण्याचे चातुर्य यामुळे सर्व समाजाने चागलाच प्रतिसाद दिला. मी तर असे ठामपणे म्हणतो की खडेलवाल समाजामध्ये गुरुकुल प्रणालीसबधं प्रेम व आस्था निर्माण करणारे हे थोर व्यक्ती होते समाज आपलासा करून घेण्यासाठी तत्त्वज्ञान, व्यावहारिक दृष्टान्त, विनोद, समन्वय साधण्यासाठी हातोटी, हजर-जबाबी पणा या गोष्टी पडितजीना निसर्गत: प्राप्त झाल्या होत्या याचाही अनुभव आला.

सस्थेचा कार्यभार साभाळताना पडितजीच्या पाठिंब्याने मी एल.एल्.बी. करू शकलो. पुढे ज्याप्रकारे गजपथ आश्रमाच्या संचलनामध्ये अडचणी आल्यात. प्रश्नचिन्ह उभे झाले ते आठवले म्हणजे वर्तमानाच्या आधारावर भविष्याचा अचूक वेध घेणाऱ्या त्यांच्या प्रज्ञेचा साक्षात्कार होतो. निष्काम सामाजिक सेवेची दीक्षा त्या वयात, त्या

काळी जी या दोन महापुरुषामुळे-[(१) प पूज्य गुरुदेव समंतभद्रजी व (२) स्व. श्री. पं. देवकीनंदनजी.] घेऊन पावन झालो. ते माझ्या उत्तर जीवनातही अक्षय्य भांडार बनले आहे. मी जे काही वैयक्तिक जीवना व्यतिरिक्त अन्य सेवाकार्य करू शकलो ते आदरणीय पडितजींच्या प्रेरणा व संस्कारामुळेच जीवनातील चिरंतन प्रेरणास्थानाला आदरपूर्वक कृतज्ञतेने वारंवार विनम्र अभिवादन.

पंडित देवकीनन्दनजी एक लोकोत्तम व्यक्तित्त्व

श्री. उत्साहकुमार बेलांडे,

माजी अध्यक्ष, महा. राज्य माध्यमिक व उच्च माध्यमिक शिक्षण मंडळ, पुणे-१०

कारजाच्या महावीर ब्रह्मचर्याश्रमात माझे माध्यसिक शिक्षण झाले. इ स. १९४१ पूर्वीचा तो काल. एक स्नातक श्रोता या नात्याने त्यावेळी माझा गुरुवर्य पं. जीशी संबध आला. त्यानंतर सुमारे एक अर्धशतक उलटून गेलेले त्या भूतकाळातील गुरु. प. जीच्या गोड आठवणी आजही गर्दी करून आहेत तथापि त्या सांगण्याच्या मोहात पडण्यापेक्षा त्याच्या ज्या विचाराची माझ्या मनावर अमिट छाप पडली त्या विचारातून पं. देवकीनन्दनजींचे उठावदार व्यक्तित्व निरतर स्मृतिपटलावर अकित आहे.

देवकीनन्दनजी-समंतभद्राचार्यांच्या दरबारातील अमोल रत्न

गुणी जनाचा आदर हा प. पूज्य श्री १०८ समतभद्र महाराजाचा स्थायीभाव. त्याच्या दरबारातील आमच्या वेळचे रत्नत्रय म्हणजे (१) पूज्य श्री पं. देवकीनन्दनजी, (२) श्री प्रद्युम्नसावजी डोणगावकर व (३) ब्र. श्री. माणिकचन्द्र चवरे. या शिवाय अनेक सरदार सोपविलेली कामगिरी न चुकता पार पाडण्यास दरबारी हजर असत कार्यकर्त्यांच्या अग्रस्थानी होते प. देवकीनन्दनजी. त्यांचा उपयोग गुरुकुलातील विद्यार्थी वृंदावर प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सस्कार करवून मने घडविण्याचा पूज्य समंतभद्र महाराजाचा उपजत स्वभाव होता. सभा, धर्म-समारभ, पर्यूषण पर्व अशा अनेक प्रसगी पं. जीना चार शब्द सागण्याची सूचना स्वत: महाराज करीत असत. विद्वान पडितांचे भाषण म्हणजे प्रकाड विद्वत्ताप्रचुर शास्त्र चर्चा, न समजणारे अवघड सस्कृत श्लोक आणि न पेलणाऱ्या जाड शब्दांचा वर्षाव असा इतराबाबतचा अनुभव. प. जीच्या भाषणाबाबत तसा अनुभव मला कधीच आला नाही. पंडितजी आपला मुद्दा रंगवीत तो सुगम गोष्टी, खुसखुशीत विनोद व रसाळ वाणीच्या आधारावर. पं. जीचा वेप तसा बावळाच, पण ते भाषणास उभे राहिले की पहिल्या दोन तीन मिनिटातच श्रोत्याची मने आपल्याकडे ओढून घेत त्याचे रहस्य त्याचा सरल स्वभाव, रसाळवाणी व कल्याण भावनेमध्ये सामावलेले होते. ते श्रोत्याना कधीही विसरत नसत. श्रोते हे लहान वयाचे आहेत याचे स्मरण ठेवून त्यांचे भाषण व्हायचे. यामुळे मुलाना त्यांचे भाषण म्हणजे गोड मेजवानी वाटायची.

खरा शिक्षक-खरे गुरुजी

पडितजी विद्वान तर होतेच. पण त्यापेक्षाही ते एक पट्टीचे खरे शिक्षक होते. खरा शिक्षक तोच की जो कठीणातील कठीण विषय समोरच्या श्रोत्यांना सहज समजेल व पचेल अशा शैलीत सांगतो. त्यांच्या आधीच्या वक्त्यांनी शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द व संकल्पना वापरून केलेल्या भाषणामुळे आम्हा बाल श्रोत्याच्या मेंदूला

आलेली ग्लानी एखाद्या चुटकयाने किंवा गोष्टीने त्वरित घालवीत व आम्ही नवीन विषय ग्रहणासाठी अधिक उत्साहित होत असू.

समाज व नेता-परस्परपूरक

"सागारधर्मामृत"वरील चर्चेच्या आधारे समाजधारणेविषयी सांगितलेले काही मुद्दे मला अजून स्पष्टपणे आठवतात. धर्म आणि नीतिमूल्यांना जपणारा समाज हवा असेल तर समाजातील व्यक्तींनी एका गोष्टीकडे विशेष ध्यान द्यावयास पाहिजे. जी धर्म आणि नीतिमूल्ये समाजात रुजावीत असे वाटते त्या मूल्यांना प्रामाणिकपणे जपण्याच्या व्यक्तींचा आदर समाजाने केला पाहिजे. समाज कोणत्या व्यक्तींना मान देतो, कोणत्या व्यक्तींची कदर करतो यावरून तो समाज कसा आहे हे ओळखता येते. एक समाज असा आहे की तो फक्त धनाढ्य व्यक्तींचीच कदर करतो, समाजातील मोठ्याच्या व महत्वाच्या जागी अशाच व्यक्तींची निवड करतो व तसे करताना त्यांचे खाजगी चारित्र्य आणि नीतिमत्ता कशी आहे इकडे तो दुर्लक्ष करतो. स्मगलर असला तरी चालतो. अशी अवस्था ज्या समाजाची आहे त्या समाजातून धर्म व नीतिमूल्यांना जपणाऱ्या आदर्श नेत्याची निर्मिती होणे कदापीही शक्य नाही शाश्वत धर्म व नीतिमूल्यांना किंमत देणारे नेते समाजाचे नेतृत्व करण्यास हवे असतील तर या मूल्यांना जपणाऱ्या निष्ठावान त्यागी, प्रामाणिक व चारित्र्यसंपन्न खऱ्या धार्मिक व्यक्तिविषयीचा आदरभाव जाणीवेने जोपासला गेला पाहिजे. असे लोक दरिद्री व सामान्य कुटुंबातील असले तरी त्यांना मानसन्मान प्रामाणिकपणे मिळाला पाहिजे. हे पंडितजींचे विचार माझ्या कायम लक्षात राहिले आहेत.

"यथा राजा तथा प्रजा" असे आपण म्हणतो. जसे नेतृत्व तसे त्यांचे अनुयायी असे म्हणून आजच्या समाजातील दिवसेंदिवस होत असलेल्या अधोगतीला आजचे बेजबाबदार नेतृत्वच जबाबदार आहे असे ठासून सांगण्यात येते. असा युक्तिवाद करून अनुयायी वर्गालासुद्धा आपली स्वतःचीः जबाबदारी मात्र विसरता येणार नाही. आजच्या या शोचनीय स्थितीला सावरावयाचे असेल तर पंडित देवकीनन्दनजीच्या अर्धशतकापूर्वीचा उपदेश निश्चितच रामबाण ठरेल कारण त्यात नीतीच्या शाश्वत मूल्याच्या रक्षणाची खरी प्रेरणा आहे.

आजचे अनुयायी नेत्यांना बजावतात की "माझे काम नेता म्हणून तू केले पाहिजेस" माझे काम नियमात बसत नाही, हे मला माहित आहे, म्हणून तर तुम्हा नेत्याच्या मदतीची गरज आहे काम नियमात बसणारे असते तर नेत्याकडे येण्याची गरजच नव्हती. इ. इ "समाजधारणेसाठी जास्तीत जास्त लोकांचे हित लक्षात ठेवून केलेले नियम सोडून केवळ स्वार्थी अनुयायांची कामे नेत्यांनी करावीत अशी आजच्या समाजातील अनुयायांची अपेक्षा. आणि असे नियमबाह्य काम जो नेता करून देईल त्यालाच मान द्यायचा, त्याचीच कदर करावयाची अशी आजची साटेलोट स्वरूपाची अनिष्ठ प्रथा उफाळून सुरू आहे आणि जे अनुयायी आपले नेतृत्व टिकविण्यासाठी गठ्ठाभर मते मिळवून देण्यास सहाय्य करतील त्यांची कामे प्राधान्याने करतात मग ते नियमात बसोत वा न बसोत, अशी बहुभाग नेत्याचीही प्रवृत्ती बनली आहे नेता व अनुयायी यांच्या या प्रवृत्तीला पं. जी "गधाखुजाई" म्हणत असत. खरेच दोन गाढवानी परस्पराची खाज पूर्ण करून घ्यावी असाच सारा उघड उघड नागवनीचा तमाशा सुरू आहे यात "गुणाः पूजास्थान" याला कोठेच स्थान नाही. अशा वेळी सारखे आठवतात विचारवन्त देवकीनन्दनजीचे दूरदर्शी विचार. "जी नीतिमूल्ये हवी आहेत. ती ज्यांचे ठिकाणी आढळतील त्यांचा आदर करा, सन्मान करा. अशी मूल्ये जपणाऱ्याला नेता माना, नेता बनवा व अशी मूल्ये जपणारे अनुयायीच नेत्यांनी जवळ करा" "मी करतो तुझे काम, तू कर माझे काम" ही स्वार्थी व्यापारी देवाणघेवाण आली तर कसा उभा राहील आदर्श समाज आणि कसा निर्माण होईल आदर्श नेता.

समाजधारणेसाठी पं. जींचे महत्त्वपूर्ण योगदान

पंडित देवकीनन्दनजी हा सरळ सुस्वभावी माणूस. कावेबाजपणाचा व अहंकाराचा स्पर्श नाही. अगदी अबद्धस्पृष्ट जन्मजात मार्दव, सरस्वती प्रसन्न, आणि रसाळ, मृदु, मधुरवाणी यांचा सुंदर मिलाफ. असे पंडितजींचे

दुर्मिळ व्यक्तित्व समाजातील भेद मतभेद मिटविणे व समाजाची धारणा टिकवून ठेवणे हे त्यांनी आपले मानलेले आवडते कार्य. त्यासाठी त्यांनी आपले पंचप्राण ओवाळून टाकले होते. कारंजा गावातील व ठिकठिकाणच्या मातब्बर धार्मिक व्यक्तीतील मतभेद कानावर यायचे व पं. जी नी ते कसे मिटविले याच्याही हकीकती ऐकायला मिळायच्या. दिगंबर जैन धुरीणांचे परस्परातील तटे, गैरसमज हे पं. जींच्या कर्तृत्वाला दिलेले आव्हान आहे अशीच आमची समजूत होती. त्याच्या सरळ, निगर्वी व चतुर पांडित्यामुळे अशी कित्येक आव्हाने पं. जीने समर्थपणे स्वीकारली व अनेक जटिल समस्या सोडविल्या. "उपगूहन" अंगाची व्याख्या करताना त्यांनी अनेकदा सांगितल्याचे स्मरते की "भाई, जो अपना है उसे बदनाम मत करो. उसे अपनाकर सुधारो" सामाजिक ऐक्य वाढविण्यासाठी यापेक्षा दुसरा कोणता प्रभावी विचार असू शकेल ?

पं जीचे भाषण सर्वांसाठी असे आमसभेमध्ये, श्रोतृवर्गात गरीब, श्रीमंत, सरळ, गर्विष्ठ, बाल, थोर असे सर्व तऱ्हेचे लोक असायचेच या सर्वांचे अवधान ठेवून त्याच्या वक्तृत्वाची शीतल सरिता वहात असे. "भाईयो, इस दुनिया मे मुसीबतोंका सामना तो सबकोही करना पडता है, किसीको खाने की मुसीबत है, तो किसी को पाखानेकी. कम खाना और गम खाना इसका नतीजा हमेशा अच्छाही होता है।"

"आदमी कितना भी कठोर क्यों न हो उसको मृदु और सरल बनाने का कोई ना कोई ठंडा इलाज जरूर होता है। चना कठिन होता है। उसे पानी मे भिगोने से वह फूलेगा और आसानी से फूटेगा। गुणो की सही सही तारीफ करोगे तो कठोर फूलेगा और आसानीसे मित्र बनेगा। किसीके सामने कैसे पेश होना यही समझने की बडी बात है।" अशी वाक्ये आम्ही विसरू शकत नाही. हे सर्व पंडितजींचे विचार आठवले की वाटते मानसशास्त्राचे खरे मर्म त्यांना गवसले होते ते त्यांनी पचविलेही होते हे निश्चित. यामुळेच बडया बडयांना न बधणारे कित्येक समाजधुरीण पं. जींना सहज वश होत असत. अगदी मंत्रज्ञापुढे सापसर्पांचे फूत्कार बंद पडावे अगदी तशातले प्रकार होते सारे सगळे त्याच्या अशा या दुर्मिळ गुणांनी त्यांना अमाप लोकप्रियताही मिळवून दिली होती

स्वतःच्या पांडित्याचा आग्रह नाही असामान्य योग्यतेचा अभिमान नाही. कोणाविषयीही आकस नाही. कोणावर राग नाही. कोणासंबंधी ईर्ष्या नाही. अधिकाची हाव नाही गहन तत्वाचा अभ्यास सखोल, पण कथन मात्र सरल–सुगम, प्रश्न कठीण–समस्या जटील, पण त्याची उकल सहज–सुलभ असे होते पं. जीचे एक मंगलमय लोकोत्तम *व्यक्तित्व. अशा व्यक्तित्वाची पूर्व जीवनामध्ये छाया लाभली हे आमचे जीवन–भाग्यच समजून त्याच्या* पुण्यस्मृतीला शतशः वंदन.

पंडित देवकीनंदनजी : काही संस्मरणे

प्रा. सुमेरचंद जैन, M. A. B.Ed.

सोलापूर

पंडित देवकीनंदजी आमचे धर्माध्यापक एक सच्चे, दिलदार मार्गदर्शक, पित्याच्या ममतेने लहानांचे अपराध क्षम्य समजणारे. एक अत्यंत आदर्श परंतु वास्तववादी जीवनाचा खरा खुरा साक्षात्कार घडविणारे विचारवंत. जीवन हे आदर्शवाद दृष्टीमध्ये ठेवून जगण्यासाठी व कर्तृत्वाचा आनंद लुटण्यासाठी आहे, अशी त्यांची धारणा होती.

पहिली-वहिली आठवण–मी काही आजला जो व जसा दिसतो आहे याचे कारण पंडितजीच होते. आमचे पिताजी मी दीड वर्षाचा असतानाच वारलेले. त्यामुळे वडीलांची होती नव्हती ती सर्व जायजाद ज्याला जशी पाहिजे तशी त्याने हडप केली होती. आमच्या वडिलाचा व्यापार अमरावतीला होता. जातीने परवार असल्याने अमरावतीच्या जैन-परवाराच्या सन्मान्य घराशी त्याचा परिचय होता. मी व माझा एक भाऊ याना कारंजा आश्रमात पाठविण्याचा विचार होऊ लागला. घरात आजोबा या मताच्या विरोधी होते. एकदा आईने पंडितजीची गाठभेट घेतली व सारी हकीगत सांगितली. पडितजीचे हृदय मायेने भरून आले. ते म्हणाले–" माताजी, तुम्ही दोन्ही मुलास घेऊन कारजास अवश्य या. मी देवचंदजीना सागून त्याची व्यवस्था करतो." देवचंदजी म्हणजे आजचे मुनी श्री. समंतभद्रजी महाराज. आक्टोबरच्या सुमारास आम्ही दोघेही कारंजास गेलो. पंडितजीच्या आशी-र्वादाने आम्ही प्रविष्ट झालो. प्रवेशासाठी फारशी अडचण आली नाही.

अनभिषिक्त न्यायाधीश–पंडितजीची समाजा संबंधीची दृष्टी अत्यंत नेक. धर्मनिष्ठेसारखीच समाजनिष्ठा ज्जाज्वल्य, प्रेम अगाध, बुद्धी तर्कापेक्षा मानवतेवर अधिक विश्वास ठेवणारी. मानवी हृदयांच्या सूक्ष्म ततूचे स्पंदन स्वत च्या हृदयात अनुभवण्याची त्यांची शक्ती लोकोत्तर होती जबलपूर येथे पंडित पार्टी व बाबू पार्टी (म्हणजे पोथीवादी व सुधारणावादी) यांचा झगडा चालू होता. बाबू पार्टीत नवशिक्षित, आग्लविद्याविभूषित, बॅरिस्टर, डॉक्टर मडळी होती. त्यांचा विरोध असणे स्वाभाविक होता. अनेकवेळा तर मारपीट होण्यापर्यंत पाळी आली. या कामी पडितजीना पाचारण करण्यात आले. पडितजी गेले. "मला काय त्याचे ?" असा विचार त्यावेळी पडितजीनी केला नाही. समाजातील भाडणे व किल्मिप दूर करणे हे समाजातील नेत्याचे कामच असते पडितजी जबलपूरला आले. पंडितजीनी दोन्ही बाजूच्या लोकाना वेगवेगळे गाठले. दोघांची बाजू ऐकून घेतली पण पंडितजीनी एक अट घातली होती ते दोन्ही कडील नेत्याना म्हणाले–

"तुम्ही मला बोलावले खरं आहेत." "खर आहे."

"तुमचा दोघाचा माझ्यावर विश्वास व प्रेम आहे ? खर आहे ?"

"खर आहे."

"मग मी दिलेला निवाडा. तुम्हाला बिनतक्रार मानायला हवा. कारण तुम्ही मला न्यायाधीश नेमलं आहे" –पंडितजी म्हणाले

आणि पडितजीनी एक तोडगा सुचविला ते म्हणाले, "आपण सारेच जैन धर्म व जिनवाणी यावर प्रेम करतो कालदोषाने काही आचार-विचार जसे आपल्या घरात शिरतात, तसेच समाजात शिरतात. आचार-विचार धर्मानुकूल नसतील ते दूर करण्याचा दोघानी आपआपल्या परीने प्रयत्न करू या. पण त्यासाठी भाडत राहायचे व समाजाची खच्ची करायची, हा कुठला शहाणपणा !" पडितजीनी एक दोन तासातच सारे प्रश्न मिटवून टाकले. पडितजीची वाणी मृदु, समजूत घालण्याची पद्धती अत्यत लोकविलक्षण प्रश्नाच्या मुळाशी जाऊन त्याचा शोध घेऊन पडितजी उपाय सुचवीत, पण त्याचे मन नेहमीच अनाग्रही. पाहिजे तर स्वीकारा, अन्यथा द्या सोडून. त्यामुळे त्याचे मन कोणत्याही एक बाजूस झुकत नसे.

बालकासंबंधी मातृवत् प्रेम

पंडितजी हे कारजा आश्रमात दाखल झाले ते संस्थेचे प्रमुख कार्यकर्ते म्हणून गुरुदेव समंतभद्र महाराजांचे-नौकर ही भानगड नाही. जे जे त्याच्या कार्यात सामील होतील, सहकार्य देतील तेते त्याचे सहकारी पडितजी-सारखा प्रतिभावान, ओजस्वी वक्ता महाराजाना सहकारी म्हणून लाभला. पडितजीनी महाराजाची आज्ञा पाळावी व पडितजीनी केलेल्या सूचना महाराजानी अंमलात आणाव्यात असा त्याच्या दोघातील अलिखित करार. पंडितजी पुढे संस्थेचे उपाधिष्ठाताही झाले. पडितजी मुलांत मिसळून जात. पोहायलाही ते येत त्याच्या बरोबर रमत. पण

पंडितजीचे हृदय जाणून घेण्याइतपत आम्ही पक्व झालेलो नव्हतो. क्षुल्लक श्री. समंतभद्रजी महाराज हे आश्रम संचालन करण्यात अत्यंत कठोर व शिस्तीचे भोक्ते. बेशिस्त, गबाळपणा, गलथानपणा, आळस यांची ते कधीच गय करीत नसत. मुलांकडून कांही चुका होत चोरी केली जात असे, भांडणे, मारपीट किंवा असभ्य वर्तनही होई. अशा प्रकाराबद्दल कठोर शिक्षा होत असे. परंतु पंडितजींच्या कृपेमुळे ही शिक्षा सौम्य होई. गरीब–अनाथ विद्यार्थ्यांना आपण तसे आहोत, याची जाणीव होऊ नये अशी दक्षता काळजीपूर्वक घेतली जात असे. परंतु पालकांनी कबूल केलेली फी जर विनंती करूनही पाठविली गेली नाही तर त्या मुलांना घरी पाठवून देण्यात येई. असाच एक मुलगा पंडितजीकडे आला रविवारचा दिवस. पंडितजी घरीच होते. त्या मुलाचा रडलेला चेहरा पाहून त्यांनी ममतेने त्याला जवळ घेतले व म्हणाले–"क्या हुआ बेटा ?" मुलाने सर्व हकिगत सांगितली. त्याच्या घरी दारिद्र्या शिवाय काहीच नव्हते. वडील अपंग व आई आजारी. कमविणारे असे कुणी नव्हते. पंडितजींनी खात्री करून घेतली व त्या मुलाला घेऊन ते महाराजांकडे आले.

पंडितजींनी त्या मुलाबाबत रदबदली केली इतकेच नव्हे तर याला अनपेड म्हणूनच नोंदवून घेण्यात यावे अशी विनंती केली. त्या मुलाचा चेहरा आनंदाने फुलला. तो आनंद पीतच पंडितजी घरी आले आपल्या प्रेमळ छत्राखाली माझ्यासारख्या अनेक अनाथांचे जीवनात चैतन्याचे मळे त्यांनी फुलविले आहेत.

शांतिनाथ गुरुकुल, पंडितजी व मी

एके दिवशी महाराजाची तार आली. सुमेरचंदना कारंजाला पाठवून द्या. त्यावेळी मी सोलापूरला होतो १९४३ चा मे महिना होता आज्ञा म्हटली को त्यात हो–नाहीचा विचार नसतो मी कारंजाला गेलो. पूज्य गुरुदेवाची भेट घेतली महाराजश्री म्हणाले, –"आपणाला रामटेक(नागपूर)ला एक आश्रम काढायचा आहे. तिकडील लोकाची इच्छा आहे

मी म्हणालो– "त्यात माझेकडे कोणते काम आहे ? अद्याप तर मी केवळ मॅट्रिक पास आहे. संस्था संचालनाचा अनुभव नाही."

"महाराजांना तरी कुठे अनुभव होता ! त्यांनी तरी 'कारंजा' कधी पाहिले होते ? महाराजाची इच्छा आहे की तुम्ही जावे."

सोळाव्या सत्तराव्या वर्षातील एका युवकावर विश्वासाने एखाद्या नवीन संस्थेच्या – जी अद्यापि अस्तित्वातच आलेली नव्हती. संचालनाची जबाबदारी सोपवायची म्हणजे सत्वपरीक्षाच ! एक–दोन दिवसात महाराजांनी जे काही कानमंत्र द्यायचे ते दिले ते म्हणाले– "तेथे तुम्ही नसून महाराजच आहेत अशा जबाबदारीने वागा सर्वांना आपलेसे करून घ्या शिवाय पंडितजी येणार आहेतच प्राथमिक बाबतीत मदत करायला आणि एके दिवशी समारंभपूर्वक आमची रवानगी रामटेकच्या अस्तित्वात नसलेल्या आश्रमच्या ठिकाणी झाली

ते युद्धाचे दिवस मी, पंडितजी व दोन लहान मुले आम्ही नागपूरला पोहोचलो

पंडितजीना गोड चहा आवडत असे. मी स्टेशनावरून चांगला चहा आणला तो काय ? पंडितजी सपत्निक कुठेच दिसेना फलाटावर गाडी लागली होती म्हणून पंडितजींनी जागा धरली होती. पण माझे सामान सुमान व संस्थेच्यासाठी तयार केलेली रजिस्टरे असलेली बॅगच आणायला त्या गडबडीत पंडितजी विसरले माझा चेहरा पडला. प्रथमग्रासेच असा अशुभ शकुन झाला

"क्या हुआ बेटे", तीच ममत्वाची चौकशी.

मी सर्व हकीकत सांगितली

ते म्हणाले– "अरे कोई इस्टेट तो नहीं चली गयी. नागपूर जाकर फिर सब खरीद लेंगे।"

आणि पंडितजींनी आपल्या खर्चाने माझ्यासाठी पेटी, कपडे, रजिस्टर्स, कुलुपे, इतकेच नव्हे तर आंथरूण पांघरूणही खरेदी करून दिले. पण हळूच म्हणाले-

" महाराजजी को पता नहीं चलना चाहिये "

पंडितजी आणि शिक्षण

रामटेकला गुरुकुल स्थापन झाले. रीतसर उत्सव, उद्घाटन झाले नागपूरची अनेक मंडळी आली होती. जून महिन्याची ती २८ तारीख होती पंडितजींचे भाषण. अमृतसिद्धीचा लाभच तो ! पंडितजींचे शब्द अद्यापी कानात गुंजारव करतात. ते म्हणाले-" येथे बसलेली दानशूर धनवान मंडळी फारशी शिकलेली नाहीत दुसरी-तिसरी पास असतील नसतील पण त्यांची शिक्षणासंबधी आस्था तर पहा किती उदारता ! हजारो रुपये यांनी आमच्या स्वाधीन केले. पण शिकलेल्या डॉक्टर-इंजिनियर-वकील असणाऱ्यांचे दातृत्व का लोप पावते हेच मला कळत नाही. मी वर्तमानपत्रे जेव्हा वाचतो तेव्हा सर्वाधिक उपद्रव शिक्षित लोकच करतात असे दिसते. शिक्षित माणूस अधिक व्यापक हृदयाचा व्हायला हवा. पण तो अधिक सुखलोलुप व संकुचित झालेला दिसून येतो मी विद्यापीठातून पाहातो की मुले बेजबाबदार होत आहेत. आपल्या धर्मासंबंधी-समाजासंबधी त्यांना आदर नाही, प्रेम नाही. महाराजाच्या शिक्षण-पद्धतीत समाजासंबधी, धर्मासंबंधी प्रेम असेल त्यांच्या जीवनात आनंदाचा वर्षाव होईल. म्हणूनच रामटेकसारखे सुंदर स्थान महाराजांनी निवडले आहे."

श्रीमंतांची नाडी ओळखणारे पंडितजी

पंडितजी हे खरे तर जैनसिद्धान्ताचे ज्ञाते, सारी सरस्वती जिभेच्या टोकावर, अनेक ग्रंथ टीकेसहित मुखपाठ परंतु व्यवहारात पंडितजींचे मानसशास्त्र अनोखे. कोणत्या माणसाच्या मनात काय आहे, ओठात काय आहे, हे पंडितजींना अचूक कळायचे. रामटेक गुरुकुलच्या प्रसंगी मी त्यांचा साक्षीदार नागपूरला शेठ किसनलालजी रांवका, पाटणीजी, या दोन मारवाडी समाजातील व्यक्तींना त्यांनी हाताशी धरले दोघेही खूप श्रीमंत त्यात 'वॉर-टाईम '-पैसा खूप येत होता. "पंडितजींनी दोघांनाही योजना मागितली. शेठ किसनलालजी म्हणाले-"पंडितजी शेठ पाटणीजी म्हणतील त्याहून माझा आकडा दुप्पट समजा." पंडितजी चतुर. दोघांच्याही घराण्यातील चढाओढ त्यांच्या ध्यानात आली ते म्हणाले-"शेठ पाटणीजी दहाहजार देतील, कदाचित् अधिकही देतील " पंडितजी अंदाज घेऊ लागले.

" देखिये पंडितजी, महाराजजी की जो आज्ञा हो हम वही करेंगे रामटेक स्थान अच्छा है। हम पैसा कम नहीं पडने देंगे।"-शेठ किसनलालजी म्हणाले.

पंडितजींनी आकडा घेतला नाही. नंतर मला म्हणाले-

" बेटा, शेठजी को नाराज नही करना। शायद अपने गुरुकुल के यही एक अच्छे दाता होंगे ।"

आणि झालेही तसेच. शेठ किसनलालजींनी संस्थेला काही कमी पडू दिले नाही. त्यांनी या गुरुकुलावर पुत्रवत् प्रेम केले.

× × × ×

पंडितजी आणि महाराजजी

प्रवासात असताना मी पंडितजींना म्हणालो-" पंडितजी, आप का और महाराजजी का कैसे पटता है ?" ते म्हणाले-"अरे बंदर ! तू आता माझ्या अंतरंगातील मुद्देमाल बाहेर काढू इच्छितोस काय ?" आणि नंतर म्हणाले-

" असा माणूस जैन समाजाच्या भाग्यानेच लाभला आहे. कोटी रुपये खर्च केले तरी अशी व्यक्ती तयार करता येत नाही. हे खरे की महाराज हे काटकसरीने संस्था चालवावी व समाजाचे विश्वासाने दिलेल्या पै-पैचा मुलासाठीच उपयोग व्हावा, हो त्याची तळमळ. यात त्यांचा दोष आहे, हे मात्र मला मान्य नाही ते साधु संताच्या कोटीतले आहेत."

पंडितजी आणि सत्पुरुष कानजी

प्रवासात असताना मी पंडितजीना विचारले-" पंडितजी कानजी स्वामीचे विचारांशी आपण सहमत आहात काय ?" कारण त्यांचा नुकताच सोनगढ येथे हळूहळू प्रभाव वाढत होता. आपला पंथ सोडून देऊन त्यांनी सनातन दिगम्बर धर्माचा स्वत च अध्ययनाने, मननाने व चिंतनाने स्वीकार केला होता पंडितजी म्हणाले- " सुमेरचंद, हे एक शुभलक्षण आहे. आमच्यापैकी पुष्कळशा पंडितांनी अद्यापीही समयसार किंवा कुंदकुंदांचे ग्रंथ मनन-चिंतनपूर्वक वाचलेले नाहीत त्यामुळे आमच्यापैकी काही पंडिताचा त्या महान व्यक्तीला विरोध होत आहे " मी म्हटले-" पंडितजी, मला हे सांगा की आपण त्यांच्या विचाराशी कुठपर्यंत सहमत आहात ?"

ते म्हणाले-" माझ्या सहमतीचा प्रश्नच कुठे येतो ? जोपर्यंत त्याचे प्रतिपादन हे महान आध्यात्मिक ग्रंथ समयसाराच्या आधाराने होत आहे, तोपर्यंत आमच्या विरोधाला अर्थ नाही. मी व्यक्तिशः त्यांच्या प्रतिपादनाचे समर्थनच करतो. त्याचे कारण आपल्या सिद्धान्तात जे निश्चयनयाचे प्ररूपण आहे त्याचे प्रतिपादन ते अत्यंत सूक्ष्मतेने करतात. इतके सूक्ष्म प्रतिपादन आम्ही कधी ऐकले नव्हते."

पंडितजी आणि षट्खंडागम

जैन सिद्धान्ताचे अपूर्व ग्रंथ षट्खंडागमाचे कार्य डॉ. हिरालालजी जैन, हे अमरावतीवरून करीत होते. मी पंडितजीना म्हटले-" डॉ. हिरालाल जैन डॉ. ए एन. उपाध्ये ही मंडळी संशोधक तर खरीच. पण त्याना सिद्धान्ताचे एवढे सूक्ष्म ज्ञान असणे कसे शक्य आहे ?"

पंडितजी गंभीर झाले. माझ्या सारख्या एका तरुणाने याबाबत काही विचार केला असेल, असे त्यांना वाटत नव्हते. ते म्हणाले-" बेटा सुमेरचंद, तुमचे म्हणणे तितकेसे बरोबर नाही. ते दोघे अत्यंत विचक्षण प्रतिभा-संपन्न आहेत. जे स्वतःला कळत नाही त्याबाबत ते पंडितांशी चर्चा करतात विषय समजावून घेतात." मी म्हटले-" यात आपला सहभाग किती आहे ?" ते म्हणाले-" माझ्या आवडीचा तो विषय आहे पण मी आहे मुलखाचा आळशी. परंतु ज्या ज्यावेळी ते माझा सल्ला घेतात, तेव्हा मी चर्चा करतो काही सूचनाही देतो. खरे तर त्या महान ग्रंथाचे बाबतीत मीही फारसा ज्ञानी नाही. परंतु पहिली आवृत्ती तर निघू द्या. त्यानंतर पुन. त्यावर चर्चा करता येईल, अशी माझी धारणा आहे."

आपले अज्ञान पंडितजींनी कधी लपविले नाही. जे आपणास कळत नाही, त्याबाबत ते अत्यंत नम्रतेने आपली असमर्थता प्रगट करीत.

पूज्य पंडित देवकीनंदनजी—एक स्मृतिशलाका

प्रो. प्रेमचंद देवचंद शहा एम्. ए, एल्.एल्. बी.

भूतपूर्व मुख्याध्यापक श्री म व्र आश्रम हायस्कूल, कारंजा

कारंजाचे आश्रम १९१८ साली स्थापन झाले. या आश्रमला सामाजिक प्रतिष्ठा मिळवून देण्यात पं देवकीनंदनजीचा सिंहाचा वाटा होता. सस्थेत धर्म शिक्षणाची वाढ व उत्तर हिंदुस्थानात या संस्थेचा नावलौकिक त्याच्यामुळेच झाला असे म्हटले तर त्यात कसलीही अतिशयोक्ती नाही.

पडितजी या संस्थेचे उपाधिष्ठाता होते. आणि त्यातल्यात्यात त्याच्या उदारमतवादित्वामुळे संस्थेतील शिक्षणाची जोपासना होण्यास जास्तच मदत झाली शिक्षणाबरोबरच लौकिक शिक्षण संस्थेत सुरू करण्यास त्यांच्या मताचा अधिक उपयोग झाला, हे नि संकोचपणे म्हणावे लागेल सस्थेत येणाऱ्या प्रत्येक अतिथीस सस्था विद्यार्थ्यांच्या सर्वांगीण उन्नतीसाठी कशी झटते हे दाखवून देत. विशेषत: शालेय शिक्षणाबरोबरच शारीरिक शिक्षण व स्वावलबनावर सस्थेचा कसा भर आहे हे त्याना पटवून देत असत त्याचा परिणाम म्हणून पाहुणे स्वत: होऊनच सस्थेस दान देत असत.

त्याची शिक्षणपद्धती मूलग्राही असे सर्व अर्थ स्वत: होऊन सागण्यापेक्षा विद्यार्थ्यांकडूनच ग्रथांचा अर्थ लावून घेण्यात त्यांचा जास्त भर होता. "आता या भागातील महत्त्वाचा अर्थ मी सागितला आहे. तेव्हा विषयाला अनुसरून त्या शिकविल्या जाणाऱ्या प्रकरणाचा काय अर्थ आहे हे तुम्ही लावून बघा. जेथे अडेल तेथे मी समजावून सांगतोच" म्हणून प्रकरण संपवीत असत. शिक्षणाचा हा विषय चालू असताच समाजातील घटना व राष्ट्रातील घडामोडीचा उहापोहही त्याबरोबर होतच होता ग्रांथिक पाडित्याबरोबर विद्यार्थ्यांस व्यावहारिक शहाणपण येईल इकडे पडितजीचे नेहमी लक्ष असे. शिक्षक निवासात श्री गोसावी गुरुजी, कारखानीस गुरुजी रहात असत. ते सध्याकाळी फिरावयास जात असत. त्यावेळी गप्पागोष्टीतून राष्ट्रातील किंवा समाजातील घडामोडीचा उहापोह होत असल्यामुळे त्यातील काही महत्त्वाच्या घटना त्याच्या शिक्षणातून उल्लेखिल्या जात. तत्कालीन ब्रिटिश सरकार देशात रहावे, असे म्हणणारा एक वर्ग असेच पंडितजीची मने क्रातिकारकांना अनुकूल नसली तरी ब्रिटिश राज्य रहावे असे नव्हते. वरील उच्च दर्जाचे गोम्मटसार सारखे धर्मग्रथ, न्याय, काव्य हे त्याचे शिकविण्याचे विषय असत. विशेषत: चद्रप्रभ काव्य शिकविताना, किंवा क्षत्रचूडामणी शिकविताना राजनीती व प्रचलित राजकीय घडामोडीचा उल्लेख त्याच्या शिकवण्यातून अधिक होत असे सागारधर्मामृत, क्षत्रचूडामणी, न्यायदीपिका इ. ग्रथ ते शिकवीत असत त्यातून संस्कृतचाही अभ्यास होत असे. माणिकचंद परीक्षालयाच्या परीक्षेत विद्यार्थी बसत असत उच्च शास्त्रीय ग्रंथांच्या परीक्षेच्या प्रश्नपत्रिका संस्कृत मधून व उत्तरेही सस्कृतमधून उत्तरे लिहिणाऱ्या कितीतरी, आश्रमातील विद्यार्थ्यांचा त्यावेळी पहिल्या तीन क्रमाकात नंबर असे. ते केवळ त्यांच्या मूलग्राही शिक्षणपद्धतीमुळेच.

पंडितजीना 'व्याख्यान वाचस्पति' पदवी होती. कोणत्याही विषयावर सरस व्याख्यान ते देत असत. त्यातून अनेक धार्मिक श्लोक, व्यावहारिकनीती गोष्टी असत. त्यामुळे त्याची व्याख्याने अधिक रंगत. साहजिकच समाजातून पर्यूषण पर्वाच्या वेळी किंवा महावीर जयतीस त्यांना आमंत्रणे येत व त्यातून संस्थेसाठी देणग्या मिळत असत व्याख्यान वाचस्पती पडितजी समाजात "अनभिषिक्त राजे समजले जात." समाजात ज्यावेळी, प्रतिष्ठा होत, त्यावेळी गजरथही होत असत. १९३०–३५ चा काळ आर्थिक मंदीचा होता त्यामुळे गजरथ केला जाऊन

पैशांचा अपव्यय होत आहे असे म्हणून ही प्रथा बंद केली जावी असे काही समाजधुरिणांचे विशेषत: समाजसुधारकांचे मत होते. त्यांनी त्या दृष्टीने चळवळ सुरू केली होती. पंडितजीकडे 'गजरथा'ची प्रथा शास्त्रीय की अशास्त्रीय हा निवाडा देण्याचे काम होते त्यांनी ही प्रथा शास्त्रीय असल्याचा निवाडा दिला. सुधारकांच्या मताचा विचार न करता असा पुराणमतवादी निर्वाळा पडितजीनी दिला. त्यावेळी झालेल्या सामाजिक गहजबात ते अत्यंत स्थिर राहिले. म्हणजे आपल्या मतावर अटल राहिले. पंडितजीचे त्यावेळचे धैर्य अत्यंत वाखाणण्यासारखे होते.

एका वर्तमानपत्रात शिमग्याच्यावेळी काही समाजमान्य-धुरीणाना पदव्या देण्यात आल्या होत्या. त्यात पंडितजींना 'लेखन-ब्रह्मचर्य' पदवी दिली गेली होती. कारण वर्तमानपत्रात त्यांचे लिखाण येत नसे. परतु व्याख्यानाबरोबरच ते ग्रंथलेखनही करीत असत. आश्रमात प्रिंटिंग प्रेस आला. तेव्हा पंचाध्यायी ग्रंथ त्यांनीच हिंदीत भाषांतरित केला. त्याचप्रमाणे सागारधर्मामृतावर सविस्तर अनुवादित ग्रथ आहेच. श्री. प्रो. डॉ. हिरालालजीनी धवला ग्रथाचा अनुवाद केला. त्यास मार्गदर्शन व तत्त्वज्ञानासंबंधीची हवी ती माहिती पडितजी पुरवीत होते.

पंडितजी इतक्या मोठ्या योग्यतेस पोहोचले होते तरी ते आबालवृद्धाशी मिळून-मिसळून वागत असत. विद्यार्थी अनेक व पडितजीचे इतर गावास सभा-सोसायटयाकरिता जाणे येणे चालूच असे. त्यामुळे विद्यार्थ्यांची नावे त्यांच्या लक्षात रहात नसत. पण विद्यार्थ्यांकडे त्यांचे काम असावयाचेच. त्याना बोलाविताना त्याचा ठराविक शब्द असे-'ए बंदर इधर आ' असे सबोधन करून आपले काम सांगत विद्यार्थीही मोठ्या आनंदाने त्याची कामे करीत. वैद्यराज गुल्ल शेठजीशी त्याची नेहमीच बैठक असे 'हमारे खेडवे मे' म्हणून गुल्ल शेठजी बोलू लागत तर पडितजी गुरुवर्य पं. गोपालदासजी बरैय्याची उदाहरणे सागत. त्यावेळी पं. गोपालदासजी संबधीचा त्याचा आदर व भक्ती उफाळून येत असे.

आश्रमातील व्याख्यानातून विद्यार्थ्यांनी पुढील जीवनात मोठे व्हावे म्हणून त्यांचा उपदेश असेच त्यात मुख्यत: 'कष्ट विना नैव गुणा: स्फुरति' हे सूत्र असे ते सांगताना जेव्हा उदाहरणे देत त्यात मुख्यत: वड्याचे उदाहरण देत. वड्यास ते 'बडे' म्हणत. हे बडे कसे होतात ? दाळ कुटावी लागते-तिखट घालावे लागते गोळे तेलात भाजावे लागतात. तेव्हा खुसखशीत 'बडे' तयार होतात. सुवर्णाची परीक्षा घर्षण-ताडनाने होत असली तरी सोन्याच्या उदाहरणापेक्षा, सर्वांशी परिचित असलेला 'वडा'च त्याना जास्त पसंत असे. व अशारीतीने विद्यार्थ्यांनी सर्वगुणसंपन्न होण्याचे बाळकडू ते पाजीत असत. अशाप्रकारच्या संस्कारांनी विद्यार्थ्यांचे जीवन विकसित व प्रफुल्लीत होत असे.

पडितजी येथे असले तर रोज सकाळी फिरावयास जात. फिरावयास जाताना कोणातरी विद्यार्थ्यांस बरोबर घेऊन जात. सकाळच्या हवेत व्हिटॅमिन्स असतात. त्यामुळे प्रकृती चागली राहाते असे ते आम्हा विद्यार्थ्यांना नेहमी सागत. ज्या विद्यार्थ्यास ते बरोबर घेऊन जात त्यास या व्हिटॅमिन्स बरोबर 'ज्ञानामृतं भोजनम्'चाही आस्वाद मिळत असे. इतरजण या बाबतीत काहीसे उपाशीच राहात. पंडितजींच्या या कृतीमुळे दीर्घ आजार त्याना आश्रमात तरी झाल्याचे आठवत नाही. उलट गंभीररीत्या आजारी असलेल्यास विचारपूस करून स्वत: औषधयोजना करीत 'दलबद्ध राजा व मलबद्ध रोगी' गभीर प्रसंगापासून नेहमीच दूर असतो-असे ते म्हणत.

पंडितजींचा हा स्वभाव पाहिला म्हणजे एका सुभाषिताची आठवण होते,

'काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम् ।
व्यसनेनच मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा ।।'

पंडितजीच्या अशा या स्वभावामुळे आश्रमातील त्यांच्या काळांतील विद्यार्थी ज्ञानसंपन्न 'माणके' बनत.

मठा बिचारा क्या फटे, जब फाटे तब दूध !

डॉ. विद्याचंद्र शहा,

मुंबई

मराठी चौथी उत्तीर्ण झाल्यावर पुढील शिक्षणासाठी मी महावीर ब्रह्मचर्याश्रमात प्रवेश घेतला. तेथे स्व. पं. देवकीनंदनजींचा परिचय प्रथम झाला पंडितजींचे व्यक्तिमत्त्व फार मोठे होते त्यांची शरीरयष्टी भव्य होती. भरपूर उंची होती. शरीराचा वर्ण श्यामल होता. ते डोक्यावर पांढरा शुभ्र रुमाल बांधायचे.

पंडितजी आश्रमात धर्मशिक्षणाचे पाठ घेत असत, आम्हाला त्यांनी सागारधर्मामृत, गोम्मटसार व सर्वार्थसिद्धि हे ग्रंथ शिकविले. गंभीर विषय ते फार सोप्या भाषेत सांगत असत. त्यातील मर्म ते मार्मिक शब्दांत सांगत. त्यांच्याबरोबर सायंकाळी फिरावयास जाण्याची मला संधी मिळाली. त्यांच्या सोबत कधी कधी आश्रमाचे मुख्याध्यापक स्व. गोसावी गुरुजी असत. मी कृश व चौरस बुद्धीचा असल्यामुळे माझ्यावर त्यांचे अलोट प्रेम होते. आपल्या घरासमोरील अंगणात खाटेवर बसून गोसावी गुरुजींबरोबर त्यांचा अनेक विषयांवर ऊहापोह चाले 'इतिहास व राजकारण' यात ते रस घेत.

पंडितजींचा पोषाख अतिशय साधा होता. रुमालाची जागा पुढे गांधी टोपीने घेतली होती. इतर पंडित लोकांना हे आवडत नसे. ते पंडितजींवर या बाबतीत टीकाही करीत.

पंडितजी सामाजिक विवाद अतिशय कौशल्याने दोन्ही पक्षाला संतुष्ट करून मृदुभाषणाने मिटवीत असत. त्यांच्याबरोबर एकदा खुरईला जाण्याचा योग आला होता परवार सभेचे वार्षिक अधिवेशन होते व पंडितजी अध्यक्ष होते. सभेत विविध प्रस्तावावर अनुकूल व प्रतिकूल भाषणे होत असत. कधी कधी प्रकरण भांडणावर यावयाचे. अशा वेळी पंडितजी चतुराईने दोन्ही पक्षांचे समाधान करून त्यांचा हसत हसत समेट घडवून आणीत असत.

पंडितजी आश्रमाकरितासुद्धा स्वयं कुणासमोर हात पुढे करीत नसत ते आपणासोबत आश्रमाच्या विद्यार्थ्याला घेऊन जात. 'यह म. ब्र. आश्रम का विद्यार्थी आया है संस्था के लिये मदद मागने के लिये। उसके लिये आपको जो भी उचित लगे, वैसा आप करे' असे ते २-४ कार्यकर्त्यांना केवळ संकेतमात्र करीत असत

कारंजात आश्रमला अनुकूल व प्रतिकूल असे सावजी लोकांचे दोन गट होते पंडितजींनी दोन्ही गटाचे प्रेम संपादन केले होते. एकदा एका गटाने आश्रमाला आर्थिक मदत करणाऱ्या एका व्यक्तीवर सट्टाबाजीचा आरोप केला 'हे आपले मित्र कसे, असे पंडितजींना त्यांनी विचारले' पंडितजींनी त्यांना हसत हसत निरुत्तर केले. व त्यांच्याही सज्जनतेचा पडदा फाडला. ते म्हणाले, "सावजी, जब कभी फटेगा दूधही फटेगा ताक नही मठा बिचारा क्या फटे, जब फाटे तब दूध !"

पंडितजी मुंबईला एका बैठकीकरिता आले असता माझ्या आवडत्या गुरुजींचे पाय माझ्या घराला लागले. मी व माझ्या पत्नीने त्यांची योग्य सेवा केली. पंडितजी मला म्हणाले, "यह तेरी पत्नी, मेरी बहू अन्नपूर्णा, चतुर है ! भाग्यवान है !" मी पंडितजींना म्हणालो, "पंडितजी, यह सब आपकी कृपा तथा आशीर्वाद का फल है !"

पंडितानीजींची सुद्धा माझ्यावर कृपा होती. माझ्या किरकोळ शरीरयष्टीची त्यांना कीव यावयाची. माझ्या माऊलीसारख्या त्या होत्या. मला त्या आपल्या घरी गोडधोड खाऊ घालायच्या. त्यांचा मुलगा मुंबईला बर्मा शेलमध्ये एजिनिअर म्हणून कामास लागला असता त्या एकदा आमच्या घरी भेटीस येऊन गेल्या.

आम्हाला पंडितजींची सोप्या भाषेत व खणखणीत आवाजात शिकविण्याची कला और होती. विनोदांची रेलचेल असल्याने त्यांचे शिकविणे कंटाळवाणे होत नसे. परीक्षा प्रधानी कसे व्हावे, कुल्ढीना कसे तोंड द्यावे हे त्यांच्या शिकविण्यात सहज येत असे. ते निश्चय-व्यवहाराचा मेळ घालून देत, आश्रमात रात्रीच्या वेळी स्व प्रद्युम्नसावजी, स्व. जंबुसावजी यांची उपस्थिती असे. त्या सर्वांची देवचंद काकाबरोबर भरपूर चर्चा होत असे. वरच्या वर्गातील विद्यार्थीही चर्चेत सामील होत असत. मीही कोपऱ्यात बसून धर्मचर्चा व गमतीचे अनुभव ऐकत असे. पंडितजींच्या निमित्ताने माझा अनेक विद्वानांशी परिचय झाला.

पंडितजीच्या सहवासात राहिल्याने अनेक बाबतीत त्यांचे मार्गदर्शन व हितबोध मला प्राप्त झाला आहे. त्यांचे ऋण विसरता येण्यासारखे नाही. आज त्यांची स्मृती मात्र आमच्याजवळ शिल्लक राहिली आहे. त्यांच्या पुण्य स्मृतीला शतशः अभिवादन.

जुन्या नव्या विचारांचा सुरेख संगम

श्री. हीरासाव जिनदास चवडे,

वर्धा

मी वर्धेचा रहिवाशी. आमचे घराणे जैन ग्रंथ प्रकाशनाच्या कामात अग्रेसर होते. वर्धेला असताना पंडितजींना जवळून पाहावयास मिळाले. वर्धा येथे भाद्रपद वद्य पंचमीच्या दिवशी रथोत्सव व दिगंबर जैन बोर्डिंग हाऊसचे वार्षिक अधिवेशन भरत असे. एके वर्षी विद्यावाचस्पती पं. देवकीनंदनजीना बोर्डिंगच्या वार्षिक अधिवेशनाचे अध्यक्ष म्हणून निमंत्रित करण्यात आले होते. बोर्डिंग हाऊसच्या वरच्या मजल्यावर सभेचे आयोजन करण्यात आले होते. सभागृहात सभा सुरू झाली. अध्यक्ष स्थानापन्न झाले. विद्यार्थ्यांनी स्वागतगीत म्हटले. स्वागताध्यक्ष व इतर वक्त्यांची भाषणे झाली आणि पं. देवकीनंदनजी आपल्या अध्यक्षीय भाषणासाठी उभे राहिले. खादीचे धोतर, खादीचा सदरा, खादीचीच टोपी व कपाळावर उभे केशरी गंध अशी ती मूर्ती. श्रोत्याच्या टाळ्यांचा गजर झाला. शांत, गंभीर चेहऱ्याच्या पंडितजींनी आपल्या भाषणाला सुरुवात केली. डोक्यावर विजेचा पंखा चालू होता. डोक्यावरील गांधी टोपी वाऱ्याच्या झोताने एकदम उडाली. प्रसंगावधानी समयसूचक पंडितजी म्हणाले, "क्या यह गांधी टोपी हमसे असहकार करने लगी ?" श्रोत्यात एकदम हास्याचे फवारे उडाले. त्यांनी आपल्या श्रोत्यांची मने जिंकली.

त्याकाळी मी वर्धेहून "सैतवाळ जागृती" नावाचे मासिक काढीत असे. मासिकाचा अंक त्यांना दाखविला व त्याकरिता एक श्लोक देण्याची विनंती केली. त्यांनी दिलेला वादीभसिंहसूरीचा श्लोक त्यानंतर मासिकाच्या प्रथम पृष्ठावर झळकू लागला.

पंडितजी विचाराने, आचाराने जसे पुरातनमतवादी होते तसेच द्रव्य, क्षेत्र आणि भाव लक्षात घेऊन नवमतवादी व सुधारकही होते. त्याची राहणी साधी होती विचार उच्च प्रतीचे होते, स्वभाव सालस व मनमिळाऊ होता, समोरच्या व्यक्तीशी ते तत्काल समरस होत व त्याला आपलेसे करून घेत असत. ते विद्यार्थ्यांशी एकरूप होत असत. रसाळ वाणी, मधुर प्रवचन शैली, घरी दारी, मैफलीत बोलताना अनेक उपमा, सुभाषिते उपयोगात आणण्याची सवय, जुन्या-नव्या विचाराचा सुरेख संगम ह्या त्याच्या गुणवैशिष्ट्यामुळे त्याच्या भाषणात श्रोत्याना विशेष आनंद मिळत असे. पंडितजींचा पिंड केवळ सिद्धाताचा नव्हता तर आध्यात्मिकतेचाही होता. पंडितजी नवमतवादी होते, सामाजिक सुधारकही होते. ते शास्त्रशुद्ध विचाराचे समर्थक होते.

पंडितजीच्या स्मृतीला अभिवादन !

प्रेमळ समाधानी गुरुवर्य

श्री. धर्मचंद्र हि. रुईवाले

कारंजा

आज आदरणीय पं. देवकीनंदनजीच्या स्वर्गवासालाच चाळीस वर्षे होत आलीत. आणि मला संस्था सोडायलाही साठ बासष्ट वर्षे होत आलीत. स्मरणे अंधुक झाली आहेत. कारंजा गुरुकुलच्या प्रथम पिढीतील स्नातकापैकी मी एक होतो. आज आठवते ते आम्हाला सागारधर्मामृत शिकविले हे !

विद्यार्थ्यांच्या साधारणवृत्तीप्रमाणे आम्ही विद्यार्थी अभ्यास नियमित करत नसू. पंडितजींची शिक्षा म्हणजे दुसरे दिवशी (उद्या) कालचे व आजचे सर्व श्लोक पाठ करून येणे एवढीच. त्यांनी छडीचा आश्रय घेतला असे आठवतच नाही. देहदंड त्याना इष्ट नव्हता.

माझे मामा स्व. प्रद्युम्नसावजीचे सांगण्यावरून जे आठवते ते हेच की पंडितजीनी कारंजाला येताना असो की इंदोरला जाताना असो कधीही सौदेबाजी केली नाही. त्यांची वृत्ती अत्यंत समाधानी, त्याच्या योगक्षेमाची व्यवस्था कारंजा येथे प्रथमतः प्रद्युम्नसावजी व जबूसावजीनी स्वतंत्र फंड निर्माण करून केली होती. त्यांनी संस्थेतून पगार म्हणून उचलला नाही. त्याच्या नावाने कधी-कधो वरील मंडळी एखादेवेळी गाठीचा (कपासी) वगैरे धंदा करीत व त्यातील कमाई वरील व्यक्ती जे देतील त्यात ते समाधानी असत.

शेवटी मुलाच्या शिक्षणासाठी पुढील भवितव्याच्या आशेने त्यानी कारंजा सोडून इंदोरला जाण्याचा निर्णय घेतला. तेथेही त्यांची समाधानी वृत्तीच दिसून आली. शेवटी आयुष्याच्या अंती त्याच्या समाधानीवृत्तीला तडे जावेत अशा घटना घडल्यात. परतु त्यानी आपली दु:खे गाजावाजा करून वेशीवर टांगली नाहीत. "दुःख को प्रगट नाकरना " ही त्याची अनुभवाधिष्ठित वृत्ती होती अंतापर्यंत प. पूज्य गुरुदेवावरील त्यांची श्रद्धा अढळ होती. "गुणाचे मोल करावे ते महाराजांनीच " असे ते वारंवार म्हणत.

अशा प्रेमळ समाधानी गुरुजीच्या स्मृतीला शतवार अभिवादन !

वेष असावा बावळा परी अंतरी नाना कळा

श्री. अभयकुमार डोळस
बी. ए. बी. एड्.
वर्धा

सन १९३० चा जून महिना. प्राथमिक शाळेतून चौथा वर्ग उत्तीर्ण होऊन म. ब्र. आश्रमात प्रवेश घेण्याकरिता थोरल्या भावाबरोबर कारंजास आलो. माझा प्रवेश झाल्यावर मोठे भाऊ परत जावयास निघाले. मी रडत त्याच्या पाठीमागे जाऊ लागलो. रस्ता शिक्षक भवनाजवळून जात होता. पंडित देवकीनंदनजी घरासमोरच्या निंबाच्या झाडाखाली खाट टाकून सावलीत बसले होते. त्यांनी मला हाक मारली पाठीवरून त्यानी प्रेमाने हात फिरविला. ते म्हणाले, "बेटा, क्यो रोता है ? तेरे भाई तेरे वैरी है क्या ? उन्हों ने तुझे जेलखाने में डाल दिया क्या ? मेरी तरफ देखो । लिखोगे, पढोगे तो होशियार बनोगे, जीवन सुखी होगा, हँसो ।" असे म्हणून ते हसले व मलाही हसविले. ते मोठ्या भावाला म्हणाले, "अभी आप शौक से चले जाव । यह आप का नही, मेरा छोटा बेटा है ।" केवढे हे वात्सल्य !

पंडितजीनी आम्हाला सागारधर्मामृत हा ग्रंथ शिकविला. त्यानी या ग्रंथाचा कायम ठसा आमच्या मनावर उमटविला. 'क्षत्रचूडामणी' ग्रंथाला तर ते मोसंबीचा रस म्हणत त्यात वेगवेगळ्या प्रसंगी येणाऱ्या नीती शिकविताना ते आपल्या अमोघ वाणीने प्रत्यक्ष शब्दचित्र समोर उभे करीत असत.

पंडितजी सदा हसतमुख व प्रसन्नचित्त असत. मुलाना मारणे, शारीरिक दंड देणे याच्या ते विरुद्ध होते. 'नासमझ बच्चों को समझाना यही उपाय है; मारना नही !' असे ते नेहमी म्हणत.

पंडितजी खऱ्या अर्थाने व्याख्यान वाचस्पती होते. विषय व प्रसंग कसाही असो, ते त्यात असा रंग भरीत असत की श्रोते गदगद व्हावयाचे. त्याची समयसूचकता व वाक्पटुता विलक्षण होती. त्यानी समाजातील अनेक विवाद मिटविले खुरई येथील श्रीमंतसेठ ऋषभकुमारजी जैन व सवाई सिंघई तीर्थभक्त गणपतलालजी गुरहा या दोन प्रमुख व्यक्तीत बरेच दिवसाचा बेबनाव होता. दोघेही परवार समाजाचे महान स्तंभ होते. त्यामुळे त्यांच्या विवादाचे प्रतिसाद समाजातही उमटत असत परंतु पंडितजीनी आपल्या वाक्चातुर्याने त्याच्यात समेट घडवून आणला दोघांनाही दानप्रवृत्त केले व त्यातून सन १९४२-४३ मध्ये खुरई येथे श्री पार्श्वनाथ दिगंबर जैन गुरुकुलची स्थापना झाली.

पं. देवकीनंदनजीची लोकप्रियता विलक्षण होती कारंजाहून ते खुरईला जात असताना प्रमुख स्टेशनवर त्याच्यासाठी लोक येत असत. 'वरूनी बावळा परी अंतरी नाना कळा' ह्या उक्तीप्रमाणे इतर सर्व प्रवाशी हे सर्व पाहून स्तंभित होत असत. कितीही गर्दी असली तरी त्यांच्या नम्रतेने व वाक्चातुर्याने लोक त्यांना गाडीत जागा करून देत असत.

सूक्ष्मनिरीक्षण ही त्यांची विशेषता होती उडाणटप्पू मुले व्यवहारदक्ष निपजतात असे ते म्हणत. त्यानी जीवनात पैशाला कधीच महत्त्व दिले नाही समाजाच्या प्रकांड विद्वान व्याख्यान वाचस्पतीचे जीवन अत्यंत साधे व निगर्वी होते. परवार जैन समाजच नव्हे तर सर्व जैन समाजाचे ते मुकुटमणी होते.

अशा या चतुरस्र, बहुगुणी, व्याख्यान वाचस्पती धर्मदिवाकराच्या स्मृतीला भावसुमने अर्पण करून अभिवादन !

पंडितजींनी मला वक्ता बनविले

श्री. श्रीपाल शिवलाल शहा,
बारामती

मी महावीर ब्रह्मचर्याश्रमात शिकत होतो, त्यावेळची गोष्ट. मी इयत्ता आठवीत असताना आमचा धर्माचा तास पंडितजी घेत असत. त्याची शिकवण्याची पद्धती फारच चांगली होती ते सोप्या भाषेत व मनावर ठसेल अशा रीतीने विषयाचे प्रतिपादन करीत.

एकदा पंडितजींना भोपाळ येथे परवार समाजाच्या अधिवेशनाकरिता जावयाचे होते. परवार समाजात त्यांना मानाचे स्थान होते. ते त्या अधिवेशनाचे अध्यक्ष होते. संध्याकाळी भोपाळला निघावयाचे म्हणून पंडितजी पूज्य ब्र. देवचंद काका (वर्तमान प. पू. समंतभद्रजी महाराज) याचा निरोप घेण्यासाठी त्याच्याकडे आले त्यावेळी आमचा धर्माचा तास सुरू होता. त्या दोघाचे बरेच बोलणे झाले पंडितजींची नजर माझ्याकडे गेली ते माझ्याकडे पाहत पू काकाना म्हणाले, " इसे ले चलेंगे हमारे साथ ?" व मला म्हणाले, "क्यो बेटा, चलोगे हमारे साथ ? मी स्तब्ध. काय, कोठे वगैरे काहीच माझ्या लक्षात आले नाही "पंडितजी भोपाळला निघालेत अधिवेशनासाठी." पू. काकानी खुलासा केला व "जायचे का ? जा" म्हणाले. पू काकाची सम्मती पाहून मी होकार दिला. पंडितजीबरोबर गावाला जायला मिळणार याचा मला आनंद झाला.

प्रवासात पंडितजीनी विचारले, "तुम सागारधर्मामृत पढते हो ना ?" "अभी पहला अध्याय चालू है ।" मी म्हटले. "अच्छा सद्गृहस्थ का लक्षण क्या ?" मी लगेच "न्यायोपात्तधनो.. .." हा श्लोक म्हणून दाखविला. "इसका अर्थ ?" असे पंडितजीनी विचारल्यावर मी अर्थ सांगितला. पंडितजी म्हणाले, "बहोत अच्छा ।" थोडे थांबून पंडितजी म्हणाले, "सभा मे भाषण दोगे ?" मी थोडा गोंधळलो. "यही अभी जो तुमने मुझे बताया वही सभा मे बोलना ।" पंडितजी विनोद करीत असतील असे मला वाटले.

भोपाळला अधिवेशन सुरू झाले. अधिवेशनासाठी सात आठ हजार लोक उपस्थित होते. पंडितजींनी मला आपले जवळ बसवून घेतले. प्रास्ताविकानंतर पंडितजीनी जाहीर केले, "आश्रमचा एक छोटा विद्यार्थी थोडे बोलेल, शांतपणे ऐकून घ्या !" माझ्या पाठीवर हात फिरवून ते म्हणाले, "उठो, बोलो" मी धीटपणे उभा राहिलो व 'न्यायोपात्तधनो......' हा श्लोक अस्खलित म्हटला व पंडितजींकडे पाहिले. त्यांनी धीर दिला. मी श्लोकाचा अर्थ स्पष्ट केला लोक चकित झाले. टाळ्यांचा कडकडाट झाला लोकांनी माझे कौतुक केले. मला धन्य वाटले. मोठ्या सभेत बोलण्याचे धाडस माझ्यात आले. पंडितजींनी मला वक्ता बनविले. त्यांचे हे ऋण मी कधीच विसरू शकलो नाही. त्यांची ही स्मृती माझ्या मनात सतत ताजी आहे. त्यांच्या स्मृतीला अनेकशः प्रणाम !

पंडितजी : एक परिस–स्पर्श

ब्र. भूपाल दलाल

बी ए. बी. टी बाहुबली.

इ. स १९३३ सालची गोष्ट पूज्य क्षुल्लक १०५ समतभद्र महाराज, (परम् पूज्य १०८ गुरुदेव समंतभद्र महाराज) श्रीमान गुरुवर्य पूज्य पडित-देवकीनंदनजी व श्री डी. पी. काळे हे कारंजाला मंदिरपुढे मानस्तंभ बाधावयाचा तो कसा असावा हे पाहण्यासाठी रायबागला आले होते हे रायबाग गांव आमच्या चिंचलीपासून अवघ्या पाच मैलावर होते. मला शिक्षणासाठी कारजास जावयाचे होते. पूज्य महाराजाना भेटून परवानगी मिळविण्यासाठी रायबागला गेलो.

पूज्य महाराज श्री बागी यांच्या घरी दुपारी सामायिकाला बसले होते. गुरुवर पडित देवकीनंदनजी खाली एका हॉलमध्ये बसले होते. त्याना माझ्या येण्याचा हेतू सागितला. माझी परिस्थिती सांगितली. त्यावेळी मी मराठी सातवी व त्यानतर एका वर्षात तीन इग्रजी इयत्ता करुन इग्रजी तिसरी पास झालो होतो. इयत्ता ८ वीत शिकावयास जावयाचे होते. पूज्य पडितजींनी अतिशय आस्थेवाईकपणाने चौकशी केली "आठवीत येणार तर तुझे सस्कृत काय झाले ? धार्मिक शिक्षण काय झाले ?' असे पंडितजींनी विचारले धार्मिक विषय हा कोणता हे माहिती नसल्यामुळे मी **धार्मिक म्हणजे काय** ? विचारले. कारण त्यावेळी मला धर्म म्हणजे "णमोकार मत्र, दर्शन पाठ, म्हणणे, मदिरला दर्शनाला जाणे" एवढेच माहीत होते गुरुवर पडितजींनी व्यवस्थेशीरपणे समजावून सागितले. त्याचा माझ्या मनावर फारच चागला परिणाम झाला. एक वर्ष लक्ष्मीसेन मठ रायबाग येथे राहून रत्नकरड श्रावकाचार, धनजय–नाममाला सस्कृत प्रथम पुस्तक वगैरे ग्रथाचा अभ्यास केला, त्यानतर कारजास अर्ज पाठविला. मंजूरी मिळाल्यावर कारजास गेलो तेथे ५ वर्षे पंडितजींची निरनिराळ्या समारभाच्या निमित्ताने जी व्याख्याने व प्रवचने झाली त्यातून त्याची विद्वत्ता व धर्माच्या खोल अध्ययनाची प्रचीती आली. सागार–धर्मामृत व क्षत्रचूडामणि हे ग्रथ त्याचे मुखोद्गत होते. त्यावर त्याची प्रवचने बहारदार होत असत. क्षत्रचूडामणिला तर ते "मोसबी का रस" म्हणत असत

आम्ही इ दहावीत असताना पंडितजी आम्हाला गोम्मटसार (जीवकाड) शिकवीत हाही ग्रथ पडितजींचा मुखोद्गत होता. धर्मविषयाबरोबर इतर गोष्टी कथा पुष्कळशा सागत असत. "बालसखा" हे हिंदी मुलाचे मासिक गुरुवर पंडितजीचे आवडते होते त्यातील कथा व त्यातील आशय "मतितार्थ" फारच सुदर रीतीने सांगत.

गाथा शिकवून झाल्यावर व्यवहारातल्या गोष्टी, हिंदी व संस्कृत सुभाषिते सागत. त्यावेळी तास लवकर संपू नये असे वाटायचे.

पूज्य पंडितजी अतिशय गुणग्राही होते. श्री ए. बी पाटील नेज. हे नेहमी बाहुबलीस एक त्यांची आठवण सागत. श्री. पाटील हे इदोरला असताना एकदा त्यांनी कुस्ती धरली. त्या कुस्तीमध्ये श्री. पाटील यांनी प्रतिस्पर्ध्याला हा हा म्हणता चित केले. त्यावेळी पूज्य गुरुवर पडितजींनी श्री. पाटील याच्या दंडाला धरून त्या कुस्तीच्या मैदानात "हमारे पहलवानने दुगुना तिगुना पहलवान पटक दिया" असा त्यांच्या गुणाचा गौरव केला.

पूज्य पंडितजींचा व्याख्यानासाठी बाहेरगावी सारखा दौरा असावयाचा. साधी राहणी व कुशाग्र बुद्धी याचा समोरच्या श्रोत्यावर फारच चागला प्रभाव पडावयाचा. समाजातील भाडणे, मतभेद मिटविण्यात त्याचा हातखडा होता. प्रत्येकाची बाजू पोटात शिरून पूर्ण समजावून घेत. प्रत्येकाला वाटावयाचे की हे माझीच बाजू मांडत आहेत.

समाजातील मतभेद मिटविण्यासाठी अनेक ठिकाणी त्याना जावे लागे. अशा थोर विद्वान, गुणग्राही व्याख्यान-वाचस्पति, सिद्धातशास्त्री पंडित गुरुवर देवकीनदनजींच्या हाताखाली आम्हाला शिकावयास मिळाले हे आम्ही आमचे परमभाग्य समजतो.

इ. स १९२४ ते १९४४ सालापर्यंत जे विद्यार्थी पूज्य गुरुवर पंडितजीच्या हाताखाली धार्मिक, सामाजिक व व्यावहारिक शिक्षण घेऊन तयार झाले ते पुढे चांगले प्रसिद्धीस आले. त्याच्या हाताखाली शिकलेल्या या विद्यार्थ्यांनी सस्थेचे नांव उज्वल केले. सस्थेचा नावलौकिक फक्त भारतातच नव्हे तर भारताबाहेर इग्लड, अमेरिका येथेही वाढविला. शिक्षण घेऊन नावारूपास आलेल्या विद्यार्थ्यापैकी श्री माणिकचद चवरे, श्री. माणिकचद भीसीकर, प नरेद्रनाथ भीसीकर, प्रा पद्मनाथ जैनी, श्री उत्साहकुमार भेलाडे, श्री शातीकुमार लोहाडे, श्री. जयचंदजी लोहाडे, श्री. वर्धमान दर्यापूरकर, श्री. रवीद्रनाथ नादगावकर, पं. धन्यकुमार भोरे, श्री. विद्याधर उमाठे वगैरे.

जीवनाचे पूज्य पडितजीच्या परिसस्पर्शाने सोने बनले वरील सर्व विद्यार्थ्यांनी आपल्या त्यागाने, विद्वत्तेने, बद्धीने सस्थेचे नाव उज्वल केले. याशिवाय मला माहीत नसलेली किती तरी हिरे व माणके या आश्रमीय खाणीतून पडितजी रूपी जवाहिऱ्यानी तयार केली आहेत. अशा पूज्य गुरुवर व्याख्यानवाचस्पती, सिद्धातशास्त्री देवकीनदन पडितजीच्या आत्म्याला माझी सविनय वदना !

पंडितजींचा सहवास माझे परमभाग्य!

श्री. अॅडव्होकेट रुखबसा मोतीसा जोहरापूरकर

B. A. LL B. नागपूर

स्व. व्याख्यानवाचस्पति पडित देवकीनदनजी याची ओळख मला माझे वयाचे अदाजे २५ व्या वर्षी झाली. नागपूरला आल्यानतर माझे काका श्री. नेमासावजी पामूसावजी याचेकडे ते येत असत पडितजीचा काकाशी चाललेला सवाद अतिशय मनोरजक असे त्याची मधुरवाणी, हजरजबाबीपणा व माणूस ओळखण्यात चतुराई हे प्रामुख्याने आढळून येई विद्वत्तेचा गर्व कधीही आढळला नाही. त्याचे प्रवचन अथवा व्याख्यान चालू झाल्यानतर ते सोडून जावे असे मला कधीही वाटले नाही. पडिताईचा गर्व कधीही दिसला नाही. ते जेव्हा जेव्हा नागपूरला आले त्यावेळी आठवण ठेवून मला बोलावीत, हे मी माझे भाग्य समजत असे. आज आपल्याला काही नवीन ऐकायला मिळेल म्हणून मी न चुकता त्याना भेटत असे

श्री महावीर ब्रह्मचर्याश्रमाचे रजत जयतीनिमित्त मी कारजाला गेलो असता पडितजींनी मला एक कामगिरी सोपविली ते म्हणाले, " आप स्व मोतीलालसावजी चवरे को इस जयती महोत्सव पर आश्रम में लाईये । " कारण त्यांनी मला स्व. मोतीलालजींचे सहवासात अनेकदा पाहिले होते व मोतीलालजींचे माझेवर प्रेम व विश्वास आहे हेही पाहिले होते. मीही प्रयत्नास लागलो व काही कारणास्तव माझी हिमत खचते आहे हे पाहून पडितजींनी मला आश्रमतर्फे काहीही अटी राहणार नाहीत असा भरवसा दिला व माझे प्रयत्नाला प्रोत्साहन दिले. प्रयत्नाती त्यात यश आले त्यापूर्वी कित्येक वर्षे ते आश्रमात आले नव्हते. आश्रम सस्था स्थापनेमध्ये त्यांचा प्रमुख वाटा होता. त्यावेळी त्यानी यावे असे पूज्य पडितजीना व इतराना वाटून हा योग जुळून आला व स्व. मोतीलालजी चवरे रजत जयती समारोहात हजर झाले.

श्री. पंडितजी अत्यत मृदुभाषी व चतुर होते. त्यांचा सहवास घडण्याचा नागपुरातील एकही प्रसंग सोडला नाही. पर्यूषण पर्वात त्यांची कधी कधी व्याख्याने होत. तेव्हा साधारण माणसाला धर्माचे मूळ कळेल अशा सुलभ भाषेत ते समजावून देत.

त्यांचा प्रत्यक्ष सहवासात अधिक काळ मला मिळाला नाही हे माझे दुर्दैव. त्यांच्या गोड स्मृतीला माझे नम्र अभिवादन.

पंडितजींचे सान्निध्य : एक भाग्ययोग

ब्र. रावजी जीवराज शहा
म्हसरवळ.

व्याख्यानवाचस्पती प देवकीनदनजी याना कारजा आश्रमात आणण्याचे श्रेय श्री जयकुमारसावजी चवरे वकील अणि श्री. प्रद्युम्नसावजी डोणगावकर यांना आहे. महावीर ब्रह्मचर्याश्रमात एक कुशल धर्माध्यापक हवा होता. प गोपालदासजी बरैया यांच्या शिष्यांपैकी एका विद्वानाला सस्थेत आणण्याकरिता ते मोरेना येथे गेले होते. तेथे ते काही दिवस राहिले. तेथील पडिताशी त्यानी चर्चा केली व प. देवकीनदनजीना कारजा येथे धर्माध्यापक म्हणून निमत्रित केले. ते कारजा येथे आले व त्यानी आश्रमात धर्मशिक्षणाचे काम करून विद्यार्थ्यात समीचीन ज्ञानाची आवड निर्माण केली

पडितजी व्याख्यानवाचस्पती असल्याने त्याना उत्तर भारतात अनेकदा व्याख्यानासाठी जावे लागत असे. त्यावेळी त्याच्याकडून धर्मप्रचाराचे महान कार्य घडले. त्याच्या निमित्ताने उत्तरेत महावीर ब्रह्मचर्याश्रमाची कीर्ती पसरली व सस्थेला आर्थिक मदतही मिळाली. पडितजी एक श्रेष्ठ विद्वान होते. सामाजिक मतभेदाचा कितीही गभीर प्रसग निर्माण झाला तरी ते आपल्या बुद्धिकौशल्याने व मधुर भाषणाने समेट घडवून आणीत. त्याची ही विशेषता अनेक प्रसगी दिसून आली.

महावीर ब्रह्मचर्याश्रमात मीही एक कार्यकर्ता असल्याने पडितजी बरोबर राहण्याचा मला सुयोग प्राप्त झाला. या ना त्या निमित्ताने त्याच्याशी माझा सबंध येत असे. त्यांच्या सेवेचा योग मला अनेकदा मिळाला. व्यवहारातही मला लहान मोठी कामे सांगण्याचा त्याना कधी सकोच वाटावयाचा नाही.

सागारधर्मामृत ग्रथाच्या हिंदी अनुवादाचे काम चालू असता ते माझ्याकडून कधी कधी लिहून घेत असत. त्यामुळे मलाही त्यांचा खूप फायदा झाला. पडिजीतनी पचाध्यायी ग्रथाचे भाषातर प्रसिद्ध केले होते. तो ग्रथ सोनगढ येथे वाचण्यात आला. तो वाचून तेथील विद्वानांचे मत पडितजीबाबत फारच अनुकूल झाले होते.

पडितजीमुळे आश्रमसस्था नेहमीच प्रगतिपथावर राहिली आहे सस्था प्रगतिपथावर राहो व पंडितजींची स्मृती कायम राहो हीच भावना !

बोलण्यात कडाई, मनात भलाई व कृतीत सचाई

ब्र. विद्युल्लता हिराचंद शहा
एम. ए. बी. टी. सोलापूर.

मानस सरोवरात राजहंस पक्षी मोत्याचा चारा खातात, स्वच्छद विहार करतात असे दृश्य प्रत्यक्षात कोणाला दिसले आहे ? परंतु मानवी मानससरोवरातील स्मृतीचा राजहस मात्र कितीही काळ गेला तरी सारे क्षण मौक्तिकाप्रमाणे टिपत असतो. माझ्या मानससरोवरातील स्मृतीचा राजहंस पक्षी ते रमणीय विहगम दृश्य पाहत आहे. भूतकाळातील हिमालयाहून उत्तुंग व्यक्तिमत्त्वाचे विस्मृतीच्या धुक्यात अंधुक झालेले प्रतिबिंब आज अधिक स्पष्ट, ठळक होत आहे

पन्नास वर्षांपूर्वी महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, वीरवाडी, कारंजा येथे आम्ही मायलेकी रहावयास गेलो. त्यावेळी मी पाच–सहा वर्षांची असेन. वीरवाडीमध्ये अध्यापक मडळीच्या निवासासाठी एक चाळवजा इमारत होती. तेथे पं. देवकीनदनजी आपल्या परिवारासह राहत असे आश्रमातील छात्राना धर्माध्ययनाचे बाळकडू पाजण्याचे काम पू. महाराजानी त्याच्यावर सोपविले होते.

दुपारचे घरकाम आटोपल्यावर माझी आई काही दळण काडण घेऊन पंडितजीच्या घरी जात असे पडितानी व आई याच्या शिळोप्याच्या गप्पा चालत पंडितजीची कन्या कु. विमला माझ्याच वयाची व त्याचा मुलगा त्रिलोक हाही शाळकरी. आम्ही तिघे अगणात लपडाव खेळत असू. पडितजी अध्यापनासाठी बाहेर पडत तेव्हा ते आमचा खेळ कौतुकाने पाहत. "खेलो बच्चो, छुपाओ मत, खोजो" असे काही तरी म्हणत त्यावेळी त्याचा अर्थ आम्हाला उमगला नव्हता. पण आज वाटते की जीवनात लपविण्यासारखे काही नसावे. जीवनाचा सतत शोध घेत राहावे. हाच सदेश ते देत असावेत

माझ्या आईची व पंडितजींची त्याच्या घरी क्वचित गाठभेट पडली की त्याच्यात माझ्याबद्दल संवाद होई. "क्यों माणकबाई लडकी का व्याह नही करना ?" आई ऐवजी पडितानी बाईच उत्तर देत, "लडकी को जात पराई घर की होती है । एक दिन शादी कर के जायेगी ही ।" पडितजी जाता जाता सल्ला देत, "सोचो, अभी देर है । जल्दबाजी में सारे काम बिगड जाते है । महाराज की सुनना और मानना भी ।" माझ्या आईची पण महत्त्वाकाक्षा होती की आपल्या मुलीला लग्नाच्या बेडीत अडकवू नये त्याच्या या सवादातील काहीही माझ्या बालबुद्धीला गम्य नव्हते. पण मातेनी माझ्यासाठी किती खस्ता खाल्ल्या असतील याची कल्पना आज येते.

रात्रीच्या शास्त्रसभेला जाण्याच्या आधी वीरवाडीच्या घरकुलातील महिला आणखी एका निमित्ताने एकत्रित जमत. तात्या गुरुजीच्या ओसरीवर मैना आई भाजीचे ढीग निवडण्यासाठी करून ठेवत. साऱ्याजणी जमल्या की भाजी निवडताना मुखाने जिनवाणीचे श्लोक म्हणत. भाजीचे ढीग हातासरशी वेगळे करत शास्त्रसभेला जाण्याची घाई त्यांनाही असे शास्त्रसभेला जात असता पंडितजी म्हणत, "ओ विमला की माँ (धर्मपत्नीला ते या नावाने संबोधित असत) चलो समय हुआ है ।" सर्व महिला पडितजीच्या मागे कंदिलाच्या उजेडात जात. पडितजीच सर्वांना प्रकाश दाखवीत. त्या प्रकाशाबरोबरच शास्त्रसभेत ज्ञानाचा आगळा प्रकाशही ते देत असत.

पंडितजींच्या शब्दात अजब जादू भरली होती. 'बोलण्यात कडाई, मनात भलाई आणि कृतीत सचाई' यामुळे त्याचा समाजावर विलक्षण दरारा होता. अमिट छाप होती. त्याच्या बुदेलखंडी बोलीच्या बुलद आवाजात एक प्रकारची अवीट गोडी होती. तत्त्वज्ञानाची पकड घेऊन सूक्ष्म चर्चा करीत, तर कधी कथा, बोधप्रद चुटकुले यांची कारंजी उडवीत.

कारंजाहून सोलापूरला मी शिक्षणासाठी आले. तेथे सागारधर्मामृतावरील पंडितजींचा सुबोध व सरस अनुवाद असलेले पुस्तक वाचून त्याच्याबद्दलचा आदर दुणावला. प्रत्यक्ष पाहिलेली व्यक्ती आता दुरावली होती. पण ग्रंथाच्या रूपाने त्यांच्याजवळ मन मात्र वावरत होते. पंडिता सुमतीबाई व राजुलमती अम्मा यांचे पंचाध्यायी ग्रंथाचे वाचन चालू होते. त्यावेळचे सोलापूरचे प्रकांड पंडित स्व. बंशीधरजी पंचाध्यायीचा पाठ घेताना म्हणत, "इस पंचाध्यायी ग्रंथ का सरल अनुवाद कारंजा के पंडित स्व. देवकीनंदनजी ने किया है। पंचाध्यायी ग्रंथ का पहले अध्याय के द्रव्य-गुण पर्याय का वर्णन पं. राजमलजीने ७६८ श्लोकों में तथा दुसरे अध्याय के ११४१ श्लोकों में किया है। पहला अध्याय पहाडी पत्थर के समान है। पं. देवकीनंदनजी ने इसे सरल अनुवाद का सुरंग लगाकर विषय भावों का झरना हमारे सामने उपलब्ध किया हैं।" आम्ही पं. वंशीधरजींच्या पंचाध्यायीच्या वर्गाला भूनच्या आग्रहामुळे बसत असू. त्यातील उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य यावरील प्रश्नोत्तरे पंडितजींच्या सुबोध अनुवादामुळे व भावार्थ स्पष्टीकरणामुळे आमच्या गळी सहज उतरले. त्यावेळी अनुवाद वाचताना शब्दाशब्दातून पंडितजींनी किती कठीण कार्य मंद बुद्धीच्या विद्यार्थ्यांसाठी रेडीमेड मालाप्रमाणे अगदी सोपे केले आहे असे वाटायचे. स्व. देवकीनंदनजींनी आपली तल्लख बुद्धी व दिव्य प्रतिभा केवळ स्वपरकल्याणासाठीच अनुवादाच्या कामी लावली.

पं. देवकीनंदनजीच्या व्यक्तिमत्त्वाचे ठसे पुसट होत असतानाच त्यांचा स्मृतिग्रंथ प्रकाशात येत असल्याचे पाहून आनंद वाटतो. स्मृतीचे चंदनी खोड काळाच्या कित्येक उन्हाळ्यात वाळून गेले असले तरी ते जसजसे उगाळावे तसतसा त्याचा सुगंध धुंद करीत आहे. पं. देवकीनंदनजीच्या अष्टपैलू व्यक्तिमत्वाला शतशः प्रणाम !

वाणीभूषण पंडितजी

श्री. मा. का. वाशीमकर

एम्. ए. बी टी.

सेवानिवृत्त मुख्याध्यापक, अंजनगाव (सूर्जी).

व्याख्यान वाचस्पती स्व. पं देवकीनंदनजी यांच्या मुखातून जिनवाणी श्रवण करण्याचे भाग्य मला कारंजा आश्रमात शिकत असता लाभले ते आम्हाला सागारधर्मामृत व गोम्मटसार हे ग्रंथ शिकवीत असत. त्यांचे ज्ञान प्रवाही होते. त्यांची स्मरणशक्ती व धारणाशक्ती प्रभावी होती धर्मग्रंथांचे अध्यापन करण्याचे त्यांचे कौशल्य अप्रतिम होते. आपल्या अध्यापनात विविध उपयुक्त संदर्भ, अनेकविध कथा, सूक्ती यांचा ते उपयोग करीत असत. कठीण व गहन विषय सुद्धा ते सुबोध सोप्या भाषेत स्पष्ट करीत. त्यांचे अध्यापन चालू असले म्हणजे वर्गात ज्ञान-गंगा दुथडी भरून वाहत असे.

पंडितजींचे हृदय अतिशय प्रेमळ व दिलदार होते आम्हा विद्यार्थ्यांच्या भावना ते समजून घेत असत. आम्हाला ते नवनवीन उपक्रमात सहभागी होण्याची प्रेरणा देऊन प्रोत्साहित करीत असत. परमपूज्य गुरुदेव समंत-भद्र महाराज, स्व. श्री प्रद्युम्नसावजी काका आणि पंडितजी यांच्यात नित्य धर्मचर्चा होत असे. त्याग, जिज्ञासा आणि विद्वत्ता यांचा तो त्रिवेणी संगम असे. पंडितजी विविध कथा, अनुभव, विनोद यांच्याद्वारे धर्मचर्चेत विशेष रसपूर्णता आणीत असत. त्यांची चर्चा श्रवण करण्यात आम्हा विद्यार्थ्यांना अलौकिक आनंद प्राप्त होत असे.

दिवाळीच्या दिवसात आश्रमात विविध कार्यक्रम आयोजित करण्यात येत असत. एके दिवशी विविध विषयावर विद्यार्थ्यांच्या भाषणाचा कार्यक्रम होता. या रात्रीच्या कार्यक्रमास विद्यार्थ्यांनी पडितजींना आग्रहाने निमंत्रित केले होते. त्यांची अस्खलित रसाळ वाणी, भाषाप्रभुत्व व वक्तृत्वाची अप्रतिम शैली यांचा आनंद मिळावा म्हणूनच त्याना आमंत्रण दिले होते. पडितजीनी सर्व विद्यार्थ्यांची भाषणे शातचित्ताने ऐकली. त्याचेही भाषण झाले. आपल्या प्रेरणादायी व उत्साहवर्धक भाषणात त्यानी विद्यार्थ्यांच्या गुणावगुणाचा परामर्श घेतला. त्यानी गुणाचे कौतुक केले. चागले व्याख्यान कसे द्यावे याचे प्रात्यक्षिकच त्यानी दाखविले.

त्याच्या निधनाला चाळीस वर्षे होऊनही त्याची स्मृती आमच्या मन:पटलावर कायमची कोरली गेली आहे. आमच्या गुरुवर्यांच्या स्मृतीला शतश: अभिवादन !

पंडितजी–एक दृष्टिसंपन्न महान विभूती

श्री. नरेन्द्रकुमारजी ऋषभदास चवरे,
बी ए. कारंजा

श्री परम आदरणीय श्रद्धास्पद प. देवकीनदनजीचे एवढे व्यक्तित्व उत्तुग होते की जो कोणी पंडितजीच्या सहवासात आला त्यावर अमिट छाप पडल्याविना राहतच नसे. परमतसहिष्णुतेमुळे सर्वच विरोधी मतवाले याच्यासह मनमोकळे दिलखुलास चर्चा व वार्तालाप होत असे. ते गावात आले म्हणजे सर्वच परिचिताकडे जात आणि ज्यांच्याशी सख्येबाबत भाडण असे त्याच्यासह मिसळून मनमुराद हास्यविनोद करीत.

माझा संबंध पडितजीशी शिष्य म्हणून कधीच आला नाही. पडितजीचे स्वर्गवासप्रसंगी मी अवघा एकवीस बावीसचा असेन. त्या वयात त्याचा मोठेपणा आकलन व्हावा एवढा माझ्या बुद्धीचा आवाकाही नव्हता. परतु एवढे पक्के आठवते की ते गावात आले की आमचेकडे वारवार येत आणि तासनतास बोलत बसत. वडिलानी प्रतिष्ठाप्रसगी, माझे लग्नप्रसगी त्याना निमंत्रण केल्यावरून ते सर्व कुटुबियासह आले होते. तो घरोबा आजतागायत कायम आहे. त्यानतरही आमचेकडील कार्यप्रसगी त्याची मुले व काकी वगैरे वारंवार आल्यात. त्यांच्या संबधी फारशी स्मरणे ताजी नाहीत. परंतु त्यांच्या दोन तीन गोष्टी आजही स्मरतात. त्या त्याच्या दृष्टिसंपन्नता आणि सौहार्द याच्या द्योतक आहेत असे आज प्रकर्षाने जाणवते

परमतसहिष्णु व विरोधकांबाबत आदर ठेवणारा महापुरुष

कारंजाला त्यावेळी आचार्य वीरसागर, आदिसागर आणि क्षुल्लक सिद्धिसागर याचा चातुर्मास होता. बहुधा ते १९४२–४३ साल असावे. मी १४ वर्षाचा असेन. शास्त्राचे वेळी चर्चा वगैरे आटोपल्यानतर पडितजी घरी आले होते. त्यावेळी क्षु सिद्धिसागर याचे मताशी प्रद्युम्नसावजी वगैरे सहमत नसत. ते आग्रहाने एका टोकाला खेचतात असा बहुतेकांचा समज होता. त्या चर्चेबाबत घरी आल्यानतर बाबानी विचारले–

"पडितजी, क्षु सिद्धिसागरजी के कहने में ऐसी क्या विपरीतता थी जिस का इतना विरोध हो।"

"इतनी विपरीतता तो न थी। किन्तु वे अपना दृष्टिकोण श्रोताओं के सामने रखने में पूरे सफल नहीं रहे ऐसा लगता है। उनका दृष्टिकोण समझने लायक है, ऐसा जरूर लगता है। यद्यपि जो बात जिस प्रकार कही

उस प्रकार न में कहूंगा, न मैं उस का सभा में समर्थन करूंगा। फिर भी उनका एक दृष्टिकोण है और वह विचारणीय है ऐसा मेरा मत है।"

अशी होती पंडितजींची परमतसहिष्णुता! त्यामुळे त्यांच्याशी सर्वच मोकळेपणाने हसत चर्चा करीत.

पंडितजींची दृष्टिसंपन्नता व विवेक

नंतर १९४७ वा १९४८ मध्ये माझे लग्नापूर्वी पंचकल्याणिक प्रतिष्ठेचे आयोजन आमचे घरातर्फे करण्यात आले होते. तेव्हा पंडितजी सहकुटुंब सहपरिवार आले होते. सिवनीहून चांदीचा रथ वगैरे आणण्यात आला होता. तसेच बाहेरून सोन्याचांदीचे भामंडल, पालखी वगैरे सामुग्री गोळा करण्यात आली होती. हे सर्व पाहून पंडितजी जे म्हणाले ते आजही आठवते व पंडितजी केवढी दृष्टिसंपन्न व्यक्ती होती हे जाणवते. "समझ में नहीं आता, इतना अवडंबर किस लिए ? इस मे इतना फिजूल खर्च और सायास की आवश्यकता क्या है ? धर्मकार्य में, विधि-विधान में सावधानता तथा समग्रता और श्रोताओं को उसमें जो रहस्य छिपा है वह अवगत कराना यह बात आवश्यक है। इस ओर लक्ष होना चाहिए।" अशी होती दृष्टिसंपन्नता पंडितजींची!

हे दोन प्रसंग तेवढे स्मरतात. परंतु बोलण्याचे ओघात प. पू. क्षु. समंतभद्र महाराजासह झालेल्या चर्चाप्रसंगी पंडितजींनी सांगितले ते आठवते. पू. महाराजांची चर्या वा संयम केवढा सहज व सोपा आहे याबाबत चर्चा असावी. पू. महाराजासह वार्तालापामध्ये पंडितजी सहज बोलून गेले-

"महाराजश्री! आप हमारे गृहस्थों की हिम्मत और सामर्थ्य क्या कहे। आपने तो सब छोड के रक्खा है। आप के लिए सब आसान है किन्तु हमारी भी हिम्मत देखो। हम गृहस्थ शिर पर संसार का पहाड लेकर पहाड चढते हैं। किसकी हिम्मत ज्यादा ?"

पंडितजींच्या त्या प्रसंगोचित हजरजबाबीपणामुळे सर्व उपस्थित श्रोतृगणात हास्याची खसखस पिकली नसेल तरच नवल!

सर्वच थरातील समाजघटकावर पंडितजींचे न फिटणारे ऋण आहे. त्या मोठ्या मनाच्या सावकारास विनम्रपणे श्रद्धांजली समर्पित करतो.

वाणीचा अलौकिक जादुगार

स्व. श्री. जयपाल थेरे

मी आश्रमच्या पहिल्या पिढीतील एक विद्यार्थी ! ऐशीच्या पार गेलेला ! स्मृती अतिशय विरळ झालेल्या आहेत. शिक्षणामध्ये फार हुशार म्हणून नव्हतो परतु पंडितजीचा मायेने फिरलेला हात-आजही त्याचा मुखद स्पर्श जाणवतो. आणि त्यांच्या व्याख्यानाचे शब्द आजही ऐकत आहोत, असे कानात घुमताहेत. त्याच्या व्याख्यानाचा आधार बहुधा पं. आशाधरजींच्या सागारधर्मामृत असावयाचा. "न्यायोपात्त धनो-" यातील सद्गृहस्थाच्या पहिल्या विशेषाचे जे महत्त्व सांगितले ते आजही आठवते "अन्योन्यनुगुणं तदर्हगृहिणी स्थानालयो." याचे विवेचन करताना "पहिला सुख निरोगी काया, दूजा सुख गुणवंती नारी, तीजा सुख सुत आज्ञाकारी." या व्यावहारिक तथ्याची त्यानी अतिशय बहारीने प्रतीती घडविली

त्या वाणीच्या जादूगार व्याख्यानवाचस्पतीला शतशः वंदन !

पंडितजी का बटुवा : पुरवणी

लोकोत्तर क्षमा

(सुपारी ७ वीं)

(जो जादू का काम कर गयी)

कारंजा में ही पं. जी का पर्यूषण पर्व मे रहना निश्चित हो गया सुनकर हम सब को अत्यंत प्रसन्नता हो रही थी। प्रथम दिन की क्षमा धर्म की प्ररूपणा सानंद संपन्न हुई।

पुष्प-कोटि समं स्तोत्रं स्तोत्र कोटि समं जप :।
जपकोटि समं ध्यानं ध्यानकोटी-समा क्षमा ॥

श्लोक के आधारसे जो प्रवचन हुआ उस का आज ५५ साल बाद भी सहज स्मरण हो जाता है। प्रवचन के उपरान्त पं. जी श्री पू. समन्त भद्रजी महाराजजी के निवासस्थान पर उन्हे पहुंचाने के लिए गये। साथ में चर्चा होती ही रही। सहज मे महाराजजी ने जिज्ञासा प्रगट की, 'प्रत्यक्ष में क्षमा की प्रभावकता की कोई घटना हो तो सुनाइए'।

पं. जी बैठ गये। बोले-'बच्चो के सामने क्या कहूं' मेरे मित्रों में एक चतुर सेठ थे। आयु ६०-६२ की थी। पत्नी का देहान्त हो गया था। पैसा खूब था। दूसरे विवाह का योग जम गया। १८ वर्ष की स्वरूप सुंदर कन्या मिल गयी। नयी गृहस्थी खडी हो गयी। सेठ जी प्रसन्न थे। आधे से अधिक दात निकल गये थे। कन्या की मनस्थिति कुछ अलगही थी। बिचारी को निवाहना पडता था। प्रेम का नाटक जैसा वैसा खेलती रही। भीतर असंतोष की ज्वाला से जलती रही। बाहर से प्रेम की धारा दर्शाती रही। 'मायामयी हि नारीणां मनोवृत्ति-निसगत: 'सेठजी निर्विकल्प थे। कुछ माह बीत गये। सेठानी का संबंध दूसरे से शुरू हो गया। संपर्क बढता ही गया। शुरू में सेठजी पूरे आश्वस्त थे। पर जब द्वद्वभाव का प्रत्यय हो गया तो चिंता में पडे।

खूब सोचा। पर करते क्या ? स्वयं अपराधी थे। स्वयं की कन्या जैसी युवा लडकी से विवाह करना बडा अपराध था। क्या महिलाओ को मायाचार कोई सिखाने की आवश्यकता नहीं होती। वह तो उन्हे निसर्ग की देन होती ही है। पुरुष व्यवहार मे अपने लिए रास्ता निकाल ही ले पर भारतीय संस्कृति में महिला के लिए पातिव्रत्य का ही विधान रहा है।

सेठ जी अच्छे विचारक थे। चतुर थे। अनुभवी तो थे ही। वे भी भीतर से अस्वस्थ हो गये पर शाति से रास्ता सोच लिया। विश्वस्त की भूमिका का निर्वाह करते रहे। उन की दृष्टि में गरम उपाय बेकार था। ठंडे दिल से ठंडा उपाय सोच लिया। सेठ जी के सामने समस्या बहुत बडी थी। उन्हें स्वयं की घराने की-इज्जत को भी संभालना था। वासना को तो वे छोड नहीं सकते थे। अपनी वस्तु अपने लिए बनी रहे, यह भी भावना थी।

एक बार उत्तर रात्रि के समय जब प्रियकर के साथ गाढ निद्रा में देखा तो अच्छी मुलायम शाल धीरे से डाल दी और वापिस आ गए।

वह शाल जादू का काम कर गयी। दूसरे दिन सुबह पत्नी ने सेठजी के पाँव पकडे और घंटों रोती ही रही। पांव छोडे ही नहीं। "और सब मिलेगा पर क्षमा की शाल मुझे ना मिलेगी"। यही बारबार कहती गयी। हृदय-परिवर्तन हो गया। सेठजी का काम बन गया। शेष जीवनी, अच्छी निभ गयी। क्षमा की शाल ने जादू का काम किया। यही लोक विलक्षण-लोकोतर क्षमा थी। जो स्वयं सेठजी ने सुना दी थी।

नेकी कर कुओे में डार
(सुपारी ८ वीं)

पं जी की महापर्व में त्याग धर्म की निरूपणा शुरू थी। त्याग और दान का अंतर स्पष्ट हो रहा था। दान करना भी सरल नही होता। लोभ की मात्रा कम करनी ही होती है। दान में भी प्रतिफल की अपेक्षा करना गलती ही है। पर त्याग तो बहुत ऊँचा बात होती है। त्याग मे लोभ का संवरण नही लोभकषाय के रागभावके अभाव की विशेषता होती है। प्राय जिनका विचारो का दायरा संकुचित होता है, वे करते कम कहते ज्यादह। और अपेक्षा रखते हैं अधिक। पर निसर्ग का नियम अलग ही होता है। प्रतिफल की अपेक्षा यह 'निदान' ही होता है। वह पापका ही एक रूप होता है। "इच्छा परिग्रह" यह आचार्य अमृत चद्र का सूत्र वाक्य ही है। माग की अपेक्षा ही गलती है "बिन माँगे मोती मिले माँगे मिले न भीख" यह व्यवहार का एक महान् जीवन सूत्र है पर लोगो को विश्वास नही होता।

एक श्रीमान धनी के चार सुपुत्र थे। सेठ वृद्ध हो गये। उन्होंने सोच समझ कर संपत्ति का बटवारा किया। पाँच भाग किये। चार भाग करके चारो पुत्रो को दे दिये और कहा कि यह पाचवा मेरा हिस्सा, उसको दिया जावेगा जो अलौकिक कार्य करेगा।

चारो लडकों मे स्वाभाविक, विशेष करके बतलाने की भावना जागृत हुई।

एक ने आगी मे घुसकर अपनी जान की परवाह न करते हुए एक माता के इकलौते पुत्र को कैसे बचाया यह कहकर पिताजी को खुश करना चाहा।

दूसरे ने प्राप्त वैभव मे से कुछ रकम का ट्रस्ट करके परोपकार का निश्चित स्वरूप कर लिया और पिताजी को अपनी विशेषता से संतुष्ट करने का प्रयास किया।

तीसरे ने यह कहाँ कि कुछ गुडे एक प्रतिष्ठित महिला की छेडखानी करते हुए देखे और उन्हें भगा कर महिला को अपने घर पहुंचाया। इस प्रकार अपनी अपनी खासियत तीनो ने पिता को बतला दी।

पिताजी ने तीनो को उनकी विशेषता के लिए धन्यवाद दिये।

चौथा सपूत वैसे ही बचा था। उस ने स्वय तो कुछ नही कहा। पर मित्र से जानकारी प्राप्त हुई उससे पिता स्वयं चकित हो गये। पिताने उसे बुलाया और पूछा,

"बेटा! मैने सुना, तुमने अपने घराने की तीन पीढियो से शत्रुता करने वाले अमुक व्यक्ति की जान बचाई, क्या यह सच है?"

"हां पिताजी! कुछ दिन पूर्व उस व्यक्ति को नदी की रेत मे सोते हुए देखा। मै देहात से आ रहा था। वर्षा के कारण नदी में ऊपर से जोर से बाढ के पानी का प्रवाह आ रहा था। मैने सोचा कि यह प्रवाह मे बह जावेगा। और जान योंही चली जावेगी, तो उसे जगाया। उस ने मुझे कहा, अरे! मै तो तेरा शत्रू हूँ। मैने उस की कुछ नही सुनी और उसे पहले नदी पार किया।"

पिताजी बोले, "बेटा! इतनी बडी बात होते हुए मुझे कुछ नही कहा।"

बेटा बोला, "पिताजी! इस मे कौन सी बडी बात! यह तो मनुष्य मात्र का धर्म है। संकट काल में मानव मात्र की सहायता करनी ही चाहिए इस मे क्या विशेषता।"

पिता ने जो परीक्षा करनी थी वह कर ली। अपना पाँचवा हिस्सा इस चौथे को दिया और यह कहते हुए दिया कि जो परोपकार किया जाता है वह अपने मूंह से कहा नही जाता 'नेकी करना और उसे भूल जाना' इसी में विशेषता है।

विद्वान् तथा संशोधक मनीषियों के लेख

सम्यग्दर्शन और पं. प्र. आशाधरजी

श्री. पं. फूलचंदजी सिद्धांतशास्त्री
(रुड़की)

आचार्य कुन्दकुन्द द्रव्यानुयोग के एक ग्रंथ 'दर्शन पाहुड' में लिखते हैं–दंसणमूलो धम्मो।

सम्यग्दर्शन धर्म में मुख्य है, क्योंकि वह रत्नत्रय का प्रतीक है। वह हो और रत्नत्रय की प्राप्ति न हो यह सम्भव नही। नारकियो और देवो में जो सम्यक्चारित्र का निषेध आगम में लक्षित होता है। उन का जीवन इतना बंधा हुआ है कि उस मे हेर–फेर करना सम्भव नही है। देवो में बाहरी अनुकूलता अधिक है और उत्तरोत्तर बाह्य साधनो का अवलम्बन कम से कम। जब कि नारकियों मे बाहरी प्रतिकूलता अधिक है और बाह्य साधनों का अवलंबन तब बने जब वे वहाँ प्राप्त हो। सम्यग्दर्शन के होने पर दोनों गतियो मे यह स्थिति बदल जाती है। उन का अवलंबन एक तरह से आत्मा हो जाता है। इसलिए उन में संयम की कमी या अभाव होते हुए भी अंशतः सम्यक्चरित्र सिद्ध होता है। इसका विशेष खुलासा आगे करेगे ही। आगे आचार्य देव कुन्दकुन्द ने जो यह गाथा लिखी है–

दंसणभट्टाभट्टा दंसणभट्टस्स णत्थि णिव्वाणं।
सिज्झति चरियभट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥

तो उस से भी यही सिद्ध होता है, क्यों कि सम्यग्दर्शन कहने पर बाह्य वस्तुओं में अपनापन बना रहे और उस के उपयोग मे आत्मा की वैसी झलक न भासे, जिसके होने पर वह उपयोग आत्मा के अस्तित्व को उसी प्रकार स्वीकार न करे। जिस प्रकार वह पुद्गल के अस्तित्व में अहबुद्धि करता है यह नही हो सकता। इसलिए उपयोग मे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करनाही स्वानुभूति है। यह स्वानुभूति न हो और वह मोक्ष का अधिकारी बन जाय यह नही हो सकता। उक्त गाथा में आचार्य देवने इसी आशय को स्पष्ट किया है। इसी लिए वे कहते हैं कि सयमाचरण चारित्र से भ्रष्ट हुए जीव उत्तर काल मे उसे प्राप्त कर भले ही अकेले (मुक्त) बनने के पात्र बन जाएँ। पर जिन्हों ने अपने उपयोग मे ज्ञानदर्शन स्वभाव–स्वरूप आत्मा के अकेलेपन का अनुभव नही किया वे कभी भी संसार से मुक्त नही हो सकते यह आचार्य कुन्दकुन्द की अनुभूत दृष्टि का सार है। अन्य आचार्य इस से बाहर नहीं हैं। आचार्य समन्तभद्र ने

अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूत–
मभ्यंतरं केवलमप्यलं ते।

इस वचन द्वारा इस तथ्य की पुष्टि ही की है।

यहाँ मुख्य रूप से पण्डित प्रवर आशाधर जी का इस विषय में क्या अभिप्राय है यह देखना है। उन के द्वारा लिखित अनेक प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। धर्मामृत मुख्य है। उस के दो विभाग हैं–एक अनगार–धर्मामृत और दूसरा सागारधर्मामृत। अनगार धर्मामृत की रचना पहले की गई थी। इसलिए उस के प्रथम दो अधिकारों में पुण्य पदार्थ की महिमा के निरूपण के प्रसंग से उस के कारण रूप में सम्यग्दर्शनादि धर्म की प्ररूपणा करते हुए सम्यग्दर्शनादि रूप रत्नत्रय की चर्चा आयी है। यहाँ इतना ध्यान रखना चाहिए कि धर्मामृत मुख्यतः चरणानुयोग की प्ररूपणा करनेवाला ग्रंथ है, निश्चय रत्नत्रयपूर्वक होनेवाले व्यवहार रत्नत्रय के अर्थ में ही धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। फिर भी धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है इसलिए इस में सम्यग्दर्शन के स्वरूप पर विशद प्रकाश डालते हुए दूसरे अध्याय के ४६–४७ श्लोकोंकी टीका में लिखा है कि सम्यग्दर्शन के होने में बाह्य बाधक दर्शन–मोहनीय की तीन और अन्तानुबन्धी की चार इस प्रकार सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से जो

सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है, वह दर्शनमोह से रहित आत्मा का स्वरूप है। पण्डितजी लिखते हैं कि यद्यपि पहले हम आत्मरुचि को जो सम्यग्दर्शन लिख आये है। वह उपचार से लिख आये हैं, परमार्थ से नही।

मोक्ष के हेतुरूप इस की प्राप्ति क्या करने से होती है, अर्थात जब यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने के सन्मुख होता है, तब इस के उपयोग का आलम्बन क्या रहता है ? यह महत्त्व का प्रश्न है। पूरे जिनागम पर दृष्टि डालने से विदित होता है कि उसका उपयोग अन्तर्मुख होकर भी उपयोग का आलम्बन स्वभावभूत आत्मा ही रहता है, अन्य पदार्थ नही। यहां तक कि उस उपयोग के आलम्बनभूत पदार्थ पाँच परमेष्ठी भी नही रहेंगे।

करणानुयोग के शास्त्रो मे जो यह लिखा है कि देवदर्शन के काल मे जो कर्म निधत्ति निकाचित रूप होते है वे भी बदल जाते हैं। तो यहाँ देवदर्शन का अर्थ है कि जो अपने आत्मा को कर्म और उस को निमित्त कर होनेवाले भावो से भिन्न शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव रूप देखता है, अनुभव मे लेता है, उसके ससार अवस्था मे नहीं बदलनेवाले निधत्ति और निकाचित रूप कर्म भी परिणामो की एकाग्रता होने से बदल जाते है। यह परिणामों की एकाग्रता अनिवृत्तिकरण रूप परिणामो के होने पर ही होती है। यदि ऐसा जीव मिथ्यादृष्टि है, तो उसके मिथ्यात्वकर्म के उदय उदीरणा को निमित्त कर होनेवाला मिथ्यात्व परिणाम अबुद्धिपूर्वक हो जाता है, क्योकि ऐसे आसन्न भव्य जीव ने आगम से जो निर्णय लिया है, उपयोग मे उस निर्णय की मुख्यता हो जाती उस के मिथ्यात्व भाव स्वय दब जाता है और अन्त मे नामशेष हो जाता है।

ससारी-जीव हो चाहे मुक्तजीव हो, वे सब जीव शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाले होते हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए पं प्रवर आशाधरजी अनगार-धर्मामृत के प्रथम अधिकार के १०३ श्लोक मे लिखते हैं।

सर्वेऽपि शुद्ध-बुद्धैक-स्वभावाश्चेतना इति।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुए अपनी स्वोपज्ञ टीका में वे लिखते है कि इस श्लोक में 'सर्वे' पद से संसारी और मुक्त दोनो प्रकार के जीवो का ग्रहण किया है। 'शुद्ध' पद से रागादि रहित उन का ग्रहण किया है। ससारी जीव स्वभाव की अपेक्षा कर्मो से भिन्न होने के कारण उनसे रहित है। और सिद्ध जीव कर्मो से अलग हो जाने के कारण उन से रहित हैं। 'बुद्ध' पद से ज्ञानपरिणत जीव लिये गये हैं। यह सब ससारी और मुक्त जीवों मे घटित हो ऐसा जीव का असाधारण लक्षण है।

आगे इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि उक्त प्रकार का अनिवृत्तिकरणरूप जो परिणाम होता है वह उपयोग की कैसी स्थिति होने पर होता है, इसको स्पष्ट करते हुए आगे प प्रवर आशाधरजी पहले अध्याय के ११० की टीका मे लिखते है।

> अथ च शुद्धनिश्चय नयेन शुद्धबुद्धैक स्वभावो। निजात्मा ध्येयास्तिष्ठति इति शुद्धध्येयत्वात्, शुद्धावलम्बनत्वात्, शुद्धात्मस्वरूप-साधकत्वात् च शुद्धोपयोगो घटते। स च भावसंवर इत्युच्यते, एष च ससारकारणभूत। मिथ्यात्व-रागाद्यशुद्ध पर्यायवदशुद्धो न स्यात्। नापि फलभूत केवल ज्ञानलक्षण-शुद्धपर्यायवत् शुद्धः स्यात्। किन्तु ताभ्यामशुद्ध शुद्धपर्यायाभ्या विलक्षणं शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चय रत्नत्रयात्मकं। मोक्षकारणमेकदेश व्यक्तिरूपमेकदेश निरावरण च तृतीयमवस्थान्तरं भण्यते।

अर्थ- शुद्ध-निश्चय मे शुद्ध-बुद्ध एक स्वभावी अपना आत्मा ध्येय रहता है। इस कारण जो जीव शुद्ध निश्चय नयकी दृष्टि से अपने आत्मा को ध्येय लक्ष्य में लेता है उस जीव के शुद्ध होने से शुद्ध आत्मा (स्वभाव की दृष्टि से) का अवलम्बन होने से, शुद्ध आत्मा के स्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग घटित हो जाता है। उस का ही नाम भावसंवर है।

पर्याय-दृष्टि से देखने पर वह (शुद्धोपयोग) मिथ्यात्व और रागादि अशुद्ध पर्याय के समान अशुद्ध नही होता तथा फलभूत केवलज्ञानलक्षण शुद्ध पर्याय के समान शुद्ध नही होता। किन्तु उन अशुद्ध और शुद्ध

पर्यायों से विलक्षण शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चय रत्नत्रय स्वरूप मोक्षका कारण कहा जाता है। वह एकदेश प्रकट होता है, अतएव एकदेश निरावरण होकर तीसरी अवस्थारूप होता है।

करणानुयोग की दृष्टि से देखने पर जैसे केवलज्ञान पर्याय उस के किसी अपेक्षा विरोधी कर्मो के सर्वथा अभाव होने पर होती है तथा मिथ्यात्व और रागादिभाव कर्मो के उदय और उदीरणा के काल मे होते हैं, वह स्थिति इस भाव-संवररूप रत्नत्रयात्मक शुद्ध आत्मानुभूति की नही होती। वह एक देश प्रकट रूप और एक देश निरावरण तीसरी अवस्थारूप होती है ऐसा कहा जाता है।

अब यहाँ यह देखना है कि ऐसे जीव की बाह्य प्रवृत्ति कैसी होती है ? क्या वह हठात् करनी पडती है या सहज होती है। यदि हठात् करनी पडती है तो यह न करने के बराबर है। इसका अर्थ है कि उस के अभी तक मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोधादि गये नही। तभी तो वह कहता हैं कि उसे मोक्षमार्ग के अनुकूल प्रवृत्ति करनी पडती है। फलत यही निश्चित होता है कि मोक्षमार्ग की परिणति को प्राप्त होने वाले के उस के अनुकूल बाह्य प्रवृत्ति स्वय पहले से होने लगती है। उसे बलात् करनी नहीं पड़ती, केवल उसे सम्यक्पने की प्राप्ति सम्यग्दर्शन के होने पर ही होती है। जब उस बाह्य प्रवृत्ति को सम्यकपना प्राप्त होता है तब उसके उपयोग की दशा नियम से अनिवृत्तिकरण परिणामरूप-एकाग्रतारूप रहती है। करणानुयोग के शास्त्रो मे जो यह लिखा है कि कोई भी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान से चौथे पाँचवे और सातवे गुणस्थान को एक समय मे प्राप्त कर सकता है; सो वह बाह्य मे कैसी भी प्रवृत्ति करनेवाला होकर भी मिथ्यात्वसे उन गुणस्थानो को प्राप्त करनेवाला होता है या उसको बाह्य प्रवृत्ति मे कुछ विशेषता होती है ? विचार कर देखा जाय तो ऐसा मिथ्या दृष्टि जीव उस-उस गुणस्थान के अनुकूल बाह्य प्रवृत्ति करनेवाला होना चाहिये तभी वह ध्यानरूप अनिवृत्तिकरण के अन्त मे उस-उस गुणस्थान के योग्य विशुद्धि के साथ बाह्य मे चरणानुयोग के अनुसार स्वीकृत बाह्य चारित्र मे स्वयं सम्यक्पना हो जाता है। इसीलिये द्रव्यसंग्रह मे यह वचन उपलब्ध होता है।

> दुविहं पि मोक्खहेऊ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
> तह्मा पयत्तचित्ता खुय ज्झाण समब्भसह ॥

दोना प्रकार के मोक्षमार्ग को ज्ञानी जीव नियम से ध्यान में प्राप्त करते हैं, इसलिये प्रसन्नचित्त होकर तुम लोग भी ध्यान का अभ्यास करो।

केवल द्रव्यसग्रह में ही यह वचन उपलब्ध होता हो यह बात नही हैं, किन्तु अनगारधर्मामृत के प्रथम अध्याय मे धर्म शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के साथ उस के अन्त में इसी आशय का एक उद्धृत श्लोक उपलब्ध होता है, जो यह है।

> सच मुक्तिरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते दुविधोदि।
> तस्मादभ्यस्यतु ध्यानं सुधियस्सदाप्यपास्यालस्यम् ॥

इस मे भी कहा गया है कि दोनो प्रकार का उत्तम मोक्षमार्ग ध्यान में प्राप्त होता है। इसलिए उपयोग मे स्वभावभूत आत्मा के सम्मुख हुए संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तक प्राणीमात्र को आलस्य छोडकर ध्यान करना चाहिए। इसलिए निश्चय मोक्षमार्ग यद्यपि यथार्थ मोक्षमार्ग है पर अनिवृत्तिकरण के अत मे निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति के साथ पूर्व मे स्वीकृत अपने-अपने गुणस्थान के अनुरूप बाह्य चारित्र में सम्यक्पना आ जाता है। इसका आशय यह है कि यदि वह चौथे गुणस्थान के अनुरूप देवदर्शन आदि बाह्य चारित्र का गुरु की साक्षीपूर्वक आचरण करता है तो उसके निश्चित मोक्षमार्ग की प्राप्तिपूर्वक बाह्य देवदर्शन आदि रूप चारित्र मे सम्यक्पना आ जाता है। यदि वह पाँचवे गुणस्थान के अनुरूप व्रत संयम का गुरु साक्षीपूर्वक पालन करता है तो उसके पाँचवें गुणस्थान के अनुरूप निश्चय रत्नत्रय की प्राप्तिपूर्वक बाह्य चारित्र मे सम्यक्पना आ जाता है। यदि वह

मुनिपद के अनुरूप २८ मूलगुणों का गुरु साक्षीपूर्वक पालन करता है तो उसके निश्चय रत्नत्रय की प्राप्तिपूर्वक पूर्व में स्वीकृत महाव्रतों आदि मे सम्यकपना आने के साथ सर्वप्रथम सातवे गुणस्थान की संप्राप्ति बन जाती है। आगम मे जो यह कहा है कि दोनो प्रकार के मोक्षमार्ग की प्राप्ति ध्यान से होती है। उसका आशय यही है कि यह उपशम सम्यक्त्व की अपेक्षा आगम में यद्यपि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से चौथे पाँचवें और सातवे गुणस्थान में जाने का तो जीव का कथन है। वेदक सम्यक्त्व की अपेक्षा थोड़ा भेद है। आशय यही है कि चौथे, से पाँचवें और सातवे गुणस्थान में जो जीव जाता है या पाँचवे से सातवे गुणस्थान मे जो जीव जाता है उसका कथन वेदक सम्यक्त्व के समान है। व्यवहार मोक्षमार्ग को निश्चय मोक्षमार्ग का साधक कहा गया है, सो साधक का यह अर्थ नही है कि व्यवहार मोक्षमार्ग से निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। पर उसका यह अर्थ अवश्य है कि जब आत्मध्यान की भूमिका मे निश्चय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है, तब उसके व्यवहार मोक्षमार्ग अवश्य रहता है, क्योंकि इन दोनो की प्राप्ति का एक ही काल है। आगम मे कहा भी है–

कारणकार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥ (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय श्लोक ३४)

एक काल में होते हुए भी सम्यक्त्व और ज्ञान मे दीप और प्रकाश के समान कारण-कार्य का विधान अच्छी तरह से बन जाता है।

इन दोनो की प्राप्ति एक काल मे होती है इसका विशेष खुलासा हम पहले कर ही आये हैं। इस विषय मे विशेष कथन परमागम से जानना चाहिए।

अब यहां पर यह देखना है कि जो उपयोग मे स्वभावभूत आत्मा का अवलंबन लेकर उस मे एकाग्र होता है, उसके जो आत्मानुभूति प्राप्त होती है वह केवल सम्यग्दर्शन रूप होती है, या केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान रूप होती है, या वह तीन रूप होती है ? सवाल महत्त्वपूर्ण है।

समाधान यह है कि प. प्रवर आशाधर जी के उक्त कथनानुसार वह त्रयात्मक होती है। पर प्रकृत मे यह देखना है कि उस आत्मानुभूति मे त्रयात्मकता कैसे बनती है, क्योंकि प्रवचनसार गाथा २३७ की टीका मे उस आत्मानुभूति को ज्ञानानुभूतिरूप ही कहा है, इसलिए यह हो सकता है कि उस आत्मानुभूति के काल में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति एक साथ बन जाय। जैसा कि हम पूर्व मे जो 'कारण–कार्यविधानं' इत्यादि कारिका उद्धृत कर आये है, उस मे यह स्वीकार किया गया है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति एक साथ होती है। छहढाला के–

"सम्यक् साथै ज्ञान होय पै भिन्न आराधो।"

इस वचन से भी यही सिद्ध होता है। पर इन दोनो के साथ सम्यक् चारित्र की भी प्राप्ति हो जाती है यह कैसे माना जाय। यह हृदय को स्पर्श करनेवाला प्रश्न अवश्य है। पर विचार करने पर यह अवश्य ही अनुभव में आता है कि आत्मानुभूति हो और उपयोग आत्मा मे न रहे, बाहर भटके, और आत्मानुभूति हो जाय यह नहीं हो सकता। इस लिए सिद्ध होता है कि आत्मानुभूति मे तीनो का प्रकाश है, क्योंकि उपयोग का आत्मा मे रहना यही सम्यक्चारित्र है।

"स्वरूपे चरणं चारित्रम्।"

चारित्र का लक्षण भी यही है। उपयोग ही वह वस्तु है, जो पर को जानते हुए भी पर मे जाता नहीं, स्वरूप में रहता है। पर यह अवस्था तब बन सकती है, जब आत्मा को सम्यग्दर्शन हो। इस प्रकार आत्मानुभूति त्रयात्मक होती है यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस बात को भीतर से जानते थे इस लिए

उन्हों ने चारित्र के दो भेद अष्टपाहुड में किए हैं। और इस लिए वे प्रवचनसार में "चारित्तं खलु धम्मो।" यह वचन लिखने में समर्थ हुए हैं।

अष्टपाहुड मे जो चारित्र के दो भेद किये वे ये हैं सम्यक्त्वाचरण चारित्र और संयमाचरण चारित्र। विचार कर देखा जाय तो चारित्र के दोनो भेद तर्क से भी सिद्ध होते हैं। तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के 'सम्यक्त्वचारित्र' (अ. २. सू ३) इस सूत्र से भी उक्त तथ्य का समर्थन होता है, क्यो की क्षायिक चारित्र सिद्धों में भी पाया जाता है, इसलिये तो यह मालूम पड जाता है कि संयम और चारित्र एक वस्तु नहीं है। क्योंकि संयम की प्राप्ति पांचवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर १४ वे गुणस्थान मे समाप्त हो जाती है, पर चारित्र अष्टपाहुड के अनुसार चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर सिद्धो में भी रहता है, वह मिथ्यात्व अवस्था में विपरीत हो सकता है, पर नष्ट नहीं होता।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि सिद्धों में जो आठ गुण बतलाये है, उन में चारित्र को सम्मिलित नहीं किया गया है। इस लिये सिद्धो मे चारित्र होता है यह कैसे जाना और माना जाय? किन्तु जो भाई इस तर्क को मानते है, उन्हे यह देखना चाहिये कि मोहनीय कर्म के दो भेद किये हैं सो क्यों किये हैं। यह तो हो नही सकता कि चारित्र नाम का कोई अनुजीवी गुण न हो और उस को घातने वाला कर्म अवश्य हो। यह तो परस्पर विरुद्ध कथन हो जाता है। इस लिए जीवमात्र मे श्रद्धा गुण के समान चारित्र नाम का गुण भी सिद्ध होता है और इसलिये उस को घातने वाले चारित्र मोहनीय कर्म को आगम मे अलग से स्वीकार किया गया है। इस प्रकार अनुजीवी चारित्र को घातने वाले कर्म के सिद्ध हो जाने पर उस के क्षय से जो चारित्र गुण की निर्मल पर्याय प्रगट होती है, वह सिद्धो मे भी बन जाती है। इस प्रकार सिद्धो मे चारित्र गुण की पर्याय के सिद्ध हो। जाने पर वह संसारी जीवो के भी बन जाती है।

अब यहां यह देखना शेष रह जाता है कि वह चारित्रगुण की स्वभाव पर्याय कहाँ से होती है। विचार कर देखा जाय तो वह निर्मल पर्याय अंशत चौथे गुणस्थान से सिद्ध होती है। तभी तो चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्वाचरण चारित्र को आगम मे स्वीकार किया गया है। अष्टपाहुड के उक्त वचन से इस की पुष्टि होती है। सम्यक्त्वाचरण चारित्र का भी यही अर्थ है, क्योकि अभी तक जिन बाह्य पदार्थो में इष्टअनिष्टपना भासता था उन के स्थान मे आत्मा मे हित बुद्धि के साथ आत्मा में पर पदार्थों के विषय में न वे इष्ट भासते हैं और न वे अनिष्ट भासते हैं। वे मात्र ज्ञान के ज्ञेय हो जाते है। इस प्रकार समग्र दृष्टि से देखने पर सम्यक् चारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर सिद्धो तक होता है और संयम पाचवे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवे गुणस्थान तक होता है, इसलिये चारित्र व्यापक है और सयम उसका व्याप्य है यह सिद्ध होता है।

अब आगे यह बात विचारणीय अवश्य रह जाती है कि सम्यक्त्व के जो तीन भेदो के अतिरिक्त सराग-सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन ये दो भेद तथा आज्ञा-सम्यक्त्व आदि दस भेद आगम में कहे गये है, तो इन औपशमिक सम्यग्दर्शन आदि तीन भेदों के अतिरिक्त क्या वे दो या दस भेद अलग से होते है या औपशमिक सम्यग्दर्शन आदि तीन भेदो मे किसी एक सम्यग्दर्शन के रहते हुए निमित्त भेदों की अपेक्षा उन का सद्भाव बन जाता है, यह क्या बात है? आगे इसी विषय पर संक्षेप मे विचार किया जाता है। अनगार धर्मामृत के दूसरे अध्याय के ५० सख्याक श्लोक मे सराग और विराग सम्यग्दर्शन की चर्चा आयी है।

श्लोक-इस प्रकार है -

> सरागे सरागं स्याच्छमादि व्यक्तिलक्षणम्
> विरागे दर्शनं स्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥ (२-५१)

इसका अर्थ यह है कि ज्ञाता यदि राग सहित है तो उस के प्रशम आदिकी व्यक्ति लक्षणवाला सराग सम्यग्दर्शन होता है। तथा वह राग रहित है तो उस के आत्मा की विशुद्धिरूप वीतराग सम्यग्दर्शन होता है।

इस श्लोक की जो स्वोपज्ञ टीका है, उस मे 'व्यक्ति' पद का अर्थ 'उपलब्धि' और 'लक्षण' पद का अर्थ 'ज्ञापक-निमित्त' किया है। इस से ऐसा अर्थ निकलता है कि रागी जीव के जो आत्मविशुद्धि रूप सम्यग्दर्शन होता है। उस के ज्ञापक प्रशमादि भाव है। इसी लिए इसे सराग सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह कोई हमारी कल्पना मात्र हो ऐसा नही है, किन्तु इस की पुष्टि अगले श्लोक और उस की टीका से हो जाती है।

वह श्लोक इस प्रकार है–

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वादृशविधु ।
प्रमत्तान्तान्यगंतजवाक चेष्टानुमितैं पुन. ॥ २–५१॥ (२–५१)

चौथे गुणस्थान से लेकर सूक्ष्म लोभ पर्यंत के जीव अर्थात् सूक्ष्म सापरायिक (१० वें) गुणस्थान तक के जीव अपने दर्शनमोहनीय और अनन्तानुबन्धी के उपशम, क्षय और क्षयोपशम से हुए सम्यग्दर्शन को अपने अनुभव मे आने वाले उन प्रशमादि भावो से जानते है। तथा प्रमत्त गुणस्थानतक के जीवो के स्वभावभूत सम्यग्दर्शन पाया जाता है यह बात उन के वचन और चेष्टाओ से जानते है।

इस की टीका का भी यही आशय यहाँ 'तैं' पद की टीका मे जो अर्थ किया है उससे भी जाना जाता है। यथा 'तैं' स्वगत सम्यक्त्वजन्यैः प्रशमादिभिः चतुर्भि लिंगै इस से स्पष्ट हो जाता है कि प्रशमादि चार भाव स्वयं सम्यग्दर्शन नही हैं, किन्तु जीव के जो औपशमिकादि सम्यग्दर्शन होता है उस के ज्ञापक निमित्त हैं। इस अपेक्षा से इन प्रशमादि भावों को व्यवहार सम्यग्दर्शन कह सकते है। परमार्थ से तो कर्मों के उपशम आदि के होने पर जो सम्यग्दर्शन होता है वह आत्मा की विशुद्धि मात्र है। और प्रशमादि भाव उस विशुद्धि के ज्ञापक–निमित्त मात्र है। क्योकि यह जीव जब सम्यग्दर्शन रूप विशुद्धि से परिणमन करता है, तब उस के कर्मों का उपशम आदि स्वय रहता है। और उसी काल मे, प्रशम, अनुकम्पा आदि भाव भी स्वय होते है। निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्ध का ऐसा ही योग है। कोई किसी को बलात् करता नही। किन्तु इस से यह हुआ ऐसा व्यवहार अवश्य किया जाता है। इसी व्यवहार का करणानुयोग के शास्त्रो में विशद विवेचन उपलब्ध होता है। उस से हम जानते है कि जो मोहनीय की २६ प्रकृतियों की सत्तावाला अनादि मिथ्या दृष्टि भव्य तथा २६, २७ और २८ प्रकृतियों की सत्तावाला सादि मिथ्या दृष्टि भव्य अधःप्रवृत्त करण आदि तीन करण परिणाम कर के अनिवृत्ति करण परिणाम के समाप्त होने के बाद प्रथम समय मे प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। किन्तु जब यह जीव इस तरह के करण–परिणाम करता है, तब उस के शुभ परिणाम रहते है यह प. प्रवर आशाधर जी का अभिप्राय है। इस सम्बन्ध मे अनगार धर्मामृत की टीका मे

'शुभपरिणामाभिमुखोऽन्तर्मुहूर्तमनन्त गुण'

ये शब्द उपलब्ध होते है। इस मे ऐसा लगता है कि परमार्थ स्वरूप देवादि के दर्शन मे उपयुक्त जीव के सम्यग्दर्शन की उत्पत्तिपूर्वक प्राप्ति हो जाती है। उसे परमार्थस्वरूप देवादि के दर्शन-पूजन मे लगे हुये उपयोग को गौणकर स्वभावभूत त्रिकाली आत्मा को लक्ष्य मे नही लेना पडता है। किन्तु विचार कर देखा जाय तो उक्त प. जी के इस अभिप्राय मे द्रव्यानुयोग से बाधा प्रतीत होती है; क्यो कि सम्यग्दर्शन यह स्वभाव पर्याय है। और स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति शुद्ध–बुद्ध एक स्वभाव आत्मा के उपयोग मे आलम्बन बिना हो नही सकती। नियमसार मे इसी अभिप्राय से यह वचन उपलब्ध होता है।

"पज्जा ओ दुविअप्पो स्वपरावेक्खो, पर निरवेक्खोय"

पर्यायें दो प्रकार की होती हैं। एक स्व-पर सापेक्ष पर्याय। इसे ही 'विभाव पर्याय' कहते हैं। दूसरी परनिरपेक्ष पर्याय इसे ही 'स्वभाव-पर्याय' कहते है। इस का आशय यह है कि जब यह जीव उपयोग द्वारा रागादि पर्याय को वेदता है तब इस जीव के पर में इष्टानिष्ट बुद्धि अवश्य रहती है। किन्तु जब इस जीव के स्वभाव पर्याय की उत्पत्ति होती है, तब उस के उपयोग में शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव आत्मा ही ध्येय रहता है। आलम्बन भी उसी का रहता है, क्योंकि वह आत्मस्वरूप का साधक है, इसलिए ऐसे समय मे उस स्वानुभूति के होने मे कोई बाधा नही आता। अन्यथा रत्नत्रयात्मक आत्मानुभूति नही उत्पन्न होती और परावलम्बन से स्वभाव-पर्यायरूप सम्यग्दर्शन आदि उत्पन्न हो जाय यह नही हो सकता।

हां ! यह अवश्य है कि स्वभावपर्याय उत्पन्न होती है, उस समय जो राग की पर्याय पायी जाती है, वह परमार्थ स्वरूप देवादि को इष्ट मानने रूप होती है, अन्य विषय कषायरूप नही होती। अबुद्धिपूर्वक ऐसे राग को निमित्त अवश्य ही कह सकते है। इस से कोई ऐसा समझे कि ऐसे राग को निमित्त स्वीकार करने पर उसे व्यवहार से कारक मान लेने मे क्या आपत्ति है? सो इसका समाधान यह है कि परमार्थ को भूलकर केवल व्यवहार को ही स्वीकार करनेपर उल्टा भ्रमही पैदा होता है। फिर कोई जिज्ञासु पूछता है कि फिर अबुद्धिपूर्वक ऐसे रागादि को स्वीकार ही क्यों किया गया है? सो इस प्रश्न का समाधान यह है कि अबुद्धिपूर्वक वह राग होता हुआ भी वह पन्चेन्द्रियों के विषयों के सेवन विषयक नहीं होता; किन्तु परमार्थस्वरूप देवादि विषयक ही होता है। इसी प्रकार आगे उस-उस गुणस्थानविषयक प्ररूपणा करते समय इसी न्याय से समझ लेना चाहिये। किन्तु सातवें आदि चार गुणस्थानो मे राग अबुद्धिपूर्वक ही रहता है यह एकान्त नियम है। इतने विचार के बाद इस सम्बन्ध मे दो बाते और विचारणीय रह जाती है। एक व्यवहार सम्यग्दर्शन विषयक और दूसरी सम्यक्त्व के मल विषयक।

उस मे प्रथम बात व्यवहार सम्यग्दर्शन की चर्चा करते हुए उक्त पं. जी ने व्यवहार सम्यग्दर्शन को (अध्याय १ श्लोक ९३ मे) इन शब्दों मे व्यक्त किया है- "जीवादि नौ पदार्थों की रुचि (श्रद्धान) को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते है। उन के ज्ञान को व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते है। तथा मन, वचन, काय और कृत-कारित तथा अनुमोदन से हिंसादि पाच पापो का त्याग करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है।"

यहां प जी ने उक्त परमार्थ स्वरूप देव, गुरु और शास्त्र के श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन नही कहा है, जब कि यह चरणानुयोग का ग्रन्थ है। इस मे रत्नकरण्ड श्रावकाचार की सरणी को नही स्वीकार कर द्रव्यानु योग की सरणी को स्वीकार कर व्यवहार रत्नत्रय का लक्षण लिखा है। ऐसा उन्हो ने क्यों स्वीकार किया यह उन की लौकिक धारणा के साथ अध्यात्म मान्यता को स्पष्ट करता है। उन्हो ने जिस खूबी के साथ अध्यात्म-प्ररूपणा के साथ लौकिक प्ररूपणा को जिनागम मे स्थान दिया है, यह विरले तत्वज्ञ ही समझ सकते है। यह कोई उनका ही काम नहीं है। पहले से यह क्रम चला आ रहा है। वे तब जिनागम कहलाते हैं, जिनमें लौकिक मान्यताओं को जिनागम मे स्थान दिया गया है।

सम्यक्त्व के २५ दोषो को देखने पर यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्हो ने सम्यक्त्वके २५ दोषों को स्वीकार कर अपनी स्वकृत टीका में एक श्लोक उद्धृत कर उन का उल्लेख भी किया है। यथा-

मूढत्रयं मदाश्चाष्टौ, तथा ऽ नायतनानि षट्।
अष्टौशंकादयश्चेति दृग्दोषाः पंचविंशतिः॥

तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ ये सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष है। इस प्रकार उन्हों ने निश्चय सम्यग्दर्शन के ये पच्चीस दोष स्वीकार कर लिए है। किन्तु इस के साथ ही छह अनायतन के

विषय में दूसरी राय भी उन्हो ने व्यक्त की है। वे अमूढ दृष्टि की चर्चा करते हुए एक श्लोक को उद्धृत कर लिखते हैं।

लोके शास्त्राभासेसमयाभासेच देवताभासे।
नित्यमपि तत्व–रुचिना कर्तव्यम–मूढ दृष्टित्वम्॥ (पु. २६ श्लोक)

शास्त्रास तत्वरुचिवालो को निरन्तरही लोक समयाभास और देवता भास के विषय में मूढतारहित दृष्टि स्वीकार करनी चाहिए। इसके आगे षट्आयतन के विषय मे वे लिखते है–

'अमूढा षडनायतन त्यागादनभिभूता दृष्टिः सम्यत्व। यस्याभावे मूढदृष्टिः। एतेन षडनायतनवर्जनाद्वारेणा मूढदृष्टित्व गुणोऽपि पञ्चमो स्मृतः प्रसिद्धः सगृहीतः। सिद्धान्ते तु चत्वारएव दृग्विशुद्धि विवृद्धयर्थ गुणाः श्रूयन्ते।' (तथा चाराधना–शास्त्रम्)

अमूढ अर्थात् छह अनायतनो के त्याग से, अभिभूत नही हुई दृष्टि अर्थात् सम्यक्त्व जिसका वह उस का अमूढदृष्टि गुण है। इस से छह अनायतन के निषेध द्वारा अमूढदृष्टिनाम का पाचवा गुण स्मृति में प्रसिद्ध है, उसे यहा संगृहित किया है। सिद्धान्त मे तो सम्यग्दर्शन की विशुद्धि की विशेषवृद्धि के लिए चार गुण सुने जाते हैं। इस विषय में आराधना शास्त्र है।

उपगूहनं ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणागुण भणिया।
सम्मत्त विसुद्धीए उवगूहण गारथा च उदो चऊरो॥

सम्यक्त्व की विशुद्धि के उपगूहन करनेवाले उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण कहे गये है।

ये चार गुण है। इनके विरुद्ध अनुपगूहन आदि चार सम्यग्दर्शन के दोष सम्भव है किन्तु विस्तार रुचिवालों के लिये सम्यग्दर्शन के २५ दोष कहे गये है। उनका उल्लेख हम पहले कर ही आये है।

(अन. ध मूल पृ १३२)

इसके बाद मूढदृष्टिदोष को छोडकर वे चार दोषो को इन शब्दो मे स्वीकार करते हुए स्वयं लिखते हैं।

यो दोषमुद्भावयति स्वयुथ्ये य. प्रत्यवस्थापती ममित्थे।
न यो अनुगृह्णाति न दीन मेतमार्ग च यः प्लोषयति। (अन. श्लोक १०४)

जो साधर्मी पुरुष अपने धर्मवाले मे सच्चे और झूठे दोषो का प्रकाशन करता है, जो मार्ग से च्युत हुए साधर्मी बन्धु को सन्मार्ग मे स्थापित नहीं करता। जो साधनहीन साधर्मी दीन पुरुष पर अनुग्रह नही करता। और जो सन्मार्ग की प्रभावना नही करता, ये चार सम्यग्दर्शन के दोष है। (अ २ श्लो १०४).

इस प्रकार पं. जी ने आराधना शास्त्र के अनुसार मूढदृष्टि को छोडकर सम्यक्त्व के उक्त चार दोषो को ही लिया है। इस प्रकार वे यह तो स्वीकार करते है कि स्मृति अर्थात् रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सम्यक्त्व के दोषो मे मूढदृष्टि भी दोष है पर वे स्वय आराधना शास्त्र का आधार लेकर चार दोषही स्वीकार करते है। वे चार दोष ये है–अनुपगूहन, अस्थितिकरण, अवात्सल्य और अप्रभावना। इन दोषो मे मूढदृष्टि दोष का उल्लेख उन्हो ने नही किया है।

आगे तीसरा अध्याय श्रुत विषयक है। श्रुत मे भावश्रुत के साथ द्रव्यश्रुत को आगम स्वीकार करता है। द्रव्यश्रुत मे अग–पूर्वो का ग्रहण तो होता है, साथही अगबाह्य और आरातीय आचार्यो द्वारा रचे गये शास्त्रो का भी ग्रहण होता है।

इस शब्दब्रह्मकी उपासना प्रशस्त मन से प्रतिदिन की जानी चाहिये। क्योकि भावश्रुत की प्राप्ति में वह निमित्त है। यह तो मानी हुई बात है कि केवलज्ञानही साक्षात् मुक्ति का कारण है। और उसकी प्राप्ति आत्मानु-

भूति से ही होती है और आत्मानुभूति उसी के होना सम्भव है जो श्रुतज्ञानकी उपासना में निरन्तर लगा रहता है। (ज. ३ श्लोक २)

यद्यपि इस काल में अंग–पूर्वसम्बन्धी जिनागम काल दोष के कारण विच्छिन्न हो गया है। पर परम्परा से जो श्रुत आरातीय आचार्यो को प्राप्त हुआ उस का सर्वथा विच्छेदन हो जाय इस भय से उन्हों ने क्रम से पठन–पाठनद्वारा प्राप्त शेष श्रुत को (उस को) पुस्तकारूढ किया। इस समय जो आम्नाय से आया हुआ आगम है, उसे इन चार अनुयोगो में विभक्त किया गया है। इन चार अनुयोगो के नाम है। प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इन चारो अनुयोगो का पठन–पाठन वीतरागता की प्राप्ति में निमित्त है। इसलिये यथावसर ये चारो अनुयोग मोक्षमार्ग मे उपयोगी हैं।

इस अध्याय मे पं जी ने चारो अनुयोगो के लक्षण दिये है। सर्व प्रथम इन चारो अनुयोगो का विषयकी दृष्टि से निरूपण रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दृष्टिगोचर होता है। इसी आधार पर पं. प्रवर आशाधरजी ने इन के स्वरूप पर प्रकाश डाला है।

यहाँ यह बात अवश्यही विचारणीय है कि आज-कल जो महानुभाव करणानुयोग के शास्त्रो को द्रव्यानुयोग का बतलाकर प्रचार–प्रसार करने मे लगे हुए है, उनका वह दृष्टिकोण सम्यक् नहीं है। आगम में करणानुयोग का लक्षण करते हुए लिखा है।

"लोकालोकविभक्ते र्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनाच।"

करणानुयोग–आगम लोक और अलोक के भेद का, युगो के परिवर्तन का और चारो गतियोंका विवेचन करता है।

इस दृष्टि से यदि हम देखते है तो गोम्मटसार, पचसग्रह, षट्खण्डागम और कषायप्राभृत आदि आगम करणानुयोग मे अन्तर्भूत होते है।

यद्यपि यहा यह कहा जा सकता है कि गोम्मटसार, षट्खण्डागम और कषायप्राभृत आदि आगमो में गुणस्थानो और मार्गणाओ की अपेक्षा जीव पदार्थ का ही कथन उपलब्ध होता है, इसलिये इन आगमो को द्रव्यानुयोग मानने मे क्या आपत्ति है। परन्तु उनका ऐसा कहना समीचीन नही है, क्योकि इन आगमो में जीव पदार्थ का कथन पर्याय दृष्टिसेही किया गया है। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से जीव पदार्थ का विवेचन उस में दृष्टिगोचर नही होता।

दूसरे द्रव्यानुयोगरूप आगम मे गुणस्थान, मार्गणास्थान और जीवसमास की अपेक्षा कथन करने का प्रश्नही नही उठता। इसलिए समयसार में जीव के गुणस्थान और जीवसमास आदि के होने का निषेध किया है, क्योकि आत्मानुभूति मे जीवस्थान गुणस्थान आदि रूप जीव भासित नही होता कहा भी है।

णेवय जीवट्ठाणा, ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे, पुग्गलदव्वस्स परिणामा॥ ५५॥

जीव जीवस्थानरूप नहीं है और न उस के गुणस्थान ही है, क्योकि ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणाम है॥ ५५॥

यहा यह प्रश्न होता है कि पुद्गलद्रव्य तो जीव के किसी गुणस्थान और किसी जीवसमासरूप परिणमने पर ये भाव होते है। ऐसी अवस्था में ये जीव के नही होते और ये पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं ऐसा क्यों कहा? समाधान-यह है कि एक तो ये निमित्त–नैमित्तिक सम्बन्धवश पौद्गलिक कहे गये है। दूसरे प्रारम्भ में ये पर में इष्टानिष्ट बुद्धि के फलस्वरूप होते है, तीसरे ये पर्यायाश्रित भाव है इसलिए ही इनका समावेश करणानुयोग में होता है। करणानुयोग के लक्षण में 'चतुर्गतीनां च' पदका समावेश इसलिए किया गया है। यह पद उपलक्षण

स्वरूप है। इससे चौदह मार्गणाओं के साथ चौदह गुणस्थान और अनेक प्रकारके जीव समासों का ग्रहण हो जाता है। हमें इस बात का खेद होता है कि इस काल में ऊँचे पद पर विराजमान होते हुये अपने प्रवचनों में ऐसी मान्यताओं की पुष्टि करते है, जो आगम-सम्मत नही है। लगता है कि विद्वज्जनों में भी आगमानुसारिणी विद्या लुप्त हो गई है या होती जा रही है।

प जी ने अपने दूसरे अध्याय श्लोक ९६ की टीका में एक महत्त्वपूर्ण विषय की ओर इशारा कर के मठाधिपतियों का निषेध किया है। उस से मालूम पडता है कि उन के काल में भट्टारक नग्न होते थे। उन के शब्द है।

'अपरं पुनर्द्रव्यलिंग धारिणो मठपतयो म्लेच्छन्ति।

म्लेच्छा इवाचरन्ति, लोकशास्त्रविरुद्धमाचार चरन्तीत्यर्थः ॥

इस से मालूम पडता है कि इनके काल में भट्टारक नग्न रहते थे और उन्हों ने मठ स्वीकार कर उन का स्वामित्व स्वीकार कर लिया था। आज भी जितने इस तरह के नग्न मुनी देखे जाते है, वे प्रायः इसी प्रकार का गणना मे आते है। वे स्वयं को मुनि और आचार्य तो मानते है, समाज भी उनको ऐसा मानकर पूजा करती है, पर ये भीतर से परिग्रह से मुक्त नही होते। सम्भवतः यह स्थिति १५ शताब्दि में भट्टारक पद्मनन्दि के काल से प्रारम्भ हुई है। वैसे विचार कर देखा जाय तो यह स्थिति वीरनंदी आचार्य के काल मे ही उत्पन्न हो गई थी। इसलिये वे लिखते है।

"पण्डितैः भ्रष्टचारित्रैः वठरैश्चतपोधनैः।

शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मल मलीनीकृतम् ॥ (चंद्रप्रभ चरित्र)

हम तो अपने को देखते है। इस से हम जानते है कि यह स्थिति जिनशासन को मलीन करनेवाली है। कलुषाशयवाले व्यक्ति इसी काल में उत्पन्न हुए है। तभी तो आचार्य प्रवर समन्तभद्र यह कहते हुए नही हिचकिचाते :

काल कलिर्वा कलुषाशयो वा।

श्रोतु प्रवक्तुर्वचनानुयो वा ॥ युक्त्यनुशासन ॥

दूसरो को दोष देने मे क्या फायदा? कुए मे भाग पड गई है। उसे पीकर सब पागल हो रहे है। अपने को नही देखते, दूसरो मे दोष देखना और अपनेको सम्यग्दृष्टि मानना यही उन का काम रह गया है। स्थिति विचित्र है। इसका कहा अन्त होगा कह नही सकते। भावलिंगकी बात तो छोडो, द्रव्यलिंग भी आज दिखाई नही देता। ऐसे कोई विरले होगे जिन मे द्रव्यलिंगके दर्शन हो जाते है। पर उन की पूछ नही। उन्होंने अपने हाथ मे शास्त्र ले लिया है जो शास्त्र के पाठी भी नही। विधिनिषेध करना उनका काम हो गया है।

मैने छहढाला पढी है। उस मे छट्टीढाल मुनिधर्म की प्ररूपणा करनेवाली है। इस से मालूम पडता है कि मुनि ही "जिन परम पैनी सुबुधि छैनी डार अन्तरभेदिया।" इस के अधिकारी है। वे ही बाह्य-अभ्यन्तर रत्नत्रय की भूमिका को प्राप्त कर, कर्म कलक का भेदन करने मे समर्थ होते है। समग्र भाव से स्वरूपाचरण चारित्र उन्हीके होता है। तभी वे कर्मकलक को दूर कर आत्मनिधि को प्राप्त कर सकते है। इसका अर्थ यह नही कि अविरत सम्यग्दृष्टि के सम्यग्दर्शन नही होता। होता तो उसके भी है, पर उसके आत्मानुभूति क्षणमात्रको होती है। होती भी है तो क्वचित्-कदाचित ही होती है। प प्रवर टोडरमलजीका भी यही अभिप्राय है।

इस प्रकार प. प्रवर आशाधरजी का सम्यग्दर्शन के सम्बन्धमे क्या अभिप्राय है और वह कैसा आगमानुकूल है। यह इस लेख मे स्पष्ट किया है।

श्री पं. आशाधरजी और उनका सागारधर्मामृत

श्री. पं. ब्र. जगन्मोहनलालजी शास्त्री

(कटनी)

श्री पं आशाधर जी वि. सं. १३ शती के एक निष्णात विद्वान् थे। उन्हों ने अनेक विषयो पर अपनी कलम चलाई है। जैन सिद्धांत के प्रकाण्ड विद्वान् तो थे ही साथ ही साथ आचारशास्त्र, प्रतिष्ठाशास्त्र, व्याकरण, आयुर्वेद, तर्कशास्त्र पर भी पूरा अधिकार था। उन के द्वारा रचित ग्रंथो से इस का पूर्ण आभास होता है।

तर्कशास्त्र मे 'प्रमेय रत्नाकर' आचारशास्त्र मे 'धर्मामृत' मूलाराधना, अध्यात्म में इष्टोपदेश और कोशग्रंथ मे 'अमरकोष (क्रियाकलापटीका) रुद्रट कवि द्वारा लिखित काव्यालंकार आदि अनेक ग्रंथो की रचना की है। धर्मामृत दो भागो में विभक्त है। (१) अनगार (२) सागार। अनगार धर्मामृत में गृहत्यागी, वनवासी साधुओ के आचार विचारो का सांगोपांग वर्णन है। दूसरा भाग सागारधर्मामृत, जिस में गृहवासी श्रावको के आचार विचारो का सांगोपांग वर्णन है।

यद्यपि गृहस्थाचार या श्रावकाचार के प्ररूपक अनेक ग्रंथ पूर्व आचार्यो द्वारा रचित हैं, पर वे मात्र ८ मूलगुण और १२ उत्तरगुण ऐसे २० व्रतो के स्वरूप तथा उन के अतिचारो के प्ररूपक है। गृहस्थधर्म प्रवृत्तिमूलक है, साधुधर्म निवृत्तिमूलक है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो साधुधर्म प्ररूपक ग्रंथों की अपेक्षा गृहिधर्म प्ररूपक ग्रंथ विस्तृत होना चाहिए पर आचार्य प्रणीत उभय प्रकार के ग्रंथों में मुनिधर्म प्ररूपक ग्रंथ तो विस्तारसहित लिखे गए हैं और गृहिधर्म प्ररूपक संक्षेप में। मात्र उन के लिए सम्यक्त्व का स्वरूप, सम्यक्ज्ञान के सामान्य भेद, २० व्रत और समाधिका ही वर्णन पर्याप्त समझा गया।

श्री. पं. आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत में मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन तो पूर्वाचार्यों की तरह ही किया है, पर साथही सागारधर्मामृत मे गृहस्थ के केवल व्रतों का ही वर्णन नही अपितु उस के दैनंदिन आचार पर भी वर्णन है। गृहस्थ तो कुलसतति चलानेवाला तथा धर्मसतति चलानेवाला है। साधु तो एकाकी है। उसे प्रधानतया आत्महित ही करना है या आत्महित की चिन्ता करनेवाले साधुओं के साथही मात्र व्यवहार करना है। पर गृहस्थ को तो विवाह, सन्तानोत्पत्ति, सन्तानपालन, सन्तान के लिए तथा अपने निर्वाह के लिए धनार्जन, धर्मपालन के लिए जिनमंदिर निर्माण, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, स्वाध्यायशाला, दानशाला, आतुरालय, तीर्थयात्रा, रथयात्रा, कल्याण महोत्सव, साधर्मी पुरुषों का सम्पर्क, उन के साथ धार्मिक वात्सल्य, उन की आजीविका में सहाय्यता, उन के पुत्र-पुत्रियो के विवाह आदि मे सहयोग, सामाजिक संगठण, राज्य की प्रतिष्ठा, राज्यकार्य मे सहयोग, देश को समुन्नत बनाने की चेष्टा आदिआदि अनेक प्रवृत्तिमूलक कार्यो का करना आवश्यक होता है। प श्री आशाधर जी ने इन सब के ऊपर गृहस्थधर्म का–व्रतो का पालन करते हुए विशद व्याख्या की है।

वस्तुतः मात्र २० व्रत मात्र से गृहस्थधर्म के प्रतिपादन की इतिश्री नही हो जाती। यह प्रश्न हो सकता है कि यदि ऐसा है तो जैनाचार्यों ने इन सब का वर्णन क्यो नहीं किया? उत्तर यह है कि वे स्वयं निवृत्ति मार्ग पर आरूढ है, अतः श्रावको के देश-निवृत्तिरूप व्रतो का वर्णन किया और 'प्रवृत्तिरेषामृताना' के अनुसार प्रवृत्तिमार्ग का वर्णन नही किया।

श्री पं. आशाधरजी गृहस्थ थे और गृहस्थ की सभी आवश्यकताओं से स्वयं परिचित थे; अतः गार्हस्थिक सभी प्रवृत्ति जो गृहजीवन के लिए अनिवार्य है उन पर भी कलम चलायी है। अपने मूलगुण और उत्तरगुणो का

रक्षण करते हुए गृहस्थ अपने दायित्वों का किस प्रकार निर्वाह करें इस पर उन्हों ने पैनी दृष्टि रखकर श्रावकाचार का सांगोपांग वर्णन किया है। अन्य श्रावकाचार में यह सब नहीं पाया जाता। यदि कुछ अंशो मे पाया जाता है तो इन के उत्तर काल में रचे गये ग्रंथों में पाया जाता है।

श्री 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार,' में भी यह सब वर्णन प्रायः है पर वह सब आशाधर जी के श्रावकाचार के अनुसार है। इस ग्रंथ मे पचासो श्लोक तो सागारधर्मामृत के ही है। पचासो आधे आधे है और चार तो पूरे पूरे उस के आधार पर उसी श्रेणी में उतरे गए हैं। प्रकारान्तर से शब्दविन्यास नो भिन्न श्लोकों मे मात्र है नहीं तो उसी की टीका है यह भी कहा जा सकता है। हम आगे बताना यह चाहते है कि प. आशाधरजी ने इस ग्रंथ में कहाँ किस विशेषता को लिए वर्णन किया है, पाठक उस का अवलोकन करे।

सर्व प्रथम मंगलाचरण में उन्होने 'तद्धर्मरागिणां सागाराणांधर्मः प्रणेष्यते' लिखा है। जिसका अर्थ स्वयंकृत भव्यकुमुदचंद्रिका नामक संस्कृत टीका में लिखा है।

तेषां श्रमणानां धर्मः तत्र रागिणां–प्रीतीमताम् अर्थात जो श्रमणधर्म के अनुरागी हैं, पर संहनन आदि की परिस्थितिवश उस का पालन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। (पर लालसा उसी की रखते हैं) उन के लिए यह सागारधर्मामृत लिखा जा रहा है।

जिनागम में उत्सर्गमार्ग के रूप मे मुनिधर्म का ही उपदेश है, पर जो उसके पालन मे असमर्थ है, उनको अपवाद मार्ग के रूप मे गृहिधर्म के प्रतिपालन का भी उपदेश है; इस लिए पं. आशाधरजी ने इस ग्रंथ के मगलाचरण में ही इसका पूर्ण निर्वाह मंगलाचरण के उक्त शब्दो द्वारा किया है।

गृहस्थों की वर्तमानदशा पर प्रकाश डालते हुए उन्होने लिखा है कि आहार–मैथुन–परिग्रह और भय ये चार संज्ञाएँ जीव को अनादि से ही लगी है। वह इन चारो संज्ञा ज्वरो से पीडित है। इस कारण धर्म से विमुख है। और इन संज्ञाओं के कारण पचेंद्रियो के विषयो में अर्थात् कामिनी आदि में अनिष्ट दुर्भोजन, दुर्व्यसन आदि में रागद्वेष की प्रवृत्तियुक्त पाया जाता है; अत. उस अनादि ज्वर को दूर कर उन विषयमूर्च्छित गृहस्थों को चर्या मार्ग मे लगाने का यह प्रयत्न ग्रंथकार का है। प्रारम्भ मे ही सम्यक्त्वप्राप्ति पर जोर देते हुए उन्हो ने सम्यक्त्वहीन को पशु समान आचार करनेवाला लिखा है।

इस पंचमकाल में समीचीन उपदेश दाताओ की विरलता का वर्णन किया है और बताया है कि सुवर्ण के अभाव में तो स्वर्णपाषाण की भी इच्छा स्वर्णार्थी करता है, जिस से श्रम कर स्वर्ण निकाला जा सकता है।

गृहस्थधर्म को स्वीकार करनेवाले की योग्यता

वह व्यक्ति गृहस्थ के व्रतो के पालन का अधिकारी है, जिस मे निम्न लिखित बातें पायी जाती हो। प्रकारान्तर से व्रती न भी हो तो गृहस्थ की प्रवृत्ति इस प्रकार की ही होना चाहिए।

(१) **न्यायोपात्तधन :** जो धन का उपार्जन न्याय नीति से करता हो।

(२) **गुण गुरुन् यजन्** अपने से श्रेष्ठ मातापिता, शिक्षक अथवा गुणीजन–गुरुजनो का यथायोग्य विनय–सन्मान करता हो उन के प्रति नम्र हो।

(३) **सद्गी :** वाणी सरल हो। अर्थात जिसवाणी में परनिन्दा, उपहास, अपशब्द, पीडाकारक, अपमान–जनक, आत्मप्रशंसाकारक शब्द न हो।

(४) **अन्योन्यानुगुणं–त्रिवर्गं भजन् :** धर्म-अर्थ–काम–मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गये हैं। उन में ३ का पालन गृहिधर्म में होता है। धर्म प्रधान है तत्पूर्वक ही अर्थोपार्जन करना और धर्म की व अर्थ की मर्यादा के भीतर ही गृहोपभोग करना।

(५) वदहं–गृहिणी–स्थानालय : पत्नि सुशिक्षित हो, न हो तो सुशिक्षित बनावे। उसे भी धर्म की मर्यादा में प्रशिक्षित करे। निवासस्थान साधर्मियों के बीच का हो। धर्म का पालन न हो सके ऐसे प्रदेश में निवास न करे।

(६) न्हीमय : गृहस्थ नीतिमान हो। गलत काम की उसे लज्जा रहनी चाहिए।

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्
अन्योन्यानुगुणं वदर्ह गृहिणी–स्थानालयो न्हीमयः।
युक्ताहार–विहार–आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी।
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघ भी सागारधर्मं चरेत्॥

(७) युक्ताहार विहार : जिस का आहार सात्विक हो, मर्यादित हो। विहार, आवागमन योग्य स्थान-पर हो।

(८) आर्यसमिति : सज्जनो वा साधर्मि की संगति हो। दुराचारी मिथ्याचारी लोगों की संगति न करे। धूर्त, जुआरी आदि की संगति न करे।

(९) प्राज्ञ : प्राज्ञ हो, अर्थात् प्रत्येक विषय पर उहापोहद्वारा वस्तु का यथार्थ निर्णय करने में समर्थ हो।

(१०) कृतज्ञ : किसी ने आप पर उपकार, सहायता की हो, शिक्षा दी हो, विपत्ति में साथ दिया हो तो उस के उपकार को बहुमान देना कृतज्ञता नामक गुण है। वह होना चाहिए।

(११) वशी : 'वशी' अर्थात् अपनी इन्द्रियों को वश रखने वाला हो। इन्द्रियों के विषयों के वश न होकर न्याय, धर्म व सामाजिक नियम को न ठुकरा कर जीवन संयम प्रवण करने वाला हो।

(१२) धर्मविधि शृण्वन् : धर्मोपदेश को सुनने की लालसा रखता हो। प्रेम से सुनता हो। और उसे पालन करने में प्रयत्नशील रहता हो।

(१३) दयालु : दयावान् हो। दु.खी की सेवा में सदा तत्पर रहता हो।

(१४) अघभी : पापी से और पापकार्यों से सदा दूर रहता हो।

इन १४ नियमो का धारक गृहस्थ लोकप्रिय–समाजप्रिय–देशप्रिय व राज्यप्रिय होता है। इस प्रकार की योग्यता से गृहस्थ संबंधी व्रतों का भी निर्दोष पालन होगा और वही मुक्तिसोपानरूप यतिधर्म के पालन की अपनी लालसा पूरी कर सकेगा। इस के बाद ही निर्मल सम्यग्दर्शन तथा निर्मल अर्थात अतिचार रहित ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत तथा अन्त में सल्लेखना ये गृहस्थ के व्रतों का विधान कहा गया है। श्रावक को तीन भागों में विभक्त किया है। (१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक (३) साधक। पाक्षिक श्रावक को धर्म का पक्ष तो होता है, सम्यक्त्व भी होता है, पर निर्मल नहीं होता किंचित् दोष प्राप्त होते हैं। तथा अष्टमूल गुण का प्रति पालन होता है।

पंचोदुंबर त्याग तथा मद्य मांस मधु त्याग ये आठ मूलगुण अनेक ग्रंथों में वर्णित हैं। समंतभद्राचार्य ने तीन प्रकार के त्याग के साथ (मद्य–मांस–मधु) पंचाणुव्रत का विधान अष्टमूलगुणों में किया है। अन्य श्रावकाचारों में ये ही माने गये हैं, जो आशाधरजी ने प्रारंभ में लिखे हैं; किन्तु समंतभद्राचार्य द्वारा प्रतिपादित ८ मूल गुणों का भी विकल्प में स्वीकार किया है। किन्हीं आचार्यों ने (जिनसेनाचार्य) महापुराण में पंचाणुव्रत तथा मद्य–मांस–द्यूत (जुआ) त्याग ऐसे आठ मूलगुण स्वीकार किये हैं। ग्रंथकार ने मद्य मांसादि के दोषों का विशदता से

वर्णन किया है। मधु के तथा द्यूत के दोषों का भी विशद वर्णन है। मधु की तरह नवनीत (मक्खन) के त्याग पर भी जोर दिया है। उस में दो मुहूर्त के बाद निरन्तर जीवराशी उत्पन्न होती है। यह प्रतिपादन करते हुए मधु त्यागी को उस का भी त्याग करना आवश्यक है। उदुम्बरफल सुखाकर भी खाने नहीं चाहिए। उस के भीतर के त्रस जीव उसी में सूख जाते हैं, अतः मासभक्षण का दोष रहता ही है।

पं. आशाधरजी ने एक दूसरे प्रकार से भी आठ मूलगुण बताये हैं। (१) मद्यत्याग (२) मांसत्याग (३) मधुत्याग (४) रात्रिभोजन त्याग (५) पंचोदुंबर त्याग (एक में ही गिनाया) तथा (६) पंच परमेष्ठी की वन्दना (७) जीवदया पालन (८) जलगालन.

वर्तमान समाज में अभी तक ये ही आठ मूल गुण पाये जाते है। ऐसा लगता है कि जैनेतर सामान्य कोल भील आदि जनों को आचार्य प्रारम्भ मे पचोदुंबर का तथा मद्य–मास–मधु का त्याग कराते थे। उन के लिए प्रारभ में उतना ही संभव था। पश्चात जैन कुलोत्पन्न पाक्षिक सामान्य श्रावक के लिए ये दूसरे प्रकार के आठ मूल गुण दिए जाते है, जिनका आज तक प्रचलन है। अष्टमूल गुणो के अनिचारों का भी विशद वर्णन है।

प्रारम्भ के २ अध्यायो मे अर्थात ग्रंथ का चतुर्थांश सामान्य पाक्षिक श्रावक के साधारण शिक्षाओ से परिपूर्ण है। इन सब शिक्षाओं मे निष्णात श्रावक ही नैष्ठिक श्रावक (प्रतिमा धारी) बन सकता है। आज अनेक नैष्ठिक श्रावक तो हो जाते है, पर उन मे पाक्षिक श्रावक के लिये गुणों व आचार का सद्‌भाव व ज्ञान भी नही पाया जाता। यह होता नितान्त आवश्यक है। जिन्हें नैष्ठिक श्रावक के व्रत दिये जाय, उन्हें इस ग्रथ के आधार-पर पाक्षिक श्रावक के कर्तव्यो का पूर्ण बोध करा देना नितान्त आवश्यक है। अणुव्रतो आदि १२ व्रतों का स्वरूप और उन के पालन की विधि पाँच पापों का स्वरूप उन के स्वरूप की सूक्ष्मताएँ तथा उन के त्याग पूर्वक ही व्रतो के पालन का निर्देश ग्रंथ मे दिया गया है।

प्रथम दर्शन प्रतिमा सभी प्रतिमाओं का मूल है। उस का लक्षण बतलाते हुए यह स्पष्ट घोषित किया है कि पाक्षिक श्रावक के लिए जो जो आचार वर्णित किये जा चुके हैं, उन २ आचारो का दृढतापूर्वक पालन करे, जिस के संस्कारो ने सम्यग्दर्शन को विशुद्ध (निरतिचार) कर दिया है और जो भव भ्रमण से भीत हो, देह और भोगो से विरक्त हो–पचपरमेष्ठी में ही एकमात्र जिस की श्रद्धाभक्ति हो, जो मूल गुणो का निरतिचार पालन करता हो और आगे व्रतो के पालने को उत्साहित हो, जो शरीर स्थिति के लिए न्याय्य आजीविका करता हो वह दर्शन प्रतिमाधारी है।

आगे २ की प्रतिमावाले को पूर्व २ की सभी प्रतिमाओं के व्रत निर्दोष पालन करना तथा आगामी प्रतिमाओं मे बढने की लालसा अवश्य होनी चाहिये। ऐसा प्रारम्भ में ही सकेत दिया है। त्यागी हुई वस्तुएँ, मद्यादि का व्यापार करने का और कराने की अनुमोदना का उसे परिहार करना अनिवार्य है।

सप्त व्यसनों का त्याग भी प्रथम प्रतिमा मे अनिवार्य है। जो कल्याणमार्ग से दूर रखे उसे व्यसन कहते हैं। वेश्याव्यसन त्याग करने वाले को संगीत वाद्य आदि मे आसक्ति नही रखना चाहिये। वृथा, विना प्रयोजन यत्र-तत्र भ्रमण भी नही करना चाहिए। व्यभिचारी पुरुषों की सगति नही करना चाहिए, तथा वेश्या के घर जाना, संभाषण करना इन सब का सदा के लिए वर्जन करना चाहिए।

पर स्त्री व्यसन–त्याग करनेवाले को किसी के पुत्र-पुत्री का आपवाद नही करना चाहिए–गांधर्व विवाह (पुरुष-स्त्री का बिना माता-पिता बंधुजन व समाज की मर्जी से किया गया विवाह) तथा स्वयं प्रेम विवाह आदि का वर्जन करना चाहिए।

स्वस्त्री का सेवन भी देह, मन, संताप को शमन करने के लिए सीमित करना चाहिए। अति अभिलाषा और अमर्यादित सेवन करने मे धर्म, धन और शरीर का क्षय होता है। अतिमात्रा में अन्न सेवन की तरह यह भी हानिकर है। योग्य पुत्र ही कुल का दीपक है। बिना उस के गृहस्थ किस पर अपना उत्तराधिकार सौंप कर निवृत्ति मार्ग पर आरुढ हो सकता है।

इस प्रकार प्रथम प्रतिमा का आरोहण करनेवाला पचेंद्रियों के विषयो में विरक्त धैर्यवान् ही व्रत प्रतिमा पर आरूढ हो सकता है। सम्पूर्ण निरतिचार सम्यक्त्वधारी निरतिचार मूल गुण पालन करने वाला प्रथम प्रतिमाधारी शल्य (मिथ्या-माया-निदान) रहित साम्य भाव को प्राप्त करने की भावना से उत्तर गुणो को अर्थात शेष १२ व्रतो का पालन करने का अधिकारी होता है। शल्यवान् व्रती नही होता।

अहिंसा आदि पाच अणुव्रतो का वर्णन करते हुए स्थूल हिंसादि पांच पापो को मन-वच-काय से तथा कृतकारित अनुमोदना से त्याग करना आवश्यक है। पर जो गृहविरत प्रतिमाधारी नही है, गृह में रहते है, पर मन-वचन काय से तथा कृतकारित मात्र से ही त्याग कर सकने मे शक्य है, अनुमोदना का त्याग गृहवास निरत के संभाव्य नही है ऐसा २ विकल्पो मे त्याग का वर्णन किया। गृहवास-विरत के उन व्रतों को उत्कृष्ट और गृहरत के व्रतो को मध्यमवृत्ति के व्रत कहा है।

गृहस्थ के सकल्पी हिंसा का त्याग होता है। आरभी व उद्योगी का नही हो सकता; फिर भी आरंभ और उद्योग मे भी सकल्पी हिसा से अपने को बचाता ही है। इस प्रतिमा वाले को अल्प आरभ और अल्प परिग्रह में ही सन्तोष होता है।

व्रतरक्षा की चिन्ता रखता हुआ तथा रक्षा करता हुआ भी यदि कदाचित् प्रमाद से, अंश रूप से व्रत का भंग हो जाता है, तो वह भी व्रतो के लिए अतिचार (दोष) है, उससे भी बचना चाहिए।

यद्यपि रात्रि भोजन का त्याग मूलगुणो मे ही हुआ है तथापि अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए व्रती को इस का मन-वचन-काया से चारो प्रकार के आहार का रात्रि मे परित्याग करना होता है। व्रती श्रावक को भोजन सम्बधी अतरायो का पालन करना चाहिए। उत्तम पुरुष दिन में ही एक बार भोजन करते है। मध्यम श्रावक दो बार करते है। पर जो व्रतो का रूप और उस के लाभ को नही जाननेवाले है, वे गाय भैंस आदि पशुओं की तरह रात दिन खाते रहते है। जो दिन के आदि और अन्त के मुहूर्त को छोड कर दिन मे भोजन करते है, वे अपने जीवन का आधा भाग उपवास के फल भागी होते है। भोजनादि मे मौन की भी उपयोगिता कही है। उस से गृद्धता मिटती है। त्रसघात व स्थावरघात वाले पदार्थो का तथा अनिष्ट का अर्थात् प्रकृति विरुद्ध का और अनुपसेव्यका भी 'व्रती' त्याग करे। खर कर्मगाडी जोतना, तांगा चलाना आदि तथा विष व्यापार, पशु पक्षी बन्द करने के पिंजरा आदि का व्यापार नही करना चाहिए।

भोगोपभोग त्याग नाम व्रत के अतिचारो का वर्णन करते हुए चारित्रसार ग्रंथ तथा आचार्य समन्त भद्र और सोमदेव विबुध आदि ग्रथो के मान्य भेदो का भी उल्लेख किया है। श्वेताम्बराचार्य का भी मत दिया है।

सामायिक-शिक्षाव्रत का वर्णन करते हुए सामायिक के सिद्धि की लिए साकार स्थापना से स्थापित जिनबिम्ब के अभिषेक-पूजा-स्तुति-जप आदि आगमानुसार पद्धति पर करने का निर्देश है। तथा अतदाकार रूप से स्थापित जिनेन्द्र मे अभिषेक छोड कर शेष विधि करनी चाहिए। इस कथन से साकार (तदाकार) स्थापना व अतदाकार स्थापना दोनो स्थापनाओ में पूजन का विधान किया।

प्रोषधोपवास प्रतिमा में पर्व के दिन ४ प्रकार के भोजन का (भुक्तिका) त्याग लिखा। यह पूर्वदिन की १ भुक्ति उपवास (पर्व) के दिन की २ भुक्ति तथा पारनादिन की १ भुक्ति ऐसी ४ भुक्ति का त्याग ही प्रोषधोपवास है ऐसा निरूपण किया है।

पं आशाधरजी के ग्रंथ में इस प्रकार की चर्चाएँ हैं। तत् समय पर या तत् क्षेत्र की तथा समाज की और उन के निजी जीवन पर प्रकाश पडता है।

(१) अ. ५ श्लोक ३९–उपवास करनेवाला भाव पूजा ही करे। यदि द्रव्यपूजा करना आवश्यक ही हो तो प्रासुकद्रव्यों से पूजा करे। सचित्त से नहीं। इस से उस समय दोनों प्रकार के द्रव्यों से पूजन का प्रयोजन सिद्ध होता है। जो लोग ऐसी व्याख्या करते है कि तेरहपथाम्नाय ४०० वर्ष पूर्व स्थापित है और अचित्तपूजा का निर्माण उन्हों ने स्वेच्छा से आगम से विरुद्ध किया है। उन की उस गलत धारणा का आशाधरजी जो ५०० वर्ष पूर्व हुए हैं। यह श्लोक स्पष्ट प्रमाण है। तात्पर्य तो यह है कि सामान्यश्रावक भी पर्व के दिन सचित्तपूजन न करे यह स्पष्ट लिखा है। अत अचित्त द्रव्यपूजन उच्च मार्ग ही घोषित होता है। इस का यह अर्थ नही है कि वह केवल पर्व के दिन ही अचित्त द्रव्य से पूजा करे। अन्य दिवसों मे भी करें तो इस का निषेध नही है।

(२) दान (अतिथिसंविभाग) के प्रकरण मे देय पदार्थ की विशेषता दो बातों में बताई गई है (१) शास्त्रोक्त शुद्धि हो, (२) रागादि उत्पन्न करनेवाला द्रव्य न हो, (३) रत्नत्रय का सहायक हो, इस से गरिष्ट मिष्टान्न द्रव्य में रागादि उत्पादकता होने से उसे दान मे देने का स्पष्ट निषेध है। जिस का पालन गृहस्थ नही करते, बल्कि अपना बडप्पन दूसरों मे प्रगट करने में गरिष्ट आहार ही देना चाहते है, जो रत्नत्रय के पालन मे प्रमाद जनक होता है। इस से दान का फल उत्तम नहीं मिलता निकृष्ट ही होता है। कारण वह रत्नत्रय साधना में साधक नही बाधक ही होता है।

(३) पाक्षिक श्रावक को कन्यादान के समय वर को भूमि, रथ स्वर्ण आदि देने की बात लिखी थी (अ. २ श्लोक ५६) तथापि वह दान श्रेणी मे नही है. दान मे देय पदार्थ केवल पात्र (तीनों प्रकार के) को रत्नत्रय की साधक सामग्रदेने का विधान है। भू–गेह–लोह–गो–अश्वादि हिंसार्थ होने से देने योग्य नहीं है. अतः व्रती को इस का त्याग करना चाहिए। (अ २ श्लोक ५३)

(४) छठे अध्याय मे प्रातः से लेकर शाम पर्यंत तथा पुन प्रभात पर्यंत क्या क्या करना चाहिए, उस की पूर्ण दिनचर्या है जो प्रत्येक गृहस्थ को पढने योग्य वा पालने योग्य है।

(५) विवाह के संबंध में अ २ श्लोक ३७ मे साधर्मी को ही कन्या देना लिखा है, विधर्मी को नही। यद्यपि उस समय भी जैन धर्माराधकों मे जातियां विभिन्न पाई जाती थी, पर विजाती विवाह का निषेध नहीं किया। विधर्मी के साथ ब्याह का निषेध किया है। भले ही विवाह स्वजाति मे करो या विजाति मे पर साधर्मी के साथ करो। यद्यपि आप स्वय बघेरवाल जाति के थे, पर विवाह के विषय में धार्मिक पद्धति से साधर्मी के साथही संबंध करना विधेय है, ऐसा अभिप्राय रखते थे। अग्रवाल आदि जातियों म जैन धर्मावलंबी भी है, और अजैन धर्मावलम्बी भी। यदि वे स्वजाति विवाह का आग्रह करे तो विवाह संबंध नही होता। मारवाडी अग्रवाल एक ही गोत्र के होते हैं अतः उन्हें अजैन कन्या लेनी व देनी पडती है। जाति यदि बन्धन ब्याह में न हो तो उन्हें भी साधर्मी कन्या लेने देने की सुविधा होती।

(६) उपासकाध्ययन ग्रंथ मे वर्णवत् ४ आश्रमों का भी वर्णन है (१) ब्रह्मचर्याश्रम (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थाश्रम (४) भिक्षु (संन्यास) आश्रम-इसका बहुत स्पष्ट विवेचन टीका में किया गया है।

(७) आठवी प्रतिमा-आरंभत्याग में-स्नान–दान–पूजन आदि का त्याग नही है।

अन्य आरंभ का-सभी का त्याग है। यह मन-वचन-काय-कृत-कारित भंगों के द्वारा ही है अनुमोदना का त्याग यहाँ नहीं है, कारण पुत्रादिको को अनुमति देने का त्याग अशक्य है। यह १० वीं प्रतिमा में होगा। (अ ७ श्लोक २१) इसी अध्याय के श्लोक २२ में प्राणिघातक होने से अपने भोजन का भी त्याग करता है, तो अन्य आरंभ कैसे करेगा यह प्रतिपादन किया। गृहत्याग करते समय किस विधि से करना इसका सुंदर विवेचन है। जिस पर गृहभार रखता हूँ वह भी तो पुत्र हो या गोत्रज हो जब दोनो नही हो तो जो उस भार को योग्य हो उसे धन, धर्म, पोष्यवर्ग, सब सम्हालता है न कि धन मात्र को।

(८) ग्यारहवीं प्रतिमा मे-क्षुल्लक-ऐल्लक २ भेद तो सर्वत्र बताए ही हैं। वे यहाँ भी है। पर क्षुल्लक में भी दो भेद किए है। (१) एक-भिक्षा-नियम (२) अनेक-भिक्षा-नियम। यह अनेक घरों से भी भोजन लेकर एक घर पर बैठकर भोजन कर लेता है। क्षुल्लक को ४ पर्वों मे उपवास नियम से करना चाहिए (अ. ७ श्लोक ३९)

(९) श्रावक को भ्रामरीवृत्ति-दिन में प्रतिमायोग तथा सिद्धान्त ग्रंथ के (सूत्ररूप रहस्य प्रायश्चित्तादि ग्रंथ) अध्ययन का निषेध किया है। दान-शील-उपवास-पूजा ये ४ काम प्रत्येक श्रावक के कर्म है.

(अ. ७ श्लोक ५०-५१)

इस प्रकार ये श्रावकधर्म की ११ प्रतिमाएँ, अपवाद मार्ग है। इनका पालन करने में श्रावक को उत्सर्गमार्ग का आश्रय करना चाहिए।

तथा जीवन के अन्त समय धारण करने योग्य सल्लेखना भी गृहस्थ को करना अनिवार्य है। इन को पूरा पूरा वर्णन अध्याय ८ मे विशद रीति से १०० श्लोकों में किया गया है। अध्याय ६ के २९-३०-३१-३२-३४-३५ श्लोक तो ऐसे लगते है कि वे श्रावकों के कर्तव्य बताने की आड मे स्वय को सबोधित कर रहे है। ३५ वे श्लोक मे तो आश्चर्य करते है कि "पत्नि पाणि गृहीती है" अर्थात् मैं ने मात्र पाणि (हाथ) ही ग्रहण किया था पर अब देखता हूं कि वह तो मुझ मे पूरा प्रवेश कर गई है। मैं अपने से पृथक मानता-सोच करता हू, पर फिर भी उस मे समवेत ही अपने को पाता हू। श्लोक ३४ मे लिखते है कि एक ओर शमश्री है और दूसरी ओर स्त्री है। मुझे दोनो खीचते है। देखता हू मुझे कौन जीतती है। अरे! अरे! यह स्त्री जो मोहराजा की सेना है, वही जीत रही है।

इस प्रकार के अनेक श्लोक है, जिस से उनकी निर्वेद भावना, गृहस्थाश्रम छोड ने की छटपटाहट, वर्तमान अवस्था पर ग्लानि व असतोष झलकता है।

जिनपूजा के विविध प्रकारो मे उन का एक ही निर्णय है कि किसी भी विधि से पूजा करनेवाला निर्व्याज चित्त से आराधना करे तो उस के सर्व दुःख नाश होते है। (अ. २ श्लोक ४१) उस काल में वर्तमान मुनिजनों की चर्या से भी उन्हे पूर्ण संतोष न था। पर मुनिपरम्परा से अगाध स्नेह व श्रद्धा थी। अतः वे लिखते हैं कि इस काल के मुनियो मे पूर्व मुनियों की स्थापना कर उन की भक्तिपूर्वक अर्चना करना चाहिए। जैसा पाषाण-प्रतिमा मे जिनेन्द्र की स्थापना कर पूजा की जाती है। (अ. २ श्लोक ९४)

जैनेतर बन्धुओ को जैन दीक्षा देने पर भी विकल्प किया और शूद्रों को भी उपस्कर, आचार शुद्धि होनेपर जिनधर्म श्रवण की बात स्वीकार की है (अ. २ श्लोक १९-२०-२१-२२)

जैन मुनियों की कुलवृद्धि के समान वृद्धि करना चाहिए। उन को उत्कृष्ट गुण वाले बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। (अ. २ श्लोक ७१)

व्रत बहुत सोच-विचार से लेना चाहिए। गृहीत व्रत को प्रयत्नपूर्वक पालना भी चाहिए। कदाचित् सदोष हो जाय तो प्रायश्चित्तादि से पुनः स्थापन करना चाहिए। (अ २ श्लोक ७९)

धर्म-कीर्ति-और यश संपादन करना चाहिए। अयश चित्तसन्तापकारी और अशुभकर्मबंध का कारण है। इस तरह यह श्रावकाचार श्रावक के प्रत्येक कर्तव्य का सांगोपांग वर्णन करता है। अतः प्रत्येक श्रावक को इसका स्वाध्याय कर अपना जीवन सफल बनाना चाहिए।

शासनदेवता के विषय में पंडित प्रवर आशाधरजी की भूमिका

श्री पं. धन्यकुमारजी भोरे,
बी ए एल् एल् बी.

पंडित प्रवर आशाधरजी विक्रम की तेरहवी शती के अंत में हुए भट्टारक युग के और बीसपंथी आम्नाय के प्रकाण्ड विद्वान् थे, इस मे कोई संदेह नही। किन्तु इस ही कारण से सर्वसाधारण जैनसमाज मे और कुछ विद्वानो मे भी उन के विषय मे भ्रान्त धारणा अभी भी बनी हुई है। सातसौ साल पश्चात् उनका सही मूल्यांकन होना जरूरी है। उनके विषय मे एक भ्रान्त धारणा तो यह रही है कि वे शासनदेवता, नवग्रह देवता, दशदिक्पालादिक के पूजा के पक्षपाती है। यह कहा तक सही है, इस का यहाँ पर विचार करना है।

पं. आशाधरजी का दशदिक्पालों का निर्देश करने का अभिप्राय

स्वयलिखित प्रशस्ति के अनुसार उन्हो ने भगवान् का अभिषेकविधि बतलाने वाला 'नित्यमहोद्योत', 'रत्नत्रय-पूजाविधान', तथा 'जिनयज्ञकल्प' नामक प्रतिष्ठाविधि का निरूपण करने वाले शास्त्र की रचना की है। उस मे पंचामृताभिषेक, गंध-फूल-सचित्त फल-आदि से पूजा का विधान है यह स्पष्टतया दृग्गोचर होता है। वे इस क्रियाकाण्ड को व्यवहार धर्मरूप मे स्वीकार करते थे। किन्तु इतने मात्र से वे शासनदेवतादिक के पूजा के पक्षपाती थे यह आरोप करना ठीक नही। उन के 'प्रतिष्ठासारोद्धार' मे नवग्रह, यक्षयक्षिणी, दशदिक्पालो की स्थापना का विधान है। उन के द्वारा रचित अभिषेक मे दशदिक्पालो की स्थापना की हुई स्पष्टतया देखने में आती है। किन्तु उसका प्रयोजन इतना ही दिखता है कि पंचकल्याणविधि देवदेवताओ द्वारा सपन्न होती है और अभिषेक जन्मकल्याणक का एक अंग है। इसलिए उससमय उन की स्थापना उचित है। तथा उन के उक्त ग्रंथो मे अन्य आम्नाय के अनुसार नवग्रहो का वर्णन देखने को मिलता है। इतने मात्र से वे उनकी पूजनीयता के समर्थक थे ऐसा अनुमान निकाला नही जा सकता। वहाँ पर उन की स्थापना करने का प्रयोजन मात्र इतना है कि, 'हमें इन्द्र बनकर भगवान के पंचकल्याण का महान कार्य, जन्माभिषेक का कार्य, प्रारंभ करना है, उस मे आप सब हमारे साथ आ कर सहभागी हो जाइए।' 'वे गुरुवत् पूजनीय है' ऐसा उस का अभिप्राय कतई नही। देखिए अभिषेक में इन्द्रादि दशदिक्पालो का जहाँ आवाहन किया गया है।

"हे इन्द्रदेव! समाव्हानयामहे। हे इन्द्रदेव! आगच्छ, आगच्छ। इन्द्रमहत्तराय स्वाहा। इन्द्रस्वपरिजनाय स्वाहा। इन्द्रानुचराय स्वाहा। अग्नये स्वाहा। यमाय स्वाहा। अनिलाय स्वाहा। वरुणाय स्वाहा। सोमाय स्वाहा। प्रजापतये स्वाहा। ॐ स्वाहा। भूः स्वाहा। भुवः स्वाहा। स्वः स्वाहा। ॐ भूर्भुवः स्वाहा।"

" हे इन्द्रदेव ! स्वजनपरिवृताय इदमर्ध्य, पाद्य, जलं, गन्ध, अक्षतान्, पुष्पं, चरूं, दीपं, धूपं, फलं, बलि, स्वस्तिकं, यज्ञभागं, च प्रतिगृह्यताम्, प्रतिगृह्यतामिति स्वाहा।"[१]

इन्द्रादिको को स्वजनसमेत निमंत्रितकर, ' यह भगवान् के पूजा के लिए अष्टद्रव्य तथा अन्य सामग्री आप ग्रहण कीजिए, कीजिए ' इतनाही इन मंत्र द्वारा कह कर उन्हे यथोचित सन्मानपूर्वक पूजा की प्रेरणा की है। उस मे उन के पूजार्चा का विधान है, ऐसा कतई नही। क्योंकि जो उन को कुदेवही मानते हैं, उन की पूजार्चा का उपदेश वे कैसा देंगे ?

जैन परंपरा में उपदेश की सर्वसंमत पद्धति

जैन परंपरा मे उपदेश की एक पद्धति रही है। जो भी कुछ कर्तव्य श्रावकों के तथा साधुको के लिए कहे है, उन का प्रथमतः विधिरूपसे ही उपदेश दिया जाता है। उन के लिए जो अविधेय है, उनका अतिचार, अनाचार रुपसे निरूपण किया गया है, निषेध मुख से उस का कथन कही होता है, कही होता भी नही। किन्तु उस के आश्रय से निषेध फलित कर लेना चाहिए।

(१) जहा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है ऐसा कथन तत्त्वार्थसूत्र मे है। वहाँ व्यवहार यथार्थ मोक्षमार्ग नहीं उपचार ही है ऐसा आचार्यो का अभिप्राय है।

(२) प्रवचनसार के तीसरे अध्याय मे २४८ सूत्र मे शुभोपयोगी श्रमणो का आचार, निरूपण करते समय " जिनेन्द्र पूजा का उपदेश " शुभोपयोगी श्रमण ही कर सकते है ऐसा विधान है। वही पर आचार्य कहते है कि यह प्रवृत्ति शुद्धोपयोगी को होतीही नही। वहां पर जिनेन्द्र पूजा का उपदेशही क्यो कहा ? अन्य देवदेवताओंकी पूजा का उपदेश[२] क्यो नही कहा ? इस का विचार करने पर उस का उन्हे निषेध इष्ट है ऐसा अभिप्राय स्पष्ट दिखता है। जिस की पुष्टि मूलाचार आदि अन्य आगमो से होती है।

उसी प्रकार जब प्राचीन रत्नकरंड श्रावकाचार आदि आर्ष ग्रन्थों मे तथा पं प्रवर आशाधरजी के सागारधर्मामृत मे जहाँ जहाँ श्रावक के कर्तव्यो का निरुपण किया है उन स्थानो मे पच गुरु की पूजाका तथा स्वाध्याय दानादिक का तो उपदेश है। पर शासन देवदेवतादिकों के पूजन का विधिरूप से उपदेश या आदेश का विधान कहीं पर भी नही है। चाहे श्रावक पाक्षिक हो या नैष्ठिक। किसी भी श्रावक के लिए आशाधरजी ने शासनदेवतादिकों की पूजार्चा विधेयरूपसे कही नही। प्रस्तुत शासनदेवतादिकों की पूजा को मूढदृष्टि बतलाते हुए उस का दोषरूप मे या अतिचार–अनाचार रूपमे निषेधही किया है। तथा उन का ऐहिक कामना से पूजनादि नही करना इसे श्रावक का अमूढदृष्टि गुण बतलाया है।

शासनदेवता के पूजा को मूढदृष्टि कहनेका कारण

ऐसा उन्हों ने क्यों लिखा इसपर सूक्ष्मता से विचार करने पर ज्ञात होता है कि शासनदेवतादिकों की पूजा शुभोपयोग तो दूर रहा, वह अशुभोपयोगही है ऐसा उनका स्पष्ट अभिप्राय है। आचार्य कुंदकुंद प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक दूसरे अध्याय मे अशुद्धोपयोग को कर्मबंध का कारण बतलाते हुए वह अशुद्ध उपयोग दो प्रकार का बतलाया है। शुभोपयोग और अशुभोपयोग का स्वरूप जो १५७ और १५८ सूत्र मे कहा है। उन का स्वरूप उनही के और टीकाकार आचार्यो के शब्दो मे देखना यहां उचित होगा।

प्रथम शुभोपयोग का स्वरूप कहते है।

---

(१) देखिए अनगारधर्मामृत अध्याय ८ श्लोक ५२

(२) देखिए प्रवचनसार अध्याय ३ श्लोक २४८ आ. अमृचद्र और आ. जयसेन टीका

जो जाणादि जिणिदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अनगारे ।
जीवेसु सानुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ।। १५७ ।।

टीका– विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्त दर्शन चारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीतशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारक महादेवाधिदेव परमेश्वरार्हत्सिद्ध साधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्तः शुभः उपयोगः ।

अर्थ– जो जिनेंद्रों को जानता है, सिद्धों को तथा अनगारों को (आचार्य, उपाध्याय और सर्व साधुओं को) देखता (श्रद्धा करता) है तथा और जीवों के प्रति अनुकंपायुक्त है उस का वह उपयोग शुभोपयोग है ।

टीका– (आ अमृतचंद्रदेव) विशिष्ट क्षयोपशम दशा मे रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलो के अनुसार परिणति मे लगा होने से शुभ उपराग का ग्रहण किया होने से, जो उपयोग परम भट्टारक महादेवाधिदेव परमेश्वर ऐसे अर्हंत, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने मे तथा समस्त जीवसमूह की अनुकंपा का आचरण करने में प्रवृत्त है वह शुभ उपयोग है ।

इसप्रकार अब अशुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं ।

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उमग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ।। १५८ ।।

टीका– विशिष्टोदयविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीताशोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यमोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदुःश्रवणदुराशयदुष्ट सेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोगः ।। १५८ ।।

अर्थ– जिसका उपयोग विषय–कषाय मे अवगाढ (मग्न) है, कुश्रुति, कुविचार और कुसंगति मे लगा हुआ है, उग्र है तथा उन्मार्ग मे लगा हुआ है, उस का वह अशुभोपयोग है ।

टीकार्थ– विशिष्ट उदय दशा मे रहनेवाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलो के अनुसार परिणति मे लगा होने से अशुभ उपराग को ग्रहण करने से, जो उपयोग परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर ऐसे अर्हंत, सिद्ध और साधु के अतिरिक्त अन्य-उन्मार्गी की श्रद्धा करने मे तथा विषय, कषाय, दुःश्रुति दुराशय, दुष्ट संगति मे, उग्रता का आचरण करने मे प्रवृत्त है वह अशुभोपयोग है ।

उपरोक्त दोनो सूत्र और आ अमृतचंद्र की टीका पर दृष्टिपात करने पर यह भलिभाँति विदित होता है कि (१) दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय का क्षयोपशम होने पर शुभोपयोग होता है । क्षयोपशम मे जो अनुदय है, उससे तो भूमिकानुसार दर्शन चारित्र स्वभाव की उपलब्धि होती है । और जो देशघाति स्पर्धको का उदय है उस के अनुसार शोभन उपरागरूप परिणति होती है, उससमय पचमेष्ठी की श्रद्धा और जीवमात्र के प्रति अनुकपा का भाव होता ह । इस से शुद्ध परिणति और शुभोपयोग का एकार्थ-समवाय (युगपत होना) सिद्ध होता है, और शुभोपयोग समकिती के ही होता है यह स्पष्टतया दृग्गोचर होता है । (२) अशुभोपयोग दोनों मोहनीय के उदय होने पर ही होता है और दोनो का उदय मिथ्यादृष्टि के ही होता है । तथा मिथ्यात्व होने पर ही अशुभोपयोगी के ही पंचपरमेष्ठी को छोडकर अन्यत्र भक्ति का भाव होता है । इस से यह स्पष्ट होता है कि जिस कारण शासनदेवतादिक पचपरमेष्ठा से अन्य है, इससे उनकी श्रद्धा भक्ति पूजा अर्चा मिथ्यादृष्टि के ही सभव होती है ।

प्राचीन शास्त्रों में तथा सागारधर्मामृत में भी शासनदेवता की पूजा का विधान नहीं

और भी शासनदेवतादिकों को पूजा का, श्रद्धा का जो भाव होता है वह मिथ्यादृष्टि के ही होता है क्योंकि श्रावक चाहे वह अव्रती पाक्षिक हो उसे मिथ्यादर्शन का अभाव ही होता है। इस कारण प. प्रवर आशाधरजी ने श्रावकों के लिए विधेय–कर्तव्यरूप में उस का उपदेश कतई नहीं दिया है। इस लिए उन के 'धर्मामृत', 'अध्यात्म रहस्य' आदि ग्रंथों मे शासनदेवतादिकों के पूजा का विधान नहीं है। यदि वह नामजैन, स्थापनाजैन और द्रव्यजैन का भी कर्तव्य माना जाता है तो सागारधर्म के प्रथम या द्वितीय अध्याय मे उसका विधिपरक कथन जरूर होता। उन्हो ने जिनदेव, जिन वाणी, गुरु, की पूजा दया, मूलगुण, पाठशालानिर्माण आदि का उपदेश तो जरूर दिया है। पर शासनदेवतादिकों की पूजा का नही। फिर भी उसे व्यवहार धर्मकर्तव्य मान कर चलना इसे पूज्य–पूजा–पूजाफल आदि संबंधों मे व बडी भूलही कहना होगा। यदि शास्त्रों में उसका विधिरूप से कर्तव्य निर्देश नही है, तो उसे धर्म मानना आगमसंमत तो नही माना जा सकता। असयत पाक्षिक सम्यग्दृष्टि श्रावक भी तो जिनमार्ग को आतरिक श्रद्धा से स्वीकार करनेवाला होता है। उसने जिनेन्द्र भगवान का यह मार्ग स्वीकार किया है। देखिए–

भवति। कोऽसौ पाक्षिक। किंरूप, तद्धर्मगृह्य–तस्य श्रावकस्य धर्म एकदेशहिंसाविरतिरूपं व्रतंगृह्य पक्ष–प्रतिज्ञाविषयो यस्यासौ प्रारब्धदेशसयम श्रावकधर्मस्वीकारपरः इत्यर्थः।

अर्थ–वह श्रावक पाक्षिक होता है। कैसा? जिसे श्रावक का एकदेशहिंसानिवृत्तीरूप व्रत या पक्ष या प्रतिज्ञा होती, वह प्रारब्ध देशसंयमी, श्रावकधर्म का स्वीकार करनेवाला होता है। उन्होंने पक्ष का लक्षण कहा।

'न हिंस्याम्यह धर्माद्यर्थमित्येव प्रकारेण सकल्पेन धर्मार्थं देवतार्थं मंत्रसिद्धयर्थमौषधार्थं वा प्राणिघात न कुर्यामिति प्रतिज्ञाय।

अर्थ–मैं धर्मादिक के कारण से इस प्रकार सकल्पपूर्वक, देवता के कारण से, मंत्रसिद्धी के प्रयोजन से, औषधी के कारण प्राणिघात नही करूगा। उस पक्ष को स्वीकार करता है।

दार्शनिक श्रावक के लिए पं. आशाधरजी द्वारा शासनदेवता की पूजा का प्रतिषेध

प आशाधरजी ने श्रावक के ग्यारह भेद ग्यारह प्रतिमारूप में बताये है। उस मे पहली दर्शनप्रतिमा है। उसमे गुरुसाक्षि से नियमरूप से अतिचार–कुदेवों की पूजा–सप्त व्यसनादिकों का, आठ दोषों का बुद्धिपूर्वक त्याग, आठ मूलगुणों का ग्रहण आवश्यक होता है। इस का विस्तार से वर्णन सागारधर्मामृत के तीसरे अध्याय मे है। पहली प्रतिमा का लक्षण लिखते समय वे लिखते है कि–

पाक्षिकाचारसस्कारदृढीकृतविशुद्धदृक्।
भवाङ्ग–भोगनिर्विण्ण परमेष्ठिपदैकधीः ॥ ७ ॥
निर्मूलयन्मलान्मूल–गुणेष्वग्रगुणोत्सुकः।
न्याय्या वृत्तिं तनुस्थित्यै तन्वन्दर्शनिको मत ॥ ८ ॥

अर्थ–पूर्व में दूसरे अध्याय मे जो पाक्षिक श्रावक का आचार कहा है, उससे जिसका सम्यग्दर्शन विशुद्ध हुआ है, ससार तथा शरीरविषयक भोगों से जो भीतर से–श्रद्धा से–विरक्त है, पच परमेष्ठि के पद में जिसकी एकमेव श्रद्धा तथा बुद्धि है, जो अतिचारों का मूल से निकास करता है, आगे आगे के व्रतादि लेने मे जो उत्सुक होता है, तथा जो देहधारणा के लिए मात्र (वर्ण, कुल, जाति, व्रतानुसार) न्याय्य मार्ग से आजीविका करता है, वह 'दार्शनिक–श्रावक' माना गया है।

यहां पर जो दार्शनिक श्रावक का स्वरूप बतलाया है, वह एवभूत नय से कहा है। जैसा कि इन दो श्लोको की स्वयरचित टीका में लिखते है–

टीका–मत ’–एवंभूतनयादिष्ट सूरिभि. । एतेन नैगमनयादेशात् पाक्षिकस्यापि दार्शनिकत्वमनुज्ञातं भवति । ततो न ‘श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानीत्यनेन विरोधः । पाक्षिकस्य द्रव्यतो दार्शनिकत्वात् ।

अर्थ–वह व्यक्ति एवभूत नय से पूर्वाचार्यों द्वारा दार्शनिक माना गया है । इससे पाक्षिक श्रावक के भी नैगमनयादेश से दार्शनिक अनुमत होता है । इस कारण जो ‘भगवान ने श्रावक के ग्यारह पद कहे है’ उस मे विरोध भी नही आता, क्योंकि, पाक्षिक के द्रव्य से दार्शनिकत्व है ।

इस स्वोपज्ञ टीका से बहुत कुछ तथ्य सामने आते हैं–

(१) जो सप्तव्यसन, कुदेवसेवा, आठ अभक्ष्य इन का बुद्धिपूर्वक गुरुसाक्षी से त्याग करता है और आठ मूलगुणो का अगीकार करता है, वह दार्शनिक श्रवक है । इस कारण तीसरे अध्याय मे सप्त व्यसन छोडनेवाले दार्शनिक श्रावक को क्या नही करना चाहिए इसका विस्तृत वर्णन है । वह नैष्ठिक पचम गुणस्थानवर्ति श्रावक है । यह लक्षण एवभूत नय से है ।

(२) किन्तु जो इनका गुरूपदेश से बुद्धिपूर्वक नियम नही लेता वह पाक्षिक श्रावक है । इस से यह नही समझना कि वह पाक्षिक सप्त व्यसनादिक कर सकता है । वह तो इसे अधर्म जानता है और कभी अधर्माचरण करता भी नही । केवल अप्रत्याख्यानावरण का उदय होने से नियमपूर्वक गुरुसाक्षी से नियम नही कर पाता । यदि अधर्माचरण करेगा तो जिनधर्म श्रवण करने का भी वह अधिकारी नही ।

(३) नैगमनय से पाक्षिक श्रावक भी दार्शनिक माना गया है । क्याकि वह दार्शनिक श्रावक का आचार पालन करता है । केवल अप्रत्याख्यानावरण के उदय के कारण बुद्धिपूर्वक त्याग नही कर पाता । अनतानुबधी के उदय का अभाव होने से उसे दार्शनिक श्रावक का उक्त आचार तो होता ही है । अतर इतना मात्र है कि वह अतिचारो का पूर्णत: निराम नही कर पाता । नैष्ठिक के तो अतिचारो का पूर्णत: त्याग करना ही होना है ।

(४) इस से दार्शनिक श्रावक को प्रथम आठ कषायो का अभाव और पाक्षिक के प्रथम चार कषायो का अभाव भलिभाति सिद्ध होता है ।

दार्शनिक मात्र पंच परम गुरु का ही श्रद्धालु होता है ।

आगे ‘परमेष्ठिपदैकधी.’, इस महत्त्वपूर्ण पद का स्पष्टीकरण वे अपनी स्वोपज्ञ टीका मे क्या करते यह भी गहराई से जानने लायक है—

टीका–तथा परमेष्ठिपदैकधी , परमेष्ठिपदेषु अर्हदादिपचगुरुचरणेषु एका धीरन्तर्दृष्टिर्यस्य स तथोक्त: । आपदाकुलितोऽपि दार्शनिकः तन्निवृत्त्यर्थं शासनदेवतादीन् कदाचिदपि न भजते । पाक्षिकस्तु भजत्यपीत्येवमर्थमेक ग्रहणम् ।

अर्थ–वह दार्शनिक ‘परमेष्ठिपदैकधी’ होता है । अर्हत आदि पाच गुरु चरणो मे–परमेष्ठि पदो मे ही–एकमात्र जिसकी बुद्धि है, याने अतरग मे पूरी श्रद्धा है ऐसा वह दार्शनिक होता है । विपत्तियो से आकुलित होने पर भी विपदाओं की निवृत्ति के लिए कदापि वह शासन देवतादिको की भक्ति सेवा नहीं करता ।

इस टीका पर से यह तथ्य सामने आते है–

(१) दार्शनिक श्रावक के लिये नियमरूप से पच परमेष्ठि की पूजा मात्र विधेय है । वह किसी भी आपत्ति मे शासनदेवता, नवग्रहादिको की पूजा आपदा दूर करने के प्रयोजन से भी नही करता ।

(२) पाक्षिक असयत सम्यग्दृष्टि श्रावक नैगमनय से दार्शनिक है ऐसा उक्त श्लोको में स्पष्ट रूप से कहा है । इससे वह भी शासन देवतादिको की पूजा नहीं करता ऐसा जानना । कारण उसे अमूढदृष्टि अग होता

है। उसे अप्रत्याख्यानावरण का उदय होने से प्रतिज्ञा का अंगीकार करता नही। फिर भी उक्त देवदेवताओं की पूजा उन्मार्ग मिथ्या मार्ग होने से जैसा कि पूर्व मे स्पष्ट किया है वह नही करता। क्योंकि सम्यग्दर्शन के साथ उसका एकार्थ समवाय नही हो सकता। वह तो सम्यग्दर्शन का घातक अतएव प्रतिषेध्यही है।

(३) 'पाक्षिकस्तु भजत्यपि' इस का केवल यह मतलब होता है, जो श्रावक कुलपरपरा से नाम जैन, स्थापन जैन, द्रव्य जैन है वह कदाचित भजे भी। यदि असयत सम्यदृष्टि होकर भी करेगा तो वह भावतः जैन तो रहेगा ही नही। इस मे आशाधरजी का केवल सामाजिक दृष्टिकोण प्रतीत होता है। हठ से उसे अजैन कहने से तो सामाजिक व्यवस्था बिगडकर गडबडी हो जावेगी। इस लिए उस के साथ उसे जैन समझ कर ही उचित व्यवहार होना चाहिए। किन्तु वह व्यवहार से धर्म है ऐसा उन का अभिप्राय कतई नही।

पाक्षिक श्रावक की निश्चित परिभाषा करना कठिन है। पं आशाधरजी का अभिप्राय तो यह जान पडता है कि (१) जिस के भीतर से शुद्ध आत्मा की प्रतीति है अर्थात मिथ्यात्व और अनतानुबधी चौकडी का अभाव होने से आत्मानुभूति की वर्तमान योग्यता जिसे प्राप्त है और बाहरी अष्ट मूलगुण, सप्तव्यसन त्यागादि, कुदेवभक्ति का अभाव जिसे होता है। सागारधर्मामृत अध्याय १ श्लोक १२ मे "सम्यक्त्वममलममलान्यणुगुण" ११ मे परिपूर्ण सागारधर्म का निर्देश किया है। तथा अनतर १३ वे श्लोक में (भूरेखादि सदृक्) उस असयत सम्यग्दृष्टि की आतरिक स्थिति व्यक्त की है। उस का अर्थ इस प्रकार है कि "जो सर्वज्ञ परमात्मा की आज्ञा" से वैषयिक सुख हेय है और निज अर्थात आत्मिक सुख उपादेय है ऐसी श्रद्धा करनेवाला। वह समकिती भूरेखादि समान कषायों[1] के आधीन होता हुआ, कोतवाल द्वारा पकडे हुए किन्तु आत्मनिंदा करनेवाले चोर के समान, इद्रियजन्य सुख भोगता है, स्वपर को पीडा भी पहुचाता है, फिर भी पाप तथा विकार दोषो से खिन्न नही होता।

वह अविरत समकिती पाक्षिक अमूढदृष्टि होने से कुदेवगुरुशास्त्र की भक्ति करता ही नही। श्रावक अमूढदृष्टि हो और सरागी देवो की पूजा का उसे विकल्प हो यह असंभव है। मुख्यतः ऐसे पाक्षिक श्रावक का दूसरे अध्याय मे वर्णन है। इस मे प आशाधरजी ने अविरत समकिती भी निश्चयसम्यक्त्व धारण करनेवाला होता है यह स्पष्टतया सूचित किया है। तदनंतर १५-१६-१८ श्लोको मे सम्यक्त्वपूर्वक पंचम गुणस्थानवर्ति श्रावक की दशा का वर्णन है। उसीको प आशाधरजी ने नैष्ठिक संज्ञा दी है।

(२) जैन कुल मे जो उत्पन्न हुए है या जिन्होंने विधिवत् जैनत्व अगिकार किया है किन्तु जिन्हे प्रतीतिरूप स्वपरभेदविज्ञान न होवे, ऐसे जो श्रावक है वे नाम जैन, स्थापना जैन या द्रव्य जैन है। उनके लिए भी एक परपरागत सदाचार की मर्यादा है। उसका वे पालन करते है। इससे वे पुरुषार्थ के द्वारा निश्चय सम्यग्दृष्टि या व्रती बन सकते है। इस अपेक्षा से उन्हे भी द्रव्यनिक्षेप से, असद्भूत व्यवहार नय से जैन कहा है। प आशाधरजी उन्हें भी पाक्षिक श्रावक कहते है। किन्तु वे भीतर से समकिती नही होते। स्वोपज्ञ टीका मे "पाक्षिकस्तु भजत्यपि' ऐसा जो प. आशाधरजी लिखते हैं वह उनको लक्ष्य मे लेकर ही कहते है।

देव-अदेव-कुदेव यह वर्गीकरण पं. आशाधरजी को मान्य नहीं

यहा पर किन्ही किन्ही का ऐसा अभिप्राय है कि "देवो के तीन भेद है। (१) एक अर्हतादि परमात्म पदधारक देव (२) जो संयमी नही होने पर भी जिनशासन मे जिनका अस्तित्व माना है ऐसे यक्ष शासनदेवता

---

१ भूरेखादि...... अप्रत्याख्यानावरणादयो द्वादश क्रोधादिविकल्पाः येषाम्-(श्लोक १३ स्वोपज्ञ टीका) जिन्हे अप्रत्याख्यानावरणादि बारा कषायों के विकल्प है।

२. एतेन निश्चयसम्यग्दर्शनभाग्भवतीत्युक्त वेदितव्यम्। ऐसा कहने से वह निश्चयसम्यग्दर्शन का धारण करनेवाला होता ऐसा यहाँ जानना।

आदि । देवगति नामकर्म का उदय होने से यद्यपि वह देव है, फिर भी अर्हंतादिकों की अपेक्षा वे अदेव है। फिर भी यदि वे जन्मत: समकिती है या सम्यक्त्व प्राप्त कर लेते है, तो उन्हें कुदेव नही कहना चाहिए। उन की पूजाअर्चा प्रतिषिद्ध नही है। (३) जैन परपरा मे भी जिन्हे देवगति नामकर्म के उदय से देव कहा है; किन्तु जो मिथ्यादृष्टि हैं या जो अन्यमतवादी कल्पित हैं, वे कुदेव है। उन की भक्ति का निषेध अवश्य है।" ऐसा किन्ही का अभिप्राय है और वे प. आशाधरजी को अपने मत का समर्थक मानते है। कतिपय साधु तथा पडितो का ऐसा आशय है। वह कहा तक ठीक है यह भी देखना होगा।

उत्तर काल में जो साहित्य रचा है, उनकी अपेक्षा से इसका विचार इस लेख में कर्तव्य नही है। पडितप्रवर आशाधरजी की स्वय की इस सदर्भ मे क्या भूमिका है इतना मात्र इस लेख मे देखना है। पूर्व में 'परमेष्ठिपदैकधी' पद का विवेचन करते हुए वहा पर पडितजी ने दर्शनप्रतिमाधारी को शासनदेवतादिको के पूजन का स्पष्ट निषेध ही किया है। किन्तु वहा पर उन्हे 'कुदेव' तो लिखा नही। इस लिए जो प्रतिमाधारी नही ऐसे पाक्षिक श्रावक के उस का निषेध नही ऐसा किन्ही का अभिप्राय है। इस विषय मे स्वय पं. आशाधरजी का मन्तव्य क्या है यह देखना आवश्यक हो जाता है।

पंडितजी के अभिप्राय से शासनदेवतादिक कुदेव ही है।

इस दृष्टि से अनगारधर्मामृत के ऊपर थोडा दृष्टिपात करना आवश्यक प्रतीत होता है। अनगार-धर्मामृत अध्याय ८ मे यतियो के छह आवश्यको का वर्णन है। षट् आवश्यको के निरूपण मे 'वदना' नामक आवश्यक का निर्देश कर के कौन वदनीय और कौन अवदनीय है इस का विवरण करते समय वे ८ वे अध्याय के ५२ वे श्लोक मे कौन किसे अवदनीय है इस का निर्देश करते हैं। सो इस प्रकार—

"सागारेतरयत्योरवन्दनीयान्निर्दिशति–
श्रावकेणाऽपि पितरौ, गुरू राजाप्यसयता.।
कुलिङ्गिन. कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि सयतै ॥ ५२ ॥"

उत्थानिका का अर्थ-पचम गुणस्थानवर्ति श्रावको को और यतियो को जिन की वदना नही करना चाहिए उन का निर्देश करते हैं–

श्लोकार्थ-श्रावक तथा सयमियों द्वारा माता पिता, दोनों गुरु, राजा भी, कुलिग साधु और कुदेव असयमी होने से या असयत होने से वदनीय नही है।

अपनी स्वोपज्ञ टीका मे इस की व्याख्या करते हुए वे स्वयं लिखते है–

न वन्द्या.. के ? **पित्रादय** किंविशिष्टाः ? **असंयता**: केन ? **श्रावकेनापि** यथोक्तानुष्ठाननिष्ठेन लिगिनस्त सागारेणापि। कि पुनः अनगारेणेत्यऽपि शब्दार्थ। माता च पिता च पितरौ। गुरुश्च गुरुश्च **गुरू**। दीक्षागुरुः शिक्षागुरुश्च। **राजाऽपि** किं पुनरमात्यादिरित्यपिशब्दार्थ। **कुलिंडिन**स्तापसादयः पार्श्वस्थादयश्च। **कुदेवा** रुद्रादय शासनदेवतादयश्च। **तथा सोऽपि** शास्त्रोपदेशाधिकारी श्रावकोऽपि न वन्द्य। **कै: ? संयतैर्यतिभि:**।

अर्थ–वे वदनीय नही। कौन ? पितृ आदिक। कैसे हैं वे पित्रादिक ? असंयत ऐसे। किस के द्वारा वंदनीय नही ? सागारधर्म मे कहे अनुष्ठान मे निष्ठ ऐसे सागार के द्वारा भी, तो पुनः अनगार के लिए क्या कहे ? (अर्थात् जहां वे श्रावकों के लिए भी वन्द्य नही तो साधुओं के लिए कैसे वन्द्य हो सकते ?) माता और पिता दोनो 'पितरौ' द्वारा कहे है। गुरु और गुरु ऐसे दोनों गुरु दीक्षागुरु और शिक्षागुरु। राजा भी वंदनीय नहीं है। तो पुन. अमात्यादिको की कथा क्या करनी ? यह 'अपि' शब्द का अर्थ है। (साराश राजा अमात्यादिक दोनो के

वंदनीय नही है।) उसी प्रकार कुलिंगी साधु भी वन्द्य नहीं है। तापसादि (अन्यमती साधु) तथा पार्श्वस्थादि (बाह्यतः नग्न दिगंबर किन्तु स्वैराचारी द्रव्यलिंगी मिथ्यावेषधारी साधू) ये कुलिंगी हैं। उसी प्रकार कुदेव भी वदनीय नही है। रुद्रादिक तथा शासनदेवतादिक कुदेव है।

पं. आशाधरजी का स्पष्ट अभिप्राय

उक्त स्वोपज्ञ टीका पर से जो तथ्य फलित होते है वे इस प्रकार–

(१) माता–पिता, दीक्षागुरु–शिक्षागुरु असयमी हो तो, राजा अमात्यादिक ये व्रती श्रावक और मुनियों के लिए वदनीय नही है।

(२) इस ही प्रकार कुलिंगी साधू और कुदेव भी नियम से असयत ही है, वे भी उक्त दोनों के लिए पूजनीय नही है।

(३) शास्त्रोपदेश करनेवाला होनेपर भी श्रावक मुनियो के द्वारा वंदनीय नही है।

(४) श्रावक व्रती गृहस्थो के लिए भी पार्श्वस्थादि कुलिंगी साधु और रुद्र, नवग्रह, यक्षयक्षिणी, शासन-देवता आदि कोई भी वदनीय नही है। यह बात यहां पर जो पं. आशाधरजी ने लिखी वह खास ध्यान देने योग्य है।

(५) शासन देवता, कुदेव ही है। यहा आशाधरजी ने जो कुदेव का निर्देश किया है, उसमें शासन-देवता, दशदिक्पाल, नवग्रहो का भी अतर्भाव है। इस से वे **देव या अदेव की कक्षा में नहीं आते, उन की दृष्टि से तो वे सब कुदेव ही हैं।** फिर भी 'आशाधरजी उन को पूजा के समर्थक रहे' यह कहना तर्कसगत कैसे होगा ?

(६) जिस कारण उन की पूजा मिथ्यात्व के उदय मे ही सभव है, इस लिए असयत सम्यग्दृष्टि के लिए भी वे वदनीय नही है।

जो बात साधु तथा व्रती श्रावक के लिए निषेध्य है, यदि वह जिनधर्म का दृष्टिसंपन्न श्रद्धालु न करे तो उस मे दोषास्पद क्या है? वह तो अच्छाही है। प. आशाधरजी ने देवताओं का पूजन पाक्षिक तथा असंयत सम्यग्दृष्टी को विधेय है ऐसा कही पर भी बतलाया नही है। इतने विवेचन से यह बात तो सुतराम् स्पष्ट हो जाती है कि ***पं आशाधरजी इस के समर्थक तो नहीं थे। प्रत्युत उस का रत्नत्रयधर्म में किसी भी प्रकार से अंतर्भाव नहीं हो सकता, यह उन का अभिप्राय स्पष्टतया प्रगट है।***

जहा उन्होने साधारण पाक्षिक श्रावकों के द्वारा की जानेवाली शासनदेवता की पूजा 'करे तो करे' ऐसे के निर्देश मात्र से कहा तो उन्होने श्रावक के लिए उस का उपदेश दिया यह कहना तो ठीक नही है। यदि कोई साधारण नामजैन, स्थापना जैन करे तो करे। उसे मोक्षमार्ग या धर्ममार्ग तो नही माना जा सकता। हां इतने मात्र से उसे व्यवहार मे अजैन या मिथ्यादृष्टि शब्द द्वारा भी तिरस्कृत करना भी लौकिक व्यवहार से उचित नही है। इतना ही पं. आशाधरजी का अभिप्राय है। यह उनकी एक सामाजिक दृष्टि रही है।

और एक बात खास तौर से ध्यान देने लायक है। असयमी को इन असयमियों की वदना करनी चाहिए ऐसा कपोलकल्पित अर्थ भी उस पर से फलित करना ठीक नही। इस आशय से तो स्पष्टतया गृहीत मिथ्यात्व का ही पोषण होगा।

पूजनीयता का आधार संयम ही है

इस टीका पर दृष्टिपात करने से एक महत्वपूर्ण सिद्धात स्पष्ट होता है। वह है–" वंदना पूजा के अधिकारी-याने पूज्य-तो सयमी ही हो सकते है। असंयमी बिलकुल नहीं। अर्थात पूज्यता संयम से आती है।

न कि सम्यक्त्व मात्र से" सम्यक्त्व से यदि पूजनीयता मानी जायगी, तो जो देव नियम से सम्यग्दृष्टि है, वे पूज्य ठहरेंगे। '**असंजदो ण वंदिज्जो**' असयमी वदनीय नहीं है। इस आ कुन्दकुद के वचन से जो तथ्य हृदयगम होता है, वह ही तत्त्व तो प. आशाधरजी ने स्पष्टतया सामने रखा है। इस का ही स्पष्ट दिग्दर्शन पं. टोडरमलजी ने 'मोक्षमार्गप्रकाश' के छट्टे अध्याय मे गृहीत मिथ्यात्व के निरूपण में किया है।

निष्कर्ष

उक्त समस्त विवेचन से तो प. आशाधरजी ने प्राचीन आचार्यो का अनुसधान न छोडते हुए जो सुसंवाद स्थापित किया वह उन के तत्त्वनिष्ठ प्रामाणिक दृष्टि का ही गमक है। उन्हों ने दार्शनिक श्रावक का स्वरूप बतलाया है, उसका 'रत्नकरडश्रावकाचार' से ठीक मेल बैठना है। उस का जो लक्षण स्वामी समतभद्र ने लिखा है और सम्यग्दर्शन का महात्म्य प्रथम अध्याय मे कहा है उस का ही अनुसरण प आशाधरजी ने किया है। यह उन के पाडित्य का तत्त्वनिष्ठ वास्तव रूप है।

प. आशाधरजी स्वय भट्टारक युग के व सार्थी आम्नाय के होने पर भी उन्होंने तत्त्व मे हेरफेर या तोडमरोड नहीं की। उन की तत्त्वनिष्ठा प्रखर थी। इस लिए उन्होंने भट्टारकों को भी उन का उचित स्थान दिखा कर उन की अहमन्यता का दभ का, स्फोट किया।[1] प जी का आगम का अध्ययन तलस्पर्शी तत्त्वस्पर्शी और

......................बहिस्ता श्रिता.।

१. अन्य समस्त मिथ्यादृष्टियो के साथ ससर्ग का निषेध अनगारधर्मामृत के २ रे अध्याय के ९६ श्लोक द्वारा करते हुए वे भ्रष्ट मठपतियो के साथ सहवास का निषेध करते है। उन के शब्द मे ही पढिए।

लोक भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे।
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचय पुदेहमोहैस्त्यज ॥ ९६ ॥

टीका—**अन्ये** पुनर्द्रव्यजिनलिगधारिणो मुनिमानिनो **वशिनो** जितेन्द्रिया **सन्तस्तां** तथाभूतामार्हती मुद्रा **बहि** शरीरे मनसि च **श्रिता**: प्रपन्नाः **आविशान्ति** सकामन्ति विचेष्टयतीत्यर्थ। कम् ?लोक धर्मकाम जनम्। किंवत् ? **भूतवद्** ग्रहैस्तुल्यम्। **अपरे** पुनर्द्रव्यजिनलिगधारिणो मठपतयो **म्लेच्छन्ति** म्लेच्छा इव आचरन्ति। लोकशास्त्रविरुद्धमाचार चरन्तीत्यर्थः। कया ? **तच्छायया** आर्हतगत प्रतिरूपेण। तथा च पठन्ति
पडितैर्भ्रष्टचारित्रर्वठरैश्च तपोधनैः। शासनजिनचद्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ॥

भो सम्यक्त्वाराधक! **त्यज** मुञ्च त्व। क ? **त्रिधा परिचयं** मनसानुमोदन, वाचा कीर्तन, कायेन ससर्ग च। कैः सह ? **तकैः** कुत्सितैर्स्तैस्त्रिभिरतर्यै किंविशिष्टै ? **पुदेहमोहैः** पुरुषाकारमिथ्यात्वै.। तदुक्त—

अर्थ— (बाह्यत. समीचीन जिनमुद्रा छोडकर जो अहमन्य विपरीत मुद्रा धारण करते है, उन का प्रथमतः निर्देश करते हुए वे कहते है—

टीकार्थ-दूसरे द्रव्यजिनलिंगधारी अपने को मुनि माननेवाले अजितेन्द्रिय होते हुए बाह्यतः उस जिनमुद्रा को मात्र शरीर मे धारण करते है, मन मे नहीं, वे भी धर्म के आराधकों को भुलावे मे डालते है ग्रहभूत के समान। उसी प्रकार पुनः द्रव्यजिनलिंगधारी मठपती म्लेच्छ के समान लोक और शास्त्रविरुद्ध आचार आचरण करते हैं। और वह भी आर्हत का प्रतिरूप धारण कर के। कहा भी है—

"चारित्रभ्रष्ट पडितो द्वारा तथा वठर तपोधन द्वारा जिनचद्र का निर्मल शासन मलिन किया गया है।"

हे सम्यक्त्वाराधक! तू मनवचन काय से-मनद्वारा अनुमोदन, वाणी से कीर्तन और देह से ससर्ग-ऐसे तीन प्रकार से उन हीन आचारवाले तीनों से ही-जो 'मनुष्यरूप मे साक्षात् मोह है-ससर्ग को छोड!

मूलग्राही था। उन के व्यापक सामाजिक दृष्टिकोण को अपनाने से विवेकपूर्ण रास्ता सामाजिक संगठन के लिए मिल सकता है। चाहे कोई पूजा बीसपंथी पद्धति से करे, चाहे तेरापंथी आम्नाय से। वह जिसकी उसकी श्रद्धा है। किसी को अपना आग्रह दूसरों के ऊपर नही थोपना चाहिए। आग्रह से तो समाज मे व्यर्थ अनिष्ठ, तनाव का वातावरण बनता है। इस का आग्रह छोडकर भी समाज को एक सूत्र मे बांधनेवाले जैनधर्म के अनेक सिद्धांत हैं। उसका अवलंब लेकर विवेकपूर्ण मार्ग सहज संभव है।

इस प्रकार पंडितप्रवर आशाधरजी की शासनदेवतादिकों के पूजन के प्रश्न पर क्या भूमिका रही है इसका प्रामाणिक अन्वेषण करना इतना ही इस लेख का प्रयोजन है। आशा है सातसौ साल पूर्व के पं. आशाधरजी के विचारों का यथार्थ मूल्यांकन होगा और उनके प्रकाण्ड पांडित्य का यथोचित सन्मान भी होगा।

आगमेतर जैन साहित्य के प्रमुख ग्रन्थ-रत्न

—इतिहासमनीषी स्व. डॉ ज्योति प्रसाद जैन,
विद्यावारिधि

परम्परा विशेष का साहित्य उस की सम्कृति को प्रतिबिम्बित करता है। उस संस्कृति की आत्मा, प्रकृति एवं स्वरूप, तथा वह कितनी प्रौढ, उन्नत, विकसित एवं व्यापक प्रभावशाली रहती आयी है, इस सब का सम्यक् परिचय उसके साहित्य के अवलोकन–अध्ययन से सहज ही किया जा सकता है। जितना ही अधिक कालव्यापी, क्षेत्रव्यापी, विविध, विशाल और भव्य वह साहित्य होता है, उतना ही अधिक काल–क्षेत्रव्यापी, विकसित, भव्य एव उन्नत वह साम्कृतिक परपरा होती है। जब ज्ञात एव उपलब्ध जैन साहित्य की परख इस कसौटी पर की जाती है तो वह जैन संस्कृति की सर्वांगपूर्णता, सर्वतोमुखी समृद्धि एव महत्त्वपूर्ण स्थिति का भान सहज ही करा देता है। वस्तुत: जैन साहित्य के जैनेतर भारतीय एव पाश्चात्य अध्येताओ तथा अन्वेषको ने जितना और जो कुछ जैन साहित्य उनके परिचय मे आ पाया उसके आधार पर भी उसका जो मूल्यांकन किया है। उससे जैन परम्परा के अनुयायी स्वय को गौरवान्वित अनुभव कर सकते हैं। साथ ही उक्त मूल्यांकन से अखिल भारतीय साहित्य मे ही नही, विश्व–साहित्य में भी जैन साहित्य का प्रशसनीय स्थान निर्दिष्ट हो जाता है।

जितना जैन साहित्य अद्यावधि रचा जा चुका है, वह सब का सब आज ज्ञात भी नही है। जितना ज्ञात है, वह भी सब उपलब्ध नही हैं, और जितना उपलब्ध है वह भी पूरा प्रकाशित नही है। तथापि जितना कुछ ज्ञात उपलब्ध एवं प्रकाशित है, वह भी विषयवस्तु, भाषा, विधा, शैली, रचयिता, रचनास्थल, रचनाकाल आदि विभिन्न दृष्टियो से अत्यन्त वैविध्यपूर्ण, विपुल एव व्यापक महत्त्व का है। इस के साथ ही, अपनी स्वतत्र सत्ता एवं प्रकृति को, अपनी विशिष्टताओ को अक्षुण्ण बनाये रखते हुये भी वह अखिल भारतीय साहित्य का अभिन्न एव बहुमूल्य अंग रहता आया है।

जैन साहित्य का मूलस्रोत ऋषभादि-महावीर पर्यन्त चौबीस–सर्वज्ञ वीतराग–हितोपदेशी तीर्थंकर भगवानों का दिव्य उपदेश है, ऐसी जैन मान्यता है। इन आर्हत, श्रमण अथवा निर्ग्रंथ तीर्थंकरो या जिन–भगवानों

में से प्रत्येक ने अपने-अपने समय में 'सर्वसत्त्वाना हिताय, सर्वसत्त्वाना सुखाय" वस्तु-तत्व का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए सन्मार्ग का उपदेश दिया था, और इस प्रकार अपने-अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था। अपने-अपने धर्मतीर्थ की स्थापना की थी। इसी परंपरा मे, शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से अंतिम तीर्थंकर श्रमणोत्तम भगवान वर्द्धमान महावीर (५९९-५२७ ईसापूर्व) की दिव्यध्वनि से प्रसूत ज्ञानामृत को उनके इन्द्रभूति-गौतम, सुधर्मादि गणधर भगवानो ने द्वादशागश्रुत के रूप में उपसंहरित, सकलित एव गुंफित किया था, किन्तु वह ज्ञान पुस्तकारूढ या लिपिबद्ध नही किया गया था। अतएव समय के साथ-साथ उस में ह्रास एवं व्युच्छित्ति होती चली गई, पाठ भेद तथा मतभेद भी बढते चले गए। विशेषकर, अंतिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु के समय मे (ई पू ४ थी शती के मध्य के लगभग उत्तरभारत के मगध आदि प्रदेशो मे द्वादश-वर्षीय भयकर दुष्काल पडने के कारण जैन साधुसंघ का एक बडा भाग दक्षिणा-पथ के कर्नाटक आदि प्रदेशों की ओर विहार कर गया। संघ के जो साधु उत्तरा-पथ में रह गये थे वे भी इतस्तत. बिखर गये और उन मे से अधिकतर शनै शनै. मध्यभारत होते हुए सौराष्ट्र-गुजरात की ओर फैल गये। दोनो धाराएँ एक दूसरे से पृथक होती चली गईं, उनमे परम्परागत आगमज्ञान को लेकर भी मतभेद बढते चले गये और अन्तत प्रथम शताब्दी ईस्वी के अन्तिम पाद में अविभक्त जैन संघ दिगम्बर और श्वेताम्बर नामक दो पथो या सप्रदायो मे विभाजित हो गया।

ऐसी स्थिति मे दाक्षिणात्य अर्थात दिगम्बर शाखा के अंतिम श्रुतधरों ने स्वयं को मौखिकद्वार से परम्परया प्राप्त अंग-पूर्वो के अवशिष्ट श्रुतागम को उपसहरित कर के पुस्तकारूढ करने का निर्णय लिया। फलस्वरूप, गुणधराचार्य एव उनके आर्यमखु नागहस्ति आदि शिष्यो को पेज्जदोस पाहुड (कसाय पाहुड या कषायप्राभृत) और धरसेनाचार्य तथा उनके सुशिष्यो पुष्पदन्त एव भूतबलि को महाकम्मपयडि पाहुड (महा-कर्मप्रकृति प्राभृत) अपरनाम षट्खण्डागम-सिद्धात के उद्धार एव पुस्तकीकरण का श्रेय है। तदनन्तर इन आगमद्वय पर अनेक टीकायें रची गईं, जिनमें से अंतिम, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, उपलब्ध एव अब प्रकाशित भी, श्री धवल, जयधवल और महाधवल नाम्नी अति विस्तृत एव विशालकाय टीकाएँ आठवी शती ई के उत्तरार्ध मे स्वामी वीरसेन द्वारा रचित है। षट्खण्डागम के प्रथम पाच खण्डों पर ७२००० श्लोकप्रमाण "श्रीधवल" टीका वीरसेनस्वामी ने ७८१ ई. मे पूर्ण की थी। छटे खण्ड "महाबन्ध" (४०००० श्लोकप्रमाण) का सम्पादन आदि किया था, वही "महाधवल" कहलाता है। कषाय प्राभृत की टीका जयधवल (६०००० श्लोक प्रमाण) है। जिसका लगभग दो-तिहाई भाग वीरसेनद्वारा रचित है, शेष को उन के सुशिष्य जिनसेन स्वामि ने रचकर ८३७ ई. मे पूर्ण किया था। इन ग्रन्थराजो की विषयवस्तु के सम्यक परिचय के लिये सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित जैन साहित्य का इतिहास-प्रथम भाग (वाराणसी, १९७५) तथा प बालचन्द्रजी शास्त्री कृत षट्खण्डागम-परिशीलन (भा. ज्ञा. पीठ दिल्ली, १९८७) द्रष्टव्य है।

श्वेताम्बर शाखा के साधु भी इस दिशा मे सचेष्ट रहे और उन्होंने एतदर्थ पूर्वोक्त दुर्भिक्ष के उपरान्त पाटलीपुत्र मे, तदनन्तर प्रथम शती ई मे मथुरा एवं वलभी मे, इस प्रकार आगमो की तीन वाचनाएँ की, किन्तु इन मे से किसी भी पाठ-भेदो एवं मतभेदो के कारण आगमों का पुस्तकीकरण न हो सका। अन्ततः ४५३ या ४६६ ई. में, वलभी की दूसरी वांचना के उपरान्त, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा उक्त परम्परा मे प्राप्त अवशिष्ट आगमो का सकलन एवं पुस्तकीकरण निष्पन्न हुआ, जो ११ अंग, १२ उपाग, १० पयन्ना, ७ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र तथा २ अन्य स्वतंत्र सूत्र मिलाकर कुल ४५ रहे बताये जाते हैं। तदुपरान्त निर्युक्ति, चूर्णी, भाष्य, टीका, वृत्ति, अवचूरि आदि विविध आगमिक टीकाओ का दौर द्रुतवेग से चला और मध्यकाल के प्राय अन्तपर्यन्त चलता रहा।

उभय संप्रदायों के उपरोक्त मूल आगम ग्रंथों तथा उन पर रचित विपुल टीका साहित्य के अतिरिक्त भी जैन मनीषियों द्वारा अनगिनत स्वतंत्र ग्रंथ विभिन्न विषयो, भाषाओं और शैलियों में रचे गये। इसमें संदेह नहीं है कि उन में से अधिकतर द्वादशागश्रुत पर अथवा उससे प्रसूत ज्ञान पर आधारित होने के कारण प्रामाणिक मान्य किये गये। इस आगमेतर साहित्य मे धार्मिक ही नहीं, लौकिक ज्ञान-विज्ञान सम्बधी भी अनेक रचनाएँ हैं। उन महामना साहित्यकारो ने जैन भारती के प्राय. सभी अंगो का प्रभूत पोषण किया। यहाँ उक्त आगमेतर जैन साहित्य के विषयानुसार प्रमुख ग्रंथ रत्नो का ही उल्लेख करना अभीष्ट है।

अध्यात्म–जैन अध्यात्म के सर्वोपरि एव समर्थ प्रस्तोता प्रथम शती ई. के पूर्वार्ध में हुये श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य है। उन्हो ने प्राकृत भाषा में ८४ पाहुड (प्राभृत) ग्रथ रचे बताये जाते है। किन्तु अब उनके समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकायसार, नियमसार, अन्य अष्टपाहुड, बारसअणुवेक्खा और दशभक्ति ही उपलब्ध एवं प्रकाशित है। इन आचार्य की रचनाओ मे मुख्यतया शुद्ध निश्चयनय की कथनी है–शुद्धआत्मद्रव्य का स्वरूप-विवेचन है और उसी की प्राप्ति, उपलब्धि, ध्यान एवं अनुभूति पर पूरा बल दिया गया है। विशेषतया उन का "समयसार" तो जैन अध्यात्म का मूलस्रोत मान्य किया जाता है। और यह ग्रंथराज न केवल विभिन्न जैन संप्रदायो के अध्यात्म-रसिको मे सर्वाधिक लोकप्रिय रहता आया है, वरन् अनेक जैनेतर मनीषो भी उसका चाव से अध्ययन–मनन करते रहे है। स्वामिकुमार विरचित प्राकृत 'अणुवेक्खा' (कार्तिकेयानुप्रेक्षा) भी प्रायः उसी काल की कृति है और वैराग्योत्पादक अध्यात्मिक रचनाओं मे विशिष्ट स्थान रखती है। ५ वी शती ई में रचित देवनंदि पूज्यपाद का समाधितन्त्र (सस्कृत), छठी शती के जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण का प्रा झाणाज्झयण, ७ वी शती के जोइन्दुदेव विरचित अपभ्रंश परमात्मप्रकाश एव योगसार, ८ वी शती के हरिभद्रसूरि विरचित योगबिन्दु एव योगदृष्टिसमुच्चय ९ वी शती के अमितगति प्र का योगसारप्राभृत, १० वी शती के अमृतचंद्राचार्य द्वारा विरचित कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रथों की सस्कृत टीकाएँ, विशेषकर उन का समयसार–कलश, सोमदेवसूरि की अध्यात्मतरंगिणी एव स्याद्वादोपनिषद, ११ वी शती के अमितगति दि की योगसारतत्त्व–प्रदीपिका, रामसिंह मुनि का अपभ्रंश दोहापाहुड एवं सुप्रभाचार्य का सुप्रभदोहा, पद्मनन्दि योगीन्द्र कृत पद्मनन्दि-पर्चविंशतिका एव अनित्यपचाशत, शुभचन्द्र योगि विरचित ज्ञानार्णव तथा रामसेन मुनि कृत तत्त्वानुशासन और १२ वी शती में हेमचन्द्राचार्य विरचित योगशास्त्र अध्यात्मविषयक सुप्रसिद्ध जैन ग्रंथ-रत्न हैं।

तात्त्विक–जैन तत्त्वज्ञान के विषय पर सर्वोपरि रचना आचार्य उमास्वामि वाचक कृत तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र अपरनाम मोक्षशास्त्र अथवा तत्त्वार्थसूत्र हैं। सस्कृत सूत्रो की इस अद्वितीय दशाध्यायी का जैन परम्परा के सभी संप्रदायो मे वैसा ही मान है जैसा कि बौद्ध परम्परा मे विशुद्धिमग्ग का। इस ग्रंथराज पर उभय संप्रदायो के दिग्गज आचार्यों ने अनेक टीकाग्रथ रचे हैं, जिन में से उल्लेखनीय हैं–देवनन्दिपूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थराजवार्तिक (७ वी शती), सिद्धसेनगणि कृत भाष्य (८ वी शती), हरिभद्रसूरि कृत वृत्ति, विद्यानंद स्वामि कृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अमृतचन्द्राचार्य विरचित तत्त्वार्थसार, और भट्टारक श्रुतसागर रचित श्रुतसागरी टीका।

इसी विषय से प्रायः सम्बंधित नेमिचन्द्र मुनि (११ वी शती) विरचित बृहत् द्रव्यसंग्रह भी एक लोकप्रिय ग्रंथ रहता आया हैं, जिस मे षड्द्रव्यो का स्वरूप विवेचन है।

कर्मसिद्धान्त–करणानुयोग अथवा गणितानुयोग के अन्तर्गत जैन कर्मसिद्धान्त विषयकसर्वप्रसिद्ध ग्रथरत्न है। १० वीं शती ई में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती विरचित प्राकृत ग्रथ गोम्मटसार–जीवकाण्ड एव गोम्मटसार–कर्मकाण्ड प्रथम में जीवस्थान, गुणस्थान, मार्गणाओ आदि के माध्यम से जीव की शोध की गई है, और

द्वितीय में कर्मसिद्धान्त का सांगोपांग विश्लेषण है। अमितगति का संस्कृत 'पंचसंग्रह' भी कर्मग्रंथ है। नेमिचन्द्रीय लब्धिसार एक प्रकार से गोम्मटसार का पूरक है।

लोकस्वरूप-जैन परम्परानुमोदित खगोल-भूगोलविषयक ग्रंथों में यतिवृषभाचार्य (२ री शती) कृत तिलोय पण्णत्ति, सर्वनन्दि (५ वी शती) का लोक-विभाग, पद्मनन्दि (७ वी शती) का जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-संग्रह और नेमिचन्द्र सि. च. (१० वी शती) का त्रिलोकसार उल्लेखनीय है। ये सब ग्रंथ प्राकृत में है।

दर्शन-न्याय-प्रमाणशास्त्र-जैन दार्शनिक ग्रंथों में सर्वप्रथम स्वामि समन्तभद्र (२ री शती ई) विरचित आप्तमीमांसा अपरनाम देवागमस्तोत्र तथा युक्त्यनुशासन के नाम आते है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर कृत सन्मतितर्क या सन्मति प्रकरण भी अद्वितीय दार्शनिक रचना है। तदनन्तर पात्रकेसरि का त्रिलक्षणकदर्शन, मल्लवादी का द्वादशार नयचक्र अकलंकदेव कृत न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय, प्रमाणसंग्रह तथा अष्टशती (आप्तमीमांसा की टीका), सिद्धसेनाचार्य कृत न्यायावतार, हरिभद्रसूरि कृत अनेकान्त-जयपताका एवं न्यायप्रवेश, अनन्तकीर्ति कृत प्रामाण्यभंग एव बृहत्सर्वज्ञसिद्धि, विद्यानंद कृत आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, नयविवरणम् एव अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा की टीका), माइल्लधवल कृत द्रव्य स्वभाव प्रकाश-नयचक्र, माणिक्यनंदि (१० वी शती) का परीक्षामुखसूत्र, ११ वी शती मे वादिराज के न्यायविनिश्चय-विवरण, प्रमाण-निर्णय एव वादमंजरी, प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र एव प्रमेय-कमलमार्तंड, वादीभसिंह की स्याद्वादसिद्धि, देवसेन की आलापपद्धति, १२ वी शती के हेमचन्द्राचार्य कृत प्रमाणमीमांसा, वादानुशासन एव अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वादिदेवसूरि कृत प्रमाणनयतत्वलोक अपरनाम स्याद्वाद-रत्नाकर, विमलदासकृत सप्तभंगीतरंगिणी, मल्लिषेण कृत स्याद्वादमंजरी, धर्मभूषण (१४ वी शती) कृत न्यायदीपिका, और यशोविजय उपाध्याय (१७ वी शती) विरचित न्यायालोक एव जैन तर्कभाषा सुप्रसिद्ध ग्रंथरत्न हैं। इन जैन दार्शनिकों एव नैयायिको ने अपने-अपने समय के ब्राम्हण तथा बौद्ध नैयायिकों से जमकर लोहा लिया था, और फलस्वरूप जैन न्याय-दर्शन को भारतीय न्यायशास्त्र के इतिहास में अति प्रतिष्ठित एवं स्वतंत्र स्थान प्राप्त कराया।

चरणानुयोगिक साहित्य मुनिचर्या तथा श्रावकाचार के भेद से दो प्रकार का है। साधुचर्या या मुनिधर्म-विषयक ग्रंथो मे प्रथमशती ई के वट्टकेराचार्य कृत मूलाचार तथा शिवार्य कृत मूलाराधना अपरनाम भगवती आराधना और १३ वी शती के प. आशाधर कृत अनगार धर्मामृत प्रमुख है। श्रावकाचारों में स्वामि समन्तभद्र-कृत रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, हरिभद्रसूरिकृत सावय-पण्णत्ति, अमृतचन्द्राचार्यकृत पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय, सोमदेव का उपासकाध्ययन, १२ वी शती का वसुनंदि-श्रावकाचार और प. आशाधर रचित सागार-धर्मामृत प्रमुख है। इन ग्रन्थो मे जैन साधु-साध्वियो और श्रावक-श्राविकाओ के धर्माचरण संबंधी यम-नियमों तथा करणीय-अकरणीय का निरूपण हुआ है।

नीति-उपदेश-विषयक साहित्य में एलाचार्य कुन्दकुन्द के सुशिष्य तिरुवल्लुवर (प्रथम शती ई) विरचित तमिल भाषा का विश्वप्रसिद्ध नीति-काव्य "तिरु-कुरल", पूज्यपाद देवनन्दि का "इष्टोपदेश", हरिभद्रसूरि का उपदेशपद, अमोघवर्ष नृपतुंग विरचित प्रश्नोत्तर रत्नमालिका, गुणभद्राचार्य कृत आत्मानुशासन, अमितगति का सुभाषितरत्न-संदोह, जयसेन का धर्मरत्नाकर, और सोमप्रभसूरि के सिंदूरप्रकर एव सूक्ति-मुक्तावलि उल्लेखनीय ग्रन्थरत्न है।

पुराणशास्त्र—जैन पुराणो का मुख्य प्रतिपाद्य विषय २४ तीर्थंकरो, १२ चक्रवर्तियों, ९ बलभद्रों, ९ नारायणो और ९ प्रतिनारायणो, ऐसे त्रेसठ शलाका पुरुषो का चरित्र वर्णन है। इन मे विमलसूरि (१ ली

शती ई.) का प्राकृत पउमचरिउ, संघदासगणि (६ ठी शती ई.) की प्रा. वसुदेवहिंडि, रविषेण का सं. पद्मपुराण (६७६ ई.) जिनसेनसूरि पुन्नाट का सं हरिवंशपुराण (७८३ ई), महाकवि स्वयंभू की अपभ्रंश रामायण, एवं हरिवंश, जिनसेनस्वामि एव गुणभद्राचार्य का स. महापुराण (आदिपुराण-सह-उत्तरपुराण) (९वी शती) १० वी शती में आदिपंप का कन्नड आदिपुराण एव पप-भारत, पुष्पदन्त की अपभ्रंश महापुराण एवं चामुण्डराय की कन्नड महापुराण, १२ वीं शती में हेमचद्राचार्य विरचित त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, तामिल भाषा का श्रीपुराण, और शुभचंद्र (१६ वी शती) कृत पांडवपुराण प्रमुख है। अन्य अनेक विद्वानो ने महापुराण की रचना की है। अनेक तीर्थंकरों तथा अन्य कई शलाकापुरुषो के कई-कई स्वतंत्र पौराणिक-चरित्र भी रचे गए।

वस्तुत: पौराणिक चरित्रो अथवा पौराणिक काव्यो की संख्या सैकडो में हैं किन्तु उन मे से ७ वी शती के जटासिंहनंदि का वरागचरित, ९ वी शती के असग के महावीरचरित एवं शान्तिनाथचरित, १० वी शती में तिरुतक्कदेव कृत तामिल जीवक-चिन्तामणि, वीरनन्दि विचरित सं. चन्द्रप्रभचरित, महसेन-कृत प्रद्युम्नचरित, एव सोमदेवसूरि रचित यशस्तिलक-चम्पु, ११ वी शती के वादिराज द्वारा रचित पार्श्वचरित् एव यशोधरचरित्र, वादीभसिंहसूरि द्वारा रचित गद्यचिन्तामणि एव क्षत्रचूडामणि, तथा कवि हरिचन्द विरचित धर्मशर्माभ्युदय एव जीवधरचम्पु, अत्युत्कृष्ठ रचनाएँ है।

ललितकाव्यो मे धनंजय का द्विसधानकाव्य, जिनसेनस्वामि का पाश्र्वाभ्युदय, वाग्भट का नेमिनिर्वाण-काव्य, और हेमचन्द्रसूरि रचित द्वयाश्रयकाव्य अत्यंत श्रेष्ठ रचनाएँ हैं। कन्नड एव तामिल भाषाओं के कई जैन काव्य भी अप्रतिम हैं।

नाटक साहित्य मे रामचन्द्रसूरि, हस्तिमल्ल और जयसिंहसूरि संस्कृत भाषा के प्रसिद्ध जैन नाट्यकार है।

व्यंग्य एव रूपकों में हरिभद्रसूरि का धूर्ताख्यान, सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचकथा और अमितगति की धर्मपरीक्षा जैनेतर भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानो द्वारा भी प्रशसित हुई है।

विविध प्रकार के सहस्त्रो आख्यानो, आख्यायिकाओ, आदि से पूरित जैन कथा-साहित्य भी अति विशाल है। प्रो. जोहेन्स हर्टल प्रभृति प्राच्यविदो ने जिन्होने भारतीय कथा साहित्य का तुलनात्मक गंभीर अध्ययन किया है, जैन लेखको को भारतवर्ष के श्रेष्ठ एव प्रमुख कलाकार घोषित किया है। आधुनिक उपन्यासो जैसी एकाकी बडी कथाओ मे पादलिप्तसूरि (३ री शती) की तरगवइ, जटासिंहनदि का वरांगचरित, हरिभद्रसूरि कृत समराइच्चकहा, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला, धनपाल की तिलकमजरी, नरसेन की सिरिपाल-मैनासुंदरीकहा, महेश्वरसूरि की संयममंजरी, धनपाल धक्कड कृत भविसयत्तकहा आदि सुप्रसिद्ध है।

कथाकोशों में हरिषेण (१० वी शती) का बृहत्कथाकोश, प्रभाचंद्र (११ वी शती) का आराधनासत्कथा प्रबन्ध, रामचद्रमुमुक्षु (१२ वी शती) का पुण्यास्रवकथाकोश, श्रीचंद्र और ब्रह्मनेमिदत्त के आराधना कथाकोश, भद्रेश्वर की कथावली और नागदेव (जिनदेव) की सम्यक्त्वकौमुदी प्रमुख है। अन्य अनेक कथा-संग्रह या कोष है, जिन में सहस्रों कथाएं प्राप्त होती हैं। पचतन्त्र, सिंहासनबत्तीसी, शुकसप्तति जैसे लोकविश्रुत कथाग्रथो के प्राचीनतम उपलब्ध संस्करण भी जैनो के ही मिले हैं।

स्तोत्र संपदा—अनगिनत ललित एवं भक्तिपरक स्तवन-स्तोत्रादि जिन-भक्तो द्वारा रचे गये जिन में समन्तभद्र के स्वयंभूस्तोत्र एवं स्तुतिविद्या, देवनन्दि का सिद्धिप्रियस्तोत्र, सिद्धसेन की महावीर-द्वात्रिंशिका, मानतुंग का भक्तामर, धनंजय का विषापहार, भूपाल का जिनचतुर्विंशतिस्तोत्र, अमितगति की भावनाद्वात्रिंशिका,

वादिराज का एकीभाव, कुमुदचंद्र का कल्याणमन्दिर, हेमचन्द्र के वीतराग एवं महावीर स्तोत्र, सर्वाधिक लोकप्रिय रहते आये हैं। शक्रस्तव, जयतिहुअण और जिनसेनीय श्री जिनसहस्रनामस्तोत्र भी महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं।

मन्त्रशास्त्र—यतः तन्त्राचार जैनधर्म की प्रकृति के प्रतिकूल है, उस में तान्त्रिक क्रियाओ या प्रथाओ का प्रचलन तो कभी नही हुआ, किंतु मन्त्रशास्त्र का पर्याप्त विकास हुआ है और अनेक मंत्र, कल्प आदि रचे गए।

पूजा–प्रतिष्ठा साहित्य—दोनो ही सम्प्रदायो में मूर्तिपूजक अर्थात् मन्दिरमार्गियो की संख्या सदैव अधिक रही है, अतएव जिनबिम्ब (प्रतिमा), वेदी, मन्दिर आदि की विधिवत् प्राणप्रतिष्ठा के हेतु अनेक प्रतिष्ठा-पाठ रचे गये। साथ ही, देवपूजा के निमित्त अनगिनत पूजापाठो एव विधानों की रचना हुई। जिनभक्तिमूलक क्रियाकाण्ड परक यह साहित्य भी विपुल है।

इतिहास—ऐतिहासिक महत्त्व के साहित्य में सर्वाधिक उल्लेखनीय है हेमचन्द्राचार्य कृत "परिशिष्टपर्व" (१२ वी शती), १३ वी शती के जयसिंहसूरि कृत वस्तुपाल–प्रशस्तिकाव्य, महेश्वरसूरिकृत कालकाचार्य-कथानक, प्रभाचद्रसूरि का प्रभावकचरित्र, १४ वी शती के जिनप्रभसूरि का कल्पप्रदीप (विविधतीर्थ कल्प), मेरुतुग का प्रबन्ध–चिंतामणि, सोमतिलक का कुमारपाल–प्रबन्ध, राजशेखर का प्रबन्धकोश, बनारसीदास (१७ वी शती) कृत अर्धकथानक, और देवचन्द्र (१९ वी शती) कृत कन्नड राजावलिक है।

राजनीति शास्त्र-मे सोमदेवसूरि (१० वी शती) कृत नीतिवाक्यामृत और हेमचन्द्राचार्य (१२ वी शती) की अर्हन्नीति प्रमुख हैं।

लौकिक ज्ञान–विज्ञान–इस क्षेत्र के अन्तर्गत शब्दकोशो में अमरकोश के अतिरिक्त धनजय (७ वी शती) की नाममाला, धनपाल (१० वी शती) की पाइयलच्छीनाममाला और हेमचन्द्राचार्य (१२ वी शती) के देशी-नाममाला एवं अभिधान–चिन्तामणि सुप्रसिद्ध है।

व्याकरण मे शर्ववर्म (४ थी शती) कृत कातन्त्र, देवनन्दि पूज्यपाद (५ वी शती) कृत जैनेन्द्र व्याकरण शाकटायण पाल्यकीर्ति (९ वी शती) का अमोघवृत्तिसह–शब्दानुशासन, और हेमचन्द्राचार्य (१२ वी शती) कृत सिद्धहैमशब्दानुशासन प्रमुख है।

काव्यशास्त्र में वाग्भट का काव्यानुशासन और छन्दशास्त्र में स्वयंभू छन्द (८ वीं शती), जयकीर्ति (११ वी शती) का छन्दोनुशासन, नागवर्म का कन्नड छन्दाम्बुधि, हेमचन्द्राचार्य और वाग्भट के छन्दोनुशासन श्रेष्ठ रचनाएँ हैं।

अलंकारशास्त्र मे वाग्भट का वाग्भटालकार (१२ वी शती), हेमचन्द्राचार्य कृत अलंकार चूडामणि, अजितसेन (१३ वीं शती) का अलंकार–चिन्तामणि और विजयवर्णी की श्रृंगारार्णवचन्द्रिका उत्तम है। नाट्यशास्त्र में रामचन्द्रसूरि (१२ वीं शती) कृत नाटचदर्पण अच्छा ग्रंथ है।

संगीतशास्त्र में पार्श्वदेव (१३ वी शती) का संगीत–समयसार और सुधाकलश (१४ वी शती) के संगीतोपनिषद एवं सगीतसार श्रेष्ठ कृतियाँ है।

आयुर्वेद में उग्रादित्याचार्य (९ वीं शती) का कल्याणकारक तथा गणितशास्त्र में महावीराचार्य (९ वीं शती) कृत गणितसार सग्रह सर्वोपरि ग्रथ है। ज्योतिषशास्त्र मे श्रीधराचार्य का जातकतिलक, दुर्गदेव का अरिष्टसमुच्चय और भट्टवोसरि का आयज्ञानतिलक प्रसिद्ध हैं। सिंहदेव (१३ वी शती) का मृग–पक्षिशास्त्र प्राणिविज्ञान पर अच्छा ग्रन्थ है। पदार्थविज्ञान में ठक्करफेरू (१४ वी शती) के द्रव्यपरीक्षा, रत्नपरीक्षा, तथा धातुत्पत्ति उत्तम रचनाएँ है। इन्ही का एक वास्तुसार भी स्थापत्यशिल्प विषयक अच्छी रचना है।

इस प्रकार जैन साहित्यकारों की रचनाएँ विविध विषयक, गद्य एवं पद्य दोनों रूपों में, काव्य, चम्पु, नाटक, आख्यान, वर्णनात्मक, विवेचनात्मक, आदि विभिन्न शैलियों में, तथा प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तामिल, तेलगु, कन्नड हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी आदि विभिन्न भाषाओ में उपलब्ध हैं। और संख्या एवं गुणवत्ता की दृष्टि से जैनेतर परम्पराओ के भारतीय साहित्य की तुलना में तनिक भी घटकर नही है। एक बात और है कि अधुनाज्ञात एव उपलब्ध प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य का अधिकांश जैन कृत है। तामिल भाषा के प्राचीन सगम साहित्य का बहुभाग तथा कई उत्तरवर्ती उत्तम रचनाएँ भी जैनो द्वारा ही रचित है। कन्नड साहित्य का तो प्रारभ से लेकर १५ वी–१७ वी शती ई. पर्यन्त का बहुभाग एवं सर्वोत्तम अंश जैनो द्वारा प्रणीत है।

प्रस्तुत निबन्ध में जिन रचनाओं का उल्लेख किया गया है, वे अपनी–अपनी विधा एवं विषयवस्तु के श्रेष्ठतम उदाहरण है। वे प्राय सब ही प्रकाशित भी हो चुके है। इन में से अधिकतर ऐसे हैं, जिन पर आधुनिक युग मे विशेष अध्ययन और शोध–खोजपूर्ण प्रस्तावनाएँ या शोध प्रबन्ध भी लिखे जा चुके हैं या लिखे जा रहे हैं। इन के अतिरिक्त भी जैन भारती में सहस्रो रचनाएँ हैं। पीटरसन एवं भंडारकर आदि की रिपोर्ट जिनरत्नकोश (वेलकर कृत) तथा विभिन्न जैन ग्रंथ भंडारो की जो सूचियाँ प्रकाशित हो चुकी है, उस से उन की संख्या का अनुमान किया जा सकता है। अनेक जैन शास्त्र भंडारो की तो सूचियाँ भी अभी तक बनी या प्रकाशित नहीं हुई हैं।

मूलाचार का कर्ता : एक अध्ययन

श्री. पं. बालचंद्रजी सिद्धान्तशास्त्री
हैद्राबाद

आज से लगभग ६५–७० वर्ष पूर्व (विक्रम सं. १९७७ व १९८०) मा दि. जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई से 'मूलाचार' ग्रन्थ आ. वसुनन्दी विरचित 'आचारवृत्ति' नामक टीका के साथ दो भागों में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत ग्रन्थ साधु के आचार का प्ररूपक एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थ है। चामुण्डराय द्वारा विरचित 'चारित्रसार' आ. वीरनन्दी विरचित 'आचारसार' और पंडित प्रवर आशाधरजी विरचित 'अनगारधर्मामृत' ये ग्रन्थ उस मूलाचार के पश्चात प्राय: उसी के आश्रय से रचे गये है। इस के कर्ता के विषय में विद्वान प्राय: एकमत नही है। उन में कुछ का कहना यह है कि इस संस्करण में कर्ता के रूप मे सूचित 'वट्टकेर' यह नाम कुछ अजीब सा है, जो अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नही होता। इस के अतिरिक्त उस की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में उस के आ. कुन्दकुन्द विरचित होने का भी संकेत मिलता है। उक्त ग्रन्थमाला से प्रकाशित इस ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रारम्भ के ७ अधिकारो के अन्तिम पुष्पिका वाक्यों में ग्रन्थकार के नाम का निर्देश नही हुआ है। उस के आगे ८ वे अधिकार के अन्तिम पुष्पिका वाक्य में वट्टकेराचार्य और अन्तिम (१२ वे) अधिकार के अन्तिम पुष्पिका वाक्य में 'वट्टके प्रणीत' इस प्रकार वट्टकेरि से ग्रन्थकार के नाम का निर्देश किया गया है। उसी १२ वें अधिकार में 'आचारवृत्ति' की समाप्तिपर "**इति मूलाचार विवृत्ति द्वादशोध्याय:। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत मूलाचाराख्य विवृत्ति:। कृतिरियं वसुनन्दिन: श्री श्रमणस्य।**" ऐसी सूचना की गई है। इस विषम परिस्थिति में उस के कर्ता के विषय में विद्वानों का संदिग्ध रहना अस्वाभाविक व आश्चर्यजनक नहीं है।

उधर उस की टीका (आचारवृत्ति) को प्रारम्भ करते हुये आ. वसुनन्दी ने उत्थानिका स्वरूप अपने वाक्य प्रबन्ध मे यह अभिप्राय व्यक्त किया है, जो ध्यान देने योग्य है–

श्रुतस्कन्धाधारभूतअष्टादससहस्रपरिमाणं मूलगुण प्रत्याख्यानसंस्तर .... गणधरदेवविरचितं मूलगुणोत्तर गुणस्वरूपविकल्पोपाय साधन सहायफल निरूपणप्रवणमाचाराङ्गमाचार्यपारम्पर्यप्रवर्तमानमल्पबलमेधायु.शिष्यनिमित्तं द्वादशाधिकारैरूपसंहर्तुकाम. स्वस्य श्रोतृणाच प्रारब्ध कार्यप्रत्यूहनिराकरणक्षम शुभपरिणाम विदधच्छीवट्टकेराचार्य प्रथमतर तावन्मूलगुणाधिकार प्रतिपादनार्थं मंगलपूर्विका प्रतिज्ञां विधत्ते मूलगुणेस्त्वित्यादि ।

यहा स्पष्ट रूप से ग्रंथकर्ता का नाम वट्टकेराचार्य व्यक्त किया गया है ।

अभी हाल मे विदुषी आर्यिका ज्ञानमती माताजी द्वारा अनुवादित जो उस का नवीन संस्करण "भारतीय ज्ञानपीठ" से प्रकाशित हुआ है । उस मे माताजी ने उस के कर्ता के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य विरचित होने का अपना अभिप्राय व्यक्त किया है व अपने "आद्य उपोद्घात" मे उन्होने कुन्दकुन्ददेव का परिचय भी कुछ दे दिया है भो: का प्रारम्भ ।

किन्तु जैसा कि मैने कुन्दकुन्दाचार्य के कुछ ग्रन्थो का तथा प्रकृत मूलाचार ग्रन्थ का अध्ययन किया है । तदनुसार इन दोनो ग्रन्थगत विवेचन पद्धति आदि को देखते हुए मै उनके उक्त अभिप्राय से सहमत नही हूं ।

कारण

(१) इस का कारण यह है कि आ. कुन्दकुन्द ने अपने प्राय सब ग्रन्थो मे विवक्षित विषय की प्ररूपणा करते हुए उपसहार के रूप मे अपना अभिप्राय इस रूप मे अभिव्यक्त कर दिया है कि अमुक विषय का विवेचन व्यवहारनय की अपेक्षा किया गया है, निश्चय की अपेक्षा वैसा सम्भव नही है । अत: मुमुक्षु भव्य को उभय नयो के अनुसार वस्तुस्वरूप को समझ कर यथाशक्ति विभाव भावो से रहित आत्मा के शुद्ध स्वरूप को उपादेय समझना चाहिये ।

किन्तु इस के विपरीत मूलाचार के कर्ता ने इस प्रकार की पद्धति को प्राय: कही भी नहीं अपनाया है ।

(१) इन दोनो ग्रन्थो मे यद्यपि कुछ ऐसी भी गाथाएँ उपलब्ध होती हैं, जो शब्दश: समान हैं । किन्तु इससे इन दोनों का कर्ता एक नही माना जा सकता है । कारण इस का यह, कि बहुतसी गाथाएँ महावीर और गौतम गणधर के पश्चात् आचार्य परम्परा से कण्ठगत के रूप मे चली आई है, जिन्हे अनेक ग्रन्थकारो ने, यथावसर अपने अपने ग्रन्थ मे आत्मसात किया है । ऐसा केवल दिगम्बर परम्परा में ही नही, श्वेताम्बर परम्परा मे भी ऐसी परिस्थिति रही है । इसीलिये ऐसी भी प्रचुर गाथाएँ हैं, जो दि और श्वे. अनेक ग्रन्थो में समान रूप में उपलब्ध होती है, विशेष कर निर्युक्तियो में हा यह अवश्य है कि उन दोनो सम्प्रदायो के ग्रन्थकारोने अपनी अपनी रूचि और मनोवृत्ति के अनुसार कुछ कुछ शब्दो व वाक्यो में परिवर्तन भी किया है । कही स्मृति दोष से भी वैसा हुआ है । इसीलिये किसी एक ग्रन्थकार ने दूसरे के ग्रन्थ से उन्हे लिया है, ऐसा निश्चित नही कहा जा सकता है । इस कारण समान गाथाओ की उपलब्धि से प्रस्तुत दोनो ग्रन्थो का कर्ता एक नहीं हो सकता है ।

इसके अतिरिक्त दोनो ग्रन्थो मे विषय विवेचन की पद्धति भी भिन्न रही है व अनेक विषयो के विवेचन में परस्पर में कुछ मतभेद भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा–

(१) दोनो ग्रथो मे अपनी अपनी पद्धति से बारह अनुप्रेक्षाओ का वर्णन किया गया है । उस मे अध्रुव (अनित्य) अनुप्रेक्षा के प्रसंग मे (गाथा ३-७) आ कुन्दकुन्द ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है–

दूध और पानी के समान जीव से सदा सम्बद्ध शरीर भी जब शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, तब भोग और उपभोग का कारणभूत अन्य द्रव्य नित्य कैसे हो सकता है ? उपसंहार स्वरूप उन्होंने अन्त मे यह कहा है कि

परमार्थ से तो आत्मा देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुजेन्द्र (चक्रवर्ति) के वैभव से भिन्न है। अब ऐसा वहां आत्माही शाश्वत है, इस प्रकार से सदा चिन्तन करना चाहिए। (गा. ६-७)

उधर मूलाचार के कर्ता ने भी दो गाथाओं (८-३-४) में प्रकृत अनित्यानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए यह कहा है कि स्थान, आसन तथा देव, असुर व मनुष्यो के अपनी ऋद्धि (सम्पत्ति) जनितसुख, माता, पिता एवं स्वजन (कुटुम्बी आदि) है, इन के साथ सवास और प्रीति ये सब अनित्य है। राजप्रासादिरूप सामग्री, इन्द्रियाँ, शारीरिक रूप (सौंदर्य), मति, यौवन, जीवित, तेज, गृह, शयन, आसन और भाण्ड आदि ये सब अनित्य है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये।

प्रकृत में इन दोनो ग्रन्थकारो की विवेचन पद्धति स्पष्टतया भिन्न रही है। आ कुन्दकुन्द ने उस का उपसंहार करते हुये **जहां यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि, परमार्थ से जो आत्मा देव-मनुष्यों आदि के वैभव से भिन्न है, वह शाश्वत है। उसी आत्मा का नित्य चिन्तन करना चाहिए**। वहा मूलाचार के कर्ता ने यह कह दिया है कि सामग्री व इद्रिया आदि तथामति-यौवन आदि अनित्य है। ऐसा विचार करना चाहिये।

इस प्रकार कुन्दकुन्द ने जहां परमार्थभूत शरीरादि से भिन्न शाश्वत आत्मा के चिन्तन पर जोर दिया है वहा मूलाचारकार ने उपर्युक्त सामग्री आदि सब की अनित्यता के ही चिन्तनपर बल दिया है।

अशरणानुप्रेक्षा

आ कुन्दकुन्द ने ८ से १३ गाथाओं में इस का विचार करते हुए मणि-मत्रादि, स्वर्गादि वा चक्रवर्ती की नौनिधियो आदि स्वरूप रक्षा सामग्री के रहते हुए भी उनकी अशरणता को व्यक्त किया है तथा अन्त मे प्रसंग का उपसहार करते हुए उन्होने अपनी पद्धति के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया है कि बन्ध, उदय व सत्त्व आदि विविध अवस्थावाले कर्मो से भिन्न अपनी आत्मा ही जन्म-मरणादि के भय से बचा सकता है। इस के अतिरिक्त उस आत्मा ने चूकि अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधू ये पाच परमेष्ठी तथा सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र और तप ये चारो भी उस आत्मा मे अवस्थित रहते है, **इसीलिए वह आत्मा ही मेरा शरण (रक्षक) हूं।** (गा. ११-१३)

उधर मूलाचार के कर्ता ने तीन गाथाओ (५-७) में इस अशरणानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए स्पष्ट किया है कि हाथी-घोडा आदि मत्र व औषध, प्रज्ञप्ति आदि विद्याये, निकृति (धूर्तता), साम-दाम-दडादिरूप चाणक्य-नीति और निजी बान्धव ये मृत्यु के भय से रक्षा नही कह सकते है। जन्म, जरा व मरण के उपस्थित होने पर लोक मे जरा और मरणरूप महाशत्रु का निवारण करनेवाले जिनशासन को छोडकर अन्य कोई शरण नहीं है। अन्त मे उपसहार करने हुए यह कहा गया है कि मरणभय के उपस्थित होने पर इन्द्रो के साथ देव भी उस से उद्धार नही करते है। उस समय धर्म ही उन का शरण व गति है। इस प्रकार से चिन्तन करना चाहिए।

इस प्रकार दोनों ग्रन्थकारो के उपर्युक्त स्पष्टीकरण में यह विशेषता ध्यान में लेने योग्य है कि आध्यात्मिक सन्त कुन्दकुन्दाचार्य ने जहा रक्षा की कारण समझी जानेवाली मणि-मत्र आदि रूप बाह्य सामग्री की अशरणभूतता को प्रगट करते हुए अन्त मे कर्मबन्धादि से भिन्न तथा **अरहन्तादि पांचों परमेष्ठियों के और सम्यक्त्व आदि चार आराधनाओं के आलयभूत अपने शुद्ध आत्मा को चिन्तनीय कहा है**। परन्तु मूलाचारगत उक्त वर्णन में कहीं भी वह आध्यात्मिकता परिलक्षित नही होती इस दोनो ग्रन्थकारो की भिन्नता सुस्पष्ट है।

एकत्वानुप्रेक्षा

इस के प्रसग मे आ. कुन्दकुन्द कहते है कि एक ही जीव कर्म को करता है व अकेला ही दीर्घ ससार में परिभ्रमण करता है। वही एक जन्मता व मरता है तथा उसके फल को भोगता है। वही एक तीव्र लोभ के वश

विषय भोग के निमित्त से पाप को करता है व वही एक नरक और तिर्यंच गतियो में उस के फल को भोगता है। वही एक धर्मनिमित्त के पात्रदान से पुण्य करता है और वही एक जीव उस के फल स्वरूप मनुष्यों एव देवों में सुख को भोगता है। यहां दान का प्रसंग पाकर आगे उन्हो ने उत्तम, मध्यम और जघन्य इन तीन पात्रभेदो को को स्पष्ट करते हुए अन्त मे यह कह दिया है कि सम्यक्त्व रत्न से रहित अपात्र होता है। इन की परीक्षा करना चाहिए। पूर्व की पाच गाथाओं (१४-१८) में इतना स्पष्ट करके आगे उन्हों ने सम्यक्त्व से विहीन अपात्र के प्रसंग में यह विशद कर दिया है कि दर्शन से भ्रष्ट जीवो को निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नही है। (१९) किन्तु चारित्र से भ्रष्ट भी सम्यग्दृष्टि जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेते है। अन्त में प्रसग का उपसहार करते हुए निश्चयनय की प्रधानता से यह स्पष्ट कर दिया है कि मै एक निर्मम शुद्ध व ज्ञान-दर्शन स्वरूप वाला हू। इस प्रकार यह शुद्ध एकत्व ही उपादेय है। ऐसा सयत को चिंतन करना चाहिए। (२०)

किन्तु मूलाचार के कर्ता ने प्रकृत एकत्वानुप्रेक्षा का केवल दो गाथाओ (८, ८-९) मे निरूपण करते हुए इतना मात्र कहा है कि स्वजन व परिजन के मध्य में एक ही रोता हुआ दुखी होता है व मरण को प्राप्त होकर वहीं एक संसार मे परिभ्रमण करता है। अन्य कोई उस के साथ नही जाता है। एक कर्म को करता है और दीर्घ ससार में घूमता है। वही एक उत्पन्न होता है और मरता है। इस प्रकार चिंतन करना चाहिए।

पाठक देखें कि आ. कुन्दकुन्द ने यथाक्रम से नपे-तुले शब्दो मे इसे स्पष्ट करते हुए अन्त मे अपनी चिरपरिचित पद्धति के अनुसार शुद्धनय के आश्रय से यह स्पष्ट कर दिया है कि उन सब में एक शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा ही उपादेय है, अतः उसी का चिंतन करना चाहिए। यह पद्धति उपर्युक्त मूलाचारगत विवरण में उपलब्ध नही होती। इतना ही नही, वहा दूसरी गाथा (९) कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा मे गाथांक १४ के रूप में शब्दशः समान उपलब्ध होती है।

अन्यत्वानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने तीन गाथाओं (२१-२३) में अन्यत्व का निरूपण करते हुये जीव के साथ माता-पिता आदि के सम्बंध का प्रतिषेध करते हुए अन्त मे निश्चय नय की प्रधानता से यह स्पष्ट कर दिया है कि यह जो शरीर आदि बाह्य द्रव्य है, वे आत्मा से भिन्न है, आत्मा ज्ञान-दर्शन-स्वरूप है, इस प्रकार शरीर आदि से उस को भिन्नता का चिंतन करना चाहिए।

उधर मूलाचार के कर्ता ने तीन गाथाओ (१०-१२) मे यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि माता, पिता, स्वजन और सम्बन्धी ये सब ही आत्मा से भिन्न है व इस लोक मे ही हित करने वाले है। उन मे कोई जीव के साथ परलोक में जानेवाले नहीं है। किसी सम्बन्धी के मर जाने पर "यह मेरा स्वामी था" ऐसा मानता हुआ अन्य जीव अन्य के लिये शोक करता है, किन्तु ससार रूप महासमुद्र में डूबते हुये अपने आप का विचार नहीं करता है। जो भी शरीर आदि बाह्य द्रव्य है वे आत्मा से भिन्न हैं। वस्तुतः ज्ञान-दर्शन ही आत्मा है। इस प्रकार से यहा अन्यत्व का चिन्तन करना चाहिए।

पाठक आश्चर्य करेंगे कि मूलाचारकार ने भी यहा कुन्दकुन्द के समान उपसंहार करते हुये निश्चयनय का आश्रय लिया है, पर आश्चर्य जैसी कुछ बात नही है, क्योकि मूलाचार मे जो वहां अन्तिम दो (११-१२) गाथाएँ है, वे कुन्दकुन्द द्वादशानुप्रेक्षा मे यथास्थान गाथा सख्या २२-२३ में उसी रूप मे उपलब्ध होती है। वहां से उन्हें यहां आत्मसात् किया गया है।

संसारानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने २४-३८ गाथाओ मे प्रकृत संसारानुप्रेक्षा का निरूपण करते हुये वहां प्रथमतः यह

स्पष्ट किया है कि जीव प्रचुर जन्म, जरामरण, रोग और भय से व्याप्त पांच प्रकार के संसार में जिनोपदिष्ट मोक्षमार्ग की अपेक्षा न करता हुआ चिरकाल से परिभ्रमण करता है। प्रसंग के अनुसार आगे उन्हों ने पृथक् पृथक् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव इन पांच परिवर्तनों के स्वरूप को भी स्पष्ट किया है (२४-२९)[१]। आगे प्रसंग के अनुसार उन्हों ने यह भी स्पष्ट किया है कि जीव पाप बुद्धि से पुत्र-कलत्रादि के निमित्त धन का उपार्जन करता है, मिथ्यात्व के उदय से वह जिन प्ररूपित मार्ग की निन्दा करता है, जीवराशि का विघात करता है, मद्य-मांस आदि का सेवन करता है तथा प्रयत्नपूर्वक वह विषय के निमित्त पाप को करता है। परिणामस्वरूप वह संसार मे परिभ्रमण करता है (३०-३४)। इसी प्रसग में आगे गाथा ३५ में चौरासी लाख योनिभेदों का भी उल्लेख कर दिया है। तत्पश्चात यह भी निर्देश किया गया है कि ससार मे जीवों के सयोग-वियोग, लाभ-अलाभ, सुख-दुख और मान-अपमान का दुख हुआ करता है (३६)।

अन्त में उपसंहार करते हुए **यह स्पष्ट कहा गया है कि जीव कर्म के निमित्त से संसाररूपी भयानक वन में घूमता है। निश्चय नय से वह उस पौद्गलिक कर्म से भिन्न है, अत: वस्तुत उस के संसार है ही नहीं। ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए जीव जो संसार से रहित है वहीं उपादेय है और इस के विपरीत जो वह सांसारिक दुख से युक्त है वह हेय है, ऐसा यहां चिंतन करना चाहिए (३७-३८)।**

उधर मूलाचार के कर्ता ने प्रकृत ससारानुप्रेक्षा का १४-२० गाथाओ में वर्णन करते हुये प्रथमत: उक्त पाच परिवर्तनो मे भव परिवर्तन के बिना चार प्रकार के ही परिवर्तन का निर्देश किया है व उसे चारो गतियो में जाने का कारण कहा है (१४)। वृत्तिकार ने उस भव परिवर्तन को स्पष्ट कर दिया है। किन्तु मूलग्रथकार ने कुन्दकुन्द के समान द्रव्यक्षेत्रादि चार परिवर्तनो के स्वरूप को भी पृथक्पृथक् स्पष्ट नही किया है। आगे गाथा १५ के रूप में जिस "**किं केण कस्स कत्थ**" आदि गाथा का उल्लेख किया गया है वह वस्तुत: प्रसग के अनुरूप नही दिखती। आ वसुनन्दी ने अपनी वृत्ति मे मूल ग्रथकार के द्वारा अनिर्दिष्ट भवपरिवर्तन के भी स्वरूप को स्पष्ट करते हुये ससार को पांच प्रकार कह कर इस गाथा की प्रसंग से संगति बिठाते हुये ससार को छह प्रकार का कहा है। तथा उस का उन्हों ने स्पष्टिकरण भी कर दिया है। प्रकृत गाथा श्वे. सम्प्रदाय मे उपलब्ध "जीव-समास" नामक ग्रथ में पायी जाती है। उक्त गाथा की स्थिति जैसी वहां-

किं केण कस्स कत्थ व केवचिरं कविविधो य भावो य।
छहि आनियोगद्दारेहि सव्वे भावाऽणुगतव्वा॥ (८-१५)

दृढ है वैसी यहां मूलाचार में वह दृढ नही है। इस का भी कारण यह है कि उक्त "जीवसमास" में ग्रंथ को प्रारम्भ करते हुए मंगल के पश्चात यह कहा गया है कि निक्षेप, नय, निरूक्ति तथा छह और आठ अनुयोगद्वारों के आश्रय से सब भाव अनुगन्तव्य है। इसे स्पष्ट करते हुये वहां पूर्वनिर्दिष्ट इन निक्षेप आदि को स्पष्ट करने के पश्चात् प्रश्न के रूप में (किं केन कस्य कुत्र कियच्चिरं कतिविधः भावः) प्रसंग प्राप्त उन छह अनुयोग द्वारों को स्पष्ट किया गया है।[२]

इस प्रकार से "जीवसमास" में प्रकृत गाथा के द्वारा उन छह अनुयोग द्वारो को स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। आगे मूलाचार मे प्रसंग के अनुरूप जीव संसार में जिन जन्ममरणादि के प्रचुर दुखों को सहता है, उन्हें

१. कुन्दकुन्दविरचित द्वादशानुप्रेक्षा के अंतर्गत ये गाथाएं (२५-२९) सर्वार्थसिद्धि (सूत्र २-१०) में उद्धृत भी की गई है।

२. तुलनात्मक दृष्टि से उन प्रश्नों के स्पष्टीकरणस्वरूप तत्त्वार्थ सूत्र का यह सूत्र दृष्टव्य है-निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-स्थिति-विधानतः। सूत्र १-७.

स्पष्ट किया गया है (१६–१९)। अन्त मे उपसंहारात्मक गाथा (२०) के द्वारा यह कहा गया है कि इस प्रकार से विविध दुखो की स्थिरता ही जिस संसार का सार है ऐसे उस बहुत प्रकार के ससार को जान कर चिंतन करना चाहिए तथा उसी प्रकार से शीघ्र ही उस की वास्तविक नि.सारता का अनुभव करना चाहिए।

निष्कर्ष

पाठक देखे कि आ. कुन्दकुन्द ने उपसंहार के रूप मे **निश्चयनय के प्रधान से जीव के उस संसार के अभाव को दिखलाते हुए उसे ससारातिकांत कह कर उपादेय और उस के विपरित ससारदुख से अभिभूत जीव को हेय कहकर उन के चिंतन की प्रेरणा की है।** किन्तु मूलाचार मे ऐसी शुद्ध दृष्टि पर जोर न देकर सामान्य मे उस ससार के चिन्तन की प्रेरणा की गई है।

लोकानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने ३९–४२ इन चार गाथाओं मे प्रकृत लोक की प्ररूपणा करते हुए जीवादि पदार्थों के समुदाय को लोक कहकर उसके अध मध्य और उर्ध्व इन तीन भेदो का भी निर्देश किया है व वहा स्थित क्रम से नारक, असख्यात द्वीप समुद्र तथा तिरसठ भेद भेदो मे विभक्त स्वर्ग का उल्लेख किया है। आगे इन तिरसठ भेदो को भी स्पष्ट कर दिया है। अन्त में (गा. ४२) **यह स्पष्ट कर दिया है कि जीव अशुभ उपयोग से नरक व तिर्यंच गति के दुख को, शुभ उपयोग से देव व मनुष्यों के सुख को तथा शुद्ध उपयोग से मुक्ति को प्राप्त करता है। इस प्रकार से यहां लोकविचार करना चाहिए।** यह कहकर उन्होंने अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन प्रकार के उपयोग फल को स्पष्ट करते हुए जीव को कल्याणप्रद मार्ग में प्रस्थित होने के लिए सावधान भी कर दिया है।

उधर मूलाचार के कर्ता ने नौ (२१–२९) गाथाओ मे प्रकृत लोकानुप्रेक्षा को विशद करते हुए यह स्पष्ट किया है कि लोक एक, दो, तीन और द्रव्य पर्यायो की अपेक्षा बहुत प्रकार का है इस प्रकार के लोक स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए। आगे इस लोक को अकृत्रिम, अनादिनिधन स्वभावसिद्ध जीव–अजीवो से व्याप्त, नित्य व तालवृक्ष के समान आकार वाला कहा है। तथा आगे उन्होंने लोक व अलोक मे विभक्त उस लोक के आकार को भी दिखलाया है (२१–२४) तत्पश्चात् वहा अवस्थित जीव कर्मनिर्वतित किस प्रकार के सुख-दुख को अनुभव करते है इत्यादि स्पष्ट करते हुए उन्होने उस लोक मे होनेवाली जीव की दुरवस्था को धिक्कारा है (२५–२८) और अन्त (२९) मे यह कहा है कि इस प्रकार से लोक की निःसारता को जान कर उस मे सुख के आलयभूत लोकाग्रशिखावास (सिद्धक्षेत्र) का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिये।

इस प्रकार यहा भी दोनो ग्रन्थकारो के विवेचन की पद्धति भिन्न रही है। आ. कुन्दकुन्द के द्वारा निर्दिष्ट तीन प्रकार के उपयोग का आध्यात्मिकता की अपेक्षा अधिक महत्त्व रहा है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने प्रकृत अनुप्रेक्षा का वर्णन चार गाथाओं (४३–४६) मे वर्णन करते हुये शरीर की स्वाभाविक अशुचिता को प्रगट किया है। अन्त मे इस का उपसहार करते हुए उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि **निश्चय से आत्मा देह से भिन्न कर्म रहित और अनन्त सुख का स्थान होने से चोखा (उत्कृष्ट) है। अतः उसी की नित्य भावना करना चाहिए।**

किन्तु मूलाचार मे 'अशुचि' के स्थान मे 'अशुभ' की विवक्षा कर के सात गाथाओ (३०–३६) चारो गतियो मे वर्तमान जीवो की अशुभता का चित्रण करते हुए अर्थ (धनार्जन) को अनेक अनर्थो का मूलकारण कहा गया है। अनन्तर कामभोगो की अशुभता का दिग्दर्शन करते हुए वहा अशुचिगर्भ मे वर्तमान जीव की कैसी

दुरवस्था होती है, इसे चित्रित किया गया है। आगे अर्थ, काम और शरीर आदि सब की अशुभता का ज्ञापन कराते हुए यह प्रेरणा की गई है कि हे आत्मन् ! इन सब की ओर में निर्वेद को प्राप्त होकर तू इस प्रकार का ध्यान कर कि जिस से अशुचि शरीर को छोड़ सके (३०-३५)। अन्त में (३६) यह स्पष्ट किया गया है कि लोक मे सुर, असुर, तिर्यंच, नारकी और मनुष्य इन सब मे जिन प्रणीत धर्म को छोड कर और कुछ भी शुभ नही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिये।

इस प्रकार से यहा भी आ. कुन्दकुन्द ने उपसंहार करते हुए जहां निश्चयनय की अपेक्षा शरीर से भिन्न, कर्म से निर्मुक्त व अनन्त सुख के स्थानभूत उत्कृष्ट आत्मा के चिन्तन की प्रेरणा की है, वहां मूलाचारकार ने चारो गतियो में जिनोपदिष्ट धर्म को छोडकर और कुछ शुभ नही है, इस प्रकार के चिन्तन की प्रेरणा की है। यह दोनों में विशेषता रही है।

यह भी यहां विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन दोनो ही ग्रथो में सामान्य से बारह अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश करनेवाली गाथा समान रूप में इस प्रकार उपलब्ध होती है-

अद्धवमसरणमेगत्तमण्णसंसार लोगमसुचित्तं ।
आसव-संवर-निज्जर-धम्मं वोधि च चितेज्जो ॥

कुन्द. गा. २ व मूलाचार गा ८-२

इस प्रकार यहा गाथा मे जब समान रूप से सातवी अनुप्रेक्षा का नाम '**असुचित्व**' के रूप मे ही निर्दिष्ट किया गया है तब क्या कारण है, जो मूलाचार के कर्ता ने '**असुचित्व**' की उपेक्षा कर उस का विवरण 'अशुभ' के रूप मे किया है (गा. ८, ३०-३६) इस मतभेद से स्पष्ट है कि प्रस्तुत मूलाचार के कर्ता कुन्दकुन्दाचार्य सम्भव नही है। उपर्युक्त गाथा कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'द्वादशानुप्रेक्षा' से यहा आत्मसात कर के भी निर्वाह उस का नही किया जा सकता है। प्रसग के अन्त में यहा मूलाचार मे जो यह कहा गया है कि 'सब की अशुभता का चिन्तन करते हुए ऐसा ध्यान करो कि **जिससे अशुचि शरीर को छोड़ा जा सके**' यह भी कुछ आश्चर्यजनक प्रतीत होता है।

आस्रवानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने चौदह (४७-६०) गाथाओं मे इसे स्पष्ट करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया है कि मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग ये आस्रव है। आगे उन्होने यथाक्रम से उन के भेदो का भी उल्लेख कर दिया है। प्रसंग प्राप्त तीनो योगों को अशुभ और शुभ बतला कर पृथक्-पृथक् उन्हें भी उन्होने स्पष्ट कर दिया है (४७-५५)। अन्त मे आस्रव के फल का निर्देश करते हुए उन्होने यह स्पष्ट कर दिया है कि आस्रव क्रिया के द्वारा परम्परा से भी निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नही है, वह तो ससार परिभ्रमण की ही कारण है (५६-५९)। सर्वान्त मे उन्होने अपनी चिराभ्यस्त पद्धति के अनुसार यह स्पष्ट कर दिया है कि **निश्चयनय से जीव के पूर्वोक्त आस्रव भेद नहीं है। इस प्रकार उभय आस्रवों से निर्मुक्त आत्मा का सदा चिन्तन करना उचित है।** (६०)

उधर मूलाचार में यहा मन-वचन-काय के साथ राग-द्वेष, मोह, इन्द्रिया, संज्ञाएँ, गौरव और कषाय, इन को कर्मास्रव कह कर उन्हे पृथक् पृथक् स्पष्ट भी वहा किया गया है (९, ३७-४५)। आगे इसी प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया गया है कि हिंसादिरूप पांच आस्रव द्वारो के आश्रय से पाप का आस्रव होता हैं। उक्त हिंसादि के द्वारा निश्चित ही जीव का विनाश (संसार-समुद्र में निमज्जन) इस प्रकार से होता है। जिस प्रकार से आस्रव (छिद्र के द्वारा जल के प्रवेश) सहित नाव का समुद्र में विनाश होता है (४६)। अन्त में उपसंहार करते हुए वहा कहा गया है कि उस प्रकार ज्ञानावरणादि रूप आठ प्रकार जो कर्मास्रव होता है उस का विपाक दुखरूप है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए (४७)।

इस प्रकार उक्त दोनों ग्रंथगत इस विवेचन में जो भिन्न पद्धति रही है, उस से उन के कर्तृत्व का भेद निश्चित प्रतीत होता है। इस के अतिरिक्त प्रसंग का उपसंहार करते हुए आ. कुन्दकुन्द ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि निश्चयनय से आत्मा दोनो प्रकार के आस्रव से निर्मुक्त है, यह दोनों ग्रथो के भिन्न भिन्न कर्ता का ज्ञापक है।

संवरानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने पांच (६१-६५) गाथाओं मे प्रकृत इस अनुप्रेक्षा का विचार करते हुए यह कहा है कि चल, मलिन और अगाढ दोषो से रहित सम्यक्त्वरूप कपाट से मिथ्यात्व आस्रव का, पांच महाव्रतो से अविरति का, कषायरहित फलक (संयम-कपाट) से क्रोधादि आस्रव द्वारो का शुभ योग की प्रवृत्ति से अशुभ योग का और शुद्ध उपयोग से शुभ योग का निरोध होता है (६१-६३) तथा उस शुद्ध उपयोग से जीव के धर्म और शुक्ल ये उत्तम ध्यान होते हैं। इसीलिए सवर का हेतु भूत ध्यान है, ऐसा नित्य चिन्तन करना चाहिए (६४) **अन्त में निश्चयनय की प्रधानता से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि परमार्थ नय से शुद्ध भाव रहने के कारण जीव के संवर नहीं है, इस प्रकार संवर भाव से विमुक्त आत्मा का सदा चिन्तन करना चाहिए** (६५)।

उधर मूलाचार के कर्ता ने छह (४८-५३) गाथाओ मे आस्रवों के निरोधस्वरूप सवर का व्याख्यान करते हुये यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि इन्द्रिय, कषाय, सज्ञा, गौरव और राग आदि जो कर्मास्रव के कारण हैं, उन सब का निरोध करना योग्य है। कषायो के रूक जाने पर मूलतः सब ही आस्रव रूक जाते हैं, जिस प्रकार कि छिद्र के बन्द कर देने पर नाव में जल का जाना रूक जाता है, जिस से वह जल मे विनष्ट नहीं होती है। जिस प्रकार रस्सियो से सन्मार्ग गामी घोडे का निग्रह किया जाता है, उसी प्रकार तप, ज्ञान और विनय के द्वारा इन्द्रियो, कषायों और दोषो का निग्रह किया जाता है। इस प्रकार जो सयत तीन गुप्तियो से सहित होता हुआ समितियो के विषय में प्रमाद से रहित होता है, उस के समस्त आस्रव द्वारो के रूक जाने से नवीन कर्मो का आस्रव नही होता है। इसी प्रकार दर्शन, विरति, इन्द्रियनिग्रह और कषायो के निरोध से मिथ्यात्वादि का निरोध हो जाने पर कर्मास्रव नही होता है (४८-५२)। उपसंहार करते हुए वहा अन्त मे यह कहा गया है कि संवर का फल निर्वाण है, इसलिए सवर समाधि से सयुक्त विशुद्ध आत्मा को प्रयत्नपूर्वक उस संवर का चिन्तन करना चाहिए (५३)।

यहा भी दोनो ग्रंथों मे यह एक विशेषता रही है कि आ. कुन्दकुन्द ने जहां परमार्थनय से जीव के संवर के अभाव को बताते हुए संवरभाव से रहित आत्मा के चिन्तन की प्रेरणा की है वहा मूलाचार के कर्ता ने निर्वाण के साधनभूत संवर के चिन्तनपर जोर दिया हैं।

निर्जरानुप्रेक्षा

इस के प्रसंग में आ. कुन्दकुन्द ने पूर्वबद्ध कर्मप्रदेशो के गलने को निर्जरा कह कर उस के स्वकालपक्व (सविपाक) और तप से की जाने वाली (अविपाक) इन दो भेदो का निर्देश किया है व निष्कर्ष के रूप में यह स्पष्ट कर दिया है कि इन में चारो गतियों के जीवों के प्रथम और व्रतों से युक्त (संयमी) जीवो के दूसरी होती है (६६-६७)।

मूलाचारकार ने प्रकृत निर्जरा को सात (५४-६०) गाथाओ द्वारा विषद करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि आस्रवनिरोध से सहित व तप से युक्त जीव के निर्जरा होती है; वह देश निर्जरा और सार्वनिर्जरा के भेद से दो प्रकार की कही गई है। आगे यहा कहा गया है, क्षयोपशम को प्राप्त कर्म की निर्जरा सब ही संसारी जीवो के होती है, किन्तु तप से होने वाली निर्जरा विपुल मात्रा में होती हैं। इन में वृत्तिकार ने पूर्व को देशनिर्जरा और दूसरो को सकल निर्जरा बतलाया है (५४-५५) आगे अग्नि के द्वारा तपाये गये कनक पाषाण आदि का उदाहरण देते हुए प्रसंग प्राप्त उस निर्जरा को कुछ और भी विशद किया गया है (५६-५८)। अन्त मे उपसंहार करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि जिसने समस्त कर्म की निर्जरा कर दी है वह जन्म, जरा और

मरण के बन्धन से निर्मुक्त होता हुआ अनन्त सुख को प्राप्त कर लेता है। इसलिए उस निर्जरा को मन में करना चाहिए–उस का चिन्तन करना योग्य है (५९)।

यहां भी दोनों ग्रन्थगत विवेचन की पद्धति में यह विशेषता तो रही ही है कि आ. कुन्दकुन्द ने जहां निर्जरा के स्वकालपक्व और तपकृत ये दो भेद निर्दिष्ट किये हैं, वहां मूलाचारकार ने इस के देशतः निर्जरा और सर्वतः निर्जरा इन दो भेदों का निर्देश किया है (५४)। आगे कुन्दकुन्द ने जहां सभी चारों गतियों के जीवों के प्रथम और व्रतों युक्त जीवों के दूसरी निर्जरा कही है, वहां मूलाचारकार के कर्ता ने इन के स्पष्टीकरण में यह सूचना की है कि क्षयोपशम को प्राप्त कर्म की निर्जरा सब संसारी जीवों के होती है; किन्तु तप से विपुल निर्जरा होती है (५५)।

धर्मानुप्रेक्षा

आ. कुन्दकुन्द ने इस की प्ररूपणा पन्द्रह (६८–८२) गाथाओं में की है। प्रथमतः उन्हो ने यहां यह स्पष्ट किया है कि सम्यक्त्व पूर्वक होने वाला धर्म गृहस्थों के ग्यारह प्रकार का और अनगारो के वह दस प्रकार का होता है। इसी प्रसंग मे आगे उन्हो ने दर्शन, व्रत व सामायिक आदि ग्यारह प्रकार के सागारधर्म (देशविरति) का निर्देश करते हुए अनगारो के दस प्रकार के धर्म का नामनिर्देश इस प्रकार किया है। १. उत्तम क्षमा, २. मार्दव, ३ आर्जव, ४ सत्य, ५. शौच, ६. संयम, ७. तप, ८. त्याग, ९. अकिंचन और १०. ब्रह्मचर्य। आगे उन्हो ने यथाक्रम से इन दस धर्मों के स्वरूप का भी पृथक्पृथक निर्देश कर दिया है (६८–८०)। तत्पश्चात उन्हो ने निश्चयनय की प्रधानता से यह स्पष्ट कर दिया हैं कि जो जीव श्रावक धर्म को छोड कर यतिधर्म में अधिष्ठित होता है वह निश्चित ही मोक्ष को प्राप्त करता है, इस प्रकार से सदा धर्म के विषय में चिन्तन करना चाहिए। (प्रकृत मे गा. ८१ का पाठ अशुद्ध हुआ दिखता है) इसी अभिप्राय को हृदयगम करते हुए अमृतचंद्र सूरि ने सम्भवतः प्रथमत यतिधर्म का उपदेश न कर के गृहस्थ धर्म के उपदेशक को निग्रह का पात्र कहा है (पु. सि. १७–१९) आगे उन्हों ने उपसंहार करते हुए यह भी स्पष्ट कर दिया है कि निश्चयनय से जीव सागार–अनगार धर्म से भिन्न है, इसीलिए मध्यस्थ भावना से शुद्ध आत्मा का सदा चिन्तन करना चाहिए (८२)।

मूलाचार मे प्रकृत धर्म का निरूपण पाच (६०–६४) गाथाओं में किया गया है। वहा तीर्थंकर प्रणीत धर्म और उस के धारक एवं फलविशेष को स्पष्ट करते हुए जिन दस धर्मों का नामनिर्देश किया गया है वह ध्यान देने योग्य है। वे दस धर्म ये हैं। १. क्षान्ति, २. मार्दव, ३. आर्जव, ४. लाघव (शौच), ५ तप, ६. संयम, ७ अकिंचनता, ८. ब्रह्मचर्य, ९. सत्य और १०. त्याग ! यह गाथा आगे इसी रूप में ग्यारहवें अधिकार में भी प्रयुक्त हुई है (११–५)। यहा इन धर्म भेदो में क्रमव्यत्यय होने के साथ शौच धर्म के लिए ही सम्भवतः "लाघव" पद व्यवहृत हुआ है। इस के अतिरिक्त यहां सागारधर्म का कुछ भी उल्लेख नहीं हुआ है।

इस परिस्थिति से यह निश्चित प्रतीत होता है कि प्रकृत मूलाचार के रचयिता आ. कुन्दकुन्द नहीं हैं।

बोधिदुर्लभ

यह पद्धतिभेद प्रकृत बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा में भी दृष्टव्य है। आ. कुन्दकुन्द ने इसे चार (८३–८६) गाथाओं मे स्पष्ट करते हुए 'बोधि' के स्वरूप में यह कहा है कि जिस उपाय के द्वारा सम्यग्ज्ञान प्रादुर्भूत होता है, उस उपाय की चिंता को बोधि कहते हैं। आगे वे कहते हैं कि कर्मोदयजनित पर्याय हेय है, किन्तु क्षायोपशमिक ज्ञान स्वकीय द्रव्य होने से उपादेय है; इस प्रकार का जो निश्चय होता है वह सम्यग्ज्ञान है। मिथ्यात्व आदि जो मूल–उत्तर प्रकृतिया है, वे असंख्यात लोक प्रमाण हैं, जो पर द्रव्य स्वरूप है। स्वकीय द्रव्य निश्चय से आत्मा है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु निश्चयनय की प्रधानता में "यह हेय है और यह उपादेय है" यह विकल्प

सम्भव नही है। मुनि को संसार से विमुख होने के लिए इस बोधि का विचार करना चाहिए (८३-८६) आगे प्रकृत द्वादशानुप्रेक्षा प्रकरण का उपसहार करते हुए इन बारह अनुप्रेक्षाओ को ही प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण, आलोचना और समाधि कह कर उन के भावन की प्रेरणा का गई है तथा शक्ति के अनुसार उक्त प्रत्याख्यान आदि को भी विधेय कहा गया है। इस के साथ ही उन्हो ने " जो पुरुष अनादिकाल से मोक्ष गये है, वे इन बारह भावनाओ को भाकर ही गये है" यह कहते हुए उन्हें पुन.पुन: प्रणाम किया है। आगे वे कहते है कि बहुत बकवाद से क्या जो पुरुषश्रेष्ठ अतीत काल में सिद्ध हुए हैं व भविष्य मे सिद्ध होने वाले है, यह सब उस बारह अनुप्रेक्षाओ का ही माहात्म्य है (८७-९०)। अन्त में प्रकरण का उपसहार करते हुए यह अभिप्राय प्रगट किया है कि **इस प्रकार से कुन्दकुन्द मुनिन्द्र ने जो इस निश्चयव्यवहार के स्वरूप को कहा है, उस का जो शुद्ध मन से चिंतन करता है वह परम निर्वाण को पा लेता है (९१)।**

मूलाचार मे प्रकृत बोधि दुर्लभता का निरूपण बारह (६५-७६) गाथाओ मे किया गया हैं। वहां सर्वप्रथम अनन्त ससार मे मनुष्य पर्याय की दुर्लभता को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया है कि जिस प्रकार लवण समुद्र मे एक ओर युग (जुआ) और दूसरी ओर समिला[१] (उसकी कील) के छोडने पर उन का पुन: सयोग होना दुर्लभ है, उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्न होना दुर्लभ है। इसी सिलसिले मे वहा उत्तरोत्तर देश-कुल आदि की दुर्लभता को दिखाते हुए बोधि की दुर्लभता को प्रगट किया गया है और यह स्पष्ट किया गया है कि वह यदि किसी प्रकार से प्राप्त हो जाती है तो उस के सरक्षण मे प्रमाद नही करना चाहिए (६५-६८)। आगे उस के विषय मे प्रमाद करने वाले कापुरुष की दुर्गति को दिखाते हुए उस बोधि के औपशमिक, क्षायिक और मिश्र ये तीन भेद निर्दिष्ट किये गये है। इसी प्रकार से आगे प्रासगिक चर्चा करते हुए उस के चिन्तन व ध्यान की प्रेरणा की गई है। (६९-७३) । अन्त मे वहा यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि ये बारह भावनायें जिस प्रकार से जिनागम मे देखी गयी है, उसी प्रकार से मैने उन का व्याख्यान किया है। आगे प्रकरण का उपसहार करते हुए यह कहा गया है कि जो इन भावनाओं के द्वारा आत्मचिंतन करता है वह विमलालय (सिद्धालय) को पाता है। अन्त में ध्यान के द्वारा कर्मक्षय करने वाले महर्षियो से अपने उद्धार की प्रार्थना करते हुए ग्रथकार ने यह भावना व्यक्त की है कि जिस प्रकार से मुझे वे अनुप्रेक्षाये प्रादुर्भूत होती है, विमल गति को प्राप्त समस्त लोक के स्वामी उस प्रकार से मेरे ऊपर प्रसन्न होवे (७४-७६)।

उपसंहार

यहा ध्यान देने योग्य है कि आ. कुन्दकुन्द ने निश्चय की विवक्षा मे इन अनुप्रेक्षाओ को ही प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण और आलोचना कहते हुए अन्त मे यह भावना व्यक्त की है कि इस प्रकार से कुन्दकुन्द मुनिनाथ ने जिस निश्चय और व्यवहार के स्वरूप को कहा है उसका जो शुद्ध भाव से चिन्तन करता है, वह परम निर्वाण को प्राप्त करता है। इस प्रकार नयों के आश्रय से किया जाने वाला उक्त प्रकार का विवेचन प्राय: मूलाचार में कही भी उपलब्ध नही होता है। इन दोनों ग्रथकारों की इस भिन्न विवेचन पद्धति को देखते हुए वह निश्चित प्रतीत होता है कि आध्यात्मिक संत आ कुन्दकुन्द उस मूलाचार के कर्ता नही है। ध्यान रहे कि इस से "मूलाचार" ग्रन्थ का महत्त्व कुछ कम नही होता। वह निश्चित ही साधु के आचार पर सर्वांग-पूर्ण प्रकाश डालने वाला अतिशय व्यवस्थित एक प्राचीन ग्रन्थ है, भले ही उस के रचयिता चाहे वट्टकेराचार्य हो या अन्य किसी नाम के धारक रहे हो पर कुन्दकुन्दाचार्य उस के रचयिता नही है।

विशेष

आ कुन्दकुन्दविरचित प्रस्तुत द्वादशानुप्रेक्षा से अन्य भी जो पंचास्तिकाय आदि ग्रथ हैं उन में भी कुछ

१. लाभज्झेति जवम समिवुच्चदि। व. ख. सूत्र ५, ६, ६४४, पृ.१४, पृ. ७८२.

ऐसे प्रसंग उपलब्ध होते हैं जो मूलाचार के कुन्दकुन्दविरचित होने मे बाधक हैं। उन का भी मैंने कुछ संकलन किया है, किन्तु वह यहां (बीना) नही है, हैदराबाद मे है। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया तो उन के आश्रय से भी प्रस्तुत विषय पर विशेष प्रकाश डालने का प्रयत्न करूंगा।

धवला–टीका में गणित विज्ञान

डॉ. हरीन्द्रभूषण जैन,
एम. ए., पीएच. डी.
(उज्जैन)

धवला टीका और उसका महत्व

वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष के पश्चात् किसी समय में जन्म लेने वाले आचार्य गुणधर रचित "कषाय पाहुड" दिगम्बर जैन-परम्परा का आद्य महनीय ग्रंथ है। द्वितीय महनीय ग्रन्थ छक्खण्डागम (षट्खण्डागम) है, जिसकी विषय वस्तु केवल जैन साहित्य की दृष्टि से ही नही, अपितु समस्त भारतीय वाङ्मय के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जीव की स्वतन्त्रता और उस के कर्म सम्बन्ध का सूक्ष्म विवेचन, धर्म, दर्शन एवं सस्कृति की दृष्टि से नितान्त श्लाघनीय है। यह केवल ग्रन्थ ही नही अपितु वाङ्मय कोष है।[१]

इसकी रचना धरसेनाचार्य से प्राप्त ज्ञान के आधार पर आचार्य पुष्पदन्त एवं भूतबलि ने की! इस का रचनाकाल विक्रम की प्रथम शताब्दी का अंतिम पाद एव द्वितीय शताब्दी का प्रथम पाद है। इसका निर्माण छह खण्डो में होने से इसका नाम षट्खण्डागम है! ये छह खण्ड इस प्रकार है–

१. जीवट्ठाण
२. खुद्दाबन्ध
३. बन्ध स्वामित्वविचय
४. वेदनाखण्ड
५. वर्गणाखण्ड तथा
६. महाबन्ध

आचार्य वीरसेन ने पूर्वोक्त छह खण्डो में से प्रथम पांच खण्डों पर जो टीका लिखी है वह धवला टीका के नाम से प्रसिद्ध है। इस का रचना काल विक्रम की ९ वी शताब्दी है। आचार्य वीरसेन तत्वज्ञानी और धार्मिक दिव्य पुरुष थे किन्तु वे गणिततज्ञ नही थे। अतः जो गणितशास्त्रीय सामग्री धवला के अन्तर्गत है, वह उन से पूर्ववर्ती लेखकों की कृति समझना चाहिए, जिन के नाम इस प्रकार हैं–कुन्दकुन्द, शामकुंद, तुंबलूर, समंतभद्र और

---

१. सिद्धांताचार्य पं कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, "जैन साहित्य का इतिहास" प्रथम भाग, श्री वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, १९७५, पृष्ठ-४३।

बप्पदेव। इन में प्रथम लगभग सन् २०० के और अन्तिम सन् ६०० के लगभग हुए। अत धवला की अधिकांश गणित विज्ञान सामग्री सन् २०० से ६०० के बीच तक की मानी जा सकती है।

इस प्रकार भारतवर्षीय गणितशास्त्र के इतिहासकारो के लिए धवला प्रथम श्रेणी का महत्वपूर्ण ग्रंथ हो जाता है। क्योकि इस में हमे भारतीय गणितशास्त्र के इतिहास के सबसे अधिक अन्धकारपूर्ण समय, अर्थात पांचवीं शताब्दी से पूर्व की बातें मिलती हैं। उदाहरणार्थ–धवला में वर्णित अनेक गणितीय प्रक्रियायें में किसी भी अन्य ज्ञानग्रंथ में नहीं पाई जाती।[१]

धवला–टीका में प्रतिबिम्बित गणित विज्ञान

(क) बडी संख्या तथा दाशमिक रूप

(Big Numbers and Decimal place value Notation)

धवलाकार दाशमिक क्रम से पूर्ण परिचित थे यह बात धवला के अन्तर्गत संख्या को व्यक्त करने की पद्धति से स्पष्ट होता है। जैसे–धवला मे एक स्थान पर १० अको की संख्या–२,२७,९९,४९८ की इस प्रकार व्यक्त किया है-दो करोड, सत्ताइस लाख निन्यान्नवे हजार चार सौ अन्ठानवे।[२]

यह सुविदित है कि जैन साहित्य में बडी संखायें बहुलता से उपयोग मे आई हैं। धवला में भी अनेक तरह की जीवराशियो आदि पर तर्क–वितर्क है। सब से बडी सख्या पर्याप्त मनुष्यो की है, जो जीवकाण्ड के अनुसार इस प्रकार २९ अको को ग्रहण करती है–७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६।[३]

यह पर्याप्त मनुष्यो की सख्या धवला मे दो के छठे वर्ग और दो के सातवे वर्ग के बीच की कही गई है। अथवा और भी निश्चित, कोटि, कोटि–कोटि और कोटि–कोटि–कोटि-कोटि के बीच की कही गई है। याने–

$२^{२६}$ और $२^{२७}$ के बीच की अथवा और अधिक नियत $(१,००,००,०००)^{३}$ और $(१,००,००,०००)^{४}$।

(ख) मौलिक प्रक्रियाये (Fundamental Operations)

धवला मे जोड, बाकी, गुणा, भाग, वर्गमूल और घनमूल निकालना तथा संख्याओ का घात निकालना (The raising of numbers to given powers) आदि मौलिक प्रक्रियाओं का कथन उपलब्ध है। ये प्रक्रियायें पूर्णांक और भिन्न दोनो के संबंध में कही गई है।

(ग) घातांक का सिद्धांत (Theory of indices)

धवला मे वर्णित घातांक का सिद्धांत दूसरे गणित ग्रन्थो से कुछ भिन्न है। निश्चयत. यह सिद्धांत प्राथमिक है, और सन् ५०० से पूर्व का है। इस सिद्धान्तसबंधी मौलिक विचार निम्नलिखित प्रक्रियाओं के आधार पर प्रतीत होते हैं–

वर्ग, घन, उत्तरोत्तर वर्ग, उत्तरोत्तर घन, किसी संख्या का सख्या तुल्य घात निकालना (The raising of numbers to their own powers) वर्गमूल, घनमूल, उत्तरोत्तर वर्गमूल, उत्तरोत्तर घनमूल, आदि। अन्य सब घाताक इन्ही रूपो में प्रकट किए गए है।

---

१ डा. अवधेशनारायणसिंह, प्रो. लखनऊ विश्वविद्यालय, 'षट्खण्डागम' भाग–५, पृ. ५ (षट्खण्डागम की प्रस्तावना)

२. धवला भाग–३, पृ. १००, गाथा ५३।

३ गोमट्टसार, जीवकाण्ड (से. बु. जं. सीरिज) पृ. १०४।

उदाहरणार्थ–$अ^{\frac{३}{२}}$ को अ के घन का प्रथम वर्गमूल कहा है। अ को अ का घन का घन कहा है। अ को अ के घन का वर्ग, या वर्ग का घन कहा है, इत्यादि।[१]

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि धवलाकार घातांक के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित थे जैसे–

$$(१)\ अ^{म}\ अ^{न} = अ^{म+न}$$

$$(२)\ अ^{म}\ अ^{न} = अ^{म-न}$$

$$(३)\ (अ^{म})^{न} = अ^{मन}$$

उक्त सिद्धान्तों के प्रयोग सम्बन्धी उदाहरण धवला में अनेक हैं। एक रोचक उदाहरण निम्न प्रकार[२] का है–कहा गया है कि २ के ७ वें वर्ग में २ के छठें वर्ग का भाग देने से २ का छठा वर्ग लब्ध आता है। अर्थात्

$$२^{२^{७}} / २^{२^{६}} = २^{२^{६}}$$

जब दाशमिक क्रम का ज्ञान नहीं हो पाया था तब द्विगुण क्रम और अर्धक्रम की प्रक्रियायें (The operations of duplation and mediation) महत्त्वपूर्ण समझी जाती थी। भारतीय गणितशास्त्र के ग्रन्थों मे इन प्रक्रियाओं का कोई चिह्न नही मिलता। किन्तु इन प्रक्रियाओ को मिश्र और यूनान के निवासी महत्वपूर्ण गिनते थे। उनके अंकगणित सबधी ग्रन्थो में वे तदनुसार की स्वीकार जाती थी।

धवला मे इन प्रक्रियाओ के चिह्न मिलते हैं। दो या अन्य संख्याओ के उत्तरोत्तर वर्गीकरण का विचार निश्चयतः द्विगुणक्रम की प्रक्रिया से ही परिफुटित हुआ होगा। और यह द्विगुणक्रम की प्रक्रिया दाशमिक क्रम के प्रचार से पूर्व भारतवर्ष में अवश्य प्रचलित रही होगी। उसी प्रकार अर्धक्रम–पद्धति का भी पता चलता है। धवला मे इस प्रक्रिया को हम २, ३, ४ आदि आधारवाले लघुरिक्थ सिद्धान्त में साधारणीकृत पाते है।

(घ) **लघुरिक्थ** : (Logarithm)

धवला में लघुरिक्थ सम्बन्धी निम्न पारिभाषिक शब्दो के लक्षण पाए जाते हैं।[३]

अर्धच्छेद : जितनी एक संख्या उत्तरोत्तर आधी आधी की जा सकती है, उतने उस संख्या के अर्धच्छेद कहे जाते है जैसे–$२^{म}$ के अर्धछेद = म

अर्धच्छेद का संकेत 'अछे' तथा लघुरिक्थ का सकेत 'लरि' मानकर इसे आधुनिक पद्धति में इस प्रकार रख सकते हैं–

क का अछे (या अछे क) = लरि क। यहां लघुरिक्थ का आधार २ है।

(२) **वर्गशलाका** : किसी संख्या के अर्धच्छेदों के अर्धच्छेद उस संख्या की वर्गशलाका होती है। जैसे क की वर्गशाला का = व श क = अछ अछक = लरि लरि क। यहा लघुरिक्थ का आधार २ है।

(३) **त्रिकच्छेद** : जितने बार एक संख्या उत्तरोत्तर ३ से विभाजित की जाती है, उतने उस संख्या के त्रिकच्छेद होते हैं। जैसे–क के त्रिकच्छेद = त्रिछे क = लरि ३ क। यहां लघुरिक्थ का आधार ३ है।

(४) **चतुर्थच्छेद** : जितने बार एक संख्या उत्तरोत्तर ४ से विभाजित की जा सकती है, उतने उस संख्या के चतुर्थच्छेद होते हैं। जैसे क के चतुर्थच्छेद = चछे क = लरि ४ क। यहा लघुरिक्थ का आधार ४ है।

१. धवला भाग–३, पृष्ठ–५३

२ वही–पृष्ठ–२५३

३. धवला भाग–३, पृष्ठ–२१ आदि।

(ङ) भिन्न : (Fraction)

अंकगणित में भिन्न की प्राय: सभी मौलिक प्रक्रियाओं का ज्ञान, धवला मे ग्रहण किया है। इनके अतिरिक्त धवला मे भिन्न-संबंधी अनेक ऐसे रोचक सूत्र पाये जाते हैं, जो अन्य किसी गणित संबंधी ग्रन्थ में नहीं मिलते। धवला भाग ३ की गाथा क्रमांक २४, २५, २७, २८, ३१, ३२ आदि गाथाओं में ऐसे, भिन्न के रोचक सूत्र प्राप्त होते हैं।

ये अवतरण अर्धमागधी अथवा प्राकृत ग्रन्थों के हैं। अनुमान यही होता है कि वे सब किन्हीं गणित संबंधी जैन ग्रन्थों से, अथवा पूर्ववर्ती टीकाओं से लिए गए हैं।

(च) **त्रैराशिक** : (Rule of Three)

त्रैराशिक क्रिया का धवला में अनेक स्थानों पर [1] उल्लेख और उपयोग किया गया है। इस प्रक्रिया सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द हैं–फल, इच्छा और प्रमाण–ठीक वही जो ज्ञात ग्रन्थों मे मिलते हैं। इससे अनुमान होता है कि त्रैराशिक क्रिया का ज्ञान और व्यवहार दाशमिक क्रम के आविष्कार से पूर्व भी वर्तमान था।

(छ) **अनन्त** · (Infinite)

भारतवर्ष में हिन्दू, बौद्ध और जैनो ने बहुत बडी संख्याओं का प्रयोग किया और उस कार्य के लिए उन्हों ने उचित सकेतों का भी अविष्कार किया। विशेषत: जैन दार्शनिकों ने लोक भर के समस्त जीवो, काल-प्रदेशों और क्षेत्र अथवा आकाश प्रदेशो आदि के प्रमाण का निरूपण करने का प्रयत्न किया है।

अनन्त का वर्गीकरण

धवला मे अनन्त का वर्गीकरण पाया जाता है। इस वर्गीकरण के अनुसार अनन्त के ग्यारह प्रकार हैं–

१–नामानन्त, २–स्थापनानन्त, ३–द्रव्यानन्त,
४–गणनानन्त, ५–अप्रदेशिकानन्त, ६–एकानन्त,
७–विस्तारानन्त, ८–उभयानन्त, ९–सर्वानन्त,
१०–भावानन्त तथा ११–शाश्वतानन्त।

इन ग्यारह अनन्तो में केवल 'गणनानन्त' ही संख्यात्मक अनन्त है और और इसी कारण यह गणितशास्त्र मे प्रयुक्त वास्तविक अनन्त के अर्थ में आया।

गणनानन्त : (Numerical Infinite)

धवला मे यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया है कि प्राकृत में अनन्त संज्ञा का प्रयोग गणनानन्त के अर्थ में ही किया गया है, अन्य अनन्तो के अर्थ में नहीं। [१] क्योंकि उन अन्य अनन्तो के द्वारा प्रमाण का प्ररूपण नहीं पाया जाता। यह भी कहा गया है कि 'गणनानन्त बहुवर्णनीय तथा सुगम है।'

दशवी शताब्दी मे आचार्य नेमिचन्द्र द्वारा लिखित त्रिलोकसार ग्रन्थ के अनुसार संख्याओ के मुख्य तीन भेद किए गये हैं–

(१) संख्यात
(२) असख्यात
(३) अनन्त।

१ धवला भाग–३, पृष्ठ–९९ और १०० आदि।

१. 'ण च सेसअणताणि पमाण परूवणाणि, तत्थ तधादंसणादो'–धवला, ३ पृष्ठ–१७
'ज त गणणाणंतं त बहुवण्णणीय सुगमच' धवला ३, पृ. १६।

उपर्युक्त तीन प्रकार के संख्या-प्रमाणों के पुन: तीन-तीन प्रभेद किए गए हैं जो निम्न प्रकार है-

(१) संख्याता (गणनीय) संख्याओं के तीन भेद—

(अ) जघन्य संख्यात (अल्पतम संख्या)
(ब) मध्यम संख्यात (बीच की संख्या)
(स) उत्कृष्ट सख्यात (सब से बडी संख्या)
(२) असंख्यात (अगणनीय) के भी तीन भेद हैं-
(अ) परीत-असंख्यात (प्रथम श्रेणी का असंख्य)
(ब) युक्त-असंख्यात (बीच का असंख्य)
(स) असंख्यात-असख्यात (असंख्य-असंख्य)

पूर्वोक्त इन तीनो भेदों में से प्रत्येक के पुन: जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के भेद से तीन प्रभेद होने के कारण असख्यात के कुल ९ भेद हो जाते है ।

(३) अनन्त के तीन भेद है—
(अ) परीत-अनन्त (प्रथम श्रेणी का अनन्त)
(ब) युक्त-अनन्त (बीच का अनन्त)
(क) अनन्त-अनन्त (नि:सीम अनन्त)

असख्यात के समान इन तीनो भेदो के भी प्रत्येक के पुन तीन-तीन प्रभेद होते है-जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । अत: अनन्त के भेदों में हमे निम्न ९ संख्याये प्राप्त होती है-

१-जघन्य परीतानन्त, २-मध्यम परीतानन्त,
३-उत्कृष्ट परीतानन्त, ४-जघन्य युक्तानन्त,
५-मध्यम युक्तानन्त, ६-उत्कृष्ट युक्तानन्त,
७-जघन्य अनन्तानन्त, ८-मध्यम अनन्तानन्त, तथा
९-उत्कृष्ट अनन्तानन्त ।

संख्यात का संख्यात्मक परिमाण

सभी जैन ग्रन्थो के अनुसार जघन्य संख्यात दो है, क्योकि, उन ग्रन्थो के मत से भिन्नता की बोधक यही सबसे छोटी संख्या है । एकत्व को संख्यात मे सम्मिलित नहीं किया गया । मध्य सख्यात मे २ और उत्कृष्ट सख्यात में बीच की समस्त गणना आ जाती है, तथा उत्कृष्ट संख्यात जघन्य परीतासंख्यात से पूर्ववर्ती अर्थात् एक कम गणना का नाम है।

असंख्यात :

ऊपर कहा जा चुका है कि असंख्यात के मुख्य तीन भेद हैं, और उन में से भी प्रत्येक के तीन भेद हैं । अत: आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार असंख्यात के निम्न प्रमाण प्राप्त होते हैं-

१-जघन्यपरीत-असंख्यात = उत्कृष्ट संख्यात + १
२-मध्यम-परीत-असंख्यात = जघन्य-परीत-असख्यात एवं उत्कृष्ट-परीत असंख्यात का मध्य
३-उत्कृष्ट-परीत-असंख्यात = जघन्य-युक्त-असंख्यात-१
४-जघन्य-युक्त-असंख्यात = (जघन्य-परीत-असंख्यात) ज प अ

५–मध्यम–परीत युक्त–असंख्यात = जघन्य–युक्त–असंख्यात एवं उत्कृष्ट–युक्त–असंख्यात का मध्य

६–उत्कृष्ट–युक्त असंख्यात = जघन्य–असंख्यातासंख्यात–१

७–जघन्य–असंख्यातासंख्यात = (जघन्य–युक्तानत)–२

८–मध्यम–असंख्यातासंख्यात = जघन्य असंख्यातासंख्यात एवं उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात का मध्य

९–उत्कृष्ट–असंख्यातासंख्यात = जघन्य–परीतानन्त–१

अनन्त :

अनन्त श्रेणी की संख्याए निम्न प्रकार हैं–

$$\text{क} = (\text{जघ. असंख्यातासंख्यात})^{(\text{ज अअ})^{(\text{ज अ अ})^{(\text{ज अ अ})^{(\text{जअअ})^{(\text{जअअ})^{(\text{जअअ})^{(\text{जअअ})}}}}}}}$$

$$\text{मान लो ख} = \text{क} + ६ \; (\text{द्रव्य})$$ [1]

$$\text{मान लो ग} = (\text{ख}^{\text{ख}}) \; \text{ख ख}) \; \Big(\qquad \Big) (\text{ख}^{\text{ख}}) \; \text{ख}^{\text{ख}}) \Big) + ४ \; \text{राशिया}^{(२)}$$

तब

$$१\text{–जघन्य–परीतानन्त} = \left((\text{ग}^{\text{ग}})^{\text{गग}} \right) \; \left((\text{ग}^{\text{ग}})^{\text{गग}} \right)$$

२–मध्यम–परीतानन्त = जघन्य परीतानन्त–एवं उत्कृष्ट परीतानन्त का मध्य ।

३–उत्कृष्ट–परीतानन्त = जघन्य–युक्तानन्त–१

४–जघन्य–युक्तानन्त = जघन्य परीतासंख्यात (ज प अ)

५–मध्यम युक्तानन्त = जघन्य युक्तानन्त एवं उत्कृष्ट युक्तानंत का मध्य ।

६–उत्कृष्ट युक्तानन्त = जघन्य–अनन्तानन्त–१

उत्कृष्ट–अनन्तानन्त आचार्य नेमिचन्द्र के अनुसार निम्न प्रकार प्राप्त होता है—

$$\text{क्ष} = \left((\text{जघन्य–अनंतानंत})^{\text{ज न न}} \right)^{(\text{जनन})^{\text{जनन}(\text{जनन})^{\text{जनन}(\text{जनन})^{\text{जनन}}}}}$$

$$+ \text{छह राशियां}$$ [3]

---

१. छह द्रव्य मे हैं– (१) धर्म, (२) अधर्म, (३) एक जीव (४) लोकाकाश, (५) अप्रतिष्ठित (वनस्पति जीव), और (६) प्रतिष्ठित (वनस्पति जीव)।

२. चार राशिया में हैं– (१) एक कल्पकाल के समय, (२) लोकाकाश के प्रदेश, (३) अनुभाग बंध अध्यवसायस्थान और (४) योग के अविभाग प्रतिच्छेद

३. छह राशिया ये हैं–(१) सिद्ध, (२) साधारण वनस्पति निगोद, (३) वनस्पति, (४) पुद्गल (५) व्यवहार काल और (६) अलोकाकाश ।

$$\text{त्र} = \left((\text{क्ष}^{\text{क्ष}})^{\text{क्ष क्ष}} \right) (\text{क्ष}^{\text{क्ष}})^{\text{क्ष क्ष}} \Big) + \text{दो राशियां}$$ [1]

$$\text{ज्ञ} = \left((\text{त्र}^{\text{त्र}})^{\text{त्र त्र}} \right) (\text{त्र}^{\text{त्र}})^{\text{त्र त्र}}$$

नोट–अनंतानंत का संकेत न न है और जघन्य का संकेत–ज

७–जघन्य–अनन्तानन्त = $(\text{जघन्य-युक्तानन्त})^{२}$

८–मध्यम–अनन्तानन्त = जघन्य-अनन्तानन्त एवं उत्कृष्ट अनन्तानन्त का मध्य

९–उत्कृष्ट अनन्तानन्त ऊपर कह आए हैं।

इस प्रकार त्रिलोकसारान्तर्गत विवरण हमे कुछ संशय में ही छोड़ देता है कि परीतानन्त और युक्तानन्त के तीन–तीन प्रकार तथा जघन्य-अनन्तानन्त सचमुच अनन्त है या नहीं क्योंकि ये सब असंख्यात के ही गुणनफल कहे गए है।

इसके विपरीत धवला का अनन्त सचमुच अनन्त ही है, क्योंकि यहां यह स्पष्ट कह दिया है कि "व्यय होने से जो राशि नष्ट हो जाय वह अनन्त नहीं कही जा सकती।"[2] धवला में यह भी कह दिया है कि अनन्तानन्त से सर्वत्र तात्पर्य मध्यम–अनन्तानन्त से है। अतः धवलानुसार मध्यम–अनन्तानन्त, अनन्त ही है।

(ज) उपसंहार—

जैनो के धार्मिक साहित्य के चार अनुयोगों मे एक 'करणानुयोग' है, जो वस्तुतः गणितानुयोग ही है। इसी से जैन दर्शन मे गणित–विज्ञान की महत्ता का पता चलता है।

जैन आचार्यों द्वारा लिखित गणित ग्रन्थ अब प्रायः लुप्त हो गए हैं। श्री महावीराचार्य कृत 'गणितसार संग्रह' मात्र वर्तमान मे उपलब्ध है। सन् १९१२ मे रंगाचार्य द्वारा 'गणितसार संग्रह' की खोज और प्रकाशन के समय मे विद्वानो को आभास होने लगा था कि गणितशास्त्र की ऐसी भी एक शाखा रही है जो कि पूर्णत. जैन विद्वानो द्वारा चलाई जाती थी।[3] हाल ही मे जैन आगम के कुछ ग्रन्थों के अध्ययन से जैन गणितज्ञ और गणित ग्रन्थो सम्बन्धी उल्लेखो का पता चला है।[4] हमारा जैन गणित विज्ञान सम्बन्धी खण्डित ज्ञान सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, त्रिलोकसार आदि गणितेतर ग्रन्थो में सुरक्षित हैं। अब इन ग्रन्थों में धवला का भी नाम जुड़ गया है।

प्रस्तुत निबन्ध में हमने षट्खण्डागम की धवला टीका में प्रतिबिम्बित गणितशास्त्र के सिद्धान्तों और प्रतिक्रियाओं का संक्षेप में वर्णन करने का प्रयत्न किया है।

इस निबन्ध की बहुल सामग्री 'षट्खण्डागम' भाग–५ अन्तरभावाल्पबहुत्वानुगमाः के प्रारंभ में प्रकाशित धवला का गणितशास्त्र नामक निबन्ध से ग्रहण की गई है। अतः मैं उसके लेखक डा. अवधेश नारायणसिंह, प्रोफेसर, लखनऊ विश्वविद्यालय, तथा उसके हिन्दी अनुवादक, डा. प्रफुल्ल कुमार मोदी, जबलपुर का अत्यन्त आभारी हूं।

---

१. ये दो राशियां हैं–(१) धर्म द्रव्य, (२) अधर्म द्रव्य। इन दोनों के अगुरुलघुगुण के अविभाग प्रतिच्छेद।

२. 'सते वए णट्ठंतस्य अणंतत्तविरोहादो' धवला ३, पृ. २५।

३. देखो–रंगाचार्य द्वारा सम्पादित 'गणितसार संग्रह' की प्रस्तावना, डी. ई. स्मिथ द्वारा लिखित,

४. बी. दत्त. गणितशास्त्रीय जैन शाखा, बुलेटिन कलकत्ता गणित सोसायटी, जिल्द २१(१९१९) पृ. मद्रास १९१२ मद्रास, १९१२ पृ. ११५ से १४५।

धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान का विश्लेषण

श्री. पं. डॉ. पन्नालालजी साहित्याचार्य
जबलपुर

अनादिकाल से संश्लिष्ट जीव और पुद्गल द्रव्य की इस संयोगी पर्याय मे जब तक एकत्व विभक्त तथा शुद्धज्ञायक स्वभाववाले आत्मा का पृथक् से अनुभव नही होता तब तक यह जीव संसार परिभ्रमण से मुक्त नही हो सकता। इसलिये सर्व प्रथम प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा जीव और पुद्गल का विभागकर शुद्ध आत्म स्वभाव की प्रतीति करना चाहिये। जिस प्रकार नो कर्म-शरीर, द्रव्य कर्म और भाव कर्म से आत्मा भिन्न है, उसी प्रकार ज्ञेय ज्ञायक भाव की अपेक्षा ज्ञान में झलकने वाले ज्ञेयाकार और भाव्य भावक भाव की अपेक्षा आत्मा मे होनेवाले भाव्य-रागादिक भाव से भी आत्मा भिन्न है-अर्थात् ये सब आत्मा की स्वाश्रित परिणतिरूप नही है। शुद्ध आत्म स्वभाव की दृढ प्रतीति के लिये आत्मध्यान की आवश्यकता है।

आत्माश्रित ध्यान की सिद्धी के लिये सब से पहले शरीर मे ममत्व बुद्धि छोड़कर आत्मा में आत्मबुद्धि करना चाहिये। शरीर में परत्वबुद्धि होते ही रागद्वेष की जड़ कट जाती है, क्योंकि रागद्वेष का प्रारम्भ शरीर में आत्मबुद्धि होने से ही होता है। शरीर मे राग होने से शरीर को सुख देने वाले पदार्थो मे इष्ट बुद्धि होती है और शरीर को दुःख देनेवाले पदार्थो मे अनिष्ट बुद्धि होती है। यह इष्ट अनिष्ट बुद्धि ही राग द्वेष की जनक है। इस संदर्भ मे यह भी विचार करने योग्य है कि इस इष्ट अनिष्ट बुद्धि का जनक कौन है ? विचार करने पर विदित होता है कि इस को जनक वह विपरीत मान्यता है, जिस के कारण यह श्रद्धा होती है कि पर पदार्थ सुख दुःख को देनेवाले हैं। परमार्थ से सुख आत्मा का अनुजीवी गुण है और दुःख उसकी वैभाविक पर्याय है। तात्पर्य यह है कि सुख दुःख की उत्पत्ति आत्माश्रित है, पर पदार्थ के आश्रित नही। जिस सर्प को देख कर हम भयभीत होते हैं, सपेरा उसी सर्प को अपने पिटारे में रख उससे अपनी आजीविका करता है। विपरीत मान्यता मिथ्यात्व की ही आकृति है, अतः यह स्पष्ट है कि मिथ्यात्व ही इष्ट अनिष्ट बुद्धि का जनक है। इस इष्ट अनिष्ट बुद्धि से ही पर पदार्थों का संग्रह और निराकरण होता है। इसी भाव से उपयोग की चञ्चलता होती है और उपयोग की चञ्चलता से ध्यान मे बाधा आती है।

आचार्योंने ध्यान का लक्षण कहा है, उत्तम संहनन वाले जीव का किसी पदार्थ मे अन्तर्मुहूर्त के लिये जो चिन्ता का निरोध होता है वही ध्यान है। उस ध्यान के आर्त रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार भेद है। आर्ति-पीडा के समय जो होता है वह आर्त ध्यान कहलाता है। इस के इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, वेदनाजन्य और निदान के भेद से चार भेद है। रुद्र-परिणामो की क्रूरता-से जो ध्यान होता है उसे रौद्र ध्यान कहते है। इस के हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द के भेद से चार भेद हैं। ये दोनो ध्यान संसार के कारण होने से त्याज्य है-छोड़ने योग्य हैं। आर्तध्यान तारतम्य लिये हुए षष्ठ गुणस्थान तक होता है। ध्यान रहे की षष्ठ गुणस्थान में निदान नामका आर्त ध्यान नही होता। रौद्रध्यान तारतम्य लिये हुए पञ्चम गुणस्थान तक होता है।

धर्म-आत्मस्वभाव को उजागर करने के लिये जो ध्यान होता है उसे धर्म्यध्यान कहते है। इसके आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय के भेद से चार भेद है। तत्त्वार्थ सूत्रकार की परम्परा मे धर्म्यध्यान चतुर्थगुण स्थान से लेकर सप्तम गुणस्थान तक माना गया है, परन्तु षट्खण्डागम के टीकाकार

वीरसेन स्वामी ने चतुर्थ से लेकर दशम गुणस्थान तक माना है। उनका अभिप्राय यह रहा मालूम होता है कि कषाय सहित जीव के शुक्ल ध्यान संभव नहीं होता। अतः कषायोदय का अभाव होने पर ग्यारहवें गुणस्थान से शुक्लध्यान होता है उसके पूर्व धर्म्यध्यान।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं–पृथक्त्व वितर्क विचार, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निर्वति। तत्त्वार्थ सूत्रकार की परम्परा मे पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्लध्यान श्रेणी में अष्टम गुणस्थान से लेकर एकादश गुणस्थान तक होता है। यह तीन योगवाले मुनियों के होता है और संज्वलन कषाय के उदय मे होनेवाली इच्छा के कारण द्रव्य, गुण पर्याय, शब्द तथा अर्थ (ध्येय वस्तु) में परिवर्तित होता रहता है। दूसरा एकत्व वितर्क शुक्लध्यान बारहवे गुणस्थान मे होता है तथा इच्छा के अभाव में द्रव्य, गुण आदि के परिवर्तन से रहित (अविचार रूप) होता है और तीन योगो मे से किसी एक योग के आश्रय से होता है। सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति शुक्लध्यान तेरहवे गुणस्थान मे तब प्रकट होता है जब मात्र काययोग की सूक्ष्म परिणती शेष रह जाती है और व्युपरत क्रिया निर्वति शुक्लध्यान योग की परिणती का अभाव होने पर चौदहवें गुणस्थान में होता है। तत्त्वार्थ सूत्रकार की परम्परा मे प्रथम शुक्लध्यान से चारित्र मोह की उपशमना और क्षपणा विधि होती है। द्वितीय शुक्लध्यान से बारहवे गुणस्थान में शेष तीन घातिया कर्मों का क्षय होता है, तृतीय शुक्लध्यान से तेरहवे गुणस्थान में अत्यधिक निर्जरा होती है और चतुर्थ शुक्ल ध्यान से चौदहवे गुणस्थान मे ८५ कर्म प्रकृतियो का क्षय होकर मोक्ष की प्राप्ति होती है। वीरसेन स्वामी ने श्रेणी मे होनेवाले धर्म्यध्यान को ही मोहनीय कर्म की क्षपणा का कारण माना है। उन्हो ने धवला की तेरहवी पुस्तक मे धर्मध्यान की भी अद्भुत दृढता बतलाते हुए शुक्ल ध्यान के सदृश कहा है। अर्थात् दृढता की अपेक्षा दोनो मे भेद नही है। इस संदर्भ में धवला की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य है–

१ सच्चं एदेहि दोहि वि सरूवेहि दोण्णं झाणाणं भेदाभावादो। किंतु धम्मज्झाणमेयवत्थुम्हि थोवकालावट्ठाइ। कुदो? सकसायपरिणामस्स गब्भहरत ट्ठिवपईकस्सेव चिरकालमवट्ठाणाभावादो। धम्मज्झाणं सकसायसु चेव होदित्ति कथं ण व्वदे? असंजद सम्मादिठ्ठि–संजदासंजद पमत्तसंजद–अप्पमत्तसंजद अपुव्वसंजद–अणियट्टिसंजद सुहुमसांपराइय खवगोव सामसमु धम्मज्झाणस्स पवुत्ती होदित्ति जिणोव एसादो।

सुक्कज्झाणस्स पुण एक्कम्हि वत्थुम्हि धम्मज्झाणावट्ठाणकालादो संखेज्जगुणकालमवट्ठाणं होदि। वीयराय परिणामस्स मणिसिहाए व बहुएण वि कालेण संचाला भावादो।

अर्थात् सच है कि स्वरूप की अपेक्षा दोनो ध्यानो मे भेद का अभाव है किन्तु धर्म्यध्यान एकवस्तु में अल्प समय तक स्थित रहता है क्योंकि कषाय परिणाम से सहित जीव का धर्मध्यान गर्भगृह में स्थित दीपकके समान एक वस्तु मे चिरकाल तक स्थित नही रहता। कषायसहित जीव के धर्म्यध्यान होता है, यह कैसे जाना जाता है? असयत सम्यग्दृष्टि सयतासंयत, प्रमत्त विरत, अप्रमत्त विरत, अपूर्वकरण विरत, अनिवृत्ति करण विरत, और सूक्ष्मसाम्पराय विरत, उपशमक तथा क्षपक जीवो में धर्म्यध्यान की प्रवृत्ति होती है यह जिनोपदेश जाना जाता है।

शुक्लध्यान एक वस्तु मे धर्म्यध्यान की स्थिति के काल से असख्यात गुणित काल तक अवस्थित रहता है क्योंकि वीतराग परिणाम वाले जीव का शुक्लध्यान एक वस्तु मे मणि की शिखा के समान बहुत काल में भी चञ्चल नहीं होता।

इस दृढता के कारण ही शुक्लध्यान मोक्ष का साक्षात कारण माना गया है और धर्म्यध्यान परम्परा से। छद्मस्थ जीव का ज्ञानोपयोग पदार्थ मे क्रम से प्रवृत्त होता है अत. उस में ध्यान का एकाग्र चिन्ता निरोध रूप

१. धवला पुस्तक १३ पृष्ठ ७४

लक्षण अच्छी तरह घटित हो जाता है परन्तु केवली का ज्ञानोपयोग एक साथ अनन्त पदार्थों में प्रवृत्त होता है अतः ध्यान का लक्षण उपचार से घटित होता है। उपचार का कारण है कर्मनिर्जरा का अत्यधिक होना। ध्यान का फल कर्म निर्जरा है वह चूंकि उनके अत्यधिक होती है अतः ध्यान स्वीकृत किया गया है।

धर्म्यध्यान को अन्य ग्रन्थो में-अपाय विचय २ उपाय विचय ३ जीव विचय ४ अजीव विचय ६ विपाक विचय ६ विराग विचय ७ भव विचय ८ संस्थान विचय ९ आज्ञा विचय और १० हेतु विचय के नाम से दशभेद भी प्रचलित हैं। इनका विस्तृत स्वरूप मैंने स्वरचित सज्ज्ञान चन्द्रिका मे दिया है। ज्ञानार्णव में शुभचन्द्राचार्य ने संस्थान विचय धर्म्यध्यान के अन्तर्गत १ पार्थिवी २ आग्नेयी ३ मारुती ४ वारुणी और ५ तत्त्वरूपवती इन पांच धारणाओका भी वर्णन किया है। इस लघुलेख में सब का वर्णन करना शक्य नही। इनका स्वरूप शुभचन्द्राचार्यने ज्ञानार्णव मे तथा मैंने स्वरचित सज्ज्ञानचन्द्रिका के दशम प्रकाश मे दिया है।

जिस प्रकार वज्रपात से बडे बडे पर्वत टूट जाते है उसी प्रकार समीचीन ध्यान से चिरसंचित कर्मसमूह टूट जाते हैं-निर्जीर्ण होकर क्षय को प्राप्त हो जाते हैं। '**स्थिरीभूतं ज्ञानं ध्यानम्**' स्थिर ज्ञान को ध्यान कहते हैं इस व्याख्या से ध्यान ज्ञान की पर्याय है और वह स्थिरता कषाय-रागद्वेष के अभाव मे होती है इस विवक्षा से ध्यान चारित्र की पर्याय है। छह प्रकार के अन्तरग तपों में ध्यान का उत्कृष्ट स्थान है। मोक्षाभिलाषी पुरुष को ध्यान का निरन्तर अभ्यास करना चाहिये। यद्यपि इस समय शुक्लध्यान का होना सभव नही हैं तथापि धर्म्यध्यान सभव है। जिस जीव के ज्ञान की पूंजी अधिक होगी उसके लिये ध्यान की प्राप्ति सरलता से हो जाती है। उत्कृष्टता की अपेक्षा प्रथम और द्वितीय शुक्लध्यान की पात्रता का वर्णन करते हुये आचार्य ने लिखा है '**शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः** अर्थात् प्रथम और द्वितीय शुक्लध्यान पूर्व के ज्ञाता पुरुष के होते हैं। तृतीय और चतुर्थ शुक्लध्यान तो केवली के ही होते है, छद्मस्थ के किसी भी प्रकार सभव नही है।

ध्यान की साधना के लिये श्रुत का आलम्बन महत्त्वपूर्ण होता है। जिस प्रकार पुष्पित-फलित उद्यान में पहुचने पर मर्कट की निसर्ग जात चपलता शान्त हो जाती है, उसी प्रकार गुण पर्याय और द्रव्य के विवेचन से परिपूर्ण शास्त्र मे मन की चञ्चलता समाप्त हो जाती है। श्रुत में भी प्रमुख रूप से करणानुयोग का श्रुत, ध्यान के लिये परम सहायक माना जाता है। जिस प्रकार गणित का प्रश्न हल करने के लिये मन की स्थिरता आवश्यक है, उसी प्रकार करणानुयोग-श्रुत के अभ्यास के लिये मन की स्थिरता अत्यन्त आवश्यक है। इसीलिये साधु को ज्ञान-स्वाध्याय और ध्यानरूपी तप मे लीन होने की बात कही गई है।

विदर्भ का सांस्कृतिक केन्द्र

श्री. प्राचार्य डॉ. विद्याधरजी जोहरापुरकर
एम. ए., पीएच. डी.
केवलारी (म. प्र.)

हमारी जन्मभूमि और पं देवकीनन्दनजी की कर्मभूमि कारजा नगर महाराष्ट्र राज्य के पूर्वभाग (जिसे प्राचीन समय मे विदर्भ एव मध्ययुग मे वऱ्हाड कहते थे) में अकोला जिले मे स्थित है। कुछ ही वर्ष पूर्व इसे तहसील मुख्यालय बनाया गया है। यह नगर लगभग पाच सौ वर्षो से विदर्भ के जैन समाज की सांस्कृतिक

गतिविधियो का केन्द्र रहा है। ईसवी सन १५०० के कुछ पहले यहां एक ओर से राजस्थान के श्रीमान श्रावको का और दुसरी ओर से कर्णाटक के धीमान आचार्यों का आगमन हुआ। इस संयोग से लक्ष्मी और सरस्वती के दुर्लभ साहचर्य का जो प्रारम्भ हुआ वह निरन्तर आज तक बना हुआ है। इन पाच शतकों की एक संक्षिप्त झलक यहा प्रस्तुत की जाती है।

कारंजा के तीन मन्दिर और यहां के भट्टारकों से सम्बन्धित विदर्भ के शताधिक स्थानों से जो सामग्री (मूर्तिलेख और पोथियो के उद्धरण) प्राप्त हुई है उस में सुपार्श्वनाथ मन्दिर (जो सेनगण मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है) के भट्टारक सोमसेन का सन १४८५ का लेख सब से पुराना है। यह नांदगाव (अमरावती के पास) तथा अकोला की दो मूर्तियो से प्राप्त हुआ है। इन के प्रतिष्ठापक खटोड गोत्रीय साहू लखमण थे। उनके यशस्वी पूर्वज चितोड के कीर्तिस्तम्भ के निर्माता साहू जीजा और पूना की कीर्तिगाथा इस लेख की विशेषता है।

सोमसेन के उत्तराधिकारी गुणभद्र का कोई विवरण नहीं मिलता। उन के बाद के भट्टारक वीरसेन ने कर्णाटक में विहार किया था ऐसा पट्टावली मे कहा है। इन के बाद के भट्टारक युवतवीर का भी कोई विवरण नही मिलता। उनके बाद के भट्टारक माणिकसेन के उपदेश से गुजरपल्लीवाल ज्ञाति के नेमा द्वारा स्थापित सन १५०२ की एक मूर्ति नागपुर मे है। इन के बाद गुणभद्र और फिर लक्ष्मीसेन भट्टारक हुए। इन की प्रशंसा में सोमविजय द्वारा लिखित कुछ छप्पय उपलब्ध हैं। इन के उत्तराधिकारी सोमसेन का कृष्णपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र प्राप्त हुआ है तथा इन के द्वारा सन १५४० मे स्थापित एक मूर्ति का लेख आर्वी से मिला है। इन के बाद के भट्टारक माणिक्यसेन के शिष्य नागोआया ने आकोट में मराठी यशोधरचरित की रचना की थी। इन के उत्तराधिकारी गुणभद्र का कोई विवरण प्राप्त नही है। इस प्रकार सेनगण के सोलहवी शताब्दी के नौ भट्टारकों के केवल पाच सन्दर्भ मिल सके हैं।

सत्रहवी शताब्दी के सेनगण के भट्टारको की संख्या तीन और उन के सन्दर्भों की संख्या बारह हैं। गुणभद्र के शिष्य सोमसेन द्वारा सन १६०० मे जितूर मे रामपुराण की रचना की गई तथा १६१० में धर्मरसिक त्रैवर्णिकाचार लिखा गया। सन १६३९ मे इन के द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तिया कारंजा, नागपुर तथा शिरपुर में मिली है। इन के शिष्य अभयपडित की हिन्दी रविव्रत कथा उपलब्ध है। सोमसेन के उत्तराधिकारी जिनसेन का जन्म खभात मे हुआ था। वे हुबड ज्ञाति के रायमल के पुत्र थे तथा उन की प्रारम्भिक शिक्षा पद्मनन्दि के पास हुई थी। उन के शिष्य सावला गोत्रीय वीरासाहू द्वारा सन १६५५ में स्थापित पार्श्वनाथ मूर्ति नागपुर में, खंडेलवाल भाऊसा द्वारा सन १६५८ मे स्थापित जिनमूर्ति कारंजा मे तथा धाकड ज्ञाति के कान्हा द्वारा सन १६८५ मे स्थापित जिनमूर्ति कोंढाळी में उपलब्ध है। चवरे गोत्रीय सोयरा द्वारा सन १६६९ में समवशरणपीठिका नामक पोथी लिखवाकर उन्हे अर्पित की गई। अचलपुर मे जिनसेन को विषबाधा हुई किन्तु उन्हों ने विषापहार स्तोत्र के पठन से ही उस पर विजय पाई। उन्हो ने गिरनार, सम्मेदशिखर, रामटेक और माणिकस्वामी की तीर्थयात्रा की थी। उनके एक शिष्य देउलगाव निवासी रत्नसाहू द्वारा सन १६८८ मे लिखित दो पोथियों से अनेक महत्वपूर्ण मराठी रचनाएं मिली हैं। जिनसेन के उत्तराधिकारी समन्तभद्र हुए। इन के देउलगांव निवासी शिष्य सोयरा द्वारा रचित मराठी कर्माष्टमी कथा उपलब्ध है।

अठारहवीं शताब्दी में सेनगण के चार भट्टारक हुए। इन के बीस सन्दर्भ उपलब्ध है। समन्तभद्र के उत्तराधिकारी छत्रसेन द्वारा सन १७०३ में कागल में आदीश्वर भवान्तर नामक मराठी कविता लिखी गई। हिन्दी में द्रौपदीहरण, समवशरण छप्पय, तथा झूलना एवं संस्कृत में अनन्तनाथस्तोत्र, पद्मावती स्तोत्र, मेरूपूजा एव पार्श्वनाथपूजा की रचना भी छत्रसेन ने की। इन के शिष्य हीरापंडित ने बुरहानपुर में हिन्दी अनिरुद्धहरण काव्य लिखा। अर्जुनसुत और बिहारीदास द्वारा छत्रसेन की प्रशंसा में रचित कुछ हिन्दी छन्द भी उपलब्ध है। इन के

उत्तराधिकारी नरेन्द्रसेन ने सूरत मे सन १७३४ में यशोधरचरित की एक प्रति लिखवाई थी। सन १७३० में इन के द्वारा गंगराडा गोपाल के लिये प्रतिष्ठापित ज्ञानयंत्र कलमेश्वर मे है। पार्श्वनाथपूजा और वृषभनाथ पालना ये नरेन्द्रसेन की हिन्दी रचनाएं प्राप्त है। देउलगांव निवासी सोयरा द्वारा रचित हिन्दी कैलास छप्पय (सन १७५१) से ज्ञात होता है कि नरेन्द्रसेन ने चम्पापुर मे एक वाद में विजय प्राप्त किया था। इन के उत्तराधिकारी शान्तिसेन हुए। तानूपंडित द्वारा उन की प्रशसा में लिखित हिन्दी छन्दो से ज्ञात होता है कि शान्तिसेन की माता का नाम चन्दाबाई और पिता का नाम फूटान सेठ था। उन्होंने मूडबिद्री को यात्रा की थी। इन के द्वारा सन १७५१ में स्थापित मूर्तिया कारजा और नागपुर मे है। इसी वर्ष इनके वासिम निवासी शिष्य यमासा ने मराठी रविव्रतकथा लिखी थी। सन १७५६ मे शान्तिसेन ने नेवा ज्ञाति के चिन्तामणसा के लिए पार्श्वनाथमूर्ति प्रतिष्ठापित की। इन की शिष्या शिखरश्री के शिष्य वाणारसीदास ने सन १७६० मे देउलगाव मे हरिवशरास की प्रति लिखी। इन के शिष्यवर्ग की सन १७६८ मे हुई रामटेक यात्रा का वर्णन रतन की एक हिन्दी कविता मे मिलता है। रतन की मराठी गुरू आरती से ज्ञात होता है कि शान्तिसेन के उत्तराधिकारी सिद्धसेन कोल्हापुर से आये थे। ये सन १७७० से १८२२ तक भट्टारक पद पर रहे। इन के शिष्य राघव की गुरुस्तुति मे कारजा के धार्मिक वातावरण का अच्छा चित्रण है। माघव लिखित गुरूपूजा तथा यमासा लिखित छप्पयो मे सिद्धसेन की प्रशसा मिलती है। इन के शिष्य रत्नकीर्ति द्वारा मराठी मे उपदेश रत्नमाला तथा आराधना कथाकोश ये विस्तृत ग्रन्थ लिखे गये।

सिद्धसेन के स्वर्गवास के बाद दस वर्ष भट्टारक पद रिक्त रहा। फिर लक्ष्मीसेन भट्टारक हुए। इन के पदारोहण का वर्णन करनेवाली एक मराठी कविता मिली है। ये सन १८३२ से १८६७ तक पट्टाधीश रहे। इन के कार्यकाल का विशेष विवरण प्राप्त नही हो सका। कारंजा के सेनगण के अन्तिम भट्टारक वीरसेन स्वामी सन १८८० से १९३९ तक पट्टाधीश रहे। कारजा, नागपुर, वासिम, पिंपरी आदि अनेक स्थानो पर प्रतिष्ठा समारोह उनके निर्देशन में सपन्न हुए। उनका मूलस्थान मुडबिद्री और मूलनाम चन्द्रय्या था। उनकी विशेष ख्याति समयसार के प्रवचनो के लिए थी। दूरदूर से अध्यात्मरसिक श्रोता उनके प्रवचन सुनने आते थे।

कारजा के शेष दो मन्दिरो के मूलनायक चन्द्रनाथ है। इन मे से एक मूलसंघ के बलात्कारगण का तथा दूसरा काष्ठासघ का है। बलात्कारगण के यहा के भट्टारक मलयखेड-सिहासनाधीश कहलाते थे। मलखेड कर्णाटक के गुलबर्गा जिले का पुरातन स्थान है। कहते है कि वहां के भट्टारक धर्मभूषण सन १५१८ मे मुक्तागिरि की यात्रा के लिए आये थे। यहा उन का स्वर्गवास हो गया और उन की शिष्य परम्परा यहा आगे चलती रही। सोलहवी शताब्दी मे यहा के तीन भट्टारको के छह सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। इन में पहला सन १५६५ का मूर्तिलेख है। यह मूर्ति भुरा गोत्रीय रतन के लिए भट्टारक धर्मचन्द्र ने प्रतिष्ठापित की थी। इन के उत्तराधिकारी धर्मभूषण का सन १५८१ का एक मूर्तिलेख मिला है। इस मे ठवला गोत्रीय पासूसा प्रतिष्ठापक के रूप मे उल्लिखित है। तीसरे भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की दो रचनाए नेमिनाथ पूजा और नन्दीश्वरपूजा उपलब्ध है। इनके एक शिष्य विशालकीर्ति द्वारा मराठी मे धर्मपरीक्षा ग्रन्थ लिखा गया। सन १५९२ मे नादगाव मे गगराडा आदशेटी ने मराठी द्वादशानुप्रेक्षा की प्रति लिखी थी। इस मे गुरुरूप मे देवेन्द्रकीर्ति उल्लिखित है।

सत्रहवी शताब्दी मे बलात्कारगण के पाच भट्टारक और उनके चौवीस सन्दर्भ ज्ञात होते है। इन में पहला मूर्तिलेख सन १६१२ का है। यह जिन्तूर के समीप नेमगिरी के गुहमन्दिर में है। यहा नेमिनाथ की भव्य प्रतिमा के पादपीठ पर सस्थापक वीरसंघवी और उनके परिवारजनो की सुन्दर आकृतियां अकित है तथा प्रतिष्ठापक गुरु का नाम कुमुदचन्द्र बताया है। इन के शिष्य वीरदास द्वारा सन १६१५ में लिखी गई विश्वतत्व-प्रकाश की एक प्रति उपलब्ध है। कुमुदचन्द्र रचित पार्श्वनाथपूजा भी प्राप्त है। उपर्युक्त वीरदास ने अगले भट्टारक धर्मचन्द्र के समय सन १६२७ मे मराठी सुदर्शन-चरित की रचना की। इसकी प्रशस्ति के अनुसार

वीरदास सैतवाल ज्ञाति के थे और बाद मे पार्श्वकीर्ति नाम से ख्यात हुए । इन की शिष्य परम्परा औरंगाबाद में चलती रही । इनके द्वारा सन १६३० में प्रतिष्ठित कलिकुंडयंत्र के लेख मे गोलसिंघारा ज्ञाति के बरहरसाह का नाम अंकित है । धर्मचन्द्र द्वारा सन १६३८ में स्थापित पद्मप्रभ मूर्ति के लेख मे पंचम ज्ञाति के हिरोजी का तथा सन १६४५ के चौवीसी मूर्ति के लेख मे खंडारिया गोत्रीय श्रावण का नाम अंकित है । सन १६४८ में धर्मचन्द्र ने चवरे गोत्रीय जिनासा के साथ गोमटेश्वर की यात्रा की थी । इन के एक शिष्य द्विज वासुदेव ने गुरूपूजा लिखी तथा दूसरे शिष्य शैव कृष्णाजी दत्त ने धर्मामृत की एक प्रति लिखी । धर्मचन्द्र के उत्तराधिकारी धर्मभूषण के चार मूर्तिलेख प्राप्त हैं । इन मे सन १६५० मे हुबड ज्ञाति के धर्मचन्द्र, १६५४ में नेवा ज्ञाति के गणासा १६५७ मे हरसोरा गोत्रीय गणासा तथा १६६८ मे इसी गोत्र के नेमा ये श्रावक उल्लिखित हैं । धर्मभूषण रचित रत्नत्रय उद्यापन प्राप्त है । इन के पट्टशिष्य विशालकीर्ति के विषय मे कोई विवरण प्राप्त नही है । दूसरे शिष्य अजितकीर्ति की शिष्य परम्परा लातूर में चलती रही । विशालकीर्ति के उतराधिकारी धर्मचन्द्र हुए । इन के सन १६८५ के एक मूर्तिलेख में उज्जैनीपल्लीवार ज्ञाति के श्रावक गोदासा का नाम अंकित है । पडित गंगादास धर्मचन्द्र के प्रमुख शिष्य थे । इनकी रचनाओं मे मराठी पार्श्वनाथ भवान्तर, हिन्दी रविव्रतकथा, त्रेपनक्रियाविनती तथा जटामुकुट एव सस्कृत मेरुपूजा, समेदाचलपूजा एव क्षेत्रपालपूजा सम्मिलित हैं । इन मे पहली रचना सन १६९० और दूसरी सन १६९३ की हैं ।

अठारहवी सदी मे बलात्कारगण के तीन भट्टारको के पैंतालीस सन्दर्भ मिलते है । धर्मचन्द्र के उत्तराधिकारी देवेन्द्रकीर्ति का एक मूर्तिलेख सन १७०० का है । इनकी दो रचनाएँ कल्याणमन्दिरपूजा और विषापहारपूजा उपलब्ध हैं । सन १७२१ मे गोमटेश्वर की तथा सन १७२८-२९ मे मागीतुगी, शत्रुंजय, गिरनार, केशरियाजी, तारगा और गजपंथ की यात्रा उन्होने की । सूरत मे हुबड जाति के आनंद ने उन्हे नागकुमारचरित की प्रति अर्पित की तथा आर्यिका पासमति द्वारा प्राप्त धन से श्रीचन्द्रकथाकोश की प्रति उन्होने लिखवाई । आगरा के व्यापारी जीवनदास पहले ये परिग्रहधारी है ऐसा सोचकर विरोधभाव रखते थे, परन्तु प्रत्यक्ष मिलने पर उनके तत्वज्ञान के प्रशंसक बने । देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य जिन सागर की तीस रचनाओ का संग्रह प्रकाशित हुआ है । इन मे जीवंधरपुराण (सन १७३४), सात व्रतकथाएँ, पद्मावतीकथा, लवकुशकथा, सात स्तोत्र तथा सात आरतियाँ ये मराठी में हैं । चार पूजापाठ सस्कृत मे तथा दो कविताएँ हिन्दी मे है । रत्नसागर, चन्द्रसागर, रुपजी तथा वीरजी ये देवेन्द्रकीर्ति के अन्य शिष्य थे ऐसा यात्रावर्णन के छन्दो से ज्ञात होता है । इनके बाद के भट्टारक धर्मचन्द्र द्वारा सन १७३६ मे पद्मावती मूर्ति, १७७० मे पार्श्वनाथ मूर्ति तथा १७७४ मे ऋषिमडल यंत्र की स्थापना की गई थी । इनके शिष्य वृषभ ने हिन्दी रविव्रतकथा के दो संस्करण लिखे । एक मे शातमती और इदुमती आर्यिका तथा दूसरे मे गंगेरवाल हीरबा और रघुजी के आग्रह का उल्लेख है तथा इनका रचनाकाल सन १७७२ और १७७७ है । धर्मचन्द्र के उत्तराधिकारी देवेन्द्रकीर्ति हुए । इनकी नन्दीश्वर पूजा और अकृत्रिमचैत्यालय पूजा उपलब्ध है । इनके शिष्य महतिसागर की रचनाओ का सग्रह प्रकाशित हुआ है । इनमे रविव्रतकथा सिद्धपुर में तथा पचकल्याणिक कथा बाळापुर में लिखी गई थी । महतिसागर के मराठी अभंग और पद मराठी जैन समाज में बहुत लोकप्रिय हुए थे । गुरुस्तुति मे महतिसागर ने लिखा है कि देवेन्द्रकीर्ति का जन्म दक्षिण कर्णाटक मे हुआ था । उनकी माता का नाम नेमाका तथा पिता का नाम पान्यापा था । उन्होने व्रतो और पूजाविधानो का उपदेश दिया और अनेक वादो मे विजय प्राप्त किया तथा कई यात्राएँ की । उनका निधन शिरड ग्राम के एक उद्यान में सन १७९३ मे हुआ था ।

उन्नीसवी शताब्दी में बलात्कारगण के तीन भट्टारक हुए- पद्मनन्दि (सन १७९३ - १८२२) देवेन्द्रकीर्ति (१८२२ - १८८४) तथा रत्नकीर्ति (१८७९ - १८९६) । पद्मनन्दि की समाधि मुक्तागिरि के पास खरपी ग्राम में है । इनके शिष्य दिलसुख का मराठी स्वात्मविचार ग्रंथ उपलब्ध है । देवेन्द्रकीर्ति का मूलनाम कालूरामजी था । इनके द्वारा प्रतिष्ठापित शताधिक भव्य मूर्तियाँ नागपुर, रामटेक, व्याहाड, बाजारगाव आदि स्थानो मे हैं । इनके

शिष्यवर्ग में परवार, खंडेलवाल, बघेरवाल आदि अनेक जातियों का समावेश था। धर्मदास इनके शिष्य थे जिनकी हिन्दी सम्यग्ज्ञानदीपिका एक अच्छी कृति है। इन्होंने मुक्तागिरि क्षेत्र के जीर्णोद्धार के लिए काफी प्रयास किया था। देवेन्द्रकीर्ति के पदो के मराठी अनुवाद की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है। रत्नकीर्ति ने गुरु के समाधि मन्दिर का निर्माण कराया था तथा वहां एक उद्यान बनवाया था। निस्सही नाम से प्रसिद्ध यह स्थान कारंजा के उत्तर में है तथा अब भी श्रद्धालू श्रावको की आस्था का केन्द्र है। रत्नकीर्ति के बाद इस परम्परा के अन्तिम भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति सन १९०० से १९१६ तक पट्टाधीश रहे।

कारंजा के काष्ठासघ के श्रावक लाडबागड गच्छ के अनुयायी थे। परन्तु इस परम्परा के भट्टारको की परम्परा सन १५०० के आसपास खण्डित हो गई थी। काष्ठासंघ की दूसरी शाखा नन्दीतट गच्छ के भट्टारक समय समय पर गुजरात से विदर्भ में आते थे और उन्ही से यहा के श्रावक अपने धर्मकार्य सम्पन्न कराते थे। इन के अधिकाश सन्दर्भ सत्रहवी सदी के हैं। भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य ज्ञानसागर द्वारा कारंजा के गोवाल गोत्रीय बापू संघई के लिए अक्षरबावजी नामक हिन्दी कविता लिखी गई थी। ज्ञानसागर की तीर्थवन्दना मे भी कारंजा का वर्णन है। यह रचना सन १६०० के आसपास की है। श्रीभूषण के शिष्य चन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य राजकीर्ति हुए। उनके बाद के भट्टारक लक्ष्मीसेन द्वारा सन १६४७ मे सावला गोत्रीय पासुमा के लिए बाहुबली मूर्ति प्रतिष्ठापित की गई थी। उन के उत्तराधिकारी इन्द्रभूषण द्वारा सन १६५८ मे बापू सघई के पुत्र भोज और पदाजी के लिए प्रतिष्ठापित कई मूर्तियां कारंजा मे है। भोज की सपन्नता और धर्मप्रेम का अच्छा वर्णन श्वेताबर साधु शीलविजय की तीर्थमाला मे मिलता है। इन्हो ने एक लाख रुपये खर्च कर गिरनार की यात्रा की थी। इनके लिए कवि परामो ने सन १६९२ मे हिन्दी भरतभुजबलिचरित की रचना की। इस समय सुरेन्द्रकीर्ति भट्टारक थे। इन के एक शिष्य धनसागर ने पूजा सघई के लिए सन १६९९ मे हिन्दी पार्श्वपुराण लिखा था। कारजा का काष्ठासंघ मंदिर दो बातो के लिए उल्लेखनीय है। इस के सभामण्डप के स्तम्भ सुन्दर काष्ठशिल्प से अलंकृत हैं तथा यहा की पद्मावतीदेवी की वार्षिक रथयात्रा सगीतप्रेमियो के आकर्षण का केन्द्र रही है। काष्ठासंघ मन्दिर के समीप कारंजा के विगत वैभव का एक स्मारक कस्तूरी की हवेली नाम से जाना जाता है। अनुश्रुति के अनुसार सत्रहवी सदी में लेकुरसंघई नामक श्रीमान श्रावक के इस भवन का निर्माण हुआ था। कहते हैं कि एक व्यापारी साठ ऊंटों पर कस्तूरी ले जा रहा था। कारजा मे इसे कौन खरीद सकेगा ऐसे उस के वाक्य सुन कर लेकुरसंघई ने वह सब कस्तूरी खरीद कर अपने भवन के निर्माण के लिए प्रयुक्त मिट्टी मे डलवा दी थी। मकरन्द कवि के रामटेक वर्णन से ज्ञात होता है कि वहा के मन्दिर के परकोट का निर्माण लेकुरसंघई ने कराया था।

कारंजा के भट्टारकों की मराठी साहित्य सेवा

श्री. पं. रमाकान्तजी जैन
बी. ए., सा. रत्न, तमिल कोविद (लखनऊ)

शंकराचार्य द्वारा देश के विभिन्न कोनो मे अपनी पीठ–मठ स्थापित करने और उनका जनसाधारण पर अच्छा प्रभाव पडने को लक्ष्य कर तथा मध्ययुगीन भारत के राजनैतिक क्षितिज पर विदेशी मुसलमानो के सत्तारुढ

होने के फलस्वरूप उत्पन्न सामाजिक सुरक्षा की परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में दिगम्बर आम्नाय के साधुओं ने वस्त्र-धारण, निवासस्थान के रूप मे मठों व मन्दिरों का निर्माण एवं उपयोग, राजगुरु कहलाने का मोह और राजाओं की भाँति पालकी, छत्र, चामर, गद्दी, सोने और चान्दी के कमण्डलु व पिच्छी का उपयोग करने की प्रवृत्ति को अपनाया। इन भट्टारकों ने देश के विभिन्न भागों में अपनी गद्दियां स्थापित की। महाराष्ट्र प्रदेश के पुराने विदर्भ क्षेत्र में स्थित कारंजा (कार्यरंजकपुर) नामक स्थान पर भी मूलसंघ के बलात्कारगण (बलमार गण) और सेनगण के भट्टारको की गद्दियां स्थापित हुई। आचार्य भद्रबाहु के एक प्रशिष्य और आचार्य अर्हद्बलि के एक शिष्य माघनन्दि ने मूलसघ की और दूसरे प्रशिष्य एवं शिष्य धरसेन ने सेनसंघ की स्थापना की बताई जाती है। उक्त माघनन्दि आचार्य की परम्परा मे पूज्यपाद देवनन्दि के शिष्य गुणनन्दि बलात्कारगण के और उक्त आचार्य धरसेन की परम्परा में आचार्य जिनसेन के शिष्य गुणभद्र सेनगण के संस्थापक माने जाते हैं। कारंजा मे बलात्कार-गण के भट्टारको की पीठ कदाचित् १६ वी शती ईस्वी के प्रारम्भ मे स्थापित हुई थी और इस पीठ के प्रथम उल्लेखनीय आचार्य अमरकीर्ति हैं। सेनगणीय भट्टारको की पीठ भी उक्त स्थान पर लगभग इसी समय स्थापित हुई प्रतीत होती है। ये भट्टारक स्वयं भी विद्वान होते थे और साहित्य सृजन करने तथा उसे प्रेरणा देने की उनमें प्रवृत्ति थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओ के साथ–साथ स्थानीय मराठी भाषा में भी इन भट्टारकों के प्रश्रय मे साहित्य सृजन हुआ। यहा केवल कारंजा के भट्टारको द्वारा स्वयं अथवा उनकी प्रेरणा से मराठी में की गई रचनाओ का ही उल्लेख किया जा रहा है।

(१) **नागो आया** – यह सेनगणीय भट्टारक माणिक सेन (सन् १५०१ ई) के शिष्य थे। इन्होने 'यशोधर महाराज चरित्र' की रचना की थी।

(२) **वीरदास** – यह बलात्कारगण की पीठ के भट्टारक धर्मचन्द्र (सन् १६२७–१६४७ ई.) के शिष्य थे। दीक्षा लेने पर इनका नाम पार्श्वकीर्ति हुआ। इन्होने सन् १६२७ ई. में 'सुदर्शन चरित्र' की रचना की। नेमिनाथ विषयक एक गीत, बहुतरी कविता और बावन अक्षरी शैली में एक छोटे प्रकरण की रचना इनकी अन्य ज्ञात रचनाएँ हैं।

(३) **पुण्यसागर** – यह बलात्कारगण पीठ भ. अजितकीर्ति (सन् १६५१ ई. जो कदाचित् लातूर शाखा में चले गये थे) के शिष्य थे। इन्हो ने 'हरिवंश पुराण' और 'आदितवार कथा' की रचना की थी। पं सुमति-बाई शहा के ग्रंथ 'पूर्णार्घ्य' तथा डा विद्याधर जोहरापुरकर के अनुसार उक्त 'हरिवंश पुराण' आचार्य उज्जंत-कीर्ति के शिष्य ब्रह्म जिनदास (समय पन्द्रहवी शताब्दी ई) ने देवगिरि मे प्रारंभ किया था, जिसे ब्रह्मचारी पुण्यसागर ने पूर्ण किया था। वैसे उक्त पुराण का जो अंश डा. जोहरापुरकर की 'भट्टारक सम्प्रदाय' पुस्तक में लेखांक २०५ के रूप में उद्धृत हुआ है और जिस में उन्हों ने अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख किया है उस में इस बात का कोई संकेत नही है कि उन्हों ने ब्रह्म जिनदास के अपूर्ण पुराण को पूर्ण किया है। गुणदासकीर्ति (समय सन् १३९३–१४७० ई) द्वारा अपूर्ण छोडे गये 'पद्मपुराण' को पूरा करने का श्रेय भी ब्र. पुण्यसागर को है।

(४) **भ धर्मचन्द्र** – (सन् १६८५ – १६९२ ई.), जो बलात्कारगण पीठ के थे, ने हीरा साहू के आग्रह पर 'कैलास पर्वत' की अष्टापद स्तुति रची थी।

(५) **गंगादास** – उपर्युक्त भ. धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इन्हों ने सन् १६९० ई. मे 'पार्श्वनाथ भवान्तर' गीत और सन् १६९३ ई. में 'आदितवार कथा' की रचना की थी।

(६) भ. छत्रसेन – (सन् १६९७ ई.) सेनगणीय पीठ के थे। इन्हों ने सन् १६९७ ई. में 'द्रौपदीहरण' की रचना की थी। 'समवशरण षटपदी' इन की दूसरी ज्ञात मराठी रचना है। इन के एक शिष्य ने 'छत्रसेन गुरु आरती' की तथा एक अन्य भक्त अर्जुनसुत ने इन की प्रशसा मे कविता रचना की थी।

(७) हीरा – उपर्युक्त भ छत्रसेन के शिष्य थे। इन्हो ने कडवसाह की प्रेरणा से सन् १६९७ ई. में वृधणपुर में 'अनिरुद्ध छप्पय' की रचना की थी।

(८) पं जिनदास (जिनसागर) – बलात्कारगण पीठ के भ. देवेन्द्रकीर्ति (सन् १६९९ – १७२९ ई.) के शिष्य थे। इन्हो ने १७२७ ई. मे 'आदित्यव्रतकथा', १७२४ ई मे 'जिनकथा', १७३० ई. मे 'पद्मावती कथा', १७३४ ई में 'जीवन्धर पुराण' और १७३८ ई. मे 'पुष्पाञ्जलि कथा' की रचना की थी। इन के अतिरिक्त 'लवणाकुश कथा', 'अनन्त कथा', 'सुगन्धदशमी कथा', 'आदिनाथ स्तोत्र', 'शान्तिनाथ स्तोत्र', 'पार्श्वनाथ स्तोत्र', 'पद्मावती स्तोत्र', 'क्षेत्रपाल स्तोत्र', 'ज्येष्ठ जिनवर पूजा' और 'शान्तिनाथ आरती' इन की अन्य रचनाएँ है। कारजा और सीरडग्राम इन के रचनास्थल रहे हैं।

(९) माणिकनन्दी – भी उपर्युक्त भ. देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्हो ने १७२४ ई मे 'अनन्तनाथ आरती' की रचना की थी।

(१०) भ. नरेन्द्रसेन (सेनगणीय पीठ के सन् १७३०–१७३३ ई.) ने 'पार्श्वनाथपूजा' और 'वृषभनाथ पाळणा' की रचना की थी।

(११) अर्जुनसुत – ने उपर्युक्त भ. नरेन्द्रसेन के समय मे देऊलगाव मे 'कैलास छप्पय' की रचना की थी जिस मे उन्हो ने उक्त भट्टारक द्वारा चम्पापुर मे वाद विजय करने का भी उल्लेख किया है।

(१२) रतन – सेनगणीय पीठ के भ. शान्तिसेन (१७५१–१७५९ ई.) के शिष्य थे। इन्हों ने रामटेक यात्रा के समय 'शान्तिनाथ विनति' की रचना की थी। इस विनति की भाषा हिन्दी से मिलती जुलती है।

(१३) तानु – भी उपर्युक्त भ. शान्तिसेन के शिष्य और फूटाण सेठ व चदाबाई के पुत्र थे। इन्हों ने बेदरी मे जिन मन्दिर का दर्शन और सागर स्नान किया था। इन्हो ने कविता की रचना की थी। इन की भाषा भी हिन्दी से मिलती जुलती है।

(१४) साहु रतन – भी उक्त भ. शान्तिसेन और उन के पट्टधर भ सिद्धसेन (१७६९–१८१२ ई.) के शिष्य थे। इन्हो ने 'सिद्धसेन गुरु आरती' की रचना की थी।

(१५) वृषभ – बलात्कारगण पीठ के भ धर्मचन्द्र (१७३६–१७७६ ई.) के शिष्य थे। इन्हों ने १७७४ ई मे 'नववाडी' और १७७६ ई मे 'रविवारव्रत कथा' की रचना की थी।

(१६) गुणसागर – (भ. देवेन्द्र कीर्ति) तौलव देश की लवनपुरी के श्रेष्ठि पायापा के पुत्र थे और इन की माता का नाम नेमाका था। यह बलात्कारगण पीठ के उक्त भ. धर्मचन्द्र के शिष्य थे और देवेन्द्रकीर्ति नाम से १७८३ से १७९३ ई. तक उक्त भट्टारक पीठ पर आसीन रहे। मराठी मे रचित इनकी 'लावणी' से उन के माता–पिता आदि का उपर्युक्त परिचय मिलता है।

(१७) महतिसागर – उपर्युक्त भ. देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। इन्हों ने १८०१ ई. में रिद्धिपुर में पुतळसघवी के आग्रह पर 'रविवार व्रत कथा' और १८१० ई. मे 'आदिनाथ पंच कल्याणक कथा' की रचना की थी। इन्हों ने स्फुट पदो की भी रचना की। इन के 'अभग' उपदेशपूर्ण हैं और व्यावहारिक दृष्टान्त एवं उपमाओं आदि से युक्त होने के कारण वे प्रभावपूर्ण और मनोरंजक हैं। इन की रचनाओ का एक सग्रह 'महति काव्यकुंज' नाम से प्रकाशित हुआ है। श्री सखाराम नेमचन्द ने महति सागर का जीवन चरित्र भी प्रकाशित किया है।

(१८) **रत्नकीर्ति** – सेनगणीय पीठ के भ. सिद्धसेन (१७६९–१८१२ ई.) के शिष्य थे। इन्हों ने अमरावती नगरी मे १८१२ ई. में भ. सकलभूषण की संस्कृत 'षट्कर्मोपदेश रत्नमाला' का मराठी मे 'उपदेश-रत्नमाला' नाम से श्लोकबद्ध रूपान्तर किया था।

(१९) **राघव** – भी उपर्युक्त भ. सिद्धसेन के शिष्य थे। इन्हो ने 'सिद्धसेन स्तुति' की रचना की थी।

(२०) **येमासाह** – भी उपर्युक्त भ. सिद्धसेन के शिष्य थे और उन्हो ने भी अपने गुरु की प्रशंसा में कविता रची थी।

संभव है पर्याप्त जानकारी के अभाव में कारंजा के भट्टारकों और उन के शिष्यों आदि द्वारा की गई मराठी साहित्य सेवा का कोई अंश उल्लेख करने से रह गया है। उसके लिये क्षमा चाहूंगा।

टिप्पणी – विशेष जानकारी के लिये निम्नलिखित ग्रन्थ दृष्टव्य हैं :

(१) प्रो. विद्याधर जोहरापुरकर की जीवराज जैन ग्रन्थमाला से प्रकाशित पुस्तक 'भट्टारक सम्प्रदाय'।

(२) पंडिता सुमतिबाई शहा द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'पूर्णार्घ्य'।

महाकवि वादिराज–एक अनुचिन्तन

श्री. पं. दयाचंदजी साहित्याचार्य प्रवक्ता
प्राचार्य श्री. गणेश दि जैन संस्कृत महाविद्यालय

सागर

संस्कृत साहित्य के महाकवि वादिराज साहित्य गगन के द्युतिमान्, शीतल चन्द्रमा थे, ये दर्शनशास्त्र के ज्ञाता होने से दार्शनिक, भावप्रधान महाकाव्य के प्रणेता होने से महाकवि, विश्वतत्त्वों के विचारशील होने से चिन्तक और दिगम्बरमार्ग के तपस्वी होने से महामुनि थे। और द्रमिल या द्रविड संघ के मुनियो के नायक आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थे। इन की तुलना संस्कृत साहित्य के जैनकवियों मे सोमदेवसूरि के साथ और जैनेतर संस्कृत कवियो में नैषध काव्यकार श्रीहर्षकवि के साथ की जा सकती है।

आचार्य वादिराज अपनी प्रखर प्रतिभा से '**स्याद्वादविद्यापति**,' एवं '**षट्तर्कषण्मुख**' **एवं' जगदेकमल्लवादी**' इन तीन प्रशस्त उपाधियो से विभूषित थे। स्वरचित एकीभावस्तोत्र के अन्त में किसी शिष्य ने उन का अभिनन्दन किया है।

वादिराजमनु शाब्दिकलोको, वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनुकाव्यकृतस्ते, वादिराजमनु भव्यसहायः॥

तात्पर्य–वे समस्त वैयाकरण, तार्किक, काव्यनिर्माता और उपदेशक वादिराज से हीन हैं, अर्थात् वादिराज की तुलना नहीं कर सकते है।

जैनशिलालेखसंग्रह में शिलालेख नं ३९ में कहा गया है ।

सदसि यदकलंकः कीर्तने धर्मकीर्तिः
वचसिसूरपुरोधा न्यायवादे ऽक्षपादः ।
इति समयगुरुणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः ।।

भावसौन्दर्य-वे वादिराज विद्वानों की सभा में अकलकदेव (जैनगुरु), धर्मकीर्ति (बौद्धगुरु), बृहस्पति (देवगुरु), और गौतम (न्यायगुरु) के समान हैं। इस से सिद्ध हो जाता है कि आचार्य वादिराज अनेक धर्मगुरुओं के प्रतिनिधि थे । ये प्रभावक प्रवक्ता और महान् तत्त्वचिन्तक थे ।

वादिराज श्रीपालदेव के प्रशिष्य, मतिसागर के शिष्य और रूपसिद्धि के प्रणेता दयापाल मुनि के गुरुभाई थे । "वादिराज यह नाम उपाधि जैसा प्रतीत होता है । सम्भवतः अधिक प्रचलित होने के कारण ही आचार्य इस नाम से ख्यात हो गये होंगे । ऐतिहासिक शोध और खोज के आधार पर कुछ विद्वानों ने आचार्य का नाम कनकसेन बतलाया हैं । पर सबल तर्को से इस की सिद्धि नहीं हो पाती है । अत अभी तक उक्त तथ्य मान्य नही हो सका है ।"

तीर्थंकर महावीर और उन की आचार्यपरम्परा (पृ. ८९)

आचार्य वादिराज के विषय में एक कथा प्रचलित है कि इन को असाताकर्म के उदय से कुष्टरोग हो गया था । एक समय महाराजा जयसिंह की सभा में इन के कुष्टरोग की चर्चा हुई, तो इन के एक अनन्य भक्त ने, अपने गुरु के अपवाद के भय से झूठ ही कह दिया कि इन को कोई रोग नही हुआ है । इस विषय पर वादविवाद चल पड़ा और अन्त मे राजा ने स्वयं ही चलकर कुष्ट की परीक्षा करने का निश्चय किया । यह सुनकर भक्त घबराया हुआ आ. वादिराज के पास पहुंचा और राजसभा की समस्त घटना कह सुनाई । मुनिराज ने भक्त को आश्वासन देते हुए कहा-" धर्म के प्रसाद से सब अच्छा होगा, चिन्ता मत करो "। अनन्तर वादिराज ने एकीभाव स्तोत्र की संस्कृत भाषा मे रचना की और व्याधि दूर हुई । और तपस्या के प्रभाव से शरीर स्वर्ण के समान सुन्दर हो गया । राजा ने आकर मुनिराज का सुन्दर शरीर देखा तो आश्चर्य में मग्न हो गये और कहने लगे कि वादिराज को रोगी कहने वाले अज्ञानी निन्दनीय है । राजा ने जैन धर्म पर अतिश्रद्धा व्यक्त की ।

एकीभावस्तोत्र मे इस ही अभिप्राय को व्यक्त करनेवाला पद्य इस प्रकार कहा गया है-

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्यात्
पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्येत्वयेदम् ।
ध्यानद्वारं मम रूचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ।।

एकीभावस्तोत्र श्लोक क्र. ४

भावसौन्दर्य-हे भगवन् ! आप ने स्वर्ग से गर्भ में आने के पूर्व ही भव्यजीवों के पुण्य से इस पृथिवीमण्डल को सुवर्णमय कर दिया था । इसी प्रकार हम ने ध्यान के द्वारा आप को अपने सुन्दर मन मन्दिर में प्रवेश करा लिया है तब यह शरीर सुवर्ण का बन जावे इस में क्या आश्चर्य की बात है अर्थात् जब आप के प्रभाव से भूमण्डल सुवर्णमय हो जाता है तब क्या आप का हृदय में स्मरण करने पर यह शरीर सुवर्ण जैसा सुन्दर कान्तिवाला नहीं हो सकता ? अवश्य हो सकता है ।

वादिराज का समय सन १०१० से १०६५ ईशाब्द तक माना जाता है। आपने अपने प्रशस्त जन्म से मद्रास प्रान्त को अलंकृत किया था।

जब वादिराज के कृतित्व पर विचार किया जाता है तब ज्ञात होता है कि आप ने निम्नलिखित ग्रन्थों की रचना कर सरस्वती की उपासना की है।

(१) पार्श्वनाथ चरित
(२) यशोधर चरित
(३) एकीभावस्तोत्र
(४) न्यायविनिश्चय विवरण
(५) प्रमाण निर्णय
(६) अध्यात्माष्टकस्तोत्र

ग्रन्थपरिचय–

(१) पार्श्वनाथ चरित–

महाकाव्य की दृष्टि से वादिराजप्रणीत पार्श्वनाथ चरित एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। इस में बारह सर्ग है और तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित्रचित्रण आकर्षक शैली से किया गया है।

(२) यशोधर चरित–

यशोधर चरित एक लोकप्रिय काव्य है। इस मे हिंसा और अहिंसा का प्रभाव रोचक ढंग से दर्शाया गया है। इस काव्य में चार सर्ग है। यशोधर चरित्र की कथावस्तु और यशस्तिलकचम्पू की कथावस्तु एक ही है।

(३) एकीभावस्तोत्र–

इस स्तोत्र मे कुल २६ पद्य हैं, २५ पद्य मन्दाक्रान्ता छन्द में रचित हैं और एक पद्य स्वागताछन्द में रचित है। इस स्तोत्र मे शान्तरस से भक्ति की गंगा सरस–शीतल प्रवाही रही है।

(४) न्यायविनिश्चय विवरण–

श्री अकलंकदेव ने न्यायविनिश्चय नाम का न्याय ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में ४८० कारिकाएं तीन प्रस्तावो मे विभक्त है। वादिराज ने इस ग्रन्थ पर अपना विवरण लिखा है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस में पक्षों को समृद्ध और प्रामाणिक बनाने के लिये अगणित ग्रन्थो के प्रमाण उद्धृत किये गये हैं। वादिराज ने अपनी इस टीका को 'न्यायविनिश्चय विवरण' यह नाम स्वयं दिया है।

(५) प्रमाणनिर्णय–

इस लघुकाय ग्रन्थ मे प्रमाणनिर्णय, प्रत्यक्षनिर्णय, परोक्षनिर्णय, और आगमनिर्णय ये चार प्रकरण हैं। प्रमाणनिर्णय के अन्तर्गत प्रमाण का स्वरूप निर्धारण करते हुए सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण दर्शाया है। इस प्रकरण में नैयायिक, मीमांसक, बौद्ध, चार्वाक प्रभृति दार्शनिको की प्रमाण विषयक मान्यताओं की समीक्षा की गई है।

(६) अध्यात्माष्टकस्तोत्र–

इस स्तोत्र में भुजङ्गप्रयात छन्द नामक मनोहर छन्द के माध्यम से आठ पद्योंद्वारा जिनेन्द्र आत्मा का स्तवन किया गया है। अन्तिम नवम स्रग्धरा छन्द में निर्मित पद्यद्वारा जिनेन्द्र की द्रव्यभक्ति तथा भावभक्ति का मूल्यांकन किया गया है। यह स्तोत्र प्रसिद्ध नहीं हो पाया है। यह कुछ समय पूर्व प्राचीन शास्त्र भंडारों से हस्तलिखित प्राप्त हुआ है। यह स्तोत्र पठनीय है।

उपसंहार

आचार्य वादिराज ग्यारहवी शती के तार्किक, साहित्यिक, वैयाकरण और प्रभावक उपदेष्टा थे। इन का व्यक्तित्व और कृतित्व न केवल मद्रास मे अपितु भारत में विख्यात था। आपने आध्यात्मिक तपस्या के प्रभाव से महाराजा जयसिंहदेव को भी आश्चर्यसागर में निमग्न कर दिया था। आप के द्वारा रचित अध्यात्माष्टक स्तोत्र जनकल्याण के लिये एक सन्देश है।

महामुनि श्रीवादिराज विरचित अध्यात्माष्टक स्तोत्र

[भुजंगप्रयातछन्द]

विभावाद्यभावात् स्वभावं वहन्तं
सुबोधिप्रकर्षाविबोधं दहन्तं।
नयातीतरूपं नयाम्भोधिचन्द्रं
भजेऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ॥१॥

भावसौन्दर्य-जो रागादिक विभावो का अभाव होने से अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव को धारण कर रहे हैं। जो समीचीन रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) के प्रभावाधिक्य से अज्ञान को विनष्ट कर रहे है। जिन का विशुद्धस्वरूप वचनरूप नय विकल्पो से रहित है। तथापि जो नयरूपीसमुद्र को लहराने के लिये चन्द्रमा के समान है। अर्थात दिव्यध्वनि के द्वारा अनेक नयो के उपदेष्टा है तथा ससार के समस्त प्राणियो के जीवन की उन्नति करनेवाले है, परमानन्द के प्रदाता है उन अरहन्त भगवान की हम उपासना करते है, उनके गुणो का निरन्तर ध्यान करते है ॥१॥

दयादेयभावादनादेय दूरं
गुणानामभावाद् गुणाम्भोधिपूरम्।
सुचारित्रचर्येक्षणातीतनिद्रं
भजेऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ॥२॥

तात्पर्य-जो दया मे आदेय बुद्धि होने के कारण हिंसा, असत्य, चौर्य आदि अनादेय (अग्राह्य) विभावों से दूर है। जो सत्व-(राग), रज (द्वेष) और तम (मोह) इन साख्यमत के गुणो का अभाव होने से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदि आत्मगुणो के सागर को परिपूर्ण करनेवाले है। जो सम्यक्चारित्र की चर्या के अवलोकन में सदा सावधान है तथा जगत के समस्त जीवो के जीवन स्वरूप है, उनके संरक्षक हैं, उन श्रीजिनेन्द्रभगवान् की हम सदा उपासना करते है ॥२॥

शुभ वाशुभं कर्म चैक समस्तं
नयान्निश्चितं बन्धनीड निरस्तम्।
स्वभावाप्तिरम्य स्वयं चाप्यतन्द्रं
भजेऽहं जगज्जीवन श्रीजिनेन्द्रम् ॥ ३ ॥

भावसौन्दर्य-जिन्हो ने शुभ अथवा अशुभ-समस्त कर्म एक हैं अर्थात् बन्ध के कारण होने से एक ही प्रकार वाले हैं। ऐसा नयविवक्षा से निश्चित किया है तथा कर्मबन्ध के आधार को जिन्हो ने दूर किया है। जिन्हे विशुद्धस्वभाव की उपलब्धि हुई है अर्थात् जो शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) रूप समस्त विभावो को दूर कर वीतराग परिणति को प्राप्त हुए हैं, जो स्वय अतन्द्र (प्रमाद से रहित) दशा को प्राप्त हैं अर्थात् सदा सावधान हैं तथा समस्त प्राणियों के जीवन के जीवनदाता है, ऐसे श्रीजिनेन्द्र देव की हम निरन्तर उपासना करते हैं ॥ ३ ॥

द्वयं चाद्वयं वस्त्वनित्यं च नित्यम्
त्रिधालभ्यमेतत्त्ववक्तव्यचिन्त्यम् ।
लसत्सप्तभंगोर्मिमालासमुद्रं
भजेऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ।। ४ ।।

तात्पर्य–जिन के मत मे आत्मारूपी वस्तु गुण–गुणी के भेद से द्वैतरूप है, गुण–गुणी में प्रदेशभिद न होने से अद्वैत रूप है । द्रव्यार्थिक नय से नित्य है तथा पर्यायार्थिक नय से अनित्य है । परस्परविरोधी दो धर्मो को एक साथ नही कहा जा सकता इस लिए आत्मा अवक्तव्य है तथा ज्ञान के द्वारा विचार करने के योग्य होने से वक्तव्य (चिन्त्य) है । इस प्रकार के परस्परविरोधी धर्मों से युक्त यह आत्मा सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय गुणो के द्वारा प्राप्त करने के योग्य है । जो अनुभव करने के योग्य आत्मा, स्यादस्ति–स्यान्नास्ति आदि सप्तभंग रूप तरंगों के समूह के लिए समुद्रस्वरूप है । तथा जो जगत के प्राणियो के जीवन के लिए उज्वल जीवन है उन श्री जिनेन्द्र-भगवान की हम सदैव उपासना करते है ।। ४ ।।

कुतस्त्यो विरोधादिदोषावकाशो
ध्वनिः स्यादिति स्यादहो यत्प्रकाशः ।
इतीत्थं वदन्तं प्रमाणादरिद्रं
भजेऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ।। ५ ।।

काव्यसौन्दर्य- उस भगवज्जिनेन्द्र की देशना में विरोध आदि दोषो का अवसर कहां से आ सकता है ? अर्थात् कही से नही । जिस का कि प्रकाश स्याद्वादरूप होता है अर्थात् जिस के ज्ञान में स्याद्वाद के कथन द्वारा विरोध, विपरीत आदि दोषो का प्रसंग नही आता है । इस प्रकार जो प्रमाणो से विभूषित उपदेश देते है तथा जगत के जीवन को जागृत करने वाले है, उन अरहन्त भगवान् की हम सदैव उपासना करते है ।। ५ ।।

प्रमाण यतो द्वादशांगाख्यशास्त्रं
सुवक्तृत्वतो धर्मकर्मादिपात्रम् ।
फलं यत्तपोद्रोरभूद् भव्यभद्रं
भजेऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ।। ६ ।।

सारसौन्दर्य – जिन की दिव्यवाणी द्वारा प्रतिपादित होने के कारण द्रव्यस्वभाव तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान–चारित्र आदि गुणों का वर्णन करने वाला द्वादशांगरूप श्रुतज्ञान प्रमाणस्वरूप हुआ । जिन के तपरूपी वृक्ष का फल भव्य जीवो का कल्याण करने वाला हुआ । जो जगत के जीवो का उद्धार करने वाले हैं उन श्री जिनेन्द्र परमात्मा के गुणों का हम स्तवन करते हैं ।।६।।

उपादानहाने फलं चाप्युपेक्षा
परैरन्यभावादि माने सुशिक्षा ।
तदाभासदृक्त्वाच्च तेषाममन्द्रं
भजे ऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ।।७।।

भावसौन्दर्य – जिन के द्वारा निरूपित प्रमाण का फल आदान हान (त्याग) और उपेक्षा है अर्थात् ग्रहण करने योग्य वस्तु को ग्रहण करना, त्यागने योग्य वस्तु को त्यागना तथा उपेक्ष्य वस्तु से राग मोह द्वेष के अभाव

रूप उपेक्षा करना प्रमाण का फल है। अन्य प्रतिवादियों के द्वारा माने हुए प्रमाणों में कहां क्या बाधा आती है, उस का क्या निराकरण है इसकी शिक्षा देना भी प्रमाण का फल है। साथ ही यह दर्शाना भी प्रमाण का फल है कि प्रमाणाभासो पर दृष्टि रखने से प्राणियों का अकल्याण होता है। उन विश्वहितंकर, जीवन के उन्नायक जिनेन्द्र परमात्मा की हम उपासना करते है।

अतुल्या अनन्ता गुणास्तावकीनाः
सदोषा सुतुच्छा मतिर्मामकीना।
पदं प्राप्यमेतावतैवाहमिन्द्रं
भजेऽहं जगज्जीवनं श्रीजिनेन्द्रम् ॥८॥

पद्यसौन्दर्य – हे भगवन्! आप के गुण अतुल्य तथा अनन्त हैं और मेरी बुद्धि अनेक दोषों से परिपूर्ण तथा अत्यन्त तुच्छ है। इसलिये हम इस तुच्छ तथा सदोष बुद्धि से आप के गुणो का वर्णन कैसे कर सकते हैं? फिर भी अहमिन्द्र का पद इतनी अल्प भक्ति से भी प्राप्त किया जा सकता है। यही कारण है कि हम विश्व के प्राणियो के उद्धार करने वाले श्रीजिनेन्द्र परमदेव की श्रद्धापूर्वक उपासना करते हैं ॥८॥

स्रग्धराछन्द

बार्धाराद्यर्हणा ते, सुरगतिसुखदा, तुष्टिपुष्ट्यादिकर्त्री
दिव्या वागागमोत्था, श्रुतिसरणिगतानन्तमिथ्यात्वहर्त्री।
रागद्वेषादिमुक्तो, मुनिरिह विदितः, शुद्धबोधाशयालुः
जन्माद्योवारणात्, कस्तवामिमसृजद् वादिराजोदयालुः॥

भावसौन्दर्य – हे भगवन्! जलधारा आदि अष्टद्रव्यो के द्वारा की जानेवाली आप की पूजा देवगति का सुख देनेवाली तथा मानसिक सन्तोष एवं शारीरिक स्वास्थ्य को प्रदान करने वाली है, एवं आगमानुसारिणी आप की दिव्यवाणी, कर्णमार्ग से प्रविष्ट होकर अनन्त मिथ्यात्व को हरनेवाली है। हे नाथ! आप राग द्वेष मोह आदि से रहित वीतराग और शुद्ध ज्ञान से उपयोग विशिष्ट सर्वज्ञ, मुनि इन नामो से जगत में प्रसिद्ध हैं अतः दयालु वादिराजमनि ने संसारसंबन्धी पापो को नष्ट करने के लिये इस आध्यात्मिक स्तवन की भक्तिपूर्वक रचना की है ॥९॥

प्रतिष्ठा सारोद्धार : एक अध्ययन

श्री. पंडित नाथूलालजी शास्त्री
संहितासूरि (इंदौर)

श्री पण्डित प्रवर आशाधरजी द्वारा रचित '**प्रतिष्ठा सारोद्धार**' अपरनाम '**जिन यज्ञ कल्प**' वि सं. १२८५ का प्रतिष्ठा ग्रन्थ है। आचार्य वसुनन्दि के प्रतिष्ठासार संग्रह के विषय का उद्धार करने के लिये यह लिखा गया है। आचार्य जयसेन (वसुबिन्दु) ब्रह्मसूरि, नेमिचन्द्र, इन्द्रनंदि, अकलंक भट्टारक, हस्तिमल्ल, आर्यपाद एवं वामदेव के प्रतिष्ठा पाठ भी जैन सरस्वती भण्डारों में उपलब्ध है; परन्तु इन में पं. आशाधर, पं. नेमिचन्द्र और जयसेन के प्रतिष्ठापाठ मुद्रित हुए है, शेष हस्तिलिखित रूप मे हैं।

श्री पं. नेमिचन्द्र १६ वीं शताब्दी के विद्वान हैं। जिनके प्रतिष्ठाशास्त्र का दक्षिण में अधिक प्रचार है। उत्तर भारत में आशाधरजी के बाद जयसेन प्रतिष्ठा पाठ का अधिक प्रचार प्रसार करने में ब्र. शीतलप्रसादजी का विशेष हाथ है। इस में हिन्दी पद्यों में यागमण्डल पूजा आदि तथा कल्याणको के दृश्य नाटकीय रूप में लिखे गये है; जिस के द्वारा संस्कृत भाषा के ज्ञान बिना भी प्रतिष्ठाचार्य गा बजाकर प्रतिष्ठा कर लेते हैं। अनेक नये प्रतिष्ठाचार्य इसे देखकर तैयार हो गये है। इस का परिणाम यह हुआ कि समाज में प्रतिष्ठा का अशुद्ध प्रचार बढ गया है।

उक्त 'प्रतिष्ठा सारोद्धार' मे छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में जिन मन्दिर, नित्यमह पूजा के अन्तर्गत बताया है। जहाँ तक हो सके जीर्ण मन्दिर का उद्धार किया जावें। नवीन मन्दिर के लिये शुभ मुहूर्त और शुभ शकुन देखकर भूमि की परीक्षा कर पवित्र स्थान को खोद कर नींव भरें। नीव में पंचपरमेष्ठी और देवी–देवताओं की पूजा कर पांच स्थानों में पांच ताम्र कलश एवं शिला स्थापन करें। मन्दिर निर्माण के पश्चात् जिनेन्द्र वेदी की रचना के अवसर पर रजत पुरुष स्थापित करे। इन्हीं दिनों जिन प्रतिष्ठा के लिये उत्तम शिला लाकर उसे मन्त्रित कर कारीगर को सौंपना चाहिए। जिन प्रतिमा, नासाग्र दृष्टि, वीतरागता की सूचक होवे। रौद्र, कृशांग, संक्षिप्तांग, त्रिपिष्टनास्तिक, विरूपक नेत्र, हीनमुख, महोदर, महाहृदय, महाअंस, महाकंटी, महापाद, हीनजंघा, शुष्क जंघा इन दोषों से रहित हो। स्थिर और चल दोनो ही प्रतिमाओं में सिंहासन के नीचे वृषभ आदि तीर्थंकरो (अर्हन्त अवस्था) के चिन्ह खुदावे। चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त ये दोनों सफेद वर्ण के है। नेमिनाथ मुनि सुव्रत ये कृष्ण वर्ण के हैं। पदमप्रभ, वासु पूज्य इन का लाल वर्ण है। सुपार्श्व, पार्श्वनाथ ये नील वर्ण के हैं। और शेष १६ के शरीर का वर्ण तप्त सुवर्ण वर्ण है। प्रतिमा वैसी ही वर्ण के पाषाण की होवे।

गृह चैत्यालय में १–३–५–७–९–११ अंगुष्ट की सर्व धातु प्रतिमा विराजमान करना श्रेष्ठ है। इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठाचार्य को इन्द्र माना है। उसके लक्षणो में वह उत्तम कुल व जाति का हो। सुलक्षण, वक्ता, निर्लोभी, सम्यग्दृष्टि, शास्त्रज्ञ, निश्चय व्यवहारज्ञ, सदाचारी, वर्णी या गृहस्थ, मन्दकषायी, जितेन्द्रिय, प्रतिष्ठा, विधि का अनुभव रखनेवाला होना चाहिए। यजमान बहुधन कुटुम्बवाला, लोकमान्य, उदार, पाक्षिक श्रावक होता है। इन्हें इन्द्रादिकी दीक्षा देनेवाले दि जैनाचार्य का भी उल्लेख है। सभी लोग प्रतिष्ठा के दिनों में एकाशन, ब्रह्मचर्य एवं रात्रि को चारो प्रकार के आहार एवं जल का त्याग रखते है।

गर्भ, जन्म तप, ज्ञान और मोक्ष इन पंचकल्याणकों की विधि की जाती है। भगवान के माता–पिता बनने की क्रिया पहले नहीं होती थी। मंजूषा में माता के स्थान पर गर्भसम्बन्धी क्रिया होकर अन्य संस्कार हो जाते थे। ब्र. शीतलप्रसादजी द्वारा संकलित हिन्दी प्रतिष्ठापाठ के नाटकीय आधार पर लगभग ४० वर्ष से माता–पिता बनने लगे हैं, परन्तु यह प्रायः प्रतिष्ठा कारक के लिये अनिष्ट का कारण बनता है। प्रतिष्ठा कार्य से पूर्व प्रतिष्ठाचार्य निमंत्रण की विधि की जाती है। उन का सत्कार कर यजमान उन से प्रतिष्ठा सम्बन्धी कार्य कराने हेतु आमन्त्रण पत्रिका, मण्डप आदि निर्माण की विधि करावें। मण्डप में प्रतिष्ठेय प्रतिमाएँ स्थापित करने के लिए कटनी, याग मण्डल, वेदी, झंडा आदि का स्थान नियत करें।

सौभाग्यवती महिलाओं द्वारा जलयात्रा कराकर उस जल से मन्दिर–वेदी शुद्ध करावें। 'नांदी विधान' में यजमान–पत्नी अपने निवास स्थान से मंगल कलश लाकर मण्डप वेदी में स्थापित करें, यह प्रतिष्ठा मंगला चरण के रूप में है।

इन्द्र प्रतिष्ठा में इन्द्र १२ व कुबेर की स्थापना प्रतिष्ठा में सम्मिलित होने वालों में करें। यह बोलियों द्वारा होता है, जिस से प्रतिष्ठा में आर्थिक सहयोग प्राप्त हो सकें।

इस प्रतिष्ठा के द्वितीय अध्याय में जलयात्रा विधान में शान्ति मण्डल विधान, सरोवर या कूप वापिका के तट पर मांडे। मण्डल में शासनदेवो, यक्षी, यक्ष, दिग्पाल, नवग्रह आदि लिखे जाते है। इन की पूजा इसलिए की जाती है कि इन मे नागकुचर शरीर पीडा, यश, धनहरण, भूत स्थान भ्रष्ट और राक्षस धातु वैषम्य करते है, यह सब दोष दूर हो जावें। नवग्रह पूजा से कापालिक आदि द्वारा किये गये उपद्रव शात होते है।

नवग्रह देवताओं की पूजा मे ढाल की लकडी से पकाया हुआ अन्न दूध–घी, देवदारु लकडी इन सब को मिलाकर अग्नि में आहुतियाँ देने पर चन्द्र की पूजा होती है। मगल पूजा के लिये खैर की लकडी से भुने हुए शुद्ध घी से मिले जौ का सत्तु तथा घी, गुगुल, इलायची आदि की धूप चाहिए। इन से मगल देव प्रसन्न होते है। बुध की पूजा में अपामार्ग की लकडी से पकाया भात, खीर व घृत, राल की धूप बताई है। इसी प्रकार अन्य ग्रहों की पूजा हेतु विविध वस्तुये बतलाई गई हैं। ग्रह देवता का स्वरूप भी प्रतिष्ठापाठ के लेखक ने जो लिखे है– इतर कर्म का अनुकरण मालूम होता है। ग्रहो के सम्बन्ध मे उन का स्वरूप अद्भुत और पूजा मे आश्चर्यप्रद वर्णन है। जबकि देवगति मे ज्योतिषी देव, अन्य देवो के अनुसार मानस आहार करते है। उन का स्वरूप भी सुन्दर होता है। ग्रन्थकार ने इन ग्रहों से इष्ट सिद्धि हेतु तापस, कापालिक, पाशुपत, बौद्ध, साधु आदि अन्य साधुओ की पूजा करने को प्रो साहित किया है। क्या इसे कुगुरु, कुदेव और कुधर्म पूजा का रूप नही माना जाएगा ? परिस्थितिवश अन्य धर्मों की क्रियाओं का हमारे यहा कई जगह आदान और उन्हे अपनी क्रियाओं का प्रदान परस्पर अनुकरण रूप में लिया गया है। परन्तु उन क्रियाओ का जैनीकरण भी कर लिया गया है। आचार्य सोमसेन में यशस्तिलक में लिखा है–

सर्वं एव हि जैनाना प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र सम्यक्त्व हानिर्न यत्र न व्रतदूषणम्॥

सम्पूर्ण लौकिक विधि जैनाचार में स्वीकार कर सकते है, पर उस से सम्यग्दर्शन एव सम्यक्चारित्र (व्रतादि) में दोष नही लगना चाहिए। प्रस्तुत 'प्रतिष्ठा शास्त्र' लेखक ने इस का ध्यान नही रखा, वह हमारी तुच्छ बुद्धि के अनुसार है। विज्ञजन इस पर विचार करे। जल यात्रा मे जल देवता की पूजा कर जलाशय मे प्रवेश कर जल भरने का उल्लेख है। पश्चात् गंगादि देवताओं की पूजा करे, मन्दिर मे जिन यज्ञ विधान में सकलीकरण और जिनेन्द्र पूजा है। मण्डप की प्रतिष्ठा विधि में क्षेत्रपाल, वायु कुमारादि देवताओं की स्थापना व पूजा है।

तृतीयाध्याय में यागमंडल विधान मे चत्तारिमगल की पूजा के अनंतर ७२ पत्रो वाले कमल की कर्णिकाओं पर १६ विद्या देवियो, २४ जिन मातृकाओं, ३२ इन्द्रो (भवनवासी व्यन्तर आदि) २४ यक्षो, २४ शासन देवताओं, द्वारपालों, दिग्पालो, यक्षो जयादि देवियों की स्थापना व पूजा है। यह देव–देवियो का वर्णन व पूजा प. आशाधरजी के अनुसार नवीन युगानुरूप रचना है, जो उन के पूर्ववती वसुनंदि की रचना में नहीं हैं। आशाधरजी के पीछे के उक्त प्रतिष्ठापाठो में इसी का अनुकरण मिलता है। जैन ग्रन्थो मे चार दिग्पालो की जगह, दश दिग्पाल की कल्पना अन्य धर्म का अनुकरण है। २४ यक्षार्चन (३१३–१२७) में ग्रन्थकार ने यक्षादि की पूजा करनेवालों को अव्युत्पन्न दर्शनवाले व ऐहिक फलार्थी बताया है।

चौथे अध्याय में प्रतिमा शुद्धि के लिये आकर शुद्धि, धूली कलशाभिषेक आदि क्रियाओ में मन्त्रों का व विविध औषधियो का उपयोग किया गया है। यह जन्माभिषेक के समय विशिष्ट विधि है। गर्भकल्याणक में यहां भद्रासन में प्रतिष्ठेय प्रतिमा स्थापित कर सर्व विधि की गयी है। पृथक् जिनेन्द्र माता (सजीव) की स्थापना यहाँ नहीं है। जयसेन प्रतिष्ठापाठ में यजमान को तीर्थंकर पिता के वंश मे परिवर्तित करने का मन्त्र है। यजमान पत्नी भी गुणविशिष्ट हो तो तीर्थंकर माता बनती भी है। पर इस ग्रन्थ में ऐसा नहीं माना। जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में

मंजूषा मे माता की स्थापना करने का उल्लेख है। तपकल्याणक के पश्चात् अंकन्यास, तिलकदान, संस्कारमालारोपण, मुखवस्त्रदान एवं मालारोपण इत्यादि क्रियायें है। ज्ञान कल्याणक में श्री मुखोद्‌घाटन, नेत्रोन्मीलन इत्यादि क्रियायें हैं। पंचकल्याणको की सामान्य क्रियायें प्रथमाध्याय में बता दी गई हैं।

प्राणप्रतिष्ठा एवं सूरि मंत्र का इसमे उल्लेख नही है। नये प्रतिष्ठाचार्य गुरु से उक्त मन्त्र प्राप्त किये बिना प्रतिष्ठा कराने लगे है। पाचवे अध्याय में ध्वजा के निर्माण की विधि है। सिद्ध प्रतिमा, आचार्य व साधु प्रतिमा की प्रतिष्ठा विधि में सिद्ध प्रतिमा प्रचलित पोलाकार नहीं हो सकती है, क्योकि प्रतिष्ठा में जो मन्त्र क्रियाये बताई है, वे पूर्णावयववाली प्रतिमा में ही संभव है। इस ग्रंथ में कलश–ध्वजा–मन्दिर प्रतिष्ठा विधि मत्र सहित नही है, जो गुरु द्वारा विहित करनी चाहिए। प्रस्तुत प्रतिष्ठापाठ संस्कृत विद्वान द्वारा ही शुद्ध पढा जा सकता है; परन्तु वर्तमान अधिकाश प्रतिष्ठाचार्य विद्वान् न होने से अशुद्धोच्चारण करते है। प्रतिष्ठा में अतिशय व जनता में सुखशान्ति प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण विधि शुद्ध होना चाहिए। मृत्तिका नयन और अंकुरारोपण, जिस से मन्दिर के आस पास की भूमि उर्वरा है या नही, इस का परीक्षण और शकुन का ज्ञान होता है, नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठ मे है। प्रतिष्ठा सम्बन्धी सम्पूर्ण विधि विधान किसी एक प्रतिष्ठा पाठ में उपलब्ध नही है, इसलिए अन्य प्रतिष्ठापाठो की सहायता भी लेनी पडती है।

समयसार की रचना में आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि

श्री. पं. बंशीधरजी, व्याकरणाचार्य
(बीना)

समयसार का आलोडन करने से मै इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि उस की रचना आचार्य कुन्दकुन्द ने इस दृष्टि से की है कि सपूर्ण मानवसमष्टि इसे पढ़कर इस के अभिप्राय को समझे और उस अभिप्राय के अनुसार अपनी जीवन प्रवृत्तियो को नैतिक रूप देने का दृढ संकल्प करे जिस से वह जीवन के अन्त तक वास्तविक सुखपूर्वक जिन्दा रह सके।

इस प्रकार अपनी प्रवृत्तियो को नैतिकरूप देने वाली मानवसमष्टि में से जो मानव जितने परिणाम में अपनी मानसिक, वाचनिक और कायिक स्वावलंबता का अपने में विकास कर ले उस के अनुसार वह आध्यात्मिक (आत्मस्वातत्र्य के) मार्ग का पथिक बन सकता है।

जीव के भेद

जैन शासन में जीवों के संसारी और मुक्त दो भेद बतलाये गये हैं। (देखो–त. सु. अ. २ का "संसारिणो मुक्ताश्च" सूत्र १०)

इस सूत्र से यह भी ज्ञात होता है कि संसार की समाप्ति का नाम ही मुक्ति है और जो जीव संसार से मुक्त हो जाते हैं, वे ही सिद्ध कहलाते है। जैन शासन के अनुसार कोई भी जीव अनादिसिद्ध नही है जैसा कि कुछ अजैन दार्शनिकों ने माना है।

संसारी जीवों के भेद

जैन शासन के अनुसार संसारी जीव भी भव्य और अभव्य दो प्रकार के हैं उनमें से भव्य जीव वे हैं जिन में संसार से मुक्त होने की स्वभावसिद्ध योग्यता विद्यमान हो और अभव्य जीव वे हैं जिन में उस स्वभाव सिद्ध योग्यता का सर्वथा अभाव हो।

भव्य और अभव्य दोनों में विद्यमान समानता

भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के जीव अनादिकाल से पौद्गलिक कर्मों से बद्ध होने के कारण उन कर्मो के प्रभाव से अनादिकाल से ही यथायोग्य नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव इन चार गतियों में परिभ्रमण करते आये हैं और अपनी स्वावलबन शक्ति को नष्ट कर यथासम्भव मानसिक वाचनिक और कायिक परावलंबता की स्थिति में रहते आये है तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव में मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हुए सतत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान पूर्वक अनैतिक (मिथ्या) आचरण करते आये हैं। ऐसे जीवो को समयसार गाथा १९ से लेकर गाथा २३ तक अपने से भिन्न पदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि होने के कारण अप्रतिबुद्ध प्रतिपादित किया गया है तथा ये जीव अप्रतिबुद्ध क्यो हैं ? इस बात को समयसार गाथा २४ और २५ में आगम और तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है।

समयसार का विवेचन मनुष्यगति की अपेक्षा ही

यद्यपि नरक, तिर्यन्च, मनुष्य और देव इन सभी गतियो के जीव इस प्रकार से अप्रतिबुद्ध हो रहे हैं और सभी गतियो के बहुत से जीव इस अप्रतिबुद्धता को समाप्त कर यथा सम्भव प्रतिबुद्ध भी हो सकते हैं, परन्तु जीवों को मुक्ति की प्राप्ति मनुष्य गति से ही हो सकती है इसलिए समयसार में मुक्ति के सबध मे जो विवेचन किया गया है वह मानव समष्टि को लक्ष्य में रखकर ही किया गया है।

भव्य अभव्य दोनों में विद्यमान अन्तर

जैन-शासन के अनुसार भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के मिथ्यादृष्टि जीव मुक्ति के मार्ग में प्रवेश कर सकते है, क्योकि न तो भव्य जीव अपनी भव्यता की पहिचान कर सकते हैं और न अभव्य जीव अपनी अभव्यता की पहिचान कर सकते हैं। इसलिए भव्य जीवो के समान अभव्य जीव भी अपनेको भव्य समझकर मुक्ति के मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। समयसार गाथा १७५ में बतलाया गया है कि अभव्य जीव भी मोक्ष के मार्गभूत धर्म (व्यवहारधर्म) में आस्था रखता है, उस को समझता है, उस में रूचि रखता है और उस मे प्रवृत्त भी होता है। इतनी बात अवश्य है कि उस का वह धर्माचरण मुक्ति का कारण न होकर यथायोग्य सासारिक सुख की वृद्धि का ही कारण होता है। इस का तात्पर्य यह है कि भव्य और अभव्य दोनो ही प्रकार के जीव मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के प्रभाव से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में रहते हुए भी यथायोग्य चतुर्थ गुणस्थानवर्ती, पंचमगुणस्थानवर्ती और षष्टगुणस्थानवर्ती जीवो के समान बाह्य आचरण करते हैं और इस प्रकार आचरण करते हुए अभव्य जीव भी भव्य जीवों के समान आत्मा में क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य लब्धियो का विकास कर लेते है, जिन के प्रभाव से वे नवम ग्रैवेयिक तक स्वर्ग में भी उत्पन्न हो जाते हैं; परन्तु वे भव्य जीवों के समान आत्म परिणति को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्ररूप नहीं बना सकते हैं। क्योकि जैनशासन मे बतलाया गया है कि उसी जीव की आत्मपरिणति सम्यग्दर्शनरूप हो सकती है जिसने मोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया और लोभ रूप चार प्रकृतियो का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपक्षम किया हो। इसी प्रकार आत्मा की परिणति देशवृत्तरूप उसी जीव की हो सकती है, जिस ने दर्शन-मोहनीयकर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार प्रकृतियों के उपशम क्षय और क्षयोपशम के साथ

अप्रत्याख्यानावरण की चार प्रकृतियों का क्षयोपशम किया हो। तथा आत्मा की विशुद्धि सर्वव्रत रूप उसी जीव की होती है, जिस ने दर्शनमोहनीय कर्म की तीन और अनन्तानुबन्धी कषाय की चार इन ७ प्रकृतियों के उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम के साथ प्रत्याख्यानावरण कषाय का भी क्षयोपशम किया हो।

इस का भाव यह है कि मोहनीय कर्म की उक्त प्रकृतियों का यथासम्भव उपशम, क्षय व क्षयोपशम उसी जीव में होता है जो भव्य हो। तथा उस जीव में वह तभी होता हे जब मिथ्यात्व गुणस्थान में भी रहकर भी वह सातिशय मिथ्यादृष्टि हो जाता है। वह जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि तभी कहा जाता है जब वह करणलब्धि को प्राप्त करता है अर्थात क्रमश: अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण परिणामों को प्राप्त होकर मोहनीय कर्म की उक्त प्रकृतियों का यथायोग्य उपशम, क्षय और क्षयोपशम करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है। इसे करणलब्धि की प्राप्ति तभी होती है जब वह समयसार में प्रतिपादित भेद-विज्ञान को प्राप्त कर लेता है। वह उक्त भेद-विज्ञान को तब प्राप्त होता है, जब वह क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन चार लब्धियों को प्राप्त कर लेता है। वह इन चार लब्धियों को तब प्राप्त करता है, जब वह नैतिक आचरण के रूप में अथवा नैतिक आचरण के साथ देशव्रत के रूप मे अथवा नैतिक आचरण के साथ सर्वव्रत के रूप मे मन, वचन और काय के समन्वयपूर्वक आगम में वर्णित व्यवहार धर्म को अंगीकार करता है।

यहा यह ज्ञातव्य है कि अभव्य जीव भी यथायोग्य रूप में उक्त प्रकार के व्यवहार धर्म को अंगीकार करके क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य इन लब्धियों को प्राप्त कर लेता है, परन्तु वह अपनी अभव्यता के कारण उक्त भेद-विज्ञान को प्राप्त नही होता है।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि उन अभव्य और अभव्य जीवो को भी उक्त चार लब्धियों की प्राप्ति नहीं होती है, जो उक्त प्रकार के व्यवहार धर्मों को अंगीकार तो करते हैं, परन्तु मन, वचन और काय के समन्वयपूर्वक नही अंगीकार करते है।

इस विवेचन से यह भी निर्णित होता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थानवर्ती भव्य जीवों को ही उपर्युक्त क्रम से भेद-विज्ञान की प्राप्ति होती है, अभव्यजीवों को नही।

समयसारकी बेजोड़ व्याख्या करनेवाले आचार्य अमृतचन्द्र के कलश पद्य १२८, १२९, १३०, १३१ और १३२ से यह निर्णीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीव के लिए मुक्ति की प्राप्ति में भेदविज्ञान को प्रमुख स्थान दिया है। यहां उन कलश पद्यों को उद्धृत किया जाता है—

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या,
भवति नियतमेषां शुद्धस्वोपलंभ।
अचलितमखिलान्यद्द्रव्यदूरे स्थिताना-
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

अर्थ-जो जीव निजमहिमा में रत है अर्थात् उस महिमा के जानकार हैं (भेदज्ञानी हो जाते हैं) उन जीवों को भेद विज्ञान के आधार पर नियम से शुद्ध अर्थात् स्वतंत्र स्वरूप की उपलब्धि (ज्ञान) होती है। ऐसे जीवों के अन्य द्रव्यों से सर्वथा दूर हो जाने-पर अर्थात् पर पदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि की समाप्ति हो जाने पर कर्मों का स्थायी क्षय हो जाता है।

संपद्यते संवर एव साक्षात् शुद्धात्मतत्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एवं तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

अर्थ–शुद्ध आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जानेपर साक्षात् संवर का संपादन होता है। वह शुद्ध आत्म तत्व का ज्ञान भेद विज्ञान के आधारपर होता है इसलिए जीवो को भेद विज्ञान की प्राप्ति का अभ्यास करना चाहिये।

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

अर्थ–उस भेद विज्ञान का अच्छिन्न धारा से तब तक अभ्यास करना चाहिये जब तक वह जीव पर से च्युत होकर अर्थात् पर मे अहंकार और ममकार समाप्त करके ज्ञान मे प्रतिष्ठित होता है।

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थ–जो कोई जीव सिद्ध हुए हैं वे भेद विज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जो कोई जीव बद्ध है वे भेद-विज्ञान के अभाव से ही बद्ध है।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलंभात्
रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणा संवरेण।
बिभ्रत्तोष परमममलालोकमम्लानमेकं
ज्ञान ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ॥१३२॥

अर्थ–जीव को भेद विज्ञान की प्राप्ति होनेपर शुद्धतत्व की उपलब्धि अर्थात् ज्ञान होता है और इस प्रकार राग समूह का विनाश हो जाने से कर्मों का सवर होनेपर तोष को प्राप्त उत्कृष्ट अमलप्रकाश-वाला निर्दोष अद्वितीय ज्ञान नियत से उदित होकर शाश्वत् प्रकाशमान होता है।

समयसार की रचना मे जो क्रम पाया जाता है उस से भी वही भाव प्रगट होता है जो निम्नप्रकार है–

प्रथम गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने जो सिद्धो को नमस्कार किया है इससे मुमुक्षु जीव के लक्ष्य का निर्धारण होता है। दूसरी गाथा मे यह बतलाया गया है कि जो अभेद दृष्टि से अपने अखण्ड स्वभाव रूप ज्ञान में और भेद दृष्टि से दर्शनज्ञान और चारित्र में स्थिर रहे उन्हे 'स्वसमय' कहा जाता है। तथा जो जीव पुद्गल कर्म प्रदेशो मे स्थित अर्थात् पुद्गल कर्मों से बद्ध होने के कारण पर पदार्थों में अहंबुद्धि और ममबुद्धि करते है वे 'परसमय' कहलाते हैं। तीसरी गाथा मे यह शका उठाई गई है कि लोक में जितने पदार्थ है वे सब अपने अपने अखण्ड एक स्वभाव मे रहकर ही सुन्दरता को प्राप्त हो रहे हैं, इसलिए जीव के विषय मे बन्ध की कथा विसंवादपूर्ण हो जाती है। चतुर्थ गाथा मे इस शका का इसप्रकार समाधान किया गया है कि सम्पूर्ण जीवो के काम, भोग और बन्ध की कथा सुनने मे आयी है, देखने मे आयी है और अनुभूत भी है। परन्तु उस के अखण्ड एक स्वरूप का ज्ञान होना उसे सुलभ नही है। इसी तरह आचार्य कुन्दकुन्द ने पाचवी गाथा में आत्मा के उस अखण्ड एक स्वरूप को इस समयसार मे स्पष्ट करने की प्रतिज्ञा की है, तथा छठी गाथा मे आत्मा के उस अखण्ड एक स्वरूप को स्पष्ट किया है। इस के पश्चात् गाथा १३ मे आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक मार्ग मे उपयोगी जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष इन को जैसे हैं उसी रूप में जिस जीव ने जाना है उसे सम्यग्दृष्टि बतलाया गया है। इससे निर्णीत होता है कि उक्त पदार्थों को उन के पृथक्-पृथक् स्वरूप के आधार पर जान लेना ही भेद विज्ञान है। इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी जीवाधिकार मे जीव के स्वरूप का, अजीवाधिकार मे अजी के स्वरूप का कर्तृकर्माधिकार मे जीव और अजीव के विषय में कर्ता और कर्म की व्यवस्था के निषेध का, पुण्यपापाधिकार मे पुण्य और पाप का, आस्रवाधिकार-में आस्रव का सवराधिकार में संवर का, निर्जराधिकार में निर्जरा का, बन्धाधिकार मे बन्धका और मोक्षाधिकार मे मोक्ष का जो पृथक्-पृथक् स्वरूप

विवेचन किया है वह भेद विज्ञान को पोषण करने के लिए किया है। और अन्त में सर्वविशुद्ध-ज्ञानाधिकार में आत्मा के स्वतंत्र स्वरूप का विवेचन किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार की रचना में मुमुक्षु जीवों को प्रथमतः भेद-विज्ञानी बनने का ही उपदेश मुख्यता से दिया है।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि भव्य और अभव्य के भेद से मिथ्यादृष्टि संसारी जीवों के जो दो प्रकार आगम मे निश्चित किये गये है वे दोनों ही एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रिन्दिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पन्चेन्द्रिय और संज्ञी पन्चेन्द्रिय के भेद से छह प्रकार के है इन मे से एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पन्चेन्द्रिय तक के जीवों में केवल कर्मफल चेतना ही पायी जाती है अर्थात् ये सब जीव कर्मफल का मात्र सुख-दुःख रूप अनुभव ही कर सकते हैं, इनके अतिरिक्त जो संज्ञी पन्चेन्द्रिय भव्य अभव्य जीव है वे सतत अपने अभिलषित की सम्पन्नता के लिए संकल्प और बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ करते है। उन का वह पुरुषार्थ असीमित भोग और संग्रह का होता है और उनके लिए वे हिंसा, असत्य-भाषण और चोरी का भी पुरुषार्थ करते हैं। और ऐसे पुरुषार्थ में उन्हें हमेशा हर्ष होता है विषाद कभी नही होता। यही कारण है कि उन का ऐसा पुरुषार्थ अनैतिक आचरण के रूप में संकल्पी पाप माना गया है। इस संकल्पी पाप का सद्भाव उन जीवों मे जब तक अणुमात्र भी रहता है तब तक वे मिथ्यादृष्टी मिथ्याज्ञानी और मिथ्या चारित्री होते है, था जो जीव उक्त संकल्पी पापो का सर्वथा त्यागकर अशक्ति या आवश्यकता के आधारपर जिन पापों मे प्रवृत्त होते है उन के वे पाप अशक्ति वश और आवश्यक्ता वश होने के कारण आरम्भी पाप कहलाते है। इस प्रकार आरम्भी पापो मे प्रवृत्त वे भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि जीव अविरत कहे जाते हैं। और जो भव्य और अभव्य जीव इस अविरति का एक देश त्याग कर देते है वे देशविरत मिथ्या दृष्टि कहे जाते है। तथा जो भव्य और अभव्य जीव उक्त आरम्भी पापो का यथायोग्य सम्पूर्ण रूप से त्याग कर देते है वे सर्वविरत मिथ्यादृष्टि कहे जाते हैं। ये भव्य और अभव्य दोनों ही जीव उस प्रकार अविरत, देशविरत और सर्वविरत होकर क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्यलब्धियो को भी प्राप्त कर लेते है, इतनी बात अवश्य है कि अभव्य जीव उक्त लब्धियो को प्राप्त कर के भी अपनी अभव्यता के कारण भेद विज्ञानी नही बन सकते है। भव्य जीव ही अपनी भव्यता के आधार पर भेद विज्ञानी बन सकते है। इति।

श्री. पं. देवकीनंदनजी और उनके द्वारा संपादित पंचाध्यायी

सौ. विजयाताई भिसीकर
कारंजा

स्व. गुरुवर्य प गोपालदासजी बरैया बीसवी सदी मे जो पंडित परंपरा प्रारंभ हुई उसके मूल प्रवर्तक कहे जाते हैं। सर्वप्रथम उन्होने मोरेना में सिद्धान्त विद्यालय स्थापित किया और उस विद्यालय मे से जो प्रथम पीढी बाहर निकली, उसने समाज का मार्गदर्शन किया और समाज को नेतृत्व प्रदान किया। उस प्रथम पीढी में स्व. पं. देवकीनदनजी एक चमकते सितारे थे। वे गुरु गोपालदासजी के अनन्य शिष्य तो थे ही, साथ ही समाज की धुरा संभालनेवाले दृष्टिसंपन्न नेता भी थे। उनकी सेवाएँ विविध क्षेत्र में विविध प्रकार की रही है। उनका

साहित्य क्षेत्र में भी मौलिक योगदान रहा। यथार्थ में उनकी प्रतिभा व्याख्यान-प्रवचन में जैसी और जितनी खुलती थीं उतनी वह साहित्य-सृजन में प्रगट नही हो पाती थी। उन्होने अपने जीवन में जितने व्याख्यान दिए उस का शतांश भी लेखन नहीं किया। फिर भी जो भी साहित्य सेवा उनकी उपलब्ध है, वह भी श्रेष्ठ स्तर की है। कुछ दिन तक वे "जैन सिद्धान्त" मासिक पत्र के संपादक रहे। फिर भी संपादक के नाते उनका लेखन बहुत ही कम है।

वे व्याख्यान वाचस्पति थे। इस ही कारण उन्हे किसी व्याख्यान की पूर्वतयारी कभी भी नहीं करना पडती थी। स्टेज पर खडे हुये कि उनके रूप मे मानो साक्षात सरस्वती बोलती थी। वे कभी व्याख्यान लिखकर नही पढते थे। वास्तव मे मुझे न पंडितजी के व्याख्यान सुनने की सन्धि कभी प्राप्त हुई, न उनसे अध्ययन करने का मौका ही मिला। क्योकि, पंडितजी यहां से इन्दौर गये तो मेरी आयु १४-१५ साल की होगी। किन्तु स्व. पंडितजी की सुकन्या विमलाबहन से खेलने के लिए कारंजा आने पर जरूर जाती थी। फिर भी मेरा गुरु के रूप में पंडितजी से संपर्क आया ही नहीं।

किन्तु उत्तर जीवन में जब जैन साहित्य की रुचि जाग्रत हुई तब पंचाध्यायी का बार-बार स्वाध्याय हुआ और पचाध्यायी के स्वाध्याय द्वारा ही उनका सही परिचय पाया। 'पंचाध्यायी'[१] गुरुणां गुरु पं गोपालदासजीका बहुत ही प्रिय ग्रंथ था। वे अपने शिष्यो को पंचाध्यायी के अध्ययन की प्रेरणा देकर उसके स्वाध्याय का प्रचार करते थे। इस ही कारण सर्वप्रथम स्व. पं. मक्खनलालजी साहब ने उसका अन्वयार्थ-भावार्थपूर्वक संपादन किया जो कि प्रकाशित हो चुका था। फिर भी उससे मुमुक्षजनों में तथा विद्वानो में सन्तोष न था। इसलिए पं. देवकी-नंदनजी ने पंचाध्यायी का फिरसे संपादन किया जो कारंजा आश्रम द्वारा प्रकाशित हुआ था, जिसकी आर्थिक जिम्मेदारी स्व. प्रभुदासजी चवरे ने निभाई। उसका कारण स्पष्ट था कि उस जमाने में पडित या शास्त्री डिग्री पाने के लिए करणानुयोग के गोम्मटसार जीवकाण्ड-कर्मकाण्डादि ग्रथ, द्रव्यानुयोग के तत्त्वार्थ राजवार्तिक, श्लोक-वार्तिक आदि ग्रथ, तथा न्यायतीर्थ के लिए प्रमेयकमलमार्तंड, आदि ग्रंथो के अध्ययन की धारा चलती थी। शास्त्री के अभ्यासक्रम में आ. कुदकुद के प्रवचनसारादि ग्रथत्रयी का अंतर्भाव नही था। इस कारण समयसारादि अध्यात्म-ग्रंथो का अध्ययन शास्त्री या पंडित कहलाने लिए जरूरी न था। और पंचाध्यायी का रहस्य हृदयंगम करना आ. कुंदकुद के प्राभृतमयी के अध्ययन के बिना असंभवसा था। इस ही कारण सपादन मे कठिनाइयाँ पं. मक्खनलालजी के सामने भी थी, और पं. देवकीनंदनजी के सामने भी थी। जिसका निर्देश पं. देवकीनंदनजीने स्वयं अपने पचा-ध्यायी में जगह जगह किया है। हमारे भय्या (धन्यकुमारजी भोरे) जब नानाजी प्रद्युम्न साहूजी तथा पंडितजी के साथ पंचाध्यायी पढते थे, तो पडितजी कहा करते थे कि पंचाध्यायी का फिरसे नई दृष्टि से अध्ययन होकर उसका संपादन होना जरुरी है। उन्होने स्वयं अपने अनन्यतम शिष्य पं. फूलचद्रजी के ऊपर पंचाध्यायी के नूतन संस्करण का उत्तरदायित्व सौंपा था।[२] इस प्रकार इसका नया सस्करण और अभी अभी ४ साल पूर्व (१९८५) में उसकी द्वितीय आवृत्ति प्रकाशित हुई है।[३]

---

१. आज उसका द्वितीय संस्करण सिद्धान्त सरक्षिणी सभा महावीरजी द्वारा प्रकाशित हुआ है।

२. उक्त ग्रंथ की द्वितीय आवृत्ति मे 'उन्होंने' 'मेरे गुरुजी' करके अपनी भावभीनी आदरांजली भी समर्पित की है।

३. देखिए पंचाध्यायी प्रकाशक श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला भदैनीघाट बनारस प्रथम संस्करण वि. नि. सवत २४७६ 'प्रकाशक के दो शब्द' इस का साक्षी है। उक्त ग्रंथ मे टीकाकार करके 'व्याख्यान वाचस्पति साहित्यसुरि स्व. पं. देवकीनंदनजी सिद्धान्त शास्त्री' यही नाम कायम रखकर संपादक के रूप मे फूलचंद्र सिद्धान्तशास्त्री का नाम आया है।

फिर भी बुद्धिमत्ता प्रखर तीक्ष्ण थी और चिंतनशीलता भी गहरी थी, एतावता अपने संपादन में वे ग्रंथकार पं. राजमलजी के भावभंगी के बहुतही समीप पहुँचे थे। इसलिए आ. कुंदकुंद की दृष्टि खोलनेवाले उक्त पचाध्यायी का जब गुजराथी सस्करण का जब प्रश्न उपस्थित हुआ तब कानजी स्वामी आदि अध्यात्मरसिकों ने पं. देवकीनंदनजी द्वारा संपादित मुद्रित प्रति पर से ही गुजराथी अनुवाद करने का निर्णय किया। और गुजराथी अनुवाद भी पं. देवकीनंदनजी के अनुवाद के आधार से ही किया गया है।

पंचाध्यायी का जितना डेढ अध्यायात्मक अंश प्राप्त है, उसमें से पहले अध्याय का आधार तो पंचास्तिकाय संग्रह का पहला अध्याय और प्रवचनसार के द्वितीय श्रुतस्कंध के पहले २३ श्लोक हैं। उनके नय और प्रमाण के निरूपण का आधार समयसार की ६–७ गाथाएँ और प्रवचनसार के द्वितीय अध्याय के १६ ते २३ श्लोक ही है। दूसरे अध्याय में सम्यग्दर्शन तथा आत्मानुभूति का जो वर्णन है वह समयसार के दृष्टिकोण को ही विशद करनेवाला है, इस में सदेह नही।

सर्वप्रथम पहले अध्याय के आठवे श्लोक में पं. देवकीनंदनजी ने अवान्तर सत्ता तथा महासत्ता का लक्षण तथा उनमें भेददिग्दर्शन किया है। वह उनके ही शब्दो में देखिए। "सारांश यह है कि अपना अपने में सद्भाव और दूसरे में असद्भाव या सत्ता–असत्ता परस्पर सापेक्ष धर्म प्रत्येक द्रव्य में भलिभांति सिद्ध होते हैं, इसलिए सत्ता सप्रतिपक्षभूत है।

महासत्ता – (१) सदात्मक (२) एकरूप (३) सर्वपदार्थस्थित (४) त्रिलक्षणात्मक (५) अनंतपर्यायात्मक और

अवान्तर सत्ता – (१) असदात्मक (२) विश्वरूप (अनेक रूप) (३) एक पदार्थस्थित (४) अत्रिलक्षणात्मक तथा एकपर्यायात्मक है।[1]

उसही प्रकार गुण तथा गुणिका और अनंत गुणो में परस्पर लक्षणभेद मात्र होनेपर भी उनमे द्रव्य–क्षेत्र–काल भाव द्वारा व्यतिरेक घटित होता ही नही यह तथ्य पंचाध्यायीकार ने जो उद्घाटित किया है वह "समयसार मे निश्चय दृष्टि से आत्मा ज्ञायकमात्र है" यह समझने के लिए आवश्यक है। उनका ज्ञायक भाव अनंत गुणो को अपने मे अंतर्लीन करके एक धर्मी को बतलाने वाला है। वे कहते हैं " "**जैसे जीव जानता है इसलिए ज्ञानगुणवाला है, देखता है दर्शनगुणवाला आदि कहा जाता है।** परंतु गुणों मे परस्पर, न द्रव्य के साथ भिन्नसत्तावर्तित्व, न भिन्न समयवर्तित्व है। **जैसे ज्ञान के साथ जीव का अभेद है वैसे दर्शनादिक के साथ भी अभेद है। इसलिये शंकाकार का जो कहना था, "ज्ञान और दर्शन में व्यतिरेक का लक्षण घट जाने से उन्हें व्यतिरेकी कहना चाहिये।" उसके समाधान मे भावव्यतिरेक भी गुणों के अविभाग प्रतिच्छेदों को कहते हैं। – — — — इसलिये यहां द्रव्य–क्षेत्र–काल–भाव चारों ही अपेक्षा से व्यतिरेक घटित नहीं होता।**[2]

उसही प्रकार उत्पाद–व्यय के समान ध्रौव्य को अंश क्यो कहा ? इसका समाधान करते हुए पडितजी लिखते हैं, "**जैनसिद्धान्त में सत् के उत्पाद–व्यय ध्रौव्य अंश नहीं माने गये हैं किन्तु सत् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक माना गया है। उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य ये तीनों प्रत्येक भिन्न पदार्थ की तरह मिलकर अनेक नहीं हैं, किन्तु विवक्षावश से ही तीनों भिन्न भिन्न रूप से प्रतीत होते हैं।**[3]

---

१. पंचाध्यायी – म. ब्र. आश्रम से प्रकाशित श्लोक नं ८ पान क्र ६

२. पंचाध्यायी कारजा से प्रकाशित प्रत श्लोक १५६ पान नं. ९४

३. पंचाध्यायी कारंजा से प्रकाशित प्रत श्लोक ३१९ पान नं. १३१

ऐसे ही गाथा ३४१ ते ४१३ तक सत् और परिणाम किस तरह कथंचित् भिन्न और अभिन्न है इसका समाधान पंडितजी ने बडी खुबी से एक ही वाक्य मे किया है, " सत् और परिणाम में कथंचित् घट और मिट्टी के समान द्वैत–अद्वैत है।[१]

पंचाध्यायी में जो नय और प्रमाण का निरूपण है वह पचाध्यायीकार की विशेषता है और उसमें उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से जो नयविवेचन समयसार में दृग्गोचर होता है उसको विशद किया है। व्यवहार नय के जो चार भेद गिनाये हैं, उसका रहस्य पं. देवकीनदनजी ने इन शब्दों मे व्यक्त किया है।

" १. सद्भूत[२] अनुपचरित व्यवहारनय – ज्ञान को ज्ञेयोपजीवी न कहकर आत्मोपजीवी कहना।
२ सद्भूत उपचरित व्यवहारनय – ज्ञान को ज्ञेयसापेक्षता के कारण अर्थविकल्पात्मक कहना।
३. असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय – अबुद्धिपूर्वक क्रोधादिक को जीव के कहना।
४. असद्भूत उपचरित व्यवहारनय – बुद्धिपूर्वक क्रोधादिक को जीव के कितने समर्पक शब्दो मे पडितजी ने व्यवहार को कहना समझाया है। "

व्यवहार को समझाना तो सुकर है। किन्तु समयसार ने जो व्यवहार दर्शाकर उसका निषेध किया है उसपर से निश्चय नय का स्वरूप का विवेचन पंचाध्यायीकार की अपनी विशेषता है। उसका हार्द भी पडितजीने इन शब्दों मे खोला है। " **विवक्षित विधि–विशेष के अभाव मुख से सामान्य धर्म (शेष गुण मुख से) निश्चयनय का विषय है।** (न इति) कितने समर्पक कम शब्दो मे पडितजी ने निश्चयनय का रहस्य प्रगट किया है।[३] निश्चय नय भी नय क्यो है ? और निश्चयनय में भेद माननेवाला मिथ्यादृष्टि क्यो है ? यह भी पडितजीने अच्छी तरह स्पष्ट किया है। उभयनय विकल्पात्मक होने पर भी व्यवहार और निश्चयनय मे प्रतिषेध्य – प्रतिषेधक भाव कैसा है यह अध्यात्म का रहस्य पडितजीने इन शब्दो मे प्रगट किया है– " **वस्तु के अनुसार ज्ञान के अर्थाकार परिणमन को विकल्प कहते हैं। और उस तरह का विकल्प व्यवहार को प्रतिषेध्य कहने में कारण नहीं है। किन्तु व्यवहार के द्वारा जो वस्तु का स्वरूप कहा जाता है वह यथार्थ नहीं होता; इसलिये व्यवहारनय मिथ्या है प्रतिषेध्य है। केवल विकल्प के कारण नहीं।** "

तथा पंचाध्यायीकारो ने जो नय का लक्षण 'तद्गुणसविज्ञान' कहा है उसका स्पष्टीकरण तथा नयका ऐसा लक्षण करने से उन्हे आगमभाषा से जो असद्भूत उपचरित और असद्भूत अनुपचरित व्यवहारनय कहे जाते है उनको 'नयाभास' क्यो कहा है ? यह उनके ही शब्दो मे सूक्ष्मता से अध्ययन करनेलायक है। इस संदर्भ में पडितजी का विवरण समयसार गाथा १९ से २२–२५ तक अप्रतिबद्ध के व्यवहार का निर्देश है उसके कितने समीप पडितजी पहुँचे थे यह देखकर उनकी प्रज्ञा की विलक्षण सूक्ष्मता दृष्टिगोचर होती है।

दूसरे अध्याय में द्रव्यविशेष तथा सात तत्त्वो का वर्णन है। मूर्त–अमूर्त, ज्ञान–ज्ञेय, क्रियावान–भाववान, लोक–अलोक इस रूप में छह द्रव्यो का विभाग वर्णन करके जीव द्रव्य के वर्णन में जीव और कर्मों का अनादि संबंध, –जीवबंध अजीवबंध उभयबंध इसप्रकार बंध के तीन भेदो का समग्र विवेचन पंचास्तिकाय और प्रवचनसार द्वितीय अध्याय के अनुसार है। और उसका यथार्थ मर्म उन्होने आत्मसात् किया था इस की प्रतीति जगह जगह आती है। मूर्त कर्म के साथ अमूर्त आत्मा का बध कैसा सभव है इस प्रश्न के संदर्भ में प. देवकीनदनजी का

---

१. पंचाध्यायी कारंजा से प्रकाशित प्रत श्लोक ३४१–४१३ पान नं. २२८

२. प्रस्तुत पंचाध्यायी संस्करण – श्लोक ५१२ ते ५४९ पा. नं. २७९–२९८

३. प्रस्तुत पंचाध्यायी संस्करण – श्लोक ५१२ ते ५४९ पा. नं. २७९–२९८

भावार्थ बारीकी से अवलोकनीय है। वे कहते हैं-" अमूर्त आत्मा का धर्म होने से ज्ञान अमूर्त तथा (इन्द्रियहि मूर्त) निमित्तों की अपेक्षा से ज्ञान मूर्त है; उसही प्रकार अमूर्त आत्मा निमित्तभूत (कर्म की अपेक्षा से, उपचार से, मूर्तवत रागादिरूप होकर बंधता है।[१]...... "जीव प्रदेशों का और आत्मप्रदेशों का परस्पर में जो बंध्य-बंधक भाव उस को उभयबंध कहते हैं "[२] आ अमृतचंद्रजी ने प्राभृतत्रयी के उपर जो टीका लिखी है, उस में उसे परस्परावगाह या अन्योन्यावगाह बध कहा है इस से मालूम होता है कि पंडितजीने अमृतचंद्र की टीका हृदयंगम की थी।

उसही प्रकार नवतत्त्वों में केवल जीवतत्त्व की ही प्रतीति होती है यह सूक्ष्म बात पंडितजी इन शब्दों में प्रगट करते हैं-" जिस समय किट्टिमामिश्रित सुवर्ण की वर्णमाला मे केवल सुवर्ण की ओर दृष्टि रक्खी जाती है, उस समय इतर वर्ण लक्षगत न होकर केवल शुद्ध सुवर्ण ही दृष्टिगोचर होता है।"[३]........जैसे लोक में यह तृणाग्नि यह कारिषा रूप में अग्नि कही जाती है किन्तु वास्तव मे अग्नि तृणादिरूप नही हो जाती क्योंकि वह वस्तुत: उन से भिन्न है, वैसे ही जीव भी इन नव तत्त्वो मे पाया जाता है, किन्तु नवतत्त्वरूप नही हो जाना।[४] अन्य और दृष्टान्त द्वारा मूल ग्रंथकर्ता ने जो समयसार का हार्द समझा था उसे पंडितजी ने स्पष्टता से खोला है।

तथा आत्मा का उपयोग अन्य पदार्थों में जाने पर भी सम्यग्दृष्टि के संवर-निर्जरा में कुछ भी खंड पडता नही यह बात प देवकीनदनजी इन शब्दो मे कहते हैं-

"आत्मोपयोग रहो या यथासभव रागादि के अनुसार इतर विषय में उपयोग रहो केवल इतने से सम्यदृष्टि के कुछ हानि या लाभ नही होता........" तथा ग्रंथ-कर्ता ने जो रागादिक की और स्वानभूत्यावरण की व्याप्ति बतलाई वह भी स्पष्ट है। जब तक अनंतानबंधी का उदय रहता है तब तक स्वानुभूत्यावरण ज्ञानावरण का उदय रहता ही है। अप्रत्याख्यानावरणादि जनित रागादिक के होनेपर (लब्ध्यात्मक) ज्ञानचेतना का अभाव नही पाया जाता क्योंकि सवर-निर्जरा का कारण ज्ञान चेतना है, उपयोग नही"[५] सात तत्त्वो के वर्णन करते समय गाथा १७१ के भावार्थ में पं देवकीनंदनजी क्या कहते हैं वह उन्ही के शब्दों में पढिये। "जीव यद्यपि परद्रव्य के सयोगपूर्वक होनेवाले नवपदार्थमय कहलाता है, तथापि परद्रव्यमय (नवतत्त्वरूप) नही होता। किन्तु शुद्धनय से शुद्ध ही (चेतनामात्र ही) रहता है। नवपदार्थरूप पर्याय को छोडकर के अन्यत्र शुद्ध जीवस्वरूप भी उपलब्ध नही होता। इसलिये समझने के लिए नवपदार्थ अवश्य कहना चाहिए।[६] इसपर से वस्तु का व्यवहार से भेदपरक कथन है वह समझने के लिये है, अनुभूति के लिये नही। यह सूक्ष्म आध्यात्मिक दृष्टिकोण पं. जी को प्राप्त था-जब कि मात्र क्रियाकाण्ड का बोलबाला था-यह स्पष्ट होता है।

मूल ग्रंथकार ने सम्यग्दृष्टि का लक्षण शुद्ध आत्मानुभूति कह कर आत्मानुभूति (ज्ञानचेतना) को उपयोगात्मक और लब्ध्यात्मक ऐसे भेद कर के सम्यग्दृष्टि की लब्ध्यात्मक ज्ञानचेतना के साथ समव्याप्ति और उपयोगात्मक ज्ञान चेतना के साथ विषम व्याप्ति बतलायी है। यह रहस्य पं. साहबने हृदयगम किया था। यह उनके भावार्थ के ऊपर बारीकी से दृष्टि डालने पर ज्ञात होता है। उस समय पंडितजी जो स्पष्टीकरण प्रस्तुत

१. पंचाध्यायी उक्त संस्करण श्लोक ५९-६० पृष्ठ १०४ से १११
२. पंचाध्यायी-प्रकृत संस्करण श्लोक ४७-४८
३. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक १५८ से १६४
४. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक १६७ से १७३
५. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक ९०१ पृष्ठ नं. ३८२
६. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक १०१ पृष्ठ नं. ८३

करते हैं वह लक्षणीय है ।........" जब कि सम्यग्दृष्टि जीव जघन्यपद में स्थित है तब कर्म और कर्म फलचेतना भी गौणरूप से पाई जाती है। उन की विषयों की अभिलाषा रोग के प्रतिकार के समान ही होती है। इसलिए ज्ञानचेतनाही होती है।[१] इस से और किन समर्थ शब्दों में समयसारनी के निर्जराधिकार का हार्द व्यक्त किया जा सकता है ? वे और आगे लिखते हैं–" जैसे रोग का प्रतिकार रोग कारण नही होता वैसेही केवल कर्मोदयवश उत्पन्न होनेवाली आकुलता के निवारणार्थ भोगे हुए भोग कर्म के आस्रव के कारण नही होते[२] ऐसी गहन चर्चा जिस समय बहुतही कम थी उस समय समयसार का यह अध्यात्मरहस्य प्रगट करनेवाली भाषा उन्होंने अध्यात्म कैसा आत्मसात किया था इस की द्योतक है । आगे चलकर इस के ही संदर्भ मे वे ४०६ श्लोक के भावार्थ में लिखते है "[३]–यद्यपि सम्यक्त्व के होने पर स्वानुभूति होतीही है फिर भी अन्य विषय में सम्यग्दृष्टि का उपयोग होता ही नही ऐसा नियम नही है । किन्तु सम्यक्त्व होने पर स्वानुभूति के उपयोग के कारणभूत स्वानुभूत्यावरण कर्म के क्षयोपशमजन्य लब्धीरूप स्वानुभूति अवश्य रहती है ऐसा नियम है । क्योंकि दर्शनमोहका उपशम–क्षय–क्षयोपशम और स्वानुभूत्यावरण का क्षयोपशम युगपत उसी समय होता है, अत. सम्यक्त्व और लब्धिरूप स्वानुभूति की समव्याप्ति है । " आगे चलकर तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि, " सम्यग्दृष्टि का अपनी आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदन ज्ञान शुद्ध होता है और सिद्ध के समान होता है । [३]

सम्यक्त्व के गुण और दोषों का विवरण करते समय भी उनके विचक्षण प्रज्ञा का परिचय मिलता है । जब कि सम्यग्दृष्टि के भय संज्ञा होती है फिर भी वह निर्भय कैसा यह बात पंडितजी इन शब्दो मे समझाते है–[४] " सम्यग्दृष्टि के चार सज्ञा होती है, और अनिष्ट पदार्थ के सयोग के निवारण करने के लिए वह प्रयत्न भी करता है, परंतु ऐसा होने पर भी उस के पर पदार्थों मे स्वामित्व की कल्पना न होने से अर्थात् अहंकार–ममकार न होने से (भय कर्म का उदय से) भयवान होकर भी निर्भय ही है । " सवेग गुण के वर्णन मे वे लिखते है–[५] " सम्यग्दृष्टि के भोगों के समान शुद्धोपलब्धि के विषय मे भी सम्यग्दृष्टि की अभिलाषा नही होती ।" वे और लिखते हैं– "[६] सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के वस्तु के स्वाद मे भेद होता है, किन्तु वस्तु कभी अपनी वस्तु का उल्लंघन नही करती " इन सब उद्धरणों से यह स्पष्टतया ज्ञात होता है कि पडितजीने अध्यात्म का रहस्य भी हृदयंगम किया था ।

" कोई कोई महाशय सम्यक्त्व के सराग और वीतराग ऐसे दो भेद करते है, केवल वामनोन्मेष के कारण उस समय चारित्र–मोह की दशा को लक्ष्य कर के ही ऐसे भेद किये जाते है । इस विषय में मूल ग्रंथकार ने जो अध्यात्म और करणानुयोग की संधि दिखलायी है वह अपने में अभूतपूर्व है । इस तथ्य को भी पडित देवकीनंदनजी साहबने अच्छी तरह से प्रगट किया है । इस पर से द्रव्यानुयोग–करणानुयोग तथा चरणानुयोग तीनों को अविरोध स्थापित करने में उनकी विचक्षण प्रतिभा का परिचय मिलता है । देखिए–[७] " **सातवें गुणस्थान के पहले बुद्धिपूर्वक होनेवाली रागक्रिया और क्षयोपशमके ज्ञान ये दोनों साथ रहते है, इसलिए** किन्हीं आचार्यों ने सद्भूत उपचार

१. पंचाध्यायी उक्त संस्करण श्लोक २७५ पान १२८
२. पंचाध्यायी उक्त संस्करण श्लोक २७५ पान १२७
३. पंचाध्यायी उक्त संस्करण श्लोक ४०६ पृष्ठ १८२
४. पंचाध्यायी प्रस्तुत संस्करण श्लोक ४८९ पृष्ठ नं. २१५
५. पंचाध्यायी प्रस्तुत संस्करण श्लोक ५०० पृष्ठ नं. २२०
६. पंचाध्यायी प्रस्तुत संस्करण श्लोक ४३७ पृष्ठ नं. १९५
७. पंचाध्यायी प्रस्तुत संस्करण श्लोक ४९१ पृष्ठ नं. २१६

नय से उक्त गुणस्थान के ज्ञान और सम्यक्त्व को सराग और सविकल्प कहा है "[1] आगे चलकर वे कहते हैं, चारित्रमोहोदयजन्य रागभाव चारित्रमोह के क्षयोपशमजन्य सम्यक्त्व को कैसे लागू होते हैं ?" आगे वे स्वयं लिखते हैं– "[2] इस प्रकार सिद्ध होता है कि, (अनंतानुबंधी बिना) चारित्र मोहजनित बुद्धिपूर्वक राग न तो सम्यक्त्व का ही ध्यान कर सकता है न उस के साथ होनेवाली ज्ञानचेतना का ही।"

जब कि समयसारादि कुंदकुंद साहित्य का न प्रचार–प्रसार था, न विद्यालयों में पढाया जाता था। ऐसी भूमिका में बने हुए पंडितजी ने जो अध्यात्मरहस्य आत्मसात किया था वह देखकर मन आनंद–विभोर हो जाता है। उनकी सर्वंकष प्रतिभा के बाबत जितना लिखे और उन की मर्मज्ञता का रसग्रहण करे वह इस लेख की मर्यादा में संभव नही हैं। यह तो अंशतः दिग्दर्शन मात्र है इस के पूर्व या नंतर जो पंचाध्यायी के अन्य टीकाकारों ने विवेचन किया उसपर तुलनात्मक टीकाटिप्पणी करना यह इस लेख का प्रयोजन तथा लक्ष्य नहीं। मात्र पं. देवकीनंदनजी ने जो पंचाध्यायी का भाव खोला उसका रसग्रहण करना इतनाही इस लेख का प्रयोजन है। यह सुनिश्चित है कि, गुरुवर्य पं. देवकीनंदनजी ने आध्यात्मिक दृष्टिकोण कहींपर भी न छोडा न गौण किया; वे अध्यात्म के मर्म को जानते थे।

आजकल जब गृहस्थ को निश्चय सम्यग्दर्शन होता या नहीं, बंध–मोक्ष के लिए मिथ्यात्व–सम्यक्त्व के कारण आदि विषयो को लेकर तात्विक विवाद उपस्थित हुए हैं। समाज में संगठन मात्र विघटन के लिए दीखता है इस पार्श्वभूमि पर स्व. पं. देवकीनंदन आये बिना रहता नही। पंडितजी जैसे समाजपुरुष का यह विलोभनीय दर्शन है कि उन्होने अपनी ताकत से समाज को विघटन से बचकर संघटन को मजबूत किया। वर्तमान परिस्थिति में धर्म–सुरक्षा के नामपर भी समाज में तोड–फोड ही चालू है। कानजी स्वामी–विरोध के नामपर अध्यात्म का विरोध आ कुंदकुंद का विरोध चल रहा है। जब कि स्व. पंडितजीने स्वामीजी की अध्यात्म देशना का स्वागत किया था। सरसेठ हुकुमचंदजी के साथ सोनगढ जाकर उन्होंने शेठ साहब को प्रवचन हॉल बंधवा देने की प्रेरणा दी। धवला जी के ९३ वे सुत्र के 'संजद' पद के संदर्भ में आ. शांतिसागरजी द्वारा जो आगम में हेर फेर किया गया उससे वे व्यथित थे। इतना हो नहीं आखों में आसू लाकर 'यह तो आगम हत्या करायी जा रही है' इन शब्दों मे अपनी मनोव्यथा प्रगट की थी। यह तो दैवदुर्विलास ही कहना पडेगा। जब स्व. पं. पू १०८ आ. शांतिसागरजी ने अंतिम जीवन क्षणों में इस में अपनी गलती मान्य की थी तब अपना आनंद व्यक्त करने के लिए वे जीवित नही थे। विद्वानों की संघटना का शास्त्री परिषद और विद्वत्परिषद ऐसा विभाजन भी उन के स्वर्गवास के पश्चात ही हुआ। महासभा और परिषद जैसी दो भिन्न ध्येयवाली संस्थाओं में उन्होंने सेतुबंध का ही काम किया। किन्तु आज नयी नयी संस्था स्थापित करके समाज को विघटन के रास्ते चलाया जा रहा है। ऐसा विचार आता है कि यदि पंडितजी का स्वर्गवास इतने जल्दी न होता तो सामाजिक रंगमच का दृश्य कुछ और ही नजर आता। किन्तु यह तो विकल्प मात्र ही है।

ऐसे इस महान समाज पुरुष ने समाज को संघटन के एक सूत्र में बांधने का अथक प्रयास किया। फिर भी वे जैन समाज को अच्छी तरह जानते थे। सौ से भी ज्यादा सामाजिक मामले सुलझा कर भी वे उनसे जल में कमलपत्र के समान अलिप्त रहते थे। गृहस्थ जीवन में संयम की मर्यादा संभालना उन्हे जमा नहीं। फिर भी धर्म की आस्था उनके जीवन का एक मात्र प्राण था। जीवन के अंत समय में भी जो सावधानता और समयज्ञता दिखायी पडी, वह इस का साक्षी है।

---

१. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक ९१२ (२ अध्याय) पृष्ठ ३८६
२. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक ९१६ (२ अध्याय) पृष्ठ ३८८
३. पंचाध्यायी प्रकृत संस्करण श्लोक ९१८ (२ अध्याय) पृष्ठ ३८९

ऐसे अध्यात्म को ही जिन्होंने जीवननिष्ठा मानी और पंचाध्यायी के टीकाकार के नाते जिन्होंने अध्यात्म-दृष्टि की सुरक्षा की, उस महात्मा को आज भी श्रद्धा के सुमन अर्पित करती हूँ।

पं. देवकीनंदनजी एवं उनकी सागारधर्मामृत की हिंदी टीका

प्राचार्य विद्याधर उमाठे,
(बाहुबली)

चरणानुयोग के ग्रंथो में पंडितप्रवर आशाधरजी का सागारधर्मामृत यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण माना जाता है। गृहस्थ धर्म का सर्वंकष विवेचन सागारधर्मामृत ग्रंथ में किया गया है। आचार्यकल्प पंडितप्रवर विक्रम की तेरहवी शताब्दि के जाने माने विद्वान थे। दिगंबर जैन संप्रदाय में उनके बाद उन जैसा बहुश्रुत प्रतिभाशाली, प्रौढ ग्रंथकर्ता और जैनधर्म का उद्योतक दूसरा नही हुआ। यह पं. नाथूरामजी प्रेमी का अभिमत सत्य है। वे न्याय, काव्य, व्याकरण, अलंकार, शब्दकोश, धर्म, योग, वैद्यक आदि विषयो के ज्ञाता थे। इन सभी विषयोंपर उन्होने लेखन कार्य किया है। उन का जैनधर्म का अध्ययन विशाल था। देश–काल परिस्थिति ध्यान में रखकर उन्होने जैन विचार का कालोचित प्ररूपण किया। मतभिन्नताओ में सामंजस्य रखने का प्रयत्न कर विविधता में एकता का सूत्र प्रस्थापित किया। उन्होने सागारधर्मामृत के आठ अध्यायो में पाक्षिक, नैष्ठिक एव साधक श्रावकों की आचारसंहिता (Code of Conduct) का ४७६ श्लोको मे निरूपण किया है। यह ग्रंथ आज भी श्रावको के स्वाध्ययन मे तथा धर्मशिक्षा में एक प्रमुख ग्रथ माना जाता है। पण्डितप्रवर आशाधरजी ने स्वयं 'स्वोपज्ञभव्य कुमुदचंद्रिका' नामक संस्कृत टीका भी लिखी है। माणिकचंद दिगंबर जैन ग्रंथमाला समिति ने मूल ग्रथ और टीका का प्रकाशन विक्रमाब्द १९७२ में किया। इस ग्रथ का देशी भाषा मे अनुवाद भी कई बार प्रकाशित हुआ है। मूलचद किसनदास कापडिया ने पं. लालारामजी शास्त्रीकृत हिंदी टीका सहित यह ग्रथ वी. सं. २४४१ में प्रकाशित किया था। आवृत्ति खतम हो जाने से और दूसरी आवृत्ति की मांग होने से वे उसे पुन: प्रकट करने का विचार कर रहे थे। उन्हें पता चला कि जैन समाज के धुरंधर विद्वान एवं वादिगज–केसरी न्यायवाचस्पति स्वर्गीय पं. गोपालदासजी बरैया के अनन्यतम शिष्य व्याख्यानवाचस्पति पं देवकीनदनजी सिद्धान्त शास्त्री सागार-धर्मामृत की नवीन हिंदी टीका लिख रहे है। उन्होने पडितजी से त्वरित सम्पर्क प्रस्थापित कर उन से स्वीकृति प्राप्त की। ज्ञानाराधना का आज मूल्य दिया जाता है, लिया जाता है किन्तु पंडितजी ने परिश्रम का पुरस्कार लेना उचित नही समझा। यह ग्रंथ वी. सं. २४६६ में प्रकाशित हुआ।

प्राक्कथन

पण्डितजी ने अपने प्राक्कथन में कुछ बातें लिखी है। वे 'पंचाध्यायी' का काम कर रहे थे। संपादन के कार्य में सहयोग देने के लिए पं हजारीलालजी न्यायतीर्थ दो वर्ष तक उन के पास कारंजा में थे। 'सागारधर्मामृत' पडितजी का विशेष प्रिय ग्रथ होने से उनके मन में उसका सुबोध अनुवाद करने की इच्छा निर्माण हुई। दोनों ने मिलकर सागारधर्मामृत का हिंदी अनुवाद प्रारंभ किया। किन्तु 'पंचाध्यायी' का काम पूरा होने से पं. हजारी-

लालजी कारंजा से नातेपूते चले गए। उन के सहयोग से छह अध्यायों के मूल श्लोकों का अन्वयार्थ मात्र हो चुका था। अनंतर पं. हजारीलालजी का स्वर्गवास हो गया। हस्तलिखित प्रति भी नातेपूते के पंचो के स्वाधीन थी। प. परमेष्ठीदासजी न्यायतीर्थ की प्रेरणा से पंडितजी ने इस काम को फिर से हाथ में लिया और शेष दो अध्यायों के मूल श्लोको का अन्वयार्थ, सब (४७६) श्लोकों का भावार्थ, प्रत्येक श्लोकों की उत्थानिका और विषय प्रवेश संस्कृत टीका के अनुसार लिखकर हिंदी टीका को पूरा किया।

विषय प्रवेश

पंडितजी ने लिखा हुआ सागारधर्मामृत ग्रंथ का संक्षिप्त विषय प्रवेश उन के हृदय में स्थित धर्मामृत का निचोड है। श्रावकधर्म का अतिसंक्षिप्त किन्तु अति स्पष्ट चित्रण उस मे किया गया है। प्रत्येक अध्याय की सारभूत बातों का निर्देशन उस में है। मोक्ष प्राप्ति के उपाय व उनका श्रावक धर्म से संबंध, मिथ्यात्व को दूर करने की आवश्यकता, उपदेश की दुर्लभता, श्रावक धर्म के योग्य गृहस्थ, श्रावक धर्म और उस का फल इन पांच मुद्दोंपर सूत्रबद्ध निरूपण प्रथम अध्याय मे दिया है। इसी प्रकार की सूत्ररूपता शेष अध्यायों के विषय प्रवेश में रखी गई है। पूरे ग्रंथ का सार उन्होने केवल १२ पृष्ठो में (२७५ पंक्तिओ मे) पूर्णतया शब्दांकित किया है। इसका कारण यही है कि सागारधर्मामृत का आस्वाद उन्हो ने बार बार लिया था और वह उन की प्रकृति मे इतना मिल जुल गया था कि वे सागारधर्मामृत का मर्मग्राही सार कम से कम शब्दो मे भी व्यक्त कर सके। "जिस मे एक जैनत्व गुण मौजूद है, उसके बराबर दूसरा कोई धन्य नही है।" यह लिखकर वे सहजता से समाज जीवन का एक अच्छा आदर्श ५-६ पंक्तिओ की मर्यादित सीमा मे समाज के सन्मुख रखते हैं। सपूर्ण विषय प्रवेश गृहस्थधर्म का साराश समझने के लिए बार बार पठनीय एवं चिंतनीय है।

श्लोकों की उत्थानिका

पंडितजी व्याख्यानवाचस्पति थे। सभा को मंत्रमुग्ध करने की कुशलता उन में जन्मजात थी। उन में प्रसंगोचितता थी। किन्तु ग्रंथ लेखन एव अनुवाद में वक्तृत्व शैली का उपयोग कम होता है। कम से कम शब्दों मे ग्रथकर्ता का आशय स्पष्ट करना यह अनुवाद का कौशल्य है। भावार्थ लिखते समय भी मूल आशय स्पष्ट-सावधानता रखनी पडती है। और यह संयमितता पंडितजी मे श्लोको के अर्थ और भावार्थ लिखते समय स्पष्ट-तया दिखायी पडती है। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रत्येक श्लोक के प्रारंभ में उत्थानिका, तदनतर श्लोक, अन्वयार्थ व अंत में भावार्थ यह क्रम रखा गया है। उत्थानिका से श्लोक में किस प्रश्न का उत्तर प्राप्त होगा या किस पार्श्वभूमि पर वह श्लोक दिया गया इस की निश्चित कल्पना आती है। उस में उन्होंने शब्दसंख्या का बंधन नहीं रखा। वे सिर्फ मुद्दों के स्वरूप में उत्थानिका दे सकते थे किन्तु उस से नये विषय की पाठक की पूर्व तैयारी नहीं होती, आगे क्या है, इसका स्पष्ट निर्देशन नहीं होता।

उदाहरण के लिए निम्नलिखित उत्थानिका देखिये। "इस प्रकार उपदेश देनेवालो तथा सुननेवालों की व्यवस्था को बता करके अब सागारधर्म को धारण करनेवाला पुरुष कैसा होना चाहिए इस बातको बताते हैं-" (पृष्ठ १५) इस उत्थानिका के पूर्वार्ध मे उपदेशदाता और श्रोता की सद्य:स्थिति और व्यवस्था की ओर अभ्यासक का ध्यान आकर्षित कर सागारधर्म को धारण करनेवाला पुरुष कैसा होना चाहिए यह जानने की उत्सुकता, जिज्ञासा अभ्यासक के मन में निर्माण की गयी है। यही शैली ग्रंथ में सर्वत्र पायी जाती है।" कलिकाल के प्रभाव से जनता को आचार में शिथिलाचार देखकर दान देने के लिए नफरत करनेवाले दाताओं के चित्त के समाधान के लिए उपदेश देते हैं।" (पृष्ठ ८०) कितना सुस्पष्ट विधान है यह! जहां आवश्यकता है

वहां ही श्लोकों की दीर्घ उत्थानिका दी गयी है। आवश्यकता न होने पर संक्षिप्त विधान का प्रयोग किया गया है।

श्लोकों के अन्वयार्थ

श्लोक का अन्वयार्थ लिखना सरल काम नही है। ग्रंथकर्ता के आशय को ध्यान मे रखते हुए पद्यमय रचना गद्य स्वरूप मे लिखना और साथ साथ शब्दो के अर्थ हिंदी में देते हुए अर्थवाहित्व संभालना आसान नहीं है। शब्दों के अर्थो की शृखला इस प्रकार जोडनी पडती है कि उससे ग्रंथकर्ता का अभिप्राय सुस्पष्ट हो सके। पंडितजी ने यह कार्य कुशलतापूर्वक किया है। हिंदी भाषा की प्रकृति ध्यान मे रखकर संस्कृत शब्दों के लिये यथोचित शब्दो का चयन इस रीति से किया है कि जिससे श्लोक का अर्थ सरलता से स्पष्ट हो सके। स्वतंत्र रूप से अर्थ लिखना आसान है। किन्तु अन्वय एव अर्थ साथ साथ देना कठिन काम है। पडितजी ने यह आसानी से किया है। उदाहरण के लिए द्वितीय अध्याय के प्रथम श्लोक का अन्वयार्थ देखिए।

" **अन्वयार्थ :–** (**जिनाज्ञया**) जिनेंद्र भगवान की आज्ञा से (**अजस्रं**) निरंतर (**विषयान्**) विषयों को (**त्याज्यान् पश्यत. अपि**) त्याज्य समझता हुआ भी अर्थात् विषय छोडने के योग्य है ऐसा दृढ श्रद्धान करता हुआ भी जो (**मोहात्**) चारित्र मोह के उदय से (**त्यक्तुं**) उन विषयों को छोडने के लिए (**अशक्तस्य**) असमर्थ है ऐसे भव्य जीव के लिए ही (" **धर्माचार्यैः** ") धर्माचार्यों के द्वारा (**गृहिधर्म.**) गृहस्थ धर्म पालन करने की (**अनुमन्यते**) अनुमति दी है।" (पृष्ठ ३९)

उपर्युक्त अन्वयार्थ में पद्य के शब्द अन्वयरूप से देते हुए हिंदी का स्वभाव ध्यान में रखकर अर्थ लिखा गया है। अर्थ मे सवाहनत्व है, धारावाहिता है। अन्वय छोडकर सिर्फ हिंदी अर्थ पढा गया तो भी ग्रंथकर्ता का अभिप्रेत आशय स्पष्ट होता है और भाषा की सहजता भी नष्ट नहीं होती अभ्यासको के लिए इस प्रकार का अन्वयार्थ उपयुक्त होता है। श्लोक मे ' धर्माचार्यैः ' शब्द न होते हुए भी अर्थ सवाहन के लिए लिया है।

श्लोकों के भावार्थ

प्रथम छह अध्यायों का अन्वयार्थ लिखते समय पंडितजी को पं. हजारीलालजी का सहयोग प्राप्त हुआ था किन्तु ग्रन्थान्तर्गत सब ४७६ श्लोकों का भावार्थ पडितजीने स्वयं लिखा है। इसलिए उसमें उनकी सब विशेषताएँ प्रतिबिंबित हुई है। पं आशाधरजी की सस्कृत टीका का आशय पडितजीने अपने शब्दों में व्यक्त किया है। भावार्थ का लेखन सरल, सुस्पष्ट एव मधुर भाषा में लिखा गया है। यदि भावार्थ का अधिक विस्तार हुआ हो तो अन्त में कथित विचारो का साराश पंडितजीने अवश्य लिखा है। साराश यह है कि " इसलिये ", " इसलिए ग्रथकार का कहना है कि ", " इस प्रकार " आदि का प्रयोग कर संक्षेप में कथित विचारो का सारांश उन्होने लिखा है। पहले दो अध्यायों में भावार्थ लिखते समय पाठको को गृहस्थधर्म का आचरण करने की आंतरिक प्रेरणा अवश्य मिलनी चाहिये यह दृष्टिकोण उन्होंने अपने सम्मुख रखा यह दिखायी पडता है। मंगलाचरण, अनाद्यविद्या-दोषोत्थ० ", " न्यायोपात्तधनो० ", " भूरेखादि० ", " रागादिक्षयतारतम्य० ", " तत्तार्थं प्रतिपद्य० " " मुञ्चन् बंधं वधच्छेदा० " आदि श्लोको के भावार्थ अतिस्पष्ट एवं विचारप्रवर्तक है। भावार्थ लेखन का प्रमुख हेतु विषय की स्पष्टता, विचारो की प्रेरणा एव आचरण की भावना वृद्धिगत करना होता है। इस दृष्टि से पंडितजी का भावार्थ लेखन निश्चित रूप से परिपूर्ण और परिपक्व है।

दृष्टान्त, नीतिवाक्य आदि

पं. आशाधरजी एक विलक्षण प्रतिभा के धनी थे। वे संस्कृत भाषा और साहित्य के ' कलिकालिदासः ',

'काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्र:' एवं प्रज्ञापुंज थे। वे जिनधर्मानुरागी थे और समाज में जैन आचार-विचारों की प्रभावना के लिए प्रयत्नशील थे। अपने विचार स्पष्ट करने के लिए वे दृष्टान्तों का, सारभूत नीतिवाक्यों का सूत्र-बद्ध शब्दों में प्रयोग करते थे। इसका पाठको के चित्त पर विशेष प्रभाव पडता है। पंडितजी ने उनका अनुवाद भी सुमधुर, सुललित एवं हृद्य शब्दों में किया है। उदाहरण के लिए प्रथम अध्याय के ७ वें श्लोक का अनुवाद देखिये।

"बडे खेद की बात है कि इस भरत क्षेत्र में, पंचम काल में सदुपदेशरूपी दिशाओं के मिथ्याउपदेशरूपी मेघों के द्वारा व्याप्त हो जाने पर सम्यक् उपदेश देनेवाले सच्चे गुरु जुगनू की तरह कहीं कहीं पर ही प्रकाशित होते हैं अर्थात् दिखायी पडते हैं।" (पृष्ठ १२)

इस समय भद्र पुरुष भी उपदेश देने के पात्र हैं यह बतलाने के लिए पं. आशाधरजीने दृष्टान्त दिया है।

"हेम्न्यलभ्ये हि हेमाश्म-लाभाय स्पृहयेन्न क:।" १-८

पंडितजी ने इसका अनुवाद किया है,

"क्यों कि सुवर्ण के नही मिलने पर सुवर्ण की प्राप्ति के लिए कौन पुरुष इच्छा नहीं करेगा?"

सागारधर्मामृत ग्रंथ मे नीति एवं संस्कारक्षम वाक्यों की संख्या पर्याप्त मात्रा में है। धर्म संस्कार के लिए उनका महत्व असाधारण है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं।

"जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक्।" २ २२

"वर्ण के द्वारा हीन जीव भी कालादिक लब्धियो को प्राप्ति होने पर श्रावकधर्म की आराधना करनेवाला होता है। (पृष्ठ ५६)

"न किञ्चिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो.।" २.४४

क्योंकि सर्वज्ञ देव, शास्त्र और परमात्मा में कुछ भी अन्तर नहीं है ऐसा कहते हैं। (पृष्ठ ६१)

कल्याणेच्छु पुरुष को सबसे प्रथम जैन लोगो पर अनुग्रह करना चाहिए यह बतलाने के लिए प. आशाधरजी कहते हैं-

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रश:।
दलादिसिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदुषि ॥ २.५३

पंडितजी का अनुवाद—

"अनुगृहित किया गया एक भी जैन श्रेष्ठ है किन्तु अनुगृहित किए गए एक हजार अजैन श्रेष्ठ नही है। क्योंकि दारिद्र्य तथा व्याधि वगैरह को दूर करने की शक्ति से युक्त पारे को सिद्ध करनेवाले पुरुष के प्रसन्न होने पर साररहित कृत्रिम सुवर्णादिक द्रव्यो के बनाने मे प्रसिद्ध पुरुषो को कौन पुरुष चाहेगा? (पृष्ठ ७४)

साधर्मी को सत्कन्यादान करना उसे गृह ही देना है यह बतलाने के लिए

पं. आशाधरजी-'गृहं हि गृहिणीमाहुर्न कुड्यकटसंहतिम्।' २.५९

पंडितजी-क्योंकि विद्वान् लोग स्त्री को ही घर कहते हैं किन्तु दीवाल और बासों के समूह को घर नहीं कहते हैं (पृ. ७८)

आधुनिक पात्रों में पूर्व पात्रो की स्थापना करके दान देना चाहिए, नुक्ताचिनी नहीं करना चाहिए यह बतलाने के लिए पं आशाधरजी—

विन्यस्यैयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव ।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत्कुतः श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ॥ २.६४

पंडितजी–सद्गृहस्थ प्रतिमाओं में स्थापित किए गए अर्हन्तों की तरह वर्तमान काल के मुनियो में पूर्व काल के मुनियों को नामादिक विधि के द्वारा स्थापित करके भक्तिपूर्वक उन की पूजा करे क्योंकि क्षोदक्षेम करनेवालों के कहा से पुण्य प्राप्त हो सकता है ? (पृष्ठ ८१)

टिप्पणियाँ

पं. आशाधरजी ने अपनी संस्कृत टीका लिखते समय स्थान स्थान पर टिप्पणियाँ जोडी हैं। उनकी सहायता से पाठकों को विशिष्ट विषय की अन्य जानकारी प्राप्त हो सकती है। इन टिप्पणियो मे संदर्भ, विशेष जानकारी दी गई है। अनेक सुभाषितो का चयन भी उस मे होता है। पडितजी ने उन सबका हिंदी रूपातर अच्छी तरह से किया है। सागारधर्म को धारण करनेवाला पुरुष कैसा होना चाहिए यह बतलाते समय 'न्यायोपात्तधनो.' इस श्लोक की टिप्पणी मे अनेक ग्रथकारो के सुभाषित, सुवचन दिए गये हैं। पडितजी द्वारा अनुवादित सुवचन कठस्थ करनेयोग्य है। उदाहरण के लिए कुछ सुवचन इस प्रकार है।

"अन्याय से उपार्जन किया गया धन ज्यादह से ज्यादह दश वर्ष तक ही ठहरता है। ग्यारहवे वर्ष मे वह सब मूलसहित नष्ट हो जाता है।" (पृष्ठ १६)

"लोकापवाद से भयभीत होने को, दीनो के उद्धार करने में आदर रखने को, कृतज्ञता और उदारता को सदाचार कहते है।" (पृ १६)

"जो तुम एकही कर्म से–उपाय से सपूर्ण ससार को अपने वश मे करना चाहते हो तो दूसरे की निंदारूपी धान्य को चरनेवाली अपनी वाणीरूपी गाय को दूसरे को निंदारूपी धान्य से रोको अर्थात् दूसरो की निंदा मत करो।" (पृ १७)

"यदि तुम सज्जन पुरुषों की संगति में लीन होओगे अर्थात् उनकी संगति मे रहोगे तो अवश्य ही उत्तम ज्ञान की गोष्ठी मे पडोगे अर्थात् उत्तम ज्ञान को प्राप्त करोगे।" (पृ २१)

"धर्म के सार को सुनो तथा सुनकर उस पर विचार करो, क्योंकि सम्पूर्ण धर्म का सार यही है कि जो कार्य अपने प्रतिकूल उन कार्यों को दूसरो के प्रति मत करो। (पृ. २३)

दूसरे अध्याय मे कन्यादान विधि बतलाते समय टिप्पणी मे वैवाहिकी क्रिया का वर्णन दिया गया है। पडितजीने उसको हिंदी भाषा मे अच्छी तरह से अनुवादित किया है। तीसरे अध्याय के प्रथम श्लोक में नैष्ठिक श्रावक 'सुलेश्यतरः' होता है ऐसा कहा है। संस्कृत टीका की टिप्पणी में षड् लेश्या का वर्णन दिया है। उस में लेश्या की परिभाषा, प्रकार, संख्या, भाव, गुणस्थानो मे लेश्या आदि का वर्णन स्पष्ट दिया है। पंडितजी ने यह सब वर्णन सुबोध हिंदी मे अच्छी तरह से अनुवादित किया है। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल लेश्यावाले जीवो का स्वभाव कैसा होता है वह स्पष्ट रूप से चित्रित किया गया है। (पृ. ९६–९८)

दान के प्रकरण में टिप्पणी में सात्त्विक, राजस और तामस दान का वर्णन दिया है।

विषयवस्तु

सागारधर्मामृत का विषय श्रावकाचार है। अष्ट मूलगुण, ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत, ११ प्रतिमाएँ और सल्लेखना यही श्रावकधर्म है। इन सबका काव्यमय वर्णन पं. आशाधरजीने अपने ग्रंथ में किया है।

पं. देवकीनंदनजी उसका यथार्थ भावपूर्ण हिंदी अनुवाद करने में सफल हुए हैं। स्वाध्ययनशील गृहस्थ संस्कृत भाषा का ज्ञाता न होते हुए भी सिर्फ हिंदी अर्थ और भावार्थ पढकर पं आशाधरजी का हार्द समझ सकता है। और सागारधर्म स्वीकारने की इष्ट प्रेरणा प्राप्त कर सकता है। श्रावक की दिनचर्या का हिंदी वर्णन तो प्रत्येक श्रावक के लिए मार्गदर्शक है। 'ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय' से "आहोरात्रिकाचार" तक संपूर्ण क्रियाओं का यथार्थ मार्गदर्शन प्राप्त होने से पाठक जागृत होकर सम्पूर्ण क्रियाओ का ज्ञानपूर्वक पालन करने के लिए दृढचित्त होता है। ऐसे व्रतधारी पुरुष के गले मे स्वर्गश्री मुक्तिलक्ष्मी की ईर्षा से वरमाला डाल देती है। ऐसे प्रेरणादायी शब्दो से सागारधर्म की ओर पाठक की प्रवृत्ति बढती है। दैनिक कार्य कलापो में भी "कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन्" गृहस्थ सतोष वृत्ति धारण कर आत्मविकास की ओर बढ़ने के लिए प्रवृत्त होता है। श्रावकों के दान, पूजा आदि महत्त्वपूर्ण कर्तव्यो का, यथार्थ चित्रण पडितजीने अपनी सबोध हिंदी भाषा में किया है। भोजन करते समय, व्यवहार करते समय, सामायिक करते समय, रात्रि मे नीद खुलने पर किस प्रकार का चिंतन लाभप्रद है यह भी पडितजीने हिंदी भाषा मे भावपूर्ण शब्दो मे स्पष्ट किया है।

सल्लेखना

नैष्ठिक श्रावक के आचारधर्म का पालन करने के पश्चात् जैनागम के अनुसार एकादश प्रतिमा के साधक रूप तृतीय पद का सविस्तर वर्णन आठवें अध्याय मे किया गया है। पडित देवकीनंदनजी ने वह हिंदी भाषा मे सुबोधता से किया है। साधक की परिभाषा पडितजीने इस प्रकार की है।

"मरते समय जो उद्दिष्ट विरत श्रावक आत्मिक ध्यान जनित आनदमय होकर देह से ममता का त्याग-चतुर्विध आहार का त्याग और काय की चेष्टाओ का त्याग कर के निर्विकल्प समाधि द्वारा आत्मा की शुद्धि की अर्थात् मोह, राग और द्वेष के त्यागरूप रत्नत्रय परिणति की साधना करता है वह साधक है। (पृ. २५९)

शरीर यदि टिक रहा हो तो उसका त्याग करना इष्ट नही है और नश्वर हो तो उसके लिए शोक करना भी इष्ट नही है। यह बात समझा कर पडितजी लिखते है–"यदा कदाचित आहार, विहार, और औषधोपचार करते हुए भी शरीर पर उनका किसी प्रकार का भी असर न हो, प्रत्युत व्याधि ही बढ़े तो ऐसी परिस्थिति में दुष्ट के समान उसका त्याग करना ही योग्य है। (पृष्ठ २६१)

आत्मघात और समाधिमरण सर्वथा भिन्न है, समाधिमरण को आ मघात कहना उचित नही है यह स्पष्ट करते समय पडितजी लिखते है "...... समाधिमरण को आत्मघात नही कह सकते है, क्योकि कषाय के वेग से जो विषभक्षण, श्वासनिरोध, जलप्रवेश और अग्निप्रवेशद्वारा प्राणो का नाश किया जाता है उसेही आत्मघात कहते है।" (पृष्ठ २६२)

सल्लेखना कब, किस विधि से करना चाहिये इस का स्पष्ट निर्देशन पडितजीने किया है। सल्लेखना मे कषायो को कृश करना महत्व का है। वे स्पष्ट कहते है कि "काम, क्रोधादि कषायों को कम न करनेवालो का उपवासादि द्वारा अपने शरीर को कृश करना व्यर्थ है। क्योकि ज्ञानी जन कषाय कम करने के प्रयोजन से शरीर को उपवासादिकसे कृश करते हैं। (पृष्ठ २६९)

आहार का क्रमशः त्याग, क्षमा याचना, आलोचना, सस्तरारोहण आदि विधि बतलाने के पश्चात क्षपक को स्वद्रव्य मे लीन होने का, परद्रव्य की आसक्ति छोड़ने का और अतरग बहिरग शुद्धि का उपदेश दिया है। सल्लेखना के समय निर्यापकाचार्य क्षपक को आवश्यक शिक्षा देता है। वह मूल मे पढना इष्ट है। निर्यापकाचार्य क्षपक को सम्यक्त्व की उपकारिता, जिनभक्ति, भावनमस्कार, ज्ञानोपयोग का माहात्म्य, स्वाध्याय का फल, अहिंसा आदि के सबंध में उपदेश देता है और उसे आत्मद्रव्य मे लीन रहने की प्रेरणा देता है। यह सपूर्ण अध्याय मूल मे पढ़ना इष्ट है।

सागारधर्मामृत ग्रंथद्वारा पं. आशाधरजीने गृहस्थों को अमृतपान कराया है। सत्प्रवृत्त समाज निर्मिती की दृष्टि से यह कार्य अलौकिक है। सागारधर्म स्वय, चैतन्यदायी पीयूष है। पंडित प्रवर आशाधरजी समान शारदा के स्वनामधन्य वाणीभूषण पुत्र ने उस को सस्कृत भाषारूपी द्रोणो मे भर भर कर समाज के भद्र परिणामी गृहस्थो को वितरित किया है। किन्तु आज संस्कृत भाषा जाननेवालो की संख्या कम हुई है यह देखकर व्याख्यान वाचस्पति पं देवकीनंदनजी जैसे विद्वानोने वही धर्मामृत समाज में वितरित करने का पवित्र कार्य किया है। सत्प्रवृत्त समाज की निर्मिति एवं सद्विचारों का संवर्धन और सरक्षण की दृष्टि से यह कार्य अमूल्य है। ५० वर्ष पूर्व लिखा हुआ यह अनुवाद आज भी उपयुक्त एव प्रेरक है।

स्व. व्याख्यानवाचस्पति पं. देवकीनंदनजी के लेख–लिखाणांश

जैनों की अहिंसा

श्री. व्याख्यानवाचस्पति पं. देवकीनंदनजी, सिद्धान्तशास्त्री

महात्मा गान्धीने जब से देशोद्धार के लिये बिगुल बजाया है और उसका साधन अहिंसा को बताया है, तब से भारत का लोकमत हिंसा–अहिंसा के स्वरूप समझने मे सजग हो रहा है । और उसकी उपयोगिता–अनुपयोगिता के विषय में ऊहापोह करने लगा है । जैनधर्मानुसार अहिंसा तत्त्व का खास महत्व है–वह उसका उत्तम सिद्धान्त है । जब उसकी सम्यक् आराधना से आत्मा परमात्मा हो सकता है–कर्मबन्धन से छूट सकता है–तब अन्य राष्ट्रीय पारतंत्र्य से छूटना कौन बडी बात है ? वह तो अहिंसाकी सम्यगाराधना के द्वारा सहज साध्य है । अतः आज जैन दृष्टि से अहिंसा विषय मे ही कुछ विचार प्रस्तुत किया जाता है ।

प्रमाद के योग से प्राणो के व्यपरोपणा को 'हिंसा' कहते हैं [१]। 'प्रमाद' शब्द का अर्थ काम–क्रोधादिक विकार, प्राण' शब्द का अर्थ आत्मा के स्वाभाविक विवेक आदि सद्गुण, और 'व्यपरोपण' शब्द का अर्थ घात है । अर्थात् क्रोधादि विकारोके योगसे आत्मा के विवेकादि गुणो का जो घात होता है उसे हिंसा कहते हैं । हिंसा के द्रव्य और भाव के भेद से 'द्रव्यहिंसा' और 'भाव–हिंसा' ऐसे दो भेद हैं । और ये भी फिर स्व–पर के भेद से दो दो भेदरूप हो जाते है । इन मे से भावहिंसा की साधक बाह्य क्रियाओं को अथवा द्रव्यप्राणों के घात को 'द्रव्य–हिंसा' और उसके निमित्तादि से रागादिक भावो की उत्पत्ति होकर जो भावप्राणो का घात होता है उसे 'भावहिंसा' कहते हैं । वास्तव मे यह भावहिंसा ही हिंसा है, बिना भावहिंसा के कोरी द्रव्यहिंसा हिंसा नही कही जाती [२] है । अस्तु, इस हिंसा के न होनेका ही नाम अहिंसा है । यह अहिंसा श्रावक और यतियो के भेद से दो प्रकार की है । राष्ट्रोद्धार का मुख्य संबध गृहस्थाश्रम से होनेके कारण इस लेख मे श्रावको अथवा गृहस्थधर्म के अनुयोगी जैनों की अहिंसा पर ही विचार किया जाता है ।

गृहस्थाश्रम मे दो प्रकार की हिंसा हो सकती है एक आरम्भजा और दूसरी अनारम्भजा । आरंभजा हिंसा कूटना, पीसना, रसोई आदि गृहिकर्मो के अनुष्ठान तथा आजीविका के उपार्जन आदिसे सम्बन्ध रखती है, और अनारम्भजा हिंसा गृहस्थो के योग्य आरम्भ को छोड़ कर शेष मन–वचन–कायके संकल्पद्वारा होनेवाले त्रस–जीवो के घातको अपना विषय करती है । और इस दूसरी हिंसा को संकल्पी हिंसा भी कहते है ।

आरम्भजा हिंसा का त्यागना गृहस्थ–जीवन की दृष्टि से अशक्य है । इसी लिये, वैसा जीवन व्यतीत करते हुए, गृहस्थाश्रम मे उसके त्याग का आम तौर पर विधान नही है [३]। बल्कि एक जगह तो गृहस्थधर्म का वर्णन करते हुए यहाँ तक लिखा है कि–

---

१. "प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा ।" तत्त्वार्थसूत्र ।

२. " अप्रादुर्भावः खलु रागादीनाा भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेपः ॥४४॥
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि ।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

३. "हिंसा द्वधा प्रोक्ताऽऽरंभानारंभजत्वतो दक्षैः ।
गृहवासतो निवृत्तो द्वेधाऽपि जायते तां च ॥
गृहवाससेवनरतो मन्दकषायप्रवर्तितारम्भः ।
आरम्भजां स हिंसां शक्नोति न रक्षितुं नियमात् ॥" उपासकाचारे अमितगति

सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते ।
विशिष्यंते परं भावावत्र मुख्यानुषङ्गिकौ ॥
अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक् ।
अभिध्यानविशेषेण यथा धीवरकर्षकौ ॥

–यशस्तिलक, उ. पृ. ३३५

अर्थात्–' ऐसी कोई भी क्रिया नही है जिस मे हिंसा न होती हो; परन्तु यहाँ पर मुख्य और आनुषंगिक भावो की विशेषता से विशेष है (उसी के आधार पर हिंसा–अहिंसाकी व्यवस्था की जाती है) । एक मनुष्य दूसरे प्राणीका घात न करते हुए भी हिंसापरिणाम के कारण पापी होता है और दूसरा अन्य जीवो का घात करते हुए भी हिंसा परिणाम की मुख्यता न होने से पाप का भागी नही होता–अथवा हिंसक नहीं कहलाता; जैसे धीवर और किसान । धीवर जिस समय जाल हाथ मे लेकर मछलियाँ पकड़ने के लिये जाता है उस समय बाह्य में हिंसा न करते हुए भी हिंसापरिणाम की मुख्यता के कारण वह हिंसक है और किसान खेत को जोतने तथा खेती–सबंधी अन्य आरभी के करने मे प्रचुर जीव घात करते हुए भी उन जीवो के घात का मुख्याभिप्राय न रखने से अहिंसक है । ' इसी से गृहस्थो के लिये जीवनोपाय के रूप मे कृष्यादि कर्मो के अनुष्ठान का विधान है । युग की आदि मे खुद भगवान् ऋषभदेव ने प्रजाजनो को उसकी शिक्षा दी है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र के निम्न वाक्य से भी प्रकट है–

' प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषू
शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा. ।'

–स्वयंभूस्तोत्र ।

गृहस्थों की आजीविका छह प्रकार की[४] है, जिनमे से असिवृत्ति भी गृहस्थ की एक आजीविका है, और उसका प्रधान लक्ष्य है सेवा[५] । इसी से उसके करते समय जो शस्त्र उठाये जाते हैं अथवा स्वाभिमान की रक्षाके लिये प्रयत्न किये जाते है वे सब अपने तथा अन्य दीन-दुर्बलो के प्रति होने वाले अन्याय अत्याचार के परिमार्जन के लिये ही होते हैं । इसलिये उचित कोटिके अन्तर्गत होने से उन्हे गृहस्थाश्रम मे अयन्त्र बतलाया है । उनसे मानसिक विकार-परम्परा का एक प्रकारसे अभाव होता है, आत्मिक विकास को अवसर तथा उत्तेजन मिलता है और आदर्श पुरुषत्व का अविर्भाव होता हैं । ऐसे ही पुरुषत्व से विशिष्ट अन्याय-प्रतिशोधक वीरो की छत्र–छाया का लोग आश्रय लेते हैं और उनके अनुयायी बनकर एक ऐसे बलवान समुदाय की सृष्टि कर डालते हैं जिसके द्वारा दुर्बलो को वह प्राप्त होकर अविवेक तथा अन्याय-पूर्ण कृतियो का सत्यानाश होता है अथवा अन्याय–परम्पराका उच्छेद होता हैं । ऐसे ही पुरुषत्व दीन–दुर्बलों के भयभीत अन्त करण में होने वाली क्लेश–परम्परा का उद्धार करता है, इसीसे उसको दयाभाव कहा गया है[६] । साराश, गृहस्थाश्रम मे वीरो की इस न्यायानुरूप प्रवृत्ति को उचित और व्यापक दयाका आसन प्राप्य है । जो इस भाव की रक्षा न करते हुए वैयक्तिक दया का स्वांग करते हैं वे गृहस्थ वास्तव मे दयालु–पद के अधिकारी नही हैं । दया की समीचीन मर्यादा को ठीक न समझने के

४. **असिर्मषि कृषिविद्या वाणिज्यं शिल्पमेव च ।**
कर्मणीमानि षोढा स्युः प्रजाजीवनहेतवे ॥

–आदिपुराणे, जिनसेनः ।

५. **" तत्रासिकर्म सेवायां "**

कारण ही पृथ्वीराजने महम्मद घोरी को छोड़कर निःसन्देह वैयक्तिक दया का दुरुपयोग किया था और उससे राष्ट्र को भयंकर हानि पहुँची है।

इस विषय मे सोमदेवाचार्यका निम्न वाक्य भी खास तौरसे ध्यान मे रखने योग्य है–

य. शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात्
यः कण्टको वा निजमंडलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपाः क्षिपन्ति
न दीन–कानीन–शुभाशयेषु॥

–यशस्तिलक उ पृ. ९६

इसमें बतलाया है कि–' जो रणाङ्गणमे युद्ध करने को सन्मुख हों अथवा अथवा अपने देशके कंटक–उसकी उन्नति में बाधक-हों क्षत्रिय वीर उन्ही के ऊपर शस्त्र उठाते है–दीन, हीन और साधु आशय वालों के प्रति नहीं।'

इससे यह साफ ध्वनित होता है कि दीन, हीन तथा शुभाशय वालो पर शस्त्र उठाना जैसे अन्याय एवं हिसा है वैसे ही अपने देशके कटकों (शत्रुओं) पर उसका नउठाना भी अन्याय और हिसा है। अन्याय का सदा ही प्रतिरोध होना चाहिये, प्रतिरोध न होनेसे अन्याय बढ़ जाता है और उसके कारण धर्म-कर्म के अनुष्ठान की सारी व्यवस्था बिगड़ जाती है अथवा उसके आचरण में बाधा उपस्थित होती है। अतः किसी भी प्रकार की आजीवका के करते समय न्यायमार्ग का कभी भी उल्लघन नही करना चाहिये।

पं. आशाधरजी ने गृहस्थ–धर्मकी पात्रता के लिये जिन गुणों का होना आवश्यक बतलाया है उनमें भी न्यायपूर्वक आर्जीविका को प्रथम स्थान दिया है*। और यह ठीक ही है, क्योकि आजीविका के उपार्जन करते समय, जिस मे कि गृहस्थो के उपयोग का बहुभाग लगा रहता है, जिन व्यक्तियो का चित्त उचित अनुचित का खयाल नही रखता उनका चित्त स्वच्छ तथा विवेकवान नही रह सकता, और जब चित्त विवेक से रहित होता है तब फिर वह कैसे धर्मध्यान का अधिकारी हो सकता है? अत. आजीविका की प्राप्ति में न्यायमार्ग का ध्यान रखना पहला कर्तव्य है। सब आजीविकाओं मे क्षत्रियवृत्ति (असिकर्म) को प्रथम स्थान दिया है, वह दूर्बलो के ऊपर होने वाले अन्यायो की रक्षाका साधन है, इसीलिये उपादेय है। जो विवेकपूर्वक उसका आचरण करते है वे जग को अभयदान के दाता है, दुर्बलो के आत्मविकास और उत्थान के साधक है। अतएव उनकी वह क्षत्रियवृत्ति अहिसा की पोषक ही है–घातक नही। घातक तो वह तब हो जाती है जब कि उनके मदोन्मत्त होने पर उनकी अनुचित अधिकार–लोलुपता, मनोविनोद के लिए आखेट खेलना, दुर्बलो का सताना और अपने कर्तव्य में प्रमाद करना आदि बढ़ जाते है। इसीलिये जैनाचार्यों ने "**निरर्थकवधत्यागेन क्षत्रिया व्रतिनो मताः**" जैसे वाक्यों द्वारा निरर्थक वध त्याग को ही क्षत्रियो का अहिसाव्रत कहा है-सार्थक अथवा सापराध जीवो के वध त्याग को नही। इसीसे जैनी राजा अपराधियो के लिए अनेक प्रकार के वध–बन्धनो का विधान करते तथा युद्धों मे लड़ते आये हैं। खेद है जबसे जैनियों ने इस क्षत्रियवृत्ति को छोड़ दिया है तभी से उनका पतन हो गया है और के अपने धर्म तथा समाज के गौरव को भी कायम नही रख सके हैं।

---

६. "दीनाभ्युद्धरणी बुद्धिः कारुण्यं करुणात्मनाम्।

७. न्यायोपात्तधनोः यजन् गुणगुरून्सद्गीस्त्रिवर्गं भज–
न्नन्योन्यानुगुणं तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः।
युक्तरहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी

अब मैं यहाँ पर इतना और बतला देना चाहता हूँ कि विवेक-शून्य होकर दुर्बलों पर अत्याचार करना जैसे हिंसा है वैसे ही लौकिक स्वार्थवश स्वाभिमान को खोकर दूसरो के अत्याचार सहना भी हिंसा है। क्योंकि जिस प्रकार अन्याय करते समय क्रोधादि विकारो के आवेश में आत्मा की कोमलता तथा सद्सद्विवेकबुद्धि आदि उत्तम गुणों का घात होता है, उसी प्रकार अत्याचार सहने में भी स्वाभिमान का लोप होकर आत्मबल के तिरस्कार तथा भय के संचार और कायरता आदि के प्रादुर्भाव के कारण सद्सद्विवेकबुद्धि आदि आत्मा के सद्गुणों का घात हो जाता है। इसलिये गृहस्थो के इस अत्याचारसहन को भी हिंसा ही कहते हैं। और इस कहने मे तो कुछ भी आपत्ति मालूम नही होती कि अहिंसक पुरुष मे ही वास्तविक पुरुषत्व प्रकट हो सकता है-हिंसक में नहीं। अहिंसक ही, वास्तव मे, स्व-पर-अन्यायका विरोध होनेसे वीर, विवेकी, सहिष्णु और उदार अन्त.करण वाला व्यक्ति हो सकता है, उसे ही स्वयं अन्याय-पापाचरण न करने के कारण संयम को, मनोनिग्रह-पूर्वक अनुचित तृष्णाओं के निरोध से तप की और दुसरे के ऊपर होने वाले अन्याय का परिहार करते रहने से विश्वबन्धुता की प्राप्ति होती है।

अत: गृहस्थधर्मोपयोगी अहिंसा के स्वरूप को ठीक समझ कर उसकी सम्यक् आराधना करनी चाहिये-बराबर उसके अनुष्ठान मे लगा रहना चाहिये। इसीसे अपना और देशका उद्धार हो सकेगा।

अनेकान्त-दृष्टि

श्री. पं. देवकीनन्दनजी, सिद्धान्तशास्त्री

ज्ञान की गति दृष्टि के अनुकूल ही होती है; जैसे परमार्थ-दृष्टि वाले के ज्ञान की गति परमार्थ की साधना के अनुकूल होती है और स्वार्थ-दृष्टि वाले के ज्ञान की गति स्वार्थो की साधनप्राप्ति के अनुकूल होती है। "मुडे मुडे मतिभिन्ना" की जो कहावत लोक मे प्रचलित है वह सब भिन्न भिन्न दृष्टियो के ऊपर ही निर्भर है। इसी लिए ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कब होता है और कैसे होता है, इस पर विचार करनेसे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दृष्टि मे समीचीनता के आने पर ही ज्ञान मे समीचीनता आती है, अन्यथा नही। और दृष्टि मे समीचीनता वस्तुके यथार्थ स्वरूप के समझनेसे ही आती है। प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है। वे अनेक धर्म जिन जिन स्वरूपो में स्थित होते हैं, जिन जिन परिस्थितियो मे अथवा जिन जिन समयों तथा जिन जिन क्षेत्रों मे जिन जिन परिणामो को लिये रहते है, उनको उन उन ही स्वरूप, उन उन ही परिस्थितियो मे अथवा उन उन ही समयो तथा उन उन ही क्षेत्रो मे उन उन ही परिणाम स्वरूप देखना इसी का नाम अनेकान्त-दृष्टि है। देश-काल परिस्थिति के अनुकूल अवस्थित वस्तु को यथार्थरूप से न देखने मे मनुष्य के ज्ञान की मदता कारण नही है किन्तु उसकी निकृष्ट-आसक्तिवश-स्वार्थपरम्परा अथवा तज्जन्य जो ज्ञान का भ्रम है वही बाधक कारण है।

जब मनुष्य की दृष्टि किसी स्वार्थवश अथवा भ्रमवश किसी एक विषय की तरफ निरपेक्षरूप से झुक जाती है तब अपने भ्रम और स्वार्थ के कारण वह एक प्रकार के कदाग्रह से ग्रस्त हो जाता है और उसको ही जैसे तैसे सत्य सिद्ध करने तथा प्रचार करने में तत्पर हो जाता है। इस प्रकार उसके दृष्टिकोण में विकार आ जाने से उसका ज्ञान भी अज्ञानरूप मे परिणत हो जाता है। यदी ज्ञान मे भ्रम न हो, किसी तरह की स्वार्थवासना

न हो और मनुष्य अपनी सदसद्विवेकबुद्धि को यथार्थ अथवा निर्विकार दृष्टिकोण की तरफ झुकने के लिए खुला रास्ता रहने दें, तो उनकी ज्ञानशक्ति वस्तुओं के अंत:स्थल को स्पर्श करके अवश्य ही वस्तुगत अनंत धर्मों को प्राप्त कर लेती है। और उनकी ऐसी दृष्टि के होने से ज्ञान की तदनुकूल वृत्ति विकसित होकर अज्ञाननिवृत्तिजन्य ऐसे आल्हाद का अनुभव करती है कि जिसके सामने बड़ेसे बड़े वैषयिक सुख, अवांछनीय ही नहीं किन्तु अत्यंत हेय और पापमूलक अनुभव में आने लगते हैं। इसी से कुछ पहुंचे हुए अनुभवी विद्वानों ने इस प्रकार के उद्गार निकाले हैं कि–

कोटिजन्म तप तपें ज्ञान बिन कर्म झरें जे।
ज्ञानी के छिन में त्रिगुप्तितें सहज टरें ते ॥

इन शब्दों के द्वारा ज्ञान का जो माहात्म्य वर्णन किया गया है वह सब अनेकान्तदृष्टि से होनेवाले ज्ञान का ही है। सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चारित्र में सम्यक्दर्शन को उच्चस्थान प्राप्त होने का कारण भी यही है; क्योंकि जीवात्मा के ज्ञान की गति सदैव श्रद्धा के-दृष्टि के-अनुकूल होती है और सद्दृष्टि[१], सम्यग्दृष्टि अथवा अनेकान्त-दृष्टि का नाम ही सम्यग्दर्शन है। यदि श्रद्धा विपरीत हो तो ज्ञान की गति वस्तु के स्वरूप, भेदाभेद और कार्यकारण-भाव के विषय में पक्षपातग्रस्त हो जाती है। और उसे ही विपर्यासयुक्त बुद्धि कहते हैं। अथवा शास्त्रीय परिभाषा मे कारणविपर्यास, स्वरूपविपर्यास और भेदाभेदविपर्यास से युक्त भी कहते हैं। किन्तु जिस समय व्यामोह के दूर होने से आत्मविशुद्धिवश अनेकान्तदृष्टि का उदय होता है, उस समय आत्मा का ज्ञान स्वभाव से ही अनेकान्तात्मक (नि:पक्षपाती) होने से वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोधक होता है तथा रागद्वेष-रहित होनें के कारण अतिन्द्रिय आनन्द का उपभोग करने वाला भी हो जाता है। अत: ज्ञान के विषय मे यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि वह अनेकान्तदृष्टि के विना ही मिथ्याज्ञान और अकल्याणकारी कहलाता है।

यहा पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि दृष्टि के अनेकान्तात्मक होने मे कारण क्या है ? तो इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार ज्ञान का स्वभाव वस्तु के स्वरूप को जानने का है उसी प्रकार उस ज्ञेयभूत वस्तु का स्वभाव भी अनतधर्मात्मक और अपने सम्पूर्ण धर्मोसहित ज्ञान का विषय होने का है। अत एव जब आत्मा विशुद्धिवशात् सर्वज्ञता प्राप्त करता है तब वह उसके वस्तुगत संपूर्ण धर्मो को युगपत् जानता है। परंतु अल्पज्ञ अवस्था मे वह (आत्मा) ज्ञान के अपूर्ण होने से वस्तुगत अनन्त स्वरूपों को युगपत् नहीं जान सकता है किंतु गुणमुख्य-विवक्षावश नयात्मक ज्ञान के द्वारा थोडे से वस्तुगत स्वरूपों को (धर्मोंको) जानता है। और जिस समय वह अल्पज्ञ अपने उस नयज्ञान के चित्र को शब्दों में अंकित कर के दूसरों कों समझना चाहता है अथवा दूसरों के द्वारा स्वत: समझना चाहता है उस समय वह नयज्ञान के समान हो शब्दो में एक साथ वस्तुगत नाना धर्मों के प्रतिपादन की शक्ति का अभाव पाता है। इसी लिए एक ही वाच्य के नानावाचक माने गये हैं और नाना अपेक्षाओं के द्वारा एक ही अर्थ का नाना रूप से प्रतिपादन किया जाता है। जैसे-इन्द्र के वाचक इन्द्र, शक्र, पुरंदर ये तीन शब्द हैं। जब इन्द्र की आत्मा में ऐश्वर्य के उपभोग की, प्रत्येक कार्य को कर सकने की, और राक्षसों को विदारण करने की शक्ति विवक्षित की जाती है तब उस के इंदन से इन्द्र, शकन से शक्र, और पुर नामक राक्षस के विदारण से पुरंदर ऐसे नाम पडते हैं। यद्यपि उस में तीनों ही शक्तियाँ प्रत्येक समय में मौजूद हैं परन्तु एक व्यक्ति के द्वारा एक समय में एक ही शब्द प्रतिपादित किया जा सकता है तथा तीनो ही शब्दों के द्वारा इन्द्र का वाच्य जाना जाता है। इसी प्रकार जीव, जल आदि प्रत्येक शब्द वाच्य के नाना वाचकों में भी यही युक्ति लगा लेनी चाहिये।

---

१. स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी 'सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि' पदके द्वारा सम्यग्दर्शन के लिये 'सद्दृष्टि' शब्द का प्रयोग किया है।

इस प्रकार के एक ही अर्थ के नाना वाचको का विचार करने से यह सिद्धांत सहज ही निकला जा सकता है कि वस्तुओ में अनेक धर्म है और शब्द उस धर्मों को युगपत् (एक साथ) कहने के लिये असमर्थ है। अतएव क्रमपूर्वक भिन्न भिन्न अर्थ की अपेक्षा से एक वाचक के नाना वाचक हो जाते है। इसी लिये जैनधर्म निसर्ग को ही धर्म का स्वरूप बतलाने वाला होने से वस्तु को अनेक धर्मात्मिक अर्थात् अनेकान्तात्मक मानता है; क्योंकि '**अनेकान्त**' शब्द मे 'अन्त' शब्द का अर्थ 'धर्म' है। और उन सब धर्मों का ज्ञान मुख्य-गौण-विवक्षा के द्वारा ही किया जा सकता है अन्यथा नहीं। उदाहरण के तौर पर-जिस समय आप शकन गुण के योग से इन्द्र को 'शक्र' कहते हैं उस समय यद्यपि उस मे इंदनादिक गुण भी मौजूद हैं। परंतु वे गौण है मुख्य नही। यदि उन सब को ही मुख्य किया जायगा तो किसी समय भी आप शक्रादिक शब्दो का उच्चारण कर ही नही सकते। अतः गुण-मुख्य-विवक्षा से ही शब्द वस्तुगत अनेक धर्मों का प्रतिपादन कर सकते है। यही कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

सारांश यह है कि पदार्थ में अनेक धर्म होने से, शब्दो मे एक एक ही धर्म प्रतिपादन करने की सामर्थ्य होने से और गुणमुख्यविवक्षा की प्रवृत्ति के बिना काम न चलने से, **अनेकान्तवाद** 'अन्वर्थवाद' की पदवी को प्राप्त हो जाता है। इसके आश्रय के बिना किसी का भी काम नही चल सकता है जैसे भाषा छह कारकमय होती है अर्थात् कर्ता, कर्म, करण, सप्रदान, अपादान तथा अधिकरण-मय होती है और कारको के बिना भाषाशैली कभी भी व्यवहारयोग्य नही गिनी जा सकती वैसे ही वस्तु को अनेक धर्मात्मिक न मानने से, शब्द में एक काल में एक ही अर्थ की सामर्थ्य न मानने से तथा प्रतिपादन मे गुणमुख्य-शैली का आश्रय न मानने से किसी प्रकार का वाच्य वाचक व्यवहार भी नही बन सकता है।

जिस प्रकार जो लोग व्याकरण को समझते है अथवा जो लोग नही समझते है वे सब भाषा छह कारकमय ही बोलते हे उसी प्रकार अनेकान्त का स्वरूप समझने वाले और न समझनेवाले दोनो को ही अनेकान्त का आश्रय लेना पडता है। अनेकान्तवाद का ही दूसरा नाम '**अपेक्षावाद**' है। अपेक्षावाद का आश्रय लिए बिना कोई वक्ता वा श्रोता वस्तु के स्वरूप को न तो कह ही सकता है और न समझ ही सकता है।

एक बात और भी बतला देने की है और वह यह कि जिस प्रकार व्याकरण में नाना प्रत्ययों के लगाने से धातुओ के नाना अर्थ हो जाते हैं-अर्थात् 'धातूनामनेकार्थत्वात्' इस सूत्रानुसार धातुगत प्रकृति के अनेक अर्थ हैं और वे सब अर्थ भिन्न भिन्न प्रत्ययो और भिन्न भिन्न उपसर्गो के लगने से भिन्न भिन्न रूप मे प्रगट होते हैं। जैसे-प्रहार, विहार, आहार इत्यादि रूपों में 'हृ (हर)' धातु है, प्र, वि, और आ, ये तीन भिन्न भिन्न उपसर्ग है। और इन तीनो ही उपसर्गों की अपेक्षा से प्रहार, विहार और आहार शब्दो से भिन्न भिन्न अर्थों का बोध हो जाता है। तथा हृत, हरण, हारण इत्यादि नाना रूपों में भी 'हृ' धातु एक है परन्तु प्रत्ययो की भिन्नता से हरा जाना, हरना, हरवा लेना, ये तीन भिन्न भिन्न अर्थ प्रतीत हो जाते है उसी प्रकार सामान्य और विशेष रूप से वस्तु में अनन्त धर्म है। परन्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से जिस समय जिस धर्म की विवक्षा होती है उस समय उस धर्म की मुख्यता रहने के कारण अन्य शेष धर्मों की गौणता हो जाती है। जैसे उपर्युक्त दृष्टान्त में 'हृ' धातु के साथ प्रत्यय वा उपसर्ग लगाने से धातुगत मूल अर्थ गौण पड जाता है और प्रत्ययगत तथा उपसर्गगत अर्थ प्रत्येक समय प्रमुख होता जाता है, वैसे ही वस्तुगत विवक्षित धर्म मुख्य और अविवक्षित धर्मों को गौण हो जाने से शब्दो के द्वारा भिन्न भिन्न अर्थों का वाच्य-वाचक-व्यवहार होता जाता है। जब तक वस्तु में द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से गुणमुख्य-व्यवस्था की विवक्षा नही की जाती है तब तक अनेकान्तवाद की शैली का परिचय ही नही हो सकता है। सामान्य को मुख्य और विशेष को गौण मान कर विधिका द्योतक '**अस्ति**' और निषेध का द्योतक '**नास्ति**' शब्द का प्रयोग कर के उपरिनिर्दिष्ट गुण-मुख्य-व्यवस्था-द्योतक (अपेक्षावादद्योतक) 'स्यात्' यह अव्यय उक्त

'अस्ति' और 'नास्ति' के साथ जोड़ा जाता है। अर्थात जिस समय आप किसी वस्तु को सामान्यरूप से विवक्षित करके प्रतिपादित करना चाहते हैं और विशेषरूप से प्रतिपादन नहीं करना चाहते हैं, उस समय वह सामान्य रूप से है, इस लिए विधिवाचक शब्द के साथ 'स्यात् अस्ति' ऐसा प्रयोग करते हैं और विशेष रूप से नहीं है इस लिए निषेधवाचक शब्द के साथ 'स्यान्नास्ति' ऐसा प्रयोग करते हैं। क्योंकि जिस समय सामान्य से किसी वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है, उस समय स्वयमेव यही सिद्ध हो जाता है कि उस समय उस वस्तु का विशेषरूप से प्रतिपादन इष्ट नहीं है। इस ही प्रकार जिस जिस समय जिस अपेक्षा से जो जो विधिस्वरूप वाक्य बोला जायगा उस उस समय उस उस अपेक्षा से प्रत्येक विध्यात्मक वाक्य का स्वयमेव यह अर्थ निकाला जायगा कि विवक्षित विधि के अनुसार ही यह विधिरूप है, इतर अविवक्षित अपेक्षाओं से नहीं है। इसी प्रकार जब जब आप किसी चीज का निषेध करना चाहेंगे उस उस समय उस उस निषेधात्मक वाक्य के प्रयोग करते समय यही अर्थ समझना चाहिए कि यह वस्तु अमुक अपेक्षा से नहीं है इस लिए ऐसे निषेधात्मक प्रयोग में भी यह स्वयमेव सिद्ध होता है कि अमुक विवक्षावश उसका निषेध है, अन्य सर्व विवक्षाओं से निषेध नहीं है। सारांश यह है कि विवक्षित विधि में ही अविवक्षित निषेधों का सहयोग है-अविनाभाव है-और विवक्षित निषेध में अविवक्षित अंशों की विधि गर्भित है, इसीको शास्त्रीय भाषा में यों कहा है कि विधिनिषेधसापेक्ष, तथा निषेधविधिसापेक्ष होता है। विधि व निषेध निरपेक्ष सिद्ध नहीं हो सकते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति भिन्न भिन्न विवक्षाओं से एक ही काल में परस्पर सापेक्ष रीतिसे पिता, पुत्रत्वादि विरोधी धर्मों का आधार कहा जाता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ सामान्य विशेष रूप से विधिनिषेधों के द्वारा अर्थात अस्ति-नास्ति-रूप परस्पर विरोधी धर्मों के द्वारा एक ही काल मे प्रतिपादित किया जाता है।

सामान्य विशेष के ऊपर अस्ति-नास्ति-रूप से जैसे विचार किया उसी प्रकार नित्यानित्यत्व, एकानेकत्व तथा दैवपुरुषार्थवाद आदिके ऊपर भी अनेकान्तवाद का प्रयोग करनेसे वास्तविक दार्शनिक पद्धतिका बोध हो जाता है।

आचार्यो ने जब संभव भंगो की अपेक्षा इसी नयवाद का निरूपण किया है तब सात भंगों के स्वरूप का उल्लेख किया है। उस शैली का भी किसी समय पाठकों को परिचय करानेका प्रयत्न करूँगा। इस लेख में अनेकान्तदृष्टि के साथ सिर्फ विधि-निषेधात्मक भंग का ही खुलासा किया गया है।

उपसंहार

'अनेकान्त' के विषय में पूज्य आचार्यों ने बडे मनोहर भावो के चित्र खीचे हैं। वास्तव में उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्षोद्वारा जैसा अशेष दर्शनो का रसास्वाद हो कर आनंद मिलता है वैसा विशेष विशेष दर्शनो के पठन पाठनसे भी वह प्राप्त नही होता। इसकी महिमा-का भी आचार्यों ने बड़ी खूबीसे वर्णन किया है जिस का कितना ही परिचय पाठक 'अनेकान्त' की पिछली कुछ किरणों में प्राप्त कर चुके हैं। 'अनेकान्त' की पहली किरण में 'जैनीनीति' नामक सम्पादकीय नोट मे-श्रीअमृतचन्द्रसूरिका यह वाक्य भी सुन्दर व्याख्यासहित प्रकट किया गया है, जो अनेकान्तनीति अथवा अनेकान्तदृष्टि के अच्छे प्रदर्शन को लिये हुए है-

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्र मिव गोपी।

इस में बतलाया है कि जैसे गोपी मखखन निकालनेके लिए एक डोरीको खीचती है और दूसरीको ढीली करती है तब ही मंथन-क्रिया का ठीक संपादन करके मक्खन निकाल सकती है वैसेही बुद्धि जब एक धर्म को मुख्य रूपसे खीचती है और शेष धर्मों के पक्ष को गौण-रूपसे ढीला कर देती है तब ही वह वास्तविक वस्तुगत स्वरूप को मंथन करके, सारभूत हेयोपादेयरूप नवनीत निकाल सकती है। यही जैननयवादकी नीति है।

पाठकगण ! यदि इस नीति का सम्यक् प्रयोग हम सब अपने जीवन में करें तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि जीवन में एक अपूर्व क्रान्ति उत्पन्न हो सकती है, जिसके फलस्वरूप हम अपनी सब अधोगतियों से मुक्त होकर उन्नत-गतिगामी बन सकते हैं; क्योंकि जिस प्रकार अहिंसावाद का असली प्रयोग करनेवाला जगत में उत्तम से उत्तम, सहृदय, कोमलान्तःकरण, दयालु और जगत्पूज्य व्यक्ति बनता है, उसी प्रकार अनेकान्तदृष्टिसे मनुष्य सच्चा समालोचक, न्यायवादी, उदारबुद्धि, सर्वांग का ज्ञाता और विश्व की विभूति बन सकता है। जगत में जितने अन्याय-अत्याचार होते हैं वे सब उन्हीं लोगो के द्वारा होते हैं जिन की कि बुद्धि मिथ्या-एकान्तवाद से (कोरे पक्षपातसे) दूषित होकर कठोर हो जाती है। और उस कठोरता के कारण ही यथेच्छ वृत्ति की परिपुष्ठि के लिए संपूर्ण शक्तियों का उपयोग कराती है तथा न्याय-अन्याय के विवेक से शून्य हो जाती है। अतः यदि यह कहा जाय कि अनेकातवाद के बिना समझे अहिंसावाद की भी कुछ कीमत नहीं है तो कुछ अत्युक्त नहीं होगा। जगत में इतिहास साक्षी देता है कि जितने कठोर और भयंकर पाप न्याय व धर्म के नाम पर हुए हैं, उतने दूसरे किसी चीज के नाम पर नहीं हुए। और जिन शक्तिशाली अथवा मायाचारी लोगोने न्याय और धर्म के नाम पर अज्ञ लोगो को फुसला कर सरल-सीधे व्यक्ति पर अत्याचार किये हैं वे सब इस अनेकान्तवाद के न समझने के कारण ही किये हैं। अनेकान्तवाद से युक्तिपूर्ण निर्वैरवृत्तिपूर्वक एक प्रकार की विशाल बुद्धि का आत्मा मे अवतार होता है और उसके कारण यह आत्मा सच्चा अहिंसक बन कर स्वपर का कल्याण करता हुआ ससार के पाप कर्म से रहित होकर अपनी पूर्ण आत्मसिद्धियों को प्राप्त करता है। अतः भगवान महावीर के इस विशाल तत्त्व को जो लोग स्वतः धारण करके जगत को समझाते हैं, उन लोगो का ही जन्म सफल होता है।

सागारधर्मामृतः छठा अध्याय

पं. देवकीनंदनजी सिद्धान्तशास्त्री

अब–आगे श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते है और उस मे सब से प्रथम पूर्वाह्न की विधि का वर्णन करते है–

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्तपंचनमस्कृतिः ।
कोऽपि को मम धर्मं किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥ १ ॥

अन्वयार्थ– (**ब्राह्मे मुहूर्ते**) ब्राह्मे मुहूर्त मे (**उत्थाय**) उठ कर के (**वृत्तपञ्चनमस्कृतिः**) पढा है पञ्च नमस्कार मंत्र को जिसने ऐसा ('**श्रावक.**') श्रावक (**अहं कः**) मै कौन हूं (**मम कः धर्मः**) मेरा कौनसा धर्म है (**च**) और (**मम किं व्रतं**) मेरा क्या व्रत है (**इति**) इस प्रकार से (**परामृशेत्**) चिन्तवन करे ।

भावार्थ–जिस की ब्राह्मी सरस्वती देवता है उसे ब्राह्म मुहूर्त कहते है । यह काल प्रातःकाल सूर्योदय से पहले दो घडी रहता है । इस मुहूर्त मे उठे और सब से प्रथम पंचणमोकार मंत्र का अपने मन में ही अन्तर्वृत्ति से अथवा उच्चारण कर के स्मरण करे । मै कौन हू ? ब्राह्मण हूं या क्षत्रिय हूं, इक्ष्वाकुवंशी हूं या अन्यवंशी हूं, मेरा धर्म क्या है ? मैं अविरत सम्यग्दृष्टि या श्रावक वा यति हूं ? 'च' शब्द से मेरे गुरु कौन है, मेरा नगर ग्रामादिक कौनसा है इत्यादि चिंतवन करे । यह काल कौन है, मै प्रमाता हूं अमुक प्रमेय है, इत्यादिक का भी चितवन करे । क्योंकि ऐसे चिन्तवन से अपने वर्णादि विरुद्ध पढनेवाले आचार के सुधारने में सुगमता होती है । तथा देश, काल, द्रव्य और अपनी पद की परिस्थिति का विशेष ज्ञान होता है और उस से अपने कर्तव्यपालन करने में सुगमता होती है ।

तदुक्तं–**ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय सर्वकार्याणि चिन्तयेत ।**
यतः करोति सान्निध्यं तस्मिन हृदि सरस्वती ॥

अर्थ– ब्राह्म मुहूर्त में उठकर सब कर्मों का चिन्तवन करना चाहिए क्योंकि इस समय हृदय में सरस्वती निवास करती है ।

सारांश यह है कि ब्राह्ममुहूर्त में मल का पाक होता है और निरोग तथा आरोग्यवर्धक वायु का संचार होता है, इसलिए शरीर और मन का स्वास्थ्य अच्छा रहता है, इस कारण से बुद्धि की निर्मलता दिन व रातके समय से अधिक रहती है, ऐसे समय में निश्चित किए हुए विचार अत्यंत कार्यकारी होते हैं ।

अनादौ बम्भ्रमन् घोरे संसारे धर्ममार्हतम् ।
श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् किलाप्तं तदिहोत्सहे ॥ २ ॥

अन्वयार्थ–(**किल**) आगम में इस प्रकार सुना जाता है कि (**घोरे**) भयंकर और (**अनादौ**) अनादि (**संसारे**) संसार मे (**बम्भ्रमन्**) कुटिल रीति से घूमनेवाले मैंने (**आर्हतम्**) वीतराग सर्वज्ञ केद्वारा कहे हुए (**श्रावकीयं**) श्रावक सम्बन्धी (**इमं**) इस (**धर्मं**) धर्म को (**कृच्छ्रात्**) बडी कठिनता से (**आप्तं**) प्राप्त किया है–पाया है (**तत्**) इसलिये मुझे (**इह**) इस अत्यंत दुर्लभ धर्म में (**उत्सहे**) प्रमाद रहित होकर बडे उत्साह से प्रवृत्ति करनी चाहिये ।

भावार्थ-पंच परावर्तनरूप अनादि घोर संसार में भ्रमण करते हुए मैंने बडे कष्ट से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे हुए इस श्रावकीय दुर्लभ जैनधर्म को पाया है। अतः मुझे इसमे उत्साहपूर्वक अर्थात् प्रमाद रहित होकर प्रवृत्ति करनी चाहिए।

इत्यास्थायोत्थितस्तल्पाच्छुचिरेकायनोऽर्हतः।
निर्मायाष्टतयीमिष्टिं कृतकर्म समाचरेत् ॥ ३ ॥

अन्वयार्थ-(इति) इस प्रकार **(आस्थाय)** प्रतिज्ञा करके **(तल्पात्)** शैया से **(उत्थितः)** उठकर **(शुचिः 'भूत्वा')** पवित्र हो करके **(एकायन 'सन्')** एकाग्र मन होता हुआ **(अर्हतः)** अर्हन्तभगवान की **(अष्टतयीं)** जल गन्धादिक आठ हैं अवयव जिसके ऐसी अर्थात् आठ प्रकार की **(इष्टिं)** पूजा को **(निर्माय)** करके **(कृतिकर्म)** वन्दना आदि कर्तव्य कर्मों को **(समाचरेत्)** अच्छी तरह से करे।

भावार्थ-इस प्रकार उक्त दूसरे पद्य के कथनानुसार प्रतिज्ञा करके शय्या से उठकर शौच, मुखमार्जन, स्नानादिक से निवृत्त होकर तथा एकाग्र होकर अर्हन्त भगवान की और शास्त्र तथा गुरु की पूजा करके कृतिकर्म करे। वन्दना विधान को कृतिकर्म कहते है।

समाध्युपरमे शान्तिमनुध्याय यथाबलम्।
प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं प्रार्थ्य गन्तुं नमेत् प्रभुम् ॥४ ॥

अन्वयार्थ-('कृतक्रियः श्रावकः') वन्दना आदि कर्मो को करनेवाला श्रावक **(समाध्युपरमे)** समाधि की निवृत्ति होने पर **(शांति)** शांति भक्ति के पाठ का **(अनुध्याय)** चिन्तवन करके **(यथाबलं)** अपनी शक्ति के अनुसार **(प्रत्याख्यानं)** भोगोपभोग सम्बन्धी नियमविशेष को **(गृहीत्वा)** ग्रहण करके **(इष्टं)** अभिलषित पदार्थ को **(प्रार्थ्य)** प्रार्थना करके **(गन्तुं)** गमन करने के लिए **(प्रभुं)** अर्हन्त देव को **(नमेत्)** नमस्कार करे अर्थात् विसर्जन करे।

अर्थ-योग्य काल मे योग्य आसन से योग्य स्थान में सामायिक के योग्य मुद्रा धारण करके चारो दिशाओ में घूमकर तीन आवर्तपूर्वक नमस्कार करे। तथा विनयपूर्वक मुनि के समान होकर अर्थात् सर्व आरंभ और परिग्रह को त्यागते हुए दिगम्बर के समान सर्व आरंभ और परिग्रह का त्याग करके निर्मल कृतिकर्म को धारण करे। अर्थात् अपने पदानुसार जिसके वस्त्रादिक का त्याग अशक्य है, उसको रखकर शेष आरंभ परिग्रह का त्याग करके सामायिक करे। साराश-विधिपूर्वक सामायिक को वदना कर्म या कृतिकर्म कहते है।

भावार्थ-उक्त वन्दनादिरूप कृतिकर्म (सामायिक) करके "येभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नै." इत्यादि शांतिपाठ पढकर दिनभर के लिये अपनी शक्ति के अनुसार नियम लेकर अर्थात् भोगोपभोगो का जो नियम करना है उसे करके 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुति' इत्यादि पद्यके द्वारा इष्ट प्रार्थना पढे और पुनर्दर्शन होवे, समाधि-मरण की प्राप्ति होवे, इस प्रकार की प्रार्थना करके पूजन का विसर्जन करे। पहले समय मे घर में चैत्यालय होते थे। दक्षिण मे आज भी यही रिवाज चालू है। सो पहले घर के चैत्यालय मे पूजन, सामायिक, शांतिपाठ, इष्ट प्रार्थना और विसर्जन करके अनन्तर बडे मंदिर में जावे।

अब-इसका ही वर्णन आगे के पद्य से करते है-

साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिनाकृतिः।
दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ध्यायन् गच्छेज्जिनालयम् ॥ ५ ॥

---

१ **योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति । विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजन् ॥**

अन्वयार्थ–(साम्यामृतसुधौतान्तरात्मराजज्जिनाकृति.) समता परिणामी रूपी अमृत के द्वारा अच्छी तरह से धोया गया अर्थात् विशुद्धि को प्राप्त हुआ जो अन्तरात्मा, उस अन्तरात्मा में देदीप्यमान है परमात्मा की मूर्ति जिसके ऐसा **('श्रावक:')** श्रावक **(ऐश्वर्यदौर्गत्ये)** ऐश्वर्य और दारिद्रय **(दैवात्)** पूर्वकृत शुभाशुभ कर्म के उदय से **('सम्भवन्ति')** होते है **('इति' ध्यायन्)** इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ **(जिनालयं)** जिनालय को **(गच्छेत्)** जावे।

भावार्थ–जीवन और मरण मे जिसने समताभाव रूप अमृत से अपना अंत:करण पवित्र बनाया है अर्थात् सामायिक के द्वारा भेदविज्ञानयुक्त जिसका अंत:करण है और इसी कारण से जिसके अंत:करण में जिनेन्द्र भगवान की आकृति विराजमान है वह भव्य गरीबी और अमीरी के सांसारिक भेदो में यह सब ऐश्वर्य और दारिद्रय दैवी लीला के फल से है, पुरुषार्थजनित नही है, आत्मा न तो धनी है, और न दरिद्री है, इसलिये इस में हर्ष या विषाद को स्थान नहीं है, इस प्रकार चिन्तवन करता हुआ जिनालय के दर्शन को जावे।

अब–आगे जिनालय के जाने की विधि को बताते है–

यथाविभवमादाय जिनाद्यर्चनसाधनम्।
व्रजन्कौत्कुटिको देशसंयत: संयतायते ॥ ६ ॥

अन्वयार्थ–(यथाविभवं) अपनी सम्पत्ति के अनुसार **(जिनाद्यर्चनसाधनं)** अर्हन्तादिक की पूजन के साधनभूत जलगन्धादिक को **(आदाय)** ग्रहण करके–लेकर के **(कौत्कुटिक)** आगे चार हाथ जमीन को देखकर **(व्रजन्)** गमन **(देशसंयत)** देशसंयमी श्रावक **(संयतायते)** मुनि के समान आचरण करता है।

भावार्थ-अपनी २ विभूति के अनुसार पूजन की सामग्री लेकर ४ हाथ जमीन को आगे देखकर मंदिरजी के दर्शनो को ईर्यासमिति पूर्वक जानेवाला देशसंयमी ईर्यासमिति को धारण करनेवाले सयमी के समान आचरण करता है।

दृष्ट्वा जगद्बोधकरं भास्करं ज्योतिरार्हतम्।
स्मरत तद्गृहशिरोध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥ ७ ॥

अन्वयार्थ–(तद्गृहशिरोध्वजालोकोत्सव.) जिनेन्द्र भगवान के चैत्यालय की शिखर में लगी ध्वजा के देखनेसे उत्पन्न होनेवाला आनन्द **(जगद्बोधकरं)** जगत के प्राणियो की निद्रा को दूर करनेवाले **(भास्करं)** सूर्य को **(दृष्ट्वा)** देख करके **(जगद्बोधकरं)** बहिरात्मा प्राणियों की मोहरूपी निद्रा को दूर करनेवाले **(आर्हतं)** अर्हन्त भगवान संबंधी **(ज्योति:)** ज्ञानमय अथवा वचनमय तेज को **(स्मरत:)** स्मरण करनेवाले **('श्रावकस्य')** श्रावक के **(अघहृत)** पापो को नष्ट करनेवाला **('भवति')** होता है।

भावार्थ–प्रात काल में उक्त विधि से मंदिरजी को जानेवाला श्रावक जगत् को प्रकाश मे लानेवाले सूर्य को देखकर इसप्रकार चिन्तवन करता है कि जैसे यह सूर्य अपनी किरणों के प्रकाश से प्रकाश में अपने २ व्यवहार को सपादन करनेवाले प्राणियों का मार्गदर्शक है। निद्रा से जगानेवाला है, उसीप्रकार जिनेन्द्र भगवान भी अपनी ज्ञानात्मक और वचनात्मक किरणों से संसार के बहिरात्मा प्राणियो की मोह निद्रा का नाश करनेवाले हैं, उद्बोध देनेवाले हैं, हित मार्ग के दर्शक हैं, जगत को प्रकाश देनेवाले है तथा इसीलिये भगवान के मन्दिर की ध्वजा के दर्शन से भव्यात्मा के हृदय में आनंदोत्सव होता है और उस गुणानुरागजनित उत्सव से पापों का नाश होता है।

वाद्यविशब्दमाल्यादिगन्धद्वाराविरूपकै:।
चित्रैरारोहदुत्साहस्तं विशेन्निसहीगिरा ॥ ८ ॥

अन्वयार्थ-(**चित्रैः**) नानाप्रकार के और विस्मय को करनेवाले (**वाद्यादिशब्दमाल्यादिगन्धद्वारादिरूपकैः**) प्रभातकाल सम्बन्धी वादित्र आदि के शब्दो के द्वारा चम्पा, गुलाब आदि के फूलों की गन्धके द्वारा तथा द्वार, तोरण और शिखरपर बने हुए चित्रो (**आरोहदुत्साहः**) वृद्धि को प्राप्त हुआ है धर्माचरण सम्बन्धी उत्साह जिसका ऐसा (**'श्रावकः'**) श्रावक (**निसहीगिरा**) 'निसही' इस वचन के द्वारा अर्थात् 'निसही' इस शब्द को उच्चारण करता हुआ (**तं**) उस जिनालय में (**विशेत्**) प्रवेश करे।

भावार्थ—मन्दिरों में जो घंटा झालर के शब्द होते है, भव्यों के जय जय घोष होता है, कोई भव्य स्तुति पढते हैं, स्वाध्याय करते है उन शब्दो से तथा मदिरजी मे जो तोरणवार वदनवार में लगे हुए नानाप्रकार की पुष्पमालाएं होती हैं धूप खेई जाती है, उनकी सुगन्ध से तथा प्रवेशद्वार पर खबोपर, शिखपर जो नानाप्रकार के भव्य चित्र अंकित होते है उन चित्रों से दर्शनार्थी श्रावक के अन्तःकरण का उत्साह वर्धमान होता है। इस प्रकार के उत्साह से संपन्न होकर " निःसहि, निःसहि " इस प्रकार तीन बार उच्चारण करता हुआ श्रावक मंदिर में प्रवेश करे।

क्षालितांघ्रिस्तथैवान्तः प्रविश्यानन्दनिर्भरः।
त्रि प्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥ ९ ॥

अन्वयार्थ-(**क्षालिताङ्घ्रि**) धोये हैं पैर जिसने ऐसा और (**आनन्दनिर्भरः**) आनन्द के द्वारा व्याप्त हो गया है सम्पूर्ण अङ्ग जिसका ऐसा (**'असौ'**) यह श्रावक (**तथैव**) 'निःसहि' इस शब्द को उच्चारण करता हुआ ही (**अन्तः**) चैत्यालय के मध्यप्रदेश में (**प्रविश्य**) प्रवेश करके (**जिनं नत्वा**) जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करके (**पुण्याः**) पुण्याश्रव के करनेवाले (**स्तुतीः**) स्तवन वचनों को (**पठन्**) पढता हुआ (**त्रि प्रदक्षिणयेत्**) तीन बार प्रदक्षिणा करे।

भावार्थ-जिनालय में प्रवेश करते समय अपने पैर धोवे और पुन तीनवार 'निःसहि' कहकर आनंद से गद्गद होता हुआ भीतर जावे। तथा त्रिलोकीनाथ को आनंद से गद्गद होकर नमस्कार करे। और पाप का क्षालन करनेवाली, पुण्याश्रव को बढानेवाली, अशुभ कर्मों की निर्जरा करनेवाली स्तुति को पढते हुए तीन प्रदक्षिणा देवे।

सासेमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः।
चिन्तयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥ १० ॥

अन्वयार्थ-(**इयं**) यह चैत्यालय की भूमि ही (**सा आस्थायिका**) वही आगमप्रसिद्ध समवशरण है तथा (**अयं**) प्रतिमा में अर्पित किये गये ये जिनेंद्र भगवान ही (**सः जिनः**) वे आगमप्रसिद्ध अर्हंत भगवान हैं और (**अमी**) जिनेंद्र भगवान की आराधना करनेवाले ये भव्य पुरुष ही (**ते सभासदः**) वे आगमप्रसिद्ध मुनि आदि बारह प्रकार के सभासद हैं (**इति**) इस प्रकार (**चिन्तयन्**) चिन्तवन करनेवाला (**'असौ'**) यह श्रावक (**तत्र**) उस चैत्यालय में अथवा प्रदक्षिणा करने के समय में (**धार्मिकान्**) धर्म को आचरण करनेवाले भव्यजीवो का (**उच्चैः**) बार बार (**अनुमोदेत**) अभिनन्दन करे अर्थात् उनकी प्रशंसा करे।

भावार्थ-मंदिरजी में प्रवेश करते समय अथवा प्रदक्षिणा करते समय यह चिंतन करे कि, " यह चैत्यालय आगमप्रसिद्ध समवशरण है। यह प्रतिमा स्थापित जिनमूर्ति वही आगमप्रसिद्ध अष्ट प्रातिहार्य से युक्त जिनेन्द्र भगवान हैं और ये जिनेन्द्र की आराधना करनेवाले वे ही बारा सभास्थित साक्षात् अर्हन्त भगवान की सेवा में दत्तचित्त सभासद हैं "। तथा वहां बैठे हुये धर्म मे तत्पर आराधकों का पुनः २ मन से अभिनंदन करे और " यह धर्माराधन कर रहे हैं सो बहुत अच्छा कर रहे हैं " इस प्रकार से अनुमोदना करे।

अथेर्यापथसंशुद्धि कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥ ११ ॥

अन्वयार्थ–(अथ) इसके अनन्तर (**'एष महाश्रावक'**) यह महाश्रावक (**ईर्यापथसंशुद्धि**) ईर्यापथ बुद्धिको–प्रतिक्रमण को (**कृत्वा**) करने (**जिनेश्वरं**) जिनेन्द्र भगवान की (**श्रुतं**) शास्त्र की (**च**) और (**सूरिं**) आचार्य की (**अभ्यर्च्य**) पूजा करने (**तस्य**) आचार्य के (**अग्रे**) समीप मे (**प्रत्याख्यानं**) पहले घर के चैत्यालय में ग्रहण किये हुये नियमविशेष को (**प्रकाशयेत्**) प्रगट करे।

भावार्थ– भगवान के सामने नमस्कार पूर्वक स्तुति पाठ करते हुए प्रदक्षिणा करके ईर्यापथ[1] शुद्धिपूर्वक अर्थात ईर्यानाम गमनका है और वह गमन, पथ कहिए मार्ग जिसका है वह ईर्यापथ कहलाता है। इस प्रकार ईर्यापथ से गमन करते हुए भी जो प्रमाद हो गया उसकी भलेप्रकारसे शुद्धि करनेको संशुद्धि कहते है। यहां पर संशुद्धि का अर्थ प्रतिक्रमण होता है। अतः "[2] जावरहंताणं भयवताणं णमोकारं करोमि" इत्यादी वचनों द्वारा प्रतिक्रमण करके "नमो अर्हद्भ्यः" इत्यादि पाठ द्वारा तथा–

जयंतिनिर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतयः ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥

अर्थ–जिन्होने सर्वथा एकांतवाद की कथापर विजय प्राप्त की है, जो अनेकातमयी सत्यवाणीके अधिपति हैं और जो निरंतर विद्या और आनन्द सहित हैं वे जिनेश्वर जयवत रहे। इस प्रकार से जिनेन्द्र के सन्मुख बैठकर वाचनिक नमस्कार से अथवा जलादिक के अष्टक से जिनेन्द्र की पूजा करे तथा इसीप्रकार शास्त्र और गुरु की पूजा करे। यह इसकी जघन्य वदना विधि है। उत्तम रीतिसे तो वदना विधि वह घरके चैत्यालय मे कर आया है। इसप्रकार बडे मदिरजी मे वदनाविधि करके घर के चैत्यालय मे जो प्रत्याख्यान किया था–प्रतिज्ञा की थी–वह गुरु और जनता के सामने यहां प्रगट करे।

ततश्चावर्जयेत्सर्वान्यथार्हं जिनभक्तिकान् ।
व्याख्यातः पठनश्चार्हद्वच प्रोत्साहयेन्मुहु ॥१२॥

अन्वयार्थ–(**ततः**) इसके अनन्तर (**'असौ'**) यह श्रावक (**यथार्हं**) यथायोग्य आदर विनय के द्वारा (**सर्वान्**) सपूर्ण (**जिनभक्तिकान्**) अर्हन्तदेव की आराधना करनेवाले भव्यजीवों को (**आवर्जयेत**) अनुरक्त करे–प्रसन्न करे (**च**) तथा (**अर्हद्वच**) अर्हत भगवान के वचनो का (**व्याख्यात**) व्याख्यान करनेवालो को (**च**) और (**पठत**) अध्ययन करनेवालो को भी (**मुहुः**) बार २ (**प्रोत्साहयेत्**) उत्साहित करें।

---

१. **ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादाद एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा ।**
निर्वर्तिता यदि भवेदयुगांतरेक्षा मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ॥

अर्थ–ईर्यापथसे चलते हुए भी मेरे द्वारा आज प्रमाद से किसी भी काय के जीवो को यदि बाधा पहुंचाई गई हो, ४ हाथ शोधकर चलने में गलती हुई हो, वह सब गुरुभक्ति से मिथ्या होवे, इसप्रकार ईर्यापथ शुद्धि करे।

२. देखो क्रियाकलाप में प्रतिक्रमण पाठ–
जाव अरहंताणं भगवंताणं णमोकारं पज्जुवासं करोमि । तावक्कायं पावकम्मं दुच्चरियं वोस्सरामि ॥

सारांश यह है कि जबतक नमोकार मंत्र का जाप देता हूं तबतक पाप कर्म के करनेवाले तथा दुष्ट आचरण करनेवाले काय का उत्सर्ग करता हूं अर्थात् कायोत्सर्ग करता हूं।

भावार्थ-प्रत्याख्यानय के प्रगट करने के बाद मुनियोको '**नमोऽस्तु**' आर्यिकाओं को 'वन्दे' तथा श्रावकोंको "इच्छामि" कहकर विनय करे।

अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्यात् विरतौ विनयक्रिया।
अन्योन्यं क्षुल्लके चाहंमिच्छाकारवच. सदा" ॥

अर्थ-मुनियो के लिये 'नमोऽस्तु' विरतियों के लिये विनय क्रिया अर्थात 'वंदे' कहे। क्षुल्लकों को भी 'वन्दे' कहे तथा और परस्पर मे श्रावक 'इच्छाकार' करे। इस प्रकारसे जिनभक्तो के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करनेके बाद यथायोग्य जो उपाध्याय पद-पदार्थ का समर्थन लक्षण विशेषतासे शिष्यो की व्युत्पत्ति बढानेके लिये अर्हंत वचन-परमागम, युक्त्यागम और शब्दागम का व्याख्यान कर रहे हो उनको तथा उनके नजीक सीखनेवाले शिष्यों को भी पुनः २ प्रोत्साहन दे।

स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान्।
पक्वज्ञानदयस्यैव गुणा सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥ १३ ॥

अन्वयार्थ-(**'तत.'**) इसके अनन्तर (**'असौ'**) यह महाश्रावक (**विधिवत्**) विधि के अनुसार (**स्वाध्यायं**) स्वाध्याय को (**कुर्यात्**) करे (**च**) और (**विपद्धतान्**) विपत्ति से पीडित दीन पुरुषो को (**उद्धरेत्**) विपत्ति से दूर करे (**'यतः'**) क्योंकि (**पक्वज्ञानदयस्यैव**) पक्क हो गये हैं ज्ञान तथा दया ये दोनो गुण जिसके ऐसे अर्थात् पक्व ज्ञान और दयावाले पुरुष के ही (**सर्वे अपि**) सर्व (**गुणा**) गुण (**सिद्धिदा.**) अभिलषित अर्थ देनेवाले (**'भवन्ति'**) होते है।

भावार्थ-व्यंजनशुद्धि आदि जो ज्ञानाभ्यास की विधि है तदनुसार स्वाध्याय करे। अर्थात् यथायोग्य श्रुताध्ययन करे। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा और धर्मोपदेश भी है, उसे भी करे। तथा असाता के उदय से जिनकी मानसिक शारीरिक शक्ति क्षीण हो गई है उन दीनों का उद्धार करे। क्योंकि जिनका ज्ञान और दया पक्व हो चुकी है उनके ही सब गुण इष्ट संपादन में समर्थ होते हैं। यहा ज्ञान का अर्थ तत्त्वावबोध है और दया का अर्थ सब प्राणियो के दुःखो के उच्छेद के लिये अभिलाषा रखना है। ज्ञान और दया जिनके पक्व हैं, अर्थात् सात्मीभूत हो चुके है, उनको संस्कृत मे 'पक्व ज्ञानदय' कहते हैं। पुरुषों के सब गुण इष्टसिद्धि मे समर्थ होते हैं।

इस प्रकार मदिर के विधेय कर्मो का वर्णन करके अब-निषिद्ध कर्मो का वर्णन करते है-

मध्ये जिनगृह हासं विलासं दु.कथां कलिम्।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥ १४ ॥

अन्वयार्थ-(**'असौ'**) यह महाश्रावक (**मध्ये जिनगृह**) जिन मदिर में (**हासं**) हंसी को (**विलासं**) श्रृंगारयुक्त चेष्टाविशेष को (**दु कथा**) खोटी कथाओ को (**कलि**) कलह को (**निद्रां**) निद्रा को (**निष्ठ्यूतं**) थूकने को (**अपि**) और (**चतुर्विध**) चारो प्रकारके (**आहारं**) आहार को (**त्यजेत्**) छोडे।

भावार्थ-यह दिनचर्या का वर्णन महाश्रावक की अपेक्षा से है। इसलिये "मध्ये जिनगृहं" इस पद का अर्थ सब प्रकारके जिनालयो से यह करना चाहिये तथा जो महाश्रावक नही है-उनकी अपेक्षा गन्धकुटी यह अर्थ लेना चाहिये।

चैत्यालयके उस देश को गंधकुटी कहते है जहा भगवान की मूर्ति विराजमान होती है। मंदिर में हंसी, श्रृंगार की चेष्टाए, चित्त को कलुषित करनेवाली काम क्रोध को बढानेवालीकथाएं तथा राजकथा, कलह, निद्रा लेना, थूकना वगैरह और स्वाद्य, पेय. आदि ४ प्रकारके आहार को न करे।

इसप्रकार प्रभातकालीन धार्मिक कार्यों का वर्णन करके **अब-आगे विधेय अर्थोपार्जन विधिका** उपदेश करते हैं—

ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान सुधीः ।
अधितिष्ठेद्व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविरोधत ॥ १५ ॥

अन्वयार्थ-(तत.) इसके अनन्तर **(सुधीः)** हित और अहितके विचार करने में चतुर यह श्रावक **(यथोचितस्थानं)** द्रव्यके उपार्जन करनेके योग्य दुकान आदि स्थानों में **(गत्वा)** जाकर के **(अर्थे अधिकृतान)** द्रव्य के उपार्जन करने मे नियुक्त किये गये पुरुषो को **(अधितिष्ठेत्)** सनाथ करे अर्थात् उनकी, उनके कार्यों की देखरेख करे **(वा)** अथवा **(धर्माविरोधतः)** अपने धर्म का व्याघात नही करके **(स्वयं)** स्वत.-खुद **(व्यवस्येत्)** व्यवसाय करे ॥

भावार्थ-तदनन्तर इस लोक के विचार में चतुर श्रावक अर्थोपार्जन के अपने अपने योग्य स्थानो पर जाकर अर्थोपार्जन, अर्थसरक्षण, और कमाई करनेके लिये नियुक्त अधिकारियो के कर्मोंका निरीक्षण करे। अथवा जिसकी आर्थिक स्थिति अन्य कर्मचारियो के द्वारा धन के उपार्जन आदि करनेके लायक नही है वे स्वय अर्थके उपार्जन सरक्षण और सवर्धन मे प्रवृत्ति करे। परन्तु अर्थोपार्जन करने समय प्रत्येक धार्मिक व्यक्ति को धर्म के अविरोध से ही धन कमाने रखने और बढाने मे प्रवृत्त होना चाहिये। इसका खुलासा यह है कि-

राजाका कर्तव्य यह है कि गरीब अमीर प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित और ऊच नीचमे माध्यस्थभाव रखकर न्याय करे। राज्याधिकारी जिसमे राजा और प्रजा का हित हो ऐसा व्यवहार करे। और जो व्यापारी है वे लेनदेन में हीनाधिक माप तोल न कर तथा निषिद्ध जीवन आजीविका वगैरह है उनका भी परित्याग करे, यही धर्म अविरुद्ध राजादिक का अर्थोपार्जन है।

अब-आगे पुरुषार्थकी सफलता और असफलता आदिक मे हर्षविषाद नही करना चाहिये यह बताते हैं-

निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थफले जातेऽपि पौरुषे ।
न विषीदेन्नान्यथा वा हृष्येल्लीला हि सा विधे ॥ १६ ॥

अन्वयार्थ-('असौ') द्रव्य के उपार्जन करने में तत्पर यह श्रावक **(पौरुषे)** पुरुषार्थ को **(निष्फले)** शून्य है फल जिसका ऐसा तथा **(अल्पफले)** अल्प है फल जिसका ऐसा **(अपि)** और **(अनर्थफले)** अनर्थ है फल जिसका ऐसा **(जाते)** होनेपर **(न विषीदेत)** विषाद नहीं करे तथा **(अन्यथा)** इससे विपरीत होनेपर **(न वाहृष्येत्)** हर्ष भी नही करे **(हि)** क्योकि **(सा)** पुरुषार्थ को सफल निष्फल बनाना आदि है लक्षण जिसका ऐसी वह निरंकुश प्रवृत्ति **(विधेः)** पूर्वोपार्जित पुण्य-पापकर्म की **(लीला)** लीला **('अस्ति')** है।

भावार्थ-अर्थोपार्जन के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह निष्फल हो जावे। जितनी आशा रखते थे उसकी अपेक्षा कम सफलता मिले। अपनी जितनी अपेक्षा थी उससे बहुत अधिक सफलता मिल जावे, अथवा बिलकुल विफल हो जावे, तो भी श्रावक को हर्ष विषाद नही करना चाहिए। क्योकि यह सफलता और असफलता आदि पुरुषार्थ का फल नही है। किन्तु पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मजनित है। अतः हर्ष विषाद से युक्त नही होना चाहिये।

इस प्रकार अर्थोपार्जन के सम्बन्ध का वर्णन करके अब-श्रावक भोजन के लिये जाते समय कैसी भावना रखे इस विषयका ९ पद्यों द्वारा दिग्दर्शन कराते हैं-

कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन् ।
यथालाभेन सन्तुष्ट उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥ १७ ॥

अन्वयार्थ–(**सा माधुकरी वृत्ति**) आगम में कही गई वह मुनियो की माधुकरी भिक्षावृत्ति (**मे**) मेरे (**कदा**) किस समय (**स्यात्**) होगी (**इति**) इसप्रकार (**भावयन्**) विचार करनेवाला–चिन्तवन करनेवाला (**'असौ'**) यह श्रावक (**यथालाभेन**) यथालाभ से अर्थात् जितना धन मिला उतने ही धन से (**सन्तुष्टः**) सन्तुष्ट होता हुआ (**तनुस्थितौ**) शारीरिक स्वास्थ्य के ठीक रखने मे कारणभूत भोजनादिक की प्रवृत्ति में (**उत्तिष्ठेत्**) उद्यम करे।

भावार्थ–इस अर्थोपार्जन के काल में जो कुछ भी लाभ हुआ है, उससे सतुष्ट होकर मुनियो के आहारार्थ निकलने के समयपर शरीरसम्बन्धी स्वाथ्य की रक्षा के लिये "मुझे मुनियो के समान माधुकरी[1] वृत्ति कब प्राप्त होगी अर्थात् शास्त्रोक्त भिक्षावृत्ति की योग्यता का लाभ कब होगा," इस प्रकारकी भावना भाता हुवा, अपने शरीरसम्बन्धी स्वास्थ्य के हेतु से (न कि आसक्तिसे) भोजन केलिये घर जावे।

नीरगोरसधान्यैध: शाकपुष्पाम्बरादिभिः।
क्रीतैः शुद्धयविरोधेन वृत्तिः कल्प्याऽघलाघवात् ॥ १८ ॥

अन्वयार्थ–(**'श्रावकेण'**) श्रावक को (**शुद्ध्यविरोधेन**) अपने द्वारा ग्रहण किये हुये सम्यक्त्व और व्रतों का घात नही करके (**क्रीतै**) मूल्य देकरके खरीदे गये (**नीरगोरसधान्यैध:शाकपुष्पाम्बरादिभिः**) जल, गोरस, धान्य, लकडी, शाक, फूल और वस्त्रादिकके द्वारा (**अघलाघवत्**) पापकी लघुतापूर्वक (**वृत्ति**) अपने शरीर-निर्वाहका व्यापार (**कल्प्या**) करना चाहिये।

भावार्थ–श्रावको को जहा तक अधिक पाप न हो, इस प्रकार से अपनी वृत्ति का सपादन करना चाहिये। अर्थात् अपने सम्यग्दर्शन मे और लिये हुये व्रतों मे अतिचार न लगे इसकी सभाल रखते हुए मूल्य देकर खरीदे हुए पानी, गोरस, धान्य, इंधन, पत्र, शाक, पुष्प, वस्त्र आदि से अपना उदरनिर्वाह करना चाहिए।

सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्याद्विवाहादौ गृहेऽप्यदन्।
निशि सिद्धं त्यजेद्धीनैर्व्यवहारं च नावहेत् ॥ १९ ॥

अन्वयार्थ–(**दाक्षिण्यात**) व्यवहार निर्वाह के प्रयोजन से (**सधर्मिणोऽपि**) साधर्मी भाइयो के भी (**गृहे**) घर मे तथा (**विवाहादौ अपि**) विवाहादिक मे भी (**अदन्**) भोजन करनेवाला (**'असौ'**) यह महाश्रावक (**निशि**) रात्रि मे (**सिद्धं**) बनाये गये भोजन को (**त्यजेत**) छोडे (**च**) और (**हीनै**) हीन पुरुषो के (**'सह'**) साथ (**व्यवहार**) व्यवहार को (**न आवहेत्**) नही करे।

भावार्थ- श्रावक विवाह आदि के समय कोई साधर्मी भोजन के लिये आग्रह करे तो श्रावक जा सकता है। अपने बालबच्चों के विवाह में भोजन भी कर सकता है। परन्तु उसको ऐसी परिस्थितियो में भी रात के बने पदार्थ नही खाना चाहिये। क्योकि रात के बने भोजन मे त्रस जीवों की विराधना और भोजन मे त्रस जीवो का समिश्रण नही हटाया जा सकता है। तथा जो धर्मरूपी धन से रहित अपने से हीन है उनके साथ भी दानग्रहणादिका व्यवहार नही करना चाहिए।

उद्यानभोजनं जन्तुयोधनं कुसुमोच्चयम।
जलक्रीडान्दोलनादि त्यजेदन्यच्च तादृशम् ॥ २० ॥

अन्वयार्थ–(**'असौ'**) यह महाश्रावक (**उद्यानभोजनं**) उद्यान में भोजन करने का (**जन्तुयोधनं**) प्राणियो के परस्पर में लड़ाने को (**कुसुमोच्चयं**) फूलो के तोड़ने को (**जलक्रीडान्दोलनादि**) जलक्रीडा को तथा झूला में

1. मधुकर भ्रमर को कहते है। जैसे भ्रमर पुष्पो को त्रास न देकर रस चूसता है वैसे ही दाताओं को किसी प्रकारका कष्ट न देकर अपने शरीर को पुष्ट करनेवाली वृत्ति को माधुकरी-वृत्ति कहते है।

झूलने आदिको (त्यज्येत) छोडे और (तादृशं) इसीप्रकार के अर्थात् जो हिंसा के कारण हैं ऐसे (अन्यच्च) दूसरे कर्मों को भी (त्यजेत्) छोडे।

भावार्थ–श्रावक, मन के बहलावे के लिए वन में जाकर मित्रो के साथ उद्यानभोजन को न करे। तीतर लडाना आदि जानवरो के युद्ध कराने को जन्तुयोधन कहते हैं सो उसको न करे। वन में जाकर आमोदप्रमोद के लिए फूलों के तोड़ने को कुसुमोच्चय कहते हैं, उसको न करे। जलाशय में जाकर रागवश होकर स्त्री पुरुष एक दूसरे के ऊपर पानी से खेल खेलते हैं उसको जलक्रीडा कहने हैं। इस प्रकार की जलक्रीड़ा न करे। तथा आदि पद से होली वगैरह के समय राख वगैरह एक दूसरे के ऊपर फेकी जाती है उसको न करे। तथा उपलक्षण से इसीप्रकार के द्रव्यहिंसा और भावहिंसा के पोषक जो व्यवहार हैं, जैसे–शरद्‌की पूर्णमासी के उत्सव मे खेल वगैरह खेलने में भाग लेना, कूदना, फांदना, नाटक देखना, लड़ाई व लड़ाई के खेल देखने को जाना, रामलीला मे जाना आदि को भी न करे।

यथादोषं कृतस्नानो मध्यान्हे धौतवस्त्रयुक् ।
देवाधिदेव सेवेत निर्द्वन्द्व कल्मषच्छिदे ॥ २१ ॥

अन्वयार्थ–(मध्यान्हे) मध्यान्ह काल मे (यथादोषं) दोष के अनुसार (कृतस्नानः) किया है स्नान जिसने ऐसा और (धौतवस्त्रयुक्) धुले हुये वस्त्रों को धारण करनेवाला ('असौ') यह महाश्रावक (कल्मषच्छिदे) पापो को नष्ट करने के लिये (निर्द्वन्द्वः 'सन्') आकुलतारहित होता हुआ (देवाधिदेवं) अर्हन्त भगवान की (सेवेत) आराधना करे–पूजा करे।

भावार्थ–मध्यान्हकाल में भोजन की तैयारी के लिये तत्पर श्रावक दोषानुसार स्नान करे, धौतवस्त्र अर्थात् स्वच्छ धोती दुपट्टा पहने और निर्द्वंद होकर प्राचीनकालीन और तत्कालीन पापो के प्रक्षालन के लिये इन्द्रादिक और आचार्य आदिकके द्वारा भी स्तुति को प्राप्त परमदेव अर्हन्त भगवान की पूजा करे।

अब–जिनोपासना की विधि को बताते है––

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुम्भयुक्–
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यान्तमाप्येष्टदिक् ।
नीराज्याम्बुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं
सिक्तं कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैः सम्पूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥ २२ ॥

अन्वयार्थ—(स्नपनं आश्रित्य) अभिषेक की प्रतिज्ञा करके (तदिलां विशोध्य) जिस स्थान में अभिषेक करना है उसकी शुद्धि करके (चतुष्कुम्भयुक् कोणायाम् सकुशश्रियां पीठ्यां) नीचे 'श्री' लिखकर ऊपर 'कुश' क्षेपण करके जिसके चारो कोनो में चार कलश स्थापित किये जाते हैं ऐसे सिंहासन पर (जिनपतिं न्यस्य) जिनेन्द्र भगवान की स्थापना करके (नीराज्य) आरती उतारकर (इष्टदिक्) इष्ट दिशा मे स्थित होकर (अम्बुरसाज्य-दुग्धदधिभिः) जल, घी, दुग्ध, दहिके द्वारा (सीक्त्वा) अभिषेक करके (कृतोद्वर्तनं) चन्दनानुलेपन करके (कुम्भजलैश्च गन्धसलिलैश्च सिक्तं) कुम्भ के जल तथा गन्ध के जल से अभिषेक करके और (सम्पूज्य) पूजा करके (नुत्वा) अनन्तर स्तुति करके (स्मरेत्) भगवान का स्मरण करे।

भावार्थ–देव की उपासना ६ प्रकार से होती है–प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा और पूजाफल इनका विशेष वर्णन अन्य आचार्यनिर्मित अभिषेक शास्त्र अथवा ग्रंथकार के स्वयं बनाये हुए 'नित्य महोदय' नामक अभिषेक शास्त्र से देखना चाहिए। उसका संक्षेप कथन इस प्रकार से है–

'आश्रुत्य स्नपनं' इस पत्र के द्वारा सबसे पहले जो अभिषेक की प्रतिज्ञा की जाती है 'जिनेन्द्र भगवान का यहां 'अभिषेक होनेवाला है' इसको प्रस्तावना कहते हैं 'विशोध्य तदिला' इस पद के द्वारा भूमि शुद्ध की जाती है। अर्थात् जो रत्न, जल, कुश, अग्नि से संतर्पण किया जाता है, इसको पुराकर्म कहते हैं, फिर 'न्यस्य' इस पद के द्वारा जो चन्दन और अक्षतो को 'श्री' लिखी जाती है और मूर्ति की उसपर स्थापना की जाती है, वह स्थापना कहलाती है। 'अन्तमाप्य' इस पद के द्वारा भगवान को अपने हृदय मे विराजमान किया जाता है, उसको सन्निधापन कहते है। 'इष्टदिक्' इस पदके द्वारा इष्ट दिशा मे खडा होकर अष्टद्रव्य से पूजन करे। इस से यहां पूजा का अर्थ समझना चाहिए। और शास्त्रान्तरो मे अथवा इसी शास्त्र मे पहले कहे हुए दर्शनविशुद्धि की प्रबलता को पूजा का फल समझना चाहिए। तद्यथा–

प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनम्।
पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनम्॥

प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधापन, पूजा, पूजाफल इस प्रकार से छह प्रकार देव की उपासना होती है।

उक्त प्रकार से अभिषेक की प्रतिज्ञा करके मूर्ति अभिषेक के लिए जिस पात्र व स्थान में स्थापित करना है उसकी शुद्धि करे। फिर आगे के दूसरे पात्र मे चंदन से श्रीकार लिखे। उपलक्षण से होकार भी लिखे। किन्ही आचार्यों के मत से अक्षत से लिखे। जैसे कहा भी है–

"निस्तुपनिर्व्रणनिर्मलजलार्द्रशालीयतण्डुलालिखिते।
श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयाम्युच्चै॥"

छिलके रहित अखंड और निर्मल पानी से धोए हुए धान के चावलों से लिखे हुए श्रीकार अक्षर के ऊपर श्री की कामना करनेवाला मै श्रीनाथ की स्थापना करता हूं। फिर दूसरी चौकी पर रखे हुए पात्र में और बीच में बडा कलश स्थापित करे तथा चारो दिशाओं मे चार और कुम्भ स्थापित करे। उनके नीचे श्री लिखे और ऊपर कुश का क्षेपण करे। उन सकुश तथा श्रीकारसहित चारो दिशा सम्बधी कलशों को स्थापित करने पर 'इष्ट दिग्' अर्थात् इष्टदिशा में पूजन करनेवाला खडा होवे। अथवा दूसरा अर्थ यह भी है कि मंत्र बोलकर फिर दशो दिशाओ मे दश दिक्पालो की स्थापना करे, फिर भगवान का पचामृताभिषेक करे, आरती उतारे, फिर उद्वर्तन करे और उन कलशों से अभिषेक करे, सुगंधित जल से अभिषेक करे, फिर पूजा करे, नमस्कार करके हृदय मे सदैव स्मरण करे।

सम्यग्गुरूपदेशेन सिद्धचक्रादि चार्चयेत्।
श्रुतं च गुरुपादांश्च को हि श्रेयसि तृप्यति॥ २३॥

अन्वार्थ–(**'असौ'**) यह महाश्रावक (**सम्यग्गुरूपदेशेन**) सच्चे गुरू के उपदेश से (**सिद्धचक्रादि**) सिद्ध चक्रादिककी (**च**) तथा (**श्रुतं**) शास्त्र की (**च**) और (**गुरूपादांश्च**) गुरू के चरणों की भी (**अर्चयेत्**) पूजा करे (**हि**) क्योकि (**श्रेयसि**) अपने कल्याण में (**कः**) कौन पुरुष (**तृप्यति**) तृप्त होता है।

भावार्थ–सद्गुरु के उपदेश से बृहत् सिद्धयन्त्र और लघु यत्र की तथा श्लोक के आदि शब्द से पार्श्वनाथ यत्र, सारस्वत यत्र व अन्य शास्त्रप्रसिद्ध यन्त्रो की भी पूजा करे। अनन्तर श्रुत की पूजा करे और गुरु की पूजा करे। श्लोकगत दो 'च' शब्द समुच्चय वाचक हैं अर्थात् यंत्र की पूजा करे और शास्त्र की पूजा करे और गुरु की भी पूजा करे, इसप्रकार दो च शब्द इन सबके समुच्चय अर्थ में आये हैं और तृतीय च शब्द यहांपर यत्र श्रुत और गुरु एक से पूज्य है इसका प्रकाश करनेवाला है। कोई शङ्का करे कि अकेले जिनेन्द्र की पूजा से ही सब सिद्धि हो सकती

है तो फिर यहां यंत्रादिक की पूजा का विधान क्यो किया ? इसका समाधान यह है कि मोक्षमार्ग के साधनों के मिलनेपर उनकी प्राप्ति किये बिना कौन मुमुक्षु सन्तुष्ट हो सकता है । इसप्रकार भगवान की मध्याह्नकाल सम्बन्धी पूजा करे ।

तत. पात्राणि सन्तर्प्य शक्तिभक्त्यनुसारत: ।
सर्वाश्चाप्याश्रितान् काले सात्म्यं भुञ्जीत मात्रया ।। २४ ।।

अन्वयार्थ–(**तत**) इसके अनंतर ('**असौ**') यह महाश्रावक (**शक्तिभक्त्यनुसारत**) अपनी शक्ति तथा भक्ति के अनुसार (**पात्राणि**) पात्रों को (**च**) और (**आश्रितान् सर्वान् अपि**) अपने आश्रित संपूर्ण प्राणियों को भी (**सन्तर्प्य**) अच्छी तरहसे सन्तुष्ट करके (**काले**) योग्य काल में (**मात्रया**) प्रमाणसे (**सात्म्यं**) सात्म्य पदार्थ को (**भुञ्जीत**) खावे ।

भावार्थ–अनंतर पात्रदानके लिये द्वारापेखन करे और अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार प्राप्त सत्पात्र को दान देकर तथा संपूर्ण आश्रितोंका भरणपोषण करके योग्य काल में मात्रासे युक्त सात्म्य भोजन करे । सात्म्यका लक्षण यह है कि–

"पानाहारादयो यस्य विरुद्धा प्रकृतेरपि ।
सुखित्वायावकल्पते तत्सात्म्यमिति कथ्यते ।। "

अर्थ–प्रकृतिविरुद्ध भी आहार जिसके सयोगसे खानेपर सुखी बनानेके लिये कल्पित होते हैं, उसे सात्म्य कहते हैं । जैसे किसी चीज को मेथी का छोक देकर खाना, किसी चीज को सोट आदि मिलाकर खाना । मात्रा शब्दका अर्थ अच्छी तरह सुगमतासे पचनेवाला है अर्थात् जितना खानेसे अन्न जल्दी और सुगम रीतिसे पच जावे उतना ही खाना चाहिए । कहा भी है कि–

'**सायं प्रातर्वा वन्हिमनवसादयन् भुञ्जीत ।**

अर्थात् सुबह और शाम को उतना ही खावे जो जठराग्नी को कष्ट देनेवाला न हो । जठराग्नि जितनेको सुगमतासे पचा सके उतना ही सुबह शामको भोजन करना चाहिए । और कहा है कि–

"**गुरूणामर्धसौहित्यं लघूनां नातितृप्तता ।**
मात्रप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद्विजीर्यति ।।"

अर्थ–गरिष्ट पदार्थ जो हो उन्हे अपनी भूखसे आधा खाना चाहिए और हल्के पदार्थ अति तृप्त होकर नही खाना चाहिए । तृप्ति हुए पर्यन्त खाना चाहिए । अति नही करनी चाहिए । इसप्रकार खाया हुआ अन्न सुखसे पच जाता है, यही मात्रा का प्रमाण है ।

और इस मात्रासे सात्म्य किया हुआ भोजन भूख लगनेपर खाना चाहिए, इसीका नाम काल में भोजन करना कहलाता है ।

" तद्विस्तर तरशास्त्रन्विदम " अर्थात् भोजन कालके सबध मे यह शास्त्रवाक्य है कि–

"**प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे,**
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ।
तथाऽग्नावुद्रिके विशदकरणे देहे च सुलघौ,
प्रयुञ्जीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः ।। "

अर्थ-मल मूत्र उत्सर्ग हो जानेपर, हृदय के प्रसन्न होनेपर, वातपित्त और कफजनित दोषों के अपने २ मार्गगामी होनेपर मलवाहक द्वारों के खुलनेपर भूखके लगनेपर बात के ठीक अनुसरणके होनेपर, जठराग्नि के प्रदीप्त होनेपर, इन्द्रियों के प्रसन्न होनेपर, देह के हल्के होनेपर विधिपूर्वक तैयार किया हुआ नियमित आहार का ग्रहण करे। यही भोजन का लाभ माना गया है।

यहां " काले " इस पद के द्वारा, भोजन के कालविशेष का उपदेश दिया है, इसलिए मध्यान्हकाल सम्बन्धी देवपूजा और आहार का कोई नियमित काल नही है यह अर्थ ध्वनित होता है। अतः यदि भूख लग आवे तो मध्यान्हकालसे कुछ समय पहले भी गृहीत प्रत्याख्यानके[1] अनुसार देवपूजा आदि करके भोजन करे तो दोषाधायक नहीं है।

अब-आगे भोजनोत्तर कर्तव्यका निर्देश करते हैं-

लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा भजेत् ।
यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयो. हि स वृत्तहा ॥ २५ ॥

अन्वयार्थ-('अयं') यह महाश्रावक (**लोकद्वयाविरोधीनि**) इसलोक और परलोक मे विरोध नही करनेवाले (**द्रव्यादीनि**) द्रव्यादिकको (**सदा**) सदैव (**भजेत्**) सेवन करे तथा (**व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयो**) व्याधि के उत्पन्न नहीं होने देने मे और यदि उत्पन्न हो गई हो तो उसके दूर करने मे (**यतेत**) प्रयत्न करे (**हि**) क्योंकि (**सः**) वह व्याधि ('**वृत्तहा**')संयमका घात करनेवाली ('**भवति**') होती है।

भावार्थ-इसलोक और परलोक मे जो पुरुषार्थके विघातक नही है ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्म और सहायको का सदैव सेवन करे तथा व्याधि शरीर मे उत्पन्न न होने पावे, यदि कदाचित् उत्पन्न भी होजावे तो उसका जल्दीसे जल्दी इलाज करनेके लिए प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि व्याधि संयम की घातक होती है।

विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभि. सह ।
जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥ २६ ॥

अन्वयार्थ-('**ततः**') इसके अनतर ('**असौ**') यह महाश्रावक (**विश्रम्य**) विश्राम करके (**गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोऽर्थिभि सह**) गुरुओं के साथ, सहपाठियो के साथ, तथा अपने हित को चाहनेवाले पुरुषो के साथ (**जिनागमरहस्यानि**) जिनागम के रहस्य का (**विनयेन**) विनयपूर्वक (**विचारयेत्**) विचार करे।

भावार्थ-भोजनान्तर थोडासा विश्राम लेकर "गुरु के मुख से सुने हुए शास्त्र के उपदेश जबतक उनका परिशीलन नही किया जाता है, तबतक चित्त मे प्रतिष्ठित नही होते है।" इस प्रकार का विचार मन में करके गुरु सहपाठी और मुमुक्षुजनो के साथ जिनागम के रहस्य का 'यह इस प्रकारसे ठीक है या नही है' इस प्रकारसे ऊहापोह करता रहे।

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेवगुरुस्मृति. ।
न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्यात्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥ २७ ॥

अन्वयार्थ-('**ततः**') इसके अनन्तर (**सायं**) सन्ध्या समय में (**आवश्यकं**) देवपूजा आदि आवश्यक कर्मों को (**कृत्वा**) करके (**कृतदेवगुरुस्मृतिः**) किया है देव तथा गुरु का स्मरण जिसने ऐसा ('**असौ**') यह

१. 'गृहीत प्रत्याख्यानं तिरियत्वा' ऐसा टीकाका पाठ है। उसका अर्थ हमने गृहीत प्रत्याख्यानके अनुसार किया है। यदि भूल हो तो ज्ञानी सुधार लेवे।

महाश्रावक (**न्याय्ये काले**) उचित समय में (**अल्पशः**) थोडासा (**स्वप्यात्**) शयन करे-सोवे (**च**) और (**शक्त्या**) अपनी शक्ति के अनुसार (**अब्रह्म**) मैथुनको (**वर्जयेत**) छोडे।

भावार्थ–किया है देव और गुरु का स्मरण जिसने ऐसा श्रावक सायंकाल सम्बन्धी षट्कर्म करके एक प्रहर रात जानेके बाद अथवा दो प्रहर रात के अनन्तर थोडा शयन करे। यहां 'स्वल्पशः' पद दिया है इससे यह ध्वनित होता है कि अल्प भी शयन प्रशस्त होना चाहिए। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि किसी प्रकारके रोग के होनेपर अथवा मार्गजनित खेद के उपस्थित होनेपर अधिक शयन भी किया जा सकता है।

तथा अपने संयम की सामर्थ्य से मैथुन का त्याग करे 'अब्रह्म' यह उपलक्षण है। इससे 'यावन्न सेव्या विषया स्तावत्तानापवर्तितः व्रतयेत् इति' इस पूर्वोक्त प्रतिपादित वचन से एक क्षण भी बिना व्रतके व्यतीत नहीं होने देना चाहिए। इसका भी यहां ग्रहण होना है।

अब–आगे १७ पद्यों से यदि रात मे नीद खुल जावे तो वैराग्य भावना भाना चाहिये इत्यादिका वर्णन करते हैं–

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत ।
सम्यग्भावितनिर्वेदः सद्यो निर्वाति चेतनः ॥ २८ ॥

अन्वयार्थ–('**असौ**') यह महाश्रावक (**निद्राच्छेदे**) निद्रा के दूर होनेपर (**पुनः**) फिरसे (**निर्वेदेनैव**) वैराग्यके द्वारा ही (**चित्तं**) चित्त को (**भावयेत्**) संस्कृत करे अर्थात् वैराग्य का ही चित्त मे चिन्तवन करे ('**यतः**') क्योकि (**सम्यग्भावितनिर्वेद**) अच्छी तरहसे अभ्यास किया है वैराग्य का जिसने ऐसा (**चेतनः**) आत्मा (**सद्यः**) शीघ्र ही–उसी क्षण मे (**निर्वाति**) शातिरूपी सुख का अनुभव करता है।

भावार्थ–रात मे योग्य काल मे शयन करनेपर भी यदि नींद उचट जावे तो अर्थादिका चिंतवन न करे किन्तु निर्वेद भावनासे ही अपने चित्त को भावित करे अर्थात् संसार, शरीर और विषयोसे वैराग्य भावना का चिन्तवन करे। क्योकि भलेप्रकार वैराग्य भावना का अभ्यास हो जानेसे आत्मा तत्क्षण में ही प्रशम सुख का अनुभवन करता है।

अब–संसार से वैराग्य के लिये उपदेश करते हैं–

दुःखावर्ते भवाम्भोधावात्मबुद्ध्याध्यवस्यता ।
मोहाद्देहं हहाऽस्मात्त्वं बद्धोऽनादि मुहुर्मया ॥ २९ ॥

अन्वयार्थ-(**हहा**) बडे खेदकी बात है कि (**दुःखावर्ते**) दुःख ही हैं आवर्त–भोरे जिसमें ऐसे (**भवाम्भोधौ**) संसाररूपी समुद्र में (**मोहात्**) मोहके कारण (**देहं**) शरीरको (**आत्मबुद्ध्या**) आत्मबुद्धि से (**अध्यवस्यता**) निश्चित करनेवाले अर्थात् मोह से शरीर को ही आत्मा माननेवाले (**मया**) मेरे द्वारा (**अयं**) यह आत्मा (**अनादि**) अनादिकाल से (**मुहुः**) बारबार (**बद्धः**) कर्मों से बद्ध किया गया–परतंत्र किया गया।

भावार्थ–नरकादि दुःखरूपी आवर्त जिसमें हैं ऐसे भवरूपी समुद्र में मोह से अर्थात् अविद्याके संस्कार से "देह को ही आत्मबुद्धि के संकल्प द्वारा" अनुभव करनेवाले मैने, बडे कष्टकी बात है कि अनादिकाल से अपनी आत्मा को बारंबार बांध रक्खा है।

अब–मुझे क्या करना चाहिये–

तदेनं मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे ।
मुच्यतैतत्क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि ना ॥ ३० ॥

अन्वयार्थ-(तत) इसलिये (**एनं मोहं एव**) इस मोह को ही (**उच्छेत्तुं**) नष्ट करनेके लिये (**अहं**) **मैं** (**नित्यं**) सदैव (**उत्सहे**) प्रयत्न करता हू (**हि**) क्योकि (**एतत् क्षये**) इस मोह के नष्ट होनेपर (**क्षीणरागद्वेषः**) क्षीण हो गये हैं राग और द्वेष जिसके ऐसा (**ना**) पुरुष (**स्वयं**) स्वयं अर्थात् बिना किसी प्रयत्न के ही (**मुच्येत**) मुक्त होजाता है ।

भावार्थ-मोह (मिथ्यात्व) के नष्ट होनेपर हमारी आत्मा रागद्वेष से रहित होकर स्वयं (बिना किसी प्रयत्नके) मुक्ति का लाभ कर सकती है । क्योकि रागद्वेष का मूल कारण मोह है । इसलिये मोह के उच्छेद से रागद्वेष का उच्छेद अपने आप होता है । इसलिये इस (मिथ्यात्व) मोह के उच्छेदके लिये ही हमे निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।

सारांश यह है कि मोह के कारण पर पदार्थ में आसक्ति होती है, पर मे निज का संकल्प होता हैं । तदनंतर नानाप्रकार के विकल्प होते है और जीवात्मा की वृति रागद्वेषमय होती है । उसके द्वारा हेयोपादेय के विवेक का अभाव होता है । इस प्रकारसे यह रागद्वेषमयी घटनाचक्र सदैव घूमता रहता है । उसके रोकनेका उपाय केवल रागद्वेष के मूलभूत मोह का उच्छेद करना ही है । उसके सिवाय कोई दूसरा उपाय नही है । इसलिये मोह के उच्छेद के लिये हो सदैव प्रयत्न करना चाहिए ।

अब-अब आगे बंध के निमित्त से होनेवाली अनर्थपरम्परा का विचार करते हुए बन्ध से विषयासक्ति और विषयो मे (आसक्ति से) बन्ध कैसे होता रहता है इसे ही बताते है—

बन्धाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रह ।
बन्धश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहम् ॥ ३१ ॥

अन्वयार्थ-(बन्धात) पुण्यपापरूप कर्म के उदय से (**देह**) शरीर ('भवति') होता है तथा (**अत्र**) इस शरीर में (**करणानि**) स्पर्शनादिक इन्द्रिया ('भवन्ति') होती है (**च**) और (**एतैः**) इन इन्द्रियो के द्वारा (**विषयग्रहः** 'भवन्ति') स्पर्शादिक विषयों का ग्रहण होता है (**च**) तथा (**अतः**) इन विषयोके ग्रहण से (**पुनरेव**) फिर भी (**बन्धः** 'भवति') कर्मो का बन्ध होता है (**तत्**) इसलिये (**अहं**) मै (**एनं**) बन्ध के कारणभूत विषयो के ग्रहणको ही (**संहरामि**) जड़से नाश करता हूं ।

भावार्थ-पुण्यपापात्मक कर्मो के विपाक को बंध कहते हैं । उससे देह की प्राप्ति होती है । देह में इंद्रियों की उत्पत्ति होती है, और इंद्रियों से विषयो का ग्रहण होता है । और इन विषयों के उपभोग से पुनः बंध होता है । यह अनर्थपरपरा अनादि से चली आरही है, इसलिये हमे सबसे प्रथम बंधका मूल जो विषय ग्रहण है या पदार्थ में उपादेय बुद्धि है, जिसके कि कारण हम अपने सच्चे उपादेय आत्मीय सुखको भूल रहे हैं, उस मोह का ही सबसे प्रथम संहार करता हू ।

अब-आगे इन पंचेंद्रियो के सेवन मे भी स्त्री आसक्ति अत्यंत दुर्निवार है अतः यहां उससे परावृत्त होने के उपाय का विचार करते हैं-

ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मरः ।
देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥ ३२ ॥

अन्वयार्थ–(**ज्ञानिसङ्गतपोध्यानैरपि**) ज्ञानी पुरुषों की सङ्गति, तप और ध्यान के द्वारा भी (**असाध्यः**) वश में नहीं किया जानेवाला (**स्मरः रिपुः**) कामरूपी शत्रु (**देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव**) शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान से उत्पन्न होनेवाले वैराग्य के द्वारा ही (**साध्यते**) वश में किया जाता है।

भावार्थ–मैथुन संज्ञाजनित जो संस्कार आत्मा में प्रगट होता है उसे 'स्मर' कहते हैं। यह काम (**स्मर**) ऐहिक तथा पारलौकिक पुरुषार्थ में आत्मा को जीतनेवाला है, जीवात्मा का अत्यंत अपकारी है। यह आत्मज्ञानियों के सत्समागम से पराजित नही होता है। बडे बडे कायक्लेश आदि तप के द्वारा भी नही जीता जाता है। परपदार्थ आदि के चिन्तनरूप ध्यान से भी इस पर विजय पाना संभव नही है, किन्तु आहारकादि तीन शरीर और ज्ञानानंदमय आत्मा इन दोनों के भेदविज्ञानरूपी जो सम्यग्ज्ञान है आत्मा की अनुभूति है, उससे उत्पन्न एक प्रकार का परपदार्थ से रागद्वेष निवृत्तिरूप जो वैराग्य होता है, आत्मा में आत्मा की अनुभूति पैदा होती है उसे वैराग्य कहते हैं। केवल इस सच्चे वैराग्यमात्र से ही यह स्मर वश में किया जाता है।

अब–आगे जिन्होंने इस भेदविज्ञान के लिए स्त्री आदि सब परिग्रहो का त्याग किया है उनकी श्लाघना करते हुए केवल स्त्री के त्याग में भी असमर्थ अपनी निंदा करते हुए कहते हैं कि–

धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं भेदज्ञानाय तादृशम्।
धिङ्मादृशकलत्रेच्छातंत्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान्॥ ३३॥

अन्वयार्थ–(**ये**) जिन पुरुषों ने (**भेदज्ञानाय**) भेदविज्ञान के लिए (**तादृशं**) उस प्रकार के अर्थात् आज्ञा ऐश्वर्यादि के द्वारा सर्वोत्कृष्ट (**राज्यं**) साम्राज्य को (**अत्यजन्**) जीर्ण तृणके समान छोड दिया (**ते**) वे पुरुष (**धन्या**) धन्य हैं–प्रशसनीय हैं, किन्तु (**कलत्रेच्छातंत्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान्**) स्त्री की इच्छा है प्रधान जिसमें ऐसा जो गृहस्थाश्रम अथवा स्त्री की इच्छा के अधीन है वृत्ति जिसकी ऐसा जो गृहस्थाश्रम, उस गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्यों के द्वारा आकुलित–दुःखी (**मादृश.**) मेरे समान पुरुषों को (**धिक्**) धिक्कार है।

भावार्थ–जिन्होने पूर्वभव में आचरित तप और श्रुत के अभ्यास से पुण्य–विशेष का उपार्जन किया है और उसके प्रताप से साम्राज्य लक्ष्मी का उपयोग भी किया है, परन्तु अन्त में भेदविज्ञान की प्राप्ति के महत्व को तथा आत्मकल्याण के गौरव को समझकर उस दुस्त्यज साम्राज्य लक्ष्मी का भी पुराने तृण के समान तुच्छ समझकर परित्याग किया है वे भरतचक्रवर्ती, सगरचक्रवर्ती आदि महापुरुष धन्य हैं, किंतु हमारे समान तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके भी, सम्यक्त्व प्राप्त करके भी जो स्त्रीसम्बन्धी विषयाभिलाषा की परतंत्रता के अधीन होकर गृहस्थाश्रम में बुरीतरह रुल रहे है उन्हे धिक्कार है।

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यस्त इन चार प्रकार के आश्रमोंमें से द्वितीय आश्रम में रहनेवाले को गृहस्थ कहते हैं और गृहस्थ के भाव अथवा कर्म को गार्हस्थ्य कहते हैं। गृहस्थाश्रम में स्थिति उन्हीं की होती है, जिनके मन की वृत्ति स्त्री ससर्ग की अभिलाषाओ से निवृत्त नही होती है, ऐसे जीवों को मकान वगैरह परिग्रह और व्यापार आदि आरम्भ करने पडते हैं।

शारीरिक, मानसिक व्याधि और आधियो से अपनी दुःस्थिति का उपभोग करना पडता है और वे चारित्ररूपी अमृत के असली रसास्वाद से वंचित रहते हैं। ऐसे पुरुष तत्त्वका अनुभव करते हुए भी गृहस्थाश्रम से अपना सम्बन्ध छोड नही सकते है। उन्हे धिक्कार हैं यह सब कथन गृहस्थाश्रम के न छोडने की परम्परा के कारणों को ध्यान में रखकर कहा है।

अब-आगे जिस उपशमश्री की यह श्रावक सदा अभिलाषा रख रहा है उस उपशमश्री का तथा स्त्री का अपने अन्तःकरण में जो परस्पर का विरोध चालू है उन दोनो मे सबल और निर्बल कौन है, इसका प्रतिपादन करते हैं-

इतः शमश्री. स्त्री चेत. कषतो मां जयेत् का ।
आ ज्ञातमुत्तरैवात्र जेत्री या मोहराट्चमू । । ३४ ॥

अन्वयार्थ- **(इतः)** इस तरफ से **(शमश्री.)** शांतिरूपी लक्ष्मी **(च)** और **(इत)** इस तरफ से **(स्त्री)** स्त्री इस प्रकार ये दोनों **(मां)** मेरे को **(कर्षतः)** अपनी अपनी तरफ खीचती है अथवा **(आ ज्ञातं)** अच्छी तरह से मालूम हो गया कि **(अत्र)** इन दोनो **(उत्तरैव)** दूसरी स्त्री ही **(जेत्री)** मेरे को जीतेगी **(या)** जो कि **(मोहराट्चमूः)** मोहरूपी राजा की सेना है।

भावार्थ-मैं अतीद्रिय=आत्मिक सुख और इन्द्रियजनित विषयसुख इन दोनों का अनुभव करनेवाला हूं, अतः आश्चर्य है कि मुझे एक तरफ से प्रशम सुखसपत्तिरूपी शमश्री खीच रही है और दूसरी ओर से गृहस्थाश्रम के निवास का मूल आधारभूत स्त्री खीच रही है। मुझे संशय होता है कि दोनों में से किसका बल अधिक है तथा न मालूम मेरा आकर्षण किधर होता है । इस संशय के अनंतर ही श्रावक का अन करण जवाब देता है कि-

'आ' शब्दका यहा स्मृतम् यह अर्थ है, इसलिए कहते हैं- ओह ! मै जान गया कि स्त्री ही विजय प्राप्त करेगी । उसीका ही बल अधिक है अथवा 'आ' इसका दूसरा सताप व क्रोध यह अर्थ भी होता है अर्थात् व्रती अपने मन मे झुझलाकार कहता है कि मैंने ज्ञात कर लिया कि इन दोनोंमे से मुझे स्त्री ही अपनी तरफ खीचेगी, शमश्री को अभिभूत कर देगी, क्योंकि यह स्त्री केवल स्त्री ही नही है किंतु प्रतापी मोहराजा की सेना है । जैसे कोई प्रतापी राजा अपनी सेना के द्वारा प्रतिपक्षी को पराभूत कर विजय प्राप्त करता है, उसी प्रकार चारित्र-मोहरूपी राजा स्त्रीरूपी अपनी सेना के बल से आत्मा की इस शमश्री को दबाकर मुझे अपनी ओर खीच रही है, यही कारण है कि मै सर्व संग का परित्याग करने मे असमर्थ हो रहा हूं ।

अब-आगे यह स्त्री कैसे दुस्त्यज है यह कहते है-

चित्रं पाणिगृहीतीयं कथं मां विष्वगाविशत ।
यत्पृथग्भावितात्माऽपि समवैम्यनया पुन. ॥ ३५ ॥

अन्वयार्थ-**(चित्रं)** यह बड़ा भारी आश्चर्य है कि **(पाणिगृहीती)** हाथ के द्वारा ग्रहण की गई **(इयं)** यह विवाहिता स्त्री **(कथं)** किस प्रकारसे **(मां)** मेरे में **(विष्वक्)** चारों तरफ से **(आविशत्)** प्रविष्ट हो गई । क्योकि **(पृथग्भावितात्माऽपि)** पृथक रूप से वारंवार चिन्तवन किया है आत्मा का जिसने ऐसा मैं **(पुन.)** बारबार **(अनया 'सह')** इस स्त्रीके साथ **(समवैमि)** तादात्म्य सम्बन्ध को प्राप्त होता हू ।

भावार्थ-मुझे बडा विस्मय है कि मैंने इस स्त्री का पाणिद्वारा ग्रहण किया था । विवाह के समयपर हाथ पकड़कर परणयन किया था, परन्तु यह आज मुझ मे सर्वरूप से क्यों व्याप्त होरही हैं अर्थात् इसने मुझे आत्ममय कैसे बना लिया है । क्योकि स्त्री की ममता के प्रताप से ही आज मेरी यह स्थिति होरही है जिससे "मै भिन्न हूं" "यह भिन्न है" इस प्रकार का भेदविज्ञान सहित होकर भी मै आज इसके साथ तादात्म्य कैसा भाव रख रहा हूं । सारांश यह है कि मै केवल चारित्र मोह के वश होकर इससे अभेदभाव रखनेवाला होरहा हूं ।

अब-आगे यदि आत्मा स्त्री से विरक्त हो जावे तो उसे धनादि परिग्रहकी क्या जरूरत है यह बताते हैं-

स्त्रीतश्चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे।
मृतमण्डनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ।। ३६ ।।

अन्वयार्थ–(चित्त) हे मन **(चेत)** यदि तू **(ननु)** निश्चय करके **(स्त्रीतः)** स्त्रीसे **(निवृत्तं)** निवृत्त हो जायगा **('तर्हि')** तो फिर **(वित्तं)** धन को **(किं ईहसे)** क्यो चाहेगा **(हि)** क्योंकि **(स्त्री निरीहे)** स्त्री की इच्छा नही रहनेपर **(धनग्रहः)** धन को ग्रहण करना अथवा धन की इच्छा करना **(मृतमण्डनकल्पः)** मरे हुये पुरुष को भूषण पहिराने के समान व्यर्थ **('अस्ति')** है।

भावार्थ–हे अन्त.करण ! तू यदि अपने विवेकबल के सामर्थ्य से निवृत्त होजावे तो फिर मुझे विश्वास है कि तुझे धन की इच्छा की आवश्यकता नही रहेगी, क्योकि जिसका मन स्त्री से परावृत्त है उसको धन के कमाने; रखाने और बढानेकी गरज मुर्दे को अलकारो की सजावट के समान अनुपयोगी हो जाती है।

विषयसुख के लिए धन साधन है। कमिनी आलम्बन विभावरूपसे मुख्य है। महल, मकान, बागबगीचा आदि उद्दीपन विभावपनेसे गौण है, इसलिये मुख्य जो विषयसुखों का आलंबन विभावभाव केवल कामिनी मानी गई है। यदि उसकी अभिलाषा से हमारा अन्त करण विमुख होजावेगा तो फिर साधनभूत धन की तरफ इच्छा की निष्फलता स्वय हो जाती है। जब साध्य ही नही चाहिए तो साधन की फिर क्या जरूरत है।

इसतरह जैसे मुर्दे को भूषण पहनाना व्यर्थ है वैसे ही स्त्री मे विरत पुरुष के लिये धन की इच्छा बेकाम मानी जाती है।

अब–आगे इस प्रकारसे निर्वेद करानेवाली भावना भानेवालो के लिये परम सामायिक को करानेवाली भावना सम्बन्धी सात श्लोक कहते हैं—

इति च प्रतिसन्दध्यादुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि।
मनोरथा अपि श्रेयोरथाः श्रेयोनुबन्धिन ।। ३७ ।।

अन्वयार्थ–**(इति च)** इस प्रकार से भी वक्ष्यमाण प्रकार से भी **('असौ')** यह महाश्रावक **(मुक्तिवर्त्मनि)** मोक्षमार्ग मे **(उद्योगं)** उद्योग को–उत्साह को **(प्रतिसन्दध्यात)** वारवार लगावे-वारंवार जोडे **('यत')** क्योकि **(श्रेयोरथाः)** मोक्ष ही है रथ जिन्होंका ऐसे अर्थात् मोक्ष विषयक **(मनोरथाः अपि)** मनोरथ भी **(श्रेयोनुबन्धितः)** अभ्युदय के सम्पादन करनेवाले-स्वर्गादिक को देनेवाले **('भवंति')** होते है।

भावार्थ–मोक्षमार्ग सम्बन्धी उद्योग के लिए जैसे वैराग्य भावना का चिंतवन किया था उसी प्रकार आयु और काय की अस्थिरता की भावना को भी भाए। यहा 'च' शब्द समुच्चय वाचक है। इसलिए केवल वैराग्य का ही चिंतवन न करे, किंतु मोक्षमार्ग में दृढ करानेवाली भावनाओ का भी उद्योग करे, यह अर्थ होता है।

यहा पर शंका हो सकती है कि आचरण के विना केवल मनोरथ स्वप्न राज्य के समान निरुपयोगी होते है। परन्तु इसका समाधान यह है कि मोक्षमार्ग से सम्बन्ध रखनेवाले मनोरथ भी भवभव में श्रेय के संपादन करानेवाले होते है।

मनोरथा अपि–यहा के अपि शब्द से यह सूचित होता है कि जब श्रेय से सम्बन्ध रखनेबाले मनोरथो का इतना असर होता है तो अनुष्ठान के महात्म्य के विषय में तो कहना ही क्या है ?

अब–आगे यह बताते हैं कि हमारा जीवन आयु की स्थिति और काय की स्थिति पर निर्भर है। लेकिन वह आयु प्रतिक्षण घट रही और काय अपनी दृढता से च्युत हो रही है, तो भला बताओ कि इन दोनों में से हम अपने सहायक–साथी किसको माने ? इसको ही वक्रोक्ति द्वारा आगे प्रतिपादन करते है–

क्षणे क्षणे गलत्यायुः कायोह्रसति सौष्ठवात् ।
ईहे जरां नु मृत्युं नु सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ।। ३८ ।।

अन्वयार्थ- (**आयुः**) आयुकर्म (**क्षणे क्षणे**) क्षण क्षण में अर्थात् प्रतिसमय में (**गलति**) नाश को प्राप्त हो रहा है और (**सौष्ठवात्**) स्वार्थ क्रिया को करने की सामर्थ्य से (**कायः**) शरीर (**ह्रसति**) ह्रास को प्राप्त हो रहा है '**अतः**' इसलिए ('**अहं**') मैं (**स्वार्थसिद्धये**) अपने अभिप्रेत अर्थ को सिद्धि के लिए (**सध्रीचीं**) सहायभूत बुढापा तथा मृत्यु इन दोनो में से (**जरां न ईहे**) क्या बुढापे को सहायक बनाने की इच्छा करू अथवा (**मृत्युं न इहे**) क्या मृत्यु को सहायक मानू ?

भावार्थ–व्यावहारिक जीवन में स्वार्थसिद्धि के लिये आयु और काय प्रधान साधन माने जाते है। परन्तु वास्तव में इनमें से हमारी आयु अंजुली के जल के समान प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। तथा काय भी अपनी सामर्थ्य से प्रतिक्षण शिथिल हो रही है और उसकी यह हीनता बुढापे के लानेमे प्रवृत्त हो रही है, तो बताओ मरण और बुढापा इन दोनो मे से किसीको भला अपने स्वार्थ का सहायक समझू ? अर्थात् वास्तव में इनमे कोई भी मुझे सार्थक सहायक नही दिखता है, इस प्रकार से चिंतवन करे।

अब–आगे जिनधर्म धारण करते हुए पुन: पुनः विपत्तियो का सामना करना तो ठीक है किंतु जिनधर्म की श्रद्धा को छोडकर पुन: पुनः संपत्ति के लाभ को मैं ठीक नही समझता हूं, इस भावना को दर्शाते हैं–

क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरम् ।
विपदां सम्पदां नासौ जिनधर्मम्मुचस्तु मे ।। ३९ ।।

अन्वयार्थ–(**जिनधर्मजुष**) जिनधर्म को प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले (**मे**) मुझको (**विपदां**) विपत्तियो का (**क्रियासमभिहारोऽपि**) बार बार आना भी (**वरं**) श्रेष्ठ है (**तु**) किंतु (**जिनधर्मम्मुच**) जिनधर्म से रहित (**मे**) मुझको (**सम्पदां**) सम्पत्तियो का (**असौ**) बार बार आना (**वरं न**) श्रेष्ठ नही है।

भावार्थ–क्रिया समभिहार शब्द का अर्थ बारंबार अथवा अधिकता है। शुद्ध चिदानदरूप जो आत्मा की परणति है उसको जैनधर्म कहते है। ऐसे धर्म को प्रेमपूर्वक सेवन करते हुए यदि शारीरिक, मानसिक दुःख तथा परीषह और उपसर्ग की मुझे पुनः पुन प्राप्ति होवे, तो उसे मैं अच्छा मानता हू; किंतु जैनधर्म को छोडकर संपूर्ण इन्द्रिय और मानसिक सुख साधनो की बारम्बार प्राप्ति को मैं अच्छा नही मानता हू। इस प्रकार की श्रद्धा की दृढता की द्योतक भावना भी भाए।

अब–आगे व्रती को मुनिधर्म के आचरण से ही प्राप्त होनेवाले पर–दुर्लभ–सब पदार्थो में ममता की कामना का वर्णस करते हैं–

लब्धं यदिह लब्धव्यं तच्छ्रामण्यमहोदधिम् ।
मथित्वा साम्यपीयूषं पिबेयं परदुर्लभम् ।। ४० ।।

अन्वयार्थ–(**इह**) इस मनुष्य जन्म मे अथवा गृहस्थाश्रम मे (**यत् लब्धव्यं**) जो कुछ भी मुझे प्राप्त करना चाहिये था ('**तन्मया**') वह मैंने (**लब्ध**) प्राप्त कर लिया (**तत्**) इसलिए ('**अहं**') मैं (**श्रामण्यमहोदधि**) मुनिव्रतरूपी महासमुद्र को (**मथित्वा**) मथ करके (**परदुर्लभं**) जो दूसरों के लिए अत्यत दुर्लभ है ऐसे (**साम्यपीयूषं**) समतारूपी अमृत को (**पिबेयं**) पीता हू।

भावार्थ–जैसे समुद्र से अनमोल रत्न निकलते है उसका अवगाहन करना कठिन है, उसका पार पाना दुर्लभ होता है, उसीप्रकार मुनियो के मूल और उत्तर गुणों से अनमोल सम्यग्दर्शनादि गुणो की विशुद्धता की

प्राप्ति होती है, उसका अवगाहन करना कठिन है और उसका अन्त पाना भी दुर्लभ है। मुनियों के मूलगुण और उत्तरगुणों के आचरण को श्रामण्य कहते है और उसको यहा समुद्र की उपमा दी है। यहा व्रती की यह भावना है कि जैसे सुना जाता है कि देव और असुरों ने क्षीरोदधि का मंथन करके अमृत पिया था, उसी प्रकार श्रामण्य (मुनित्व) रूपी महोदधि का मंथन करके अन्य को दुर्लभ साम्यभावरूपी जो अमृत है, उसको भी मै पिऊं। अपनी आत्मा में अनुभव करू। मुझे इस गृहस्थाश्रम तथा मनुष्य-जन्म में जो कुछ प्राप्त करनेलायक था उसको तो प्राप्त कर लिया है, अब तो यही भावना है कि ऊपर कथित अवस्था को कब प्राप्त करू और कैसे प्राप्त करू। 'परदुर्लभं' इसका खुलासा यह है कि वह समतारूपी अमृत अन्य मतों के अवलंबन से तो दुर्लभ है ही, तो भी बहुत से जिन समय के ज्ञाताओ के लिए भी दुर्लभ है। केवल परम उपेक्षामय चारित्ररूप यह समताभाव कतिपय जिनानुयायी महात्माओ को प्राप्त होता है।

अब–आगे के पद्य से और भी इसी प्रकार समताभाव के लिये विशद रूप से वर्णन करते हैं–

पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे।
जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधी. कदा ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ–(**पुरे**) नगर मे (**अरण्ये**) बन में (**मणौ**) मणि मे (**रेणौ**) धूलि मे (**मित्रे**) मित्र मे (**शत्रौ**) शत्रु मे (**सुखे**) सुखमे (**असुखे**) दुख मे (**जीविते**) जीवन में (**मरणे**) मरण मे (**मोक्षे**) मोक्ष मे और (**भवे**) संसार मे ('अहं') मै (**कदा**) किस समय (**समधीः**) समान बुद्धिवाला (**स्यां**) होऊगा ?

भावार्थ– मै चातुर्वर्ण्य अधिष्ठान का आचार और प्रीति के कारणभूत (राग के कारण) नगर मे और इसी के ठीक विपरीत अप्रीति के निमित्तभूत वन मे, समताभाववाला कब होऊंगा तथा रत्न और धूली मे, हित करनेवाले मित्र और अपकार करनेवाले शत्रु मे, आल्हादकारक सुख और देह तथा मन में सताप, उत्पन्न करनेवाले दुख मे, सब पुरुषार्थो की सिद्धि के लिए उपायभूत जीवन मे और ठीक इसी के विपरीत मरण में, अधिक कहां तक कहूं अनन्त सुखमय मोक्ष मे और उसके विपरीत जो ससार है उनमे समानभाव रखनेवाला–समताभाव रखनेवाला कब होऊगा, उसी प्रकार की भावनाभावे। यहा पर इतनी विशेषता समझना चाहिए कि नगर और वन आदि मे तो औरो की भी समभावना हो सकती है; परन्तु मोक्ष और ससार मे समता परम वैराग्य से ही होती है। (निर्विकल्पक ध्यान से ही होती है) कहा है कि–मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तम'। और मुनियो में श्रेष्ठ जो मुनि होते है, वे ही परम वैराग्य के कारण मोक्ष और ससार तथा संपूर्ण चराचर की विरोधी बातो में निस्पृह होते है–

अब–आगे यतिधर्म की परम सीमा की प्राप्ति की भावना करता है, यह बताते हैं–

मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः।
कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥ ४२ ॥

अन्वयार्थ–(**मोक्षोन्मुखक्रियाकाण्डविस्मापितबहिर्जनः**) मोक्षमार्ग मे लगे हुये मुनियो की क्रियाओं के समूह को पालन करने के द्वारा चकित कर दिया है बहिरात्मा लोगों को जिसने ऐसा होकरके (**आत्मदृक्**) आत्मदर्शी होता हुआ ('अहं') मै (**कदा**) किस समय (**समरसस्वादिनां**) समतारूपी रसका आस्वादन करनेवाले मुमुक्षुओ की (**पंक्ति**) श्रेणी को (**लप्स्ये**) प्राप्त होऊगा।

भावार्थ–जिन्होंने मोक्ष की प्राप्ति के लिये निमित्त जो क्रियाकांड है अर्थात गुरुकुलका निवास, आतापनयोग वगैरह कायक्लेशरूप तप से बहिरात्माओं को (जिनको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है उन्हें बहिरात्मा कहते हैं) विस्मय में डाल दिया है, अपने द्वारा असाध्य कर्मों का सद्भाव दूसरों में देखकर आश्चर्य होता है। अतः आत्मदृष्टि

साधुओं के सम्यग्दर्शनपूर्वक कायक्लेशादि दुर्द्धर जो तप हैं उनसे बहिरात्मा चकित हो जाता है, आश्चर्य में पड़ता है। इस प्रकारका आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला आत्मदर्शी तपस्वी बनकर ध्यान, ध्याता और ध्येय में अभेद्य दृष्टि धारण करनेवाले जो निर्विकल्पक योगी हैं, जिन्हें शास्त्र मे घटमान योगवाले योगी अथवा निष्पन्न योगवाले योगी कहते है उनकी पक्ति मे बैठनेका सौभाग्य मै कब प्राप्त करूगा, उन जैसी वृत्ति को कब पाऊँगा इस प्रकार की भी भावना भावे।

अब–आगे योग की परम काष्टा की प्राप्ति की भावना करते है, यह बताते है—

शून्यध्यानैकतानस्य स्थाणुबुद्धयाऽनडुन्मृगैः।
उद्धृष्यमाणस्य कदा यास्यन्ति दिवसा मम ॥ ४३ ॥

अन्वयार्थ–(**शून्यध्यानैकतानस्य**) निर्विकल्पक समाधि में लीन होनेवाले तथा (**स्थाणुबुद्धया**) काष्ठ-विशेष की बुद्धि से (**अनडुन्मृगैः**) गाय बैल और मृगो के द्वारा (**उद्धृष्यमाणस्य**) अच्छी तरहसे खुजाये जानेवाले (**मम**) मेरे (**दिवसा**) दिन (**कदा**) किस समय (**यास्यन्ति**) बीतेगे।

भावार्थ–जब मै नगर के बाहर तत्वज्ञान और वैराग्यसपन्न होकर कायोत्सर्ग धारण करू और निर्विकल्पक समाधि में लीन होऊ, उस समय अपनी इच्छानुसार विचरनेवाले जो वृषभादि जानवर हैं, वे अपनी खाज खुजानेके लिये मुझे स्थाणु (ठूठ) समझकर मेरी देह से अपनी खाज खुजावें तथा यदि मै जगल में उक्त प्रकार से कायोत्सर्ग करूं तो हरिणादि मृग भी मुझे ठूठ समझकर अपनी खाज खुजावे, ऐसे योगाभ्यास की परमसीमा को प्राप्त दिन कब आवेगे, इस प्रकार से भी मनोरथ महाव्रती श्रावक के होते हैं।

अब–आगे चतुर्दशी की रात में प्रोषधोपवास को लेकर नगर के बाहर कायोत्सर्ग करते हुए उपसर्ग के द्वारा अविचलित प्राचीन प्रतिमायोगधारी श्रावकों की प्रशसा करते है-

धन्यास्ते जिनदत्ताद्याः गृहिणोऽपि न येऽचलन।
तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः ॥ ४४ ॥

अन्वयार्थ–(**ये**) जो (**गृहिणोऽपि**) गृहस्थ होकरके भी (**तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते**) शास्त्रप्रसिद्ध और असाधारण उपसर्गो के आनेपर (**जिनधर्मतः**) जिनधर्म से (**न अचलन्**) चलायमान नही हुये (**ते**) वे (**जिनदत्ताद्याः**) सेठ जिनदत्त वगैरह (**धन्याः**) धन्य है-प्रशसनीय है।

भावार्थ-शास्त्र प्रसिद्ध प्रोषधोपवास व्रतधारी वे जिनदत्त सेठ, वारिषेणकुमार आदि श्रावक भी धन्य हैं, जो शस्त्रप्रहार आदि घोर उपसर्ग आनेपर भी जिनोक्त धर्म से तथा जिनसेवित सामायिक से विचलित नही हुए हैं।

अब–व्रत प्रतिमा का उपसहार करते हुए उस प्रतिमाधारी के फलविशेष का वर्णन करते हैं—

इत्याहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि।
स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्षश्रीर्ष्ययेव वरस्रजम ॥ ४५ ॥

अब–(**इति**) इसप्रकार (**आहोरात्रिकाचारचारिणि**) दिनरात सम्बन्धी सम्पूर्ण आचार को आचरण करनेवाले अर्थात् दिन और रात्रि की सम्पूर्ण क्रियाओं का पालन करनेवाले (**व्रतधारिणि**) व्रतधारी पुरुषो मेंअर्थात् व्रतधारी पुरुष के गले में (**स्वर्गश्रीः**) स्वर्गरूपी लक्ष्मी (**मोक्षश्रीर्ष्यया इव**) मोक्षरूपी लक्ष्मी की ईर्षासे ही मानो (**वरस्रजं**) वरमाला को (**क्षिपते**) डाल देती है।

भावार्थ–इसप्रकार छठे अध्याय में वर्णित महाश्रावक की दिनचर्या के अनुसार चलनेवाले व्रतप्रतिमाधारी के गले में स्वर्गश्री, मोक्षश्री की ईर्ष्या से ही मानो वरमाला डालती है। सारांश यह है कि जैसे कोई कुलीन कन्या अपने मातापिता की अनुज्ञासे 'मेरे अभीष्ट पति को कोई दूसरी कन्या न वर लेवे' इस ईर्षाबुद्धि से उसके गले मे जलदीसे वरमाला डालती है, उसीप्रकार इस अध्याय में वर्णित अहोरात्रि के आचार से संपन्न व्रतप्रतिमाधारी के गले में "इसे मोक्षलक्ष्मी न वर लेवे" ऐसी ईर्ष्या से शीघ्रता से वरमाला डालती है।

इस प्रकार पण्डितप्रवर आशाधर विरचित स्वोपज्ञ धर्मामृत नामक ग्रन्थकी सागारधर्म को प्रकाशित करनेवाली 'भव्य कुमुदचन्द्रिका' नाम की टीका में आदिसे चौदहवां अध्याय और सागारधर्म प्रकरण केअनुसार छट्टा अध्याय समाप्त हो गया।